प्रस्तावना ।

प्रायः ऐसा अनुमानमें आता है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि समस्त कार्योंका मूल केवल शरीर ही है इसके आरोग्य रहनेसे संपूर्ण कार्य ठीक होते हैं इसीलिये नीतिशास्त्रज्ञोंने भी कहा है कि–"आत्मानं सततं रक्षे-द्दारैरपि धनैरपि" और भगवान् धन्वन्तरिजीने तो इसकी रक्षाके अर्थ आयुर्वेद और अनेक प्रकारकी औषधियां निर्माण कीही हैं इसलिये शरीरकी मुख्य रक्षा क्या है कि आरोग्य होना, वह वैद्यविद्याके अधीन है यद्यपि उस वैद्यक विषयके बृहत् ग्रंथ अनेक हैं कि, जिनमें प्रत्येक रोगोंके निदान और रोगानुसार उपयोगी औषधियां तथा और २ उपाय कथन किये हैं तथापि महात्मा सुश्रुतजीकी रची हुई यह 'सुश्रुतसंहिता' सब ग्रंथोंसे बढकर है, क्योंकि ऐसा कोई रोग नहीं कि जिसके दमनार्थ इसमें औषधियां नहीं कही हों और विचित्रता यह है कि, धनी व कंगाल सबके योग्य औषधियां इसमें कही हैं, इसीलिये कहा है कि–"सुश्रुतो न श्रुतो येन वाग्भटे न च वाग्भटः । चरको नालोकितो येन स वैद्यो यमकिंकरः" ॥

इस ऐसे उत्तम ग्रन्थको संस्कृत भाषामें होनेके कारण संस्कृतभाषा-नभिज्ञ सर्व संसारी जीवोंको विशेष लाभ नहीं होताथा इसलिये विचा-रांश कर सबके सुलभार्थ इस ग्रंथकी मनोहर व सर्वगुणसंपन्न भाषाटीका पंडितवर श्रीमुरलीधरजी राजवैद्यद्वारा निर्माण कराय यह ग्रंथ भाषाटीकाविभूषित मुद्रित किया है ।

ग्रंथबाहुल्यता होनेसे इसके भिन्न भिन्न ४ भाग मुद्रित किये हैं जिनमेंसे यह तृतीय भाग है इसमें चिकित्सित और कल्प दो स्थान हैं जिनमेंसे चिकित्सितस्थानमें तो संपूर्ण प्रकारके रोगोंकी चिकित्सायें अनेक २ प्रकारसे वर्णित हैं और कल्पस्थानमें वे अनेक प्रकारके सुंदर कल्प कहे हैं कि जिनके करनेसे मनुष्य वृद्धताको त्यागकर पुनः युवा होजाता है ।

संसारमें विदितगुणवाले अत्युत्तम इस ग्रंथकी विशेष प्रशंसा नहीं करसकते क्योंकि सागरका जल कभी गागरमें समाता है ? इसलिये देखनेसे ही इसके गुण विदित होगें, आशा है कि वैद्यविद्यारसिक महाशय शीघ्रही इस ग्रंथको ग्रहणकर विचारपूर्वक इसके द्वारा औषध प्रयोग कर अनेकानेक लाभ उठा हमारे परिश्रमको सफल करेंगे ।

विद्वज्जनकृपाभिलाषी–

खेमराज श्रीकृष्णदास, अध्यक्ष "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् मुद्रणयन्त्रालय-मुम्बई.

॥ श्रीः ॥

अथ सुश्रुतसंहिताचिकित्सितस्थान-

विषयाऽनुक्रमणिका ।



द्वितीयोऽध्यायः २.

तृतीयोऽध्यायः ३.

चतुर्थोऽध्यायः ४.

पंचमोऽध्यायः ५.

अथ षष्ठोऽध्यायः ६.

अथ सप्तमोऽध्यायः ७.

अथाऽष्टमोऽध्यायः ८.

अथाऽष्टादशोऽध्यायः १८.

अथैकोनविंशोऽध्यायः १९.

अथ विंशतितमोऽध्यायः २०.

अथ पंचविंशतितमोऽध्यायः २५,

अथ षड्विंशतितमोऽध्यायः २६,

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ३२.

अथ त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३३.

परिशिष्ट १.

परिशिष्ट २.

अथ चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३४.

अथ पंचत्रिंशत्तमोऽध्यायः ३५.

अथ षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३६.

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ३७.

अथाष्टात्रिंशत्तमोऽध्यायः ३८.

इति सुश्रुतसंहिताचिकित्सितस्थान-विषयाऽनुक्रमणिका समाप्ता ।

॥ श्रीः ॥

अथ सुश्रुतसंहिताकल्पस्थान-

विषयाऽनुक्रमणिका ।



विषय.	पृष्ठांक.
अथ प्रथमोऽध्यायः १.	
अन्नपानरक्षाकल्पका व्याख्यान ...	१२२९
विषसे रक्षाका विधान	,,
राजाओंके भक्ष्यपानी	१२३०
वैद्य वैदका विधान	,,
रसोईका स्थान	१२३१
रसोईके परिचारकादिक	,,
विष देनेवालेकी परीक्षा	१२३२
विषके अधिष्ठान	१२३३
विषयुक्त भोजनकी परीक्षा	,,
परोसे हुए भोजनमें विषकी परीक्षा .	१२३४
ग्रासमें विषपरीक्षा	१२३५
आमाशयगत विषके लक्षण और यत्न ..	,,
पक्वाशयगत विषके लक्षण और यत्न ...	१२३६
पेय पदार्थोंमें विषपरीक्षा	,,
शाकादिमें विषकी परीक्षा	,,
दतौन आदिमें विषकी परीक्षा	१२३७
अभ्यंगगत विषके लक्षण और यत्न ...	,,
अनुलेपनगत विषके लक्षण और यत्न ...	१२३८
शिरोभ्यंग और मुखलेपगत विष ...	,,
सवारियोंकी पीठपर विष	१२३९
नस्य, धूम और पुष्पोंमें विषके लक्षण, यत्न	,,
कर्णतैलमें विषके लक्षण, यत्न	१२४०
अंजनमें विषके लक्षण, यत्न	,,
विषघ्न संक्षिप्त उपाय	१२४१
,, ,, दूसरा . . .	१२४२
,, ,, तीसरा	,,
स्वयं विष भक्षण किये हुएका यत्न ..	१२४३
अथ द्वितीयोऽध्यायः २.	
स्थावरविषविज्ञानीय अध्यायका व्याख्यान...	१२४३
विषके दो भेद	,,
स्थावरविषके १० अधिष्ठान भेद ...	१२४३
मूलविष	,,
पत्र, फल और पुष्प विष	१२४४
त्वक्सार, निर्यास, दुग्ध तथा धातुविष ...	,,
कन्दविष	१२४५
भावमिश्रजीके मतानुसार नव जातिका विष और उनके नाम	,,
विषोंके उपद्रव	,,
कन्दविषोंके उपद्रव...	१२४६
विषमात्रके १० गुण	१२४७
दश गुणोंके कार्य	,,
क्षीण विष (दूषीविष)	१२४८
दूषीविषयुक्तके लक्षण	,,
दूषीविषकोपके पूर्वरूप और उपद्रव ...	१२४९
दूषीविषकी निरुक्ति...	१२५०
स्थावरविषके ७ वेग	,,
सात वेगोंके चिह्न	१२५१
विषघ्न यवागू	,,
अजेय घृत	१२५२
विषारि नामक अगद	,,
विषोपद्रव यत्न	१२५३
अथ तृतीयोऽध्यायः ३.	
जंगमविषविज्ञानीय अध्यायका व्याख्यान...	१२५३
जंगमविषके १६ अधिष्ठान	१२५४
अधिष्ठान भेदसे विषैले जीवोंके नाम ...	,,
विषदूषिततृणजलादिके लक्षण... ...	१२५५
जलके शोधनका प्रकार	१२५६
विषदूषित पृथ्वी	,,
विषयुक्ततृण	१२५७
विषघ्न वायलेप	,,
विषयुक्त धूम और वायु तथा इनकी शुद्धि ..	१२५८
विषकी उत्पत्ति	,,

इति सुश्रुतसंहिताकल्पस्थानविषयानुक्रमणिका समाप्ता ।



॥ श्रीः ॥

अथ सुश्रुतसंहिता ।

सान्वयभाषाटीकासहिता ।

चिकित्सितस्थानम् ४.

प्रथमोऽध्यायः १.

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

शारीरक स्थानके अनंतर अब चिकित्सितस्थानका आरंभ करते हैं उसमें प्रथम द्विव्रणीय अर्थात् दोनों प्रकारके शारीर और आगंतुक व्रणोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

दो प्रकारके व्रण ।

द्वौ व्रणौ भवतः शारीर आगंतुकश्चेति । तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः । आगंतुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृंगचक्रेषुपरशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः ॥ १ ॥

व्रण दो प्रकारके होते हैं एक शारीरक, दूसरे आगंतुक । इनमेंसे जो वायु, पित्त, कफ, रुधिर तथा सन्निपातके कारण शरीरहीमेंसे उत्पन्न हो उसे शारीरक व्रण कहते हैं । और जो मनुष्य, पशु (बैल, घोडे आदि), पक्षी (गिद्ध, शुक आदि), व्याल (सिंह, वृक आदि) तथा सरीसृप (सर्प, विच्छू आदि) के आघात—चोट लगने, काटने आदिसे तथा ऊंचेपरसे गिरने, दबजाने और लकडी आदिके प्रहारसे तथा अग्निके जलने, क्षार (तेजाब) लगनेसे, विषके स्पर्शादिसे तथा तीक्ष्ण औषध (भिलावे आदि) के लगनेसे, शकल अर्थात् बांसकी पच्चट, कांचका टुकडा आदि

(वाक्य १) द्वौ व्रणौ अधिकृत्य कृतं द्विव्रणीयम् । चिकित्सितं विकारप्रतीकारः । चक्रं स्वनामख्यात आयुधविशेषः तथा रथादीनां चक्रं च । आदिशब्देन खड्गादयो ग्राह्याः ॥

कपाल (ठेकरा खोपरी), सींग और चक्र (पहियेकी रगड), इषु (तीर) तथा परशु (कुल्हाडा), शक्ति (बरछी), कुंत (तोमर) आदि शस्त्रोंकी चोट लगनेके कारणसे उत्पन्न हो उसे आगंतुक व्रण कहते हैं ॥ १ ॥

तत्र तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद्विव्रणीय इत्युच्यते ॥ २ ॥

व्रणमात्र सामान्यतासे तुल्य होनेपरभी दो कारणोंसे उत्पन्न होते हैं इस प्रयोजनसे "द्विव्रणीय" ऐसा कहा जाता है ॥ २ ॥

आगंतुक व्रणमें तात्कालिक विधि ।

सर्वस्मिन्नेवाऽऽगंतुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावधारणविधिविशेषः संधानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद्विकारणोत्थानप्रयोजनमुत्तरकालं तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत्प्रतीकारः ॥ ३ ॥

सब प्रकारके आगंतुक व्रणोंमें (आघात होतेही) तत्काल घावकी गरमी फैलनेकी शांतिके लिये पित्तकी शांतिके समान शीतल क्रियाका अवधारण करना विशेषविधि है (अर्थात् ताजे आगंतुक क्षतपर उसी समय ठंढा पानी डालना, भीगा कपडा लपेटना आदि उचित है) और घावके भरनेके लिये शहत और घृतका उपयोग करे यह दोनों प्रकारके व्रणोंमें योजना करसकते हैं और आगंतुक व्रण भी अधिक दिनका होजावे (पकजावे, सहजमें अच्छा न हो) तो फिर दोषोंकी उल्वणताके भेदसे शारीरक व्रणके समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

व्रणमें दोष भेद ।

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पंचदशप्रकारः प्रसरणसामर्थ्याद्यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे शुद्धश्चेत्षोडशप्रकार "इत्येके" ॥ ४ ॥

दोषों (वायु, पित्त, कफ और रुधिर इन चारों) के उपप्लव (उफान) के जो पन्द्रह भेद प्रसरणकी सामर्थ्यसे होतेहैं वे व्रणप्रश्नाधिकार (सूत्रस्थानके इक्कीसवें अध्याय) में वर्णन होचुके हैं इनके अतिरिक्त सर्व दोषोपप्लवरहित शुद्ध व्रण ऐसा सोलहवाँ भेद कई आचार्य एक और मानते हैं ॥ ४ ॥

(वक्तव्य) सूत्रस्थानके २१ वें अध्यायमें दोषोंके प्रसरणरूपसे १५ भेद कहे हैं जिसको किसी टीकाकारने अनार्ष कहा है परंतु चिकित्सित स्थानके पूर्वोक्त वाक्यसे वह अनार्ष (क्षेपक) नहीं किंतु महर्षिधन्वन्तरिजीका हीं वाक्य सिद्ध होताहै ॥

व्रणके सामान्य विशेष लक्षण।

तस्य लक्षणं द्विविधं सामान्यं वैशेषिकश्च तत्र सामान्यं रुक्। 'व्रण' गात्रविचूर्णने। व्रणतीति व्रणः विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिंगविशेषः॥ ५॥

व्रणमात्रके लक्षण दो प्रकारके हैं सामान्य और विशेष। जिसमें सामान्य लक्षण तो पीडा होनाही है। 'व्रण' धातु गात्रके विचूर्णनं अर्थमें है उससे व्रण शब्द (क्षतवाचक) बनता है. इसके विशेष लक्षण वात-पित्त-कफ-रुधिर-वातपित्त-वात-कफ आदि भेदसे (एक एक दोषके तथा दो दो दोष मिलकर और तीन तीन दोष मिलकर तथा चारों दोष मिलकर) पंद्रह प्रकारके अथवा शुद्ध व्रण सहित १६ प्रकारके होते हैं जिन्हें जुदा जुदा वर्णन करते हैं॥ ५॥

वातादिभेदसे १५ प्रकारके व्रणलक्षण।

तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतपिच्छलाल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्॥६॥ क्षिप्रजः पीतनीलाभकिंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारी पीतपिडिकाजुष्टश्चेति पित्तात्॥ ७॥

ऊदा, सुरखी लिये, छोटा जो व्रण हो तथा ठंढा, गाढा और थोडा जिससे स्राव हो, रूखा हो, जिसमें चटचटीसी उठें और स्फुरायमान हो, जिससे अंग मुडे नहीं, जिसमें चीस और भेदन करनेकासा दुःख और पीडा अधिक हो तथा निर्मांस हो उसे वातज व्रण जानो॥ ६॥ जो शीघ्र उत्पन्न हो और बढे, जिसमें पीलापन और नीलापन हों, जिसमेंसे केंसूके फूलके रंग जैसा गरम स्राव हो, जिसमें जलन और पकानेकीसी पीडा और राग (चमक) इत्यादि विकार हों और आसपासमें पीली २ फुन्सियां हों उसे पित्तज व्रण जानो॥ ७॥

प्रततचंडकंडूबहुलः स्थूलो घनः स्तब्धशिरास्नायुजालावततः कठिनः पांडुवभासो मंदवेदनः शुक्लशीतसांद्रपिच्छलास्रावी गुरुश्चेति कफात्॥ ८॥ प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडिकाजालोपचितस्तुरंगस्थानगंधः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिंगश्चेति रक्तात्॥ ९॥

जो फैला हुवा हो, ऊंचा हो, जिसमें खाज अधिक हो, मोटा हो कडा हो, खिची हुई रगों और नसोंके जालसे व्याप्त हो, कठोर हो, जिसमें पीलापन झलके, थोडी २

पीडा हो, जिससे सुपेद ठंढा चिकना गाढा मल स्रावे और भारी हो उसे कफज व्रण जानो ॥८॥ जो मूंगेके ढेरके सदृश रंगवाला हो, काले फोडे और फुन्सियोंके जालसे व्याप्त हो, जिसमें घोडेके स्थान जैसी गंध आवे, वेदना अधिक हो, धूमसे व्याप्त हो, जिसमेंसे रुधिर स्रवे और पित्तके लक्षण हों उसे रक्तज व्रण जानो ॥९॥

तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभासस्तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्याम् ॥ १० ॥ कंडूयनशीलः सनिस्तोदो दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छलस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्याम् ॥ ११ ॥ गुरुः सदाह उष्णः पीतः पांडुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्याम् ॥ १२ ॥ रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातशोणिताभ्याम्॥१३॥ घृतमंडाभो मीनधावनतोयगंधिर्मृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्याम् ॥१४॥ रक्तो गुरुः पिच्छलः कंडूप्रायः स्थिरः सरक्तपांडुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्याम् ॥१५॥

जिसमें व्यथा, दाह, धूमव्याप्ततासी हो, पीला सुरखी लिये रंग हो और ऐसा ही स्राव हो तो उसे वातपित्तज व्रण जानो ॥ १० ॥ जिसमें खाज हो, दारुण पीडा हो, बार बार शीतल गाढा मल स्रवे उसे वातकफज व्रण जानो ॥ ११ ॥ जो भारी हो, दाहयुक्त हो, गरम हो, पीला हो और जिसमेंसे पीला स्राव हो उसे कफपित्तज व्रण जानो ॥ १२ ॥ जो रूखा हो, छोटा हो, जिसमें व्यथा अधिक हो, त्वचा सुप्तसी हो, रंग सुरख ऊदासा हो और ऐसा ही स्राव हो उसे वातशोणितका व्रण जानो ॥ १३ ॥ जो घृत और मांडके रंगवाला हो, जिसमें मछलीधोवनकेसी गंध आवे, कोमल हो, विसर्पी (फैलनेवाला) हो, जिसमेंसे गरम काला स्राव हो उसे पित्तशोणितका व्रण जानो ॥ १४ ॥ जो भारी हो, सुरख हो, चिकना हो, जिसमें प्रायः खाज आवे, स्थिर हो, रुधिर सहित पीला स्राव जिसमें हो उसे कफशोणितज व्रण जानना चाहिये ॥ १५ ॥

स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्यः ॥ १६ ॥ कंडूस्फुरणचुमचुमायनप्रायः पांडुघनरक्तास्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः ॥ १७॥ दाहपाकरागकंडूप्रायः पांडुघनरक्तास्रावी चेति श्लेष्मपित्तशोणितेभ्यः ॥ १८ ॥ त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः ॥ १९ ॥

जिसमें स्फुरण, व्यथा, दाह तथा धूमव्याप्ततासी विशेष हो और पीला हलका सुरख स्राव हो उसे वायुपित्त और रक्तज व्रण जानो ॥१६॥ जिसमें खाज, स्फुरण, चुमचुमाट विशेष हो, पीला गाढा सुरख स्राव हो वह वायु कफ और रुधिरका व्रण है ॥१७॥ जिसमें जलन, पकनेकीसी व्यथा और झलक तथा खाज हो, पीला भारी सुरखी लिये स्राव हो वह कफपित्त और रुधिरका व्रण होताहै ॥१८॥ जिसमें तीन प्रकार (श्याम, पीत, श्वेत) रंग हो और तीनों प्रकारकी वेदना (तोद, दाह और खाज) हो और तीनों प्रकारका स्राव (काला, पीला, सुपेद) हो वह वायु पित्त और कफका व्रण होताहै ॥ १९ ॥

निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकंडूस्वापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः ॥ २० ॥

जिसमें जलनेकीसी पीडा, मथनेकीसी व्यथा और स्फुरण तथा चीस, दाह और पाक तथा राग और खाज तथा त्वक्स्वापविशेष हो, अनेक प्रकारका वर्ण और अनेक प्रकारकी वेदना हो और नाना प्रकारकाही स्राव हो तो उसे वायु पित्त कफ और रुधिर चारों दोषोंका व्रण जानो ॥ २० ॥

शुद्ध व्रण ।

जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥ २१ ॥

जो जिह्वाके तलभागके समान (सुपेदीलिये सुरख) हो, कोमल हो, चिकना हो श्लक्ष्ण (लजलजा) हो, जिसमें व्यथा न हो, जिसकी व्यवस्था अच्छी हो, जिसमेंसे पीव (राध) नहीं झिरै उसे शुद्ध व्रण जानो ॥ २१ ॥

व्रणके ६० उपक्रम ।

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवंति । तद्यथा अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यंगः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं स्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूमनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्म अग्निकर्म कृष्णकर्म पांडुकर्म प्रतिसारणं रोमसंजननं लोमापहरणं वस्ति-

(वा० २०) दाहस्तु सामान्यं, निर्दहनं विशेषतया दहनमिति भेद. । पचनमिव पाकः ।

कर्मोत्तरवास्तिकर्म बंधः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधुसर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानम् २२॥

पूर्वोक्त लक्षणोंवाले व्रणके ६० उपक्रम (प्रतीकार) हैं जैसे १ अपतर्पण (बढाव रोकना तृप्ति न करना), २ आलेप (लेप करना), ३ परिषेक (सेचन करना तरडे देना), ४ अभ्यंग (कोई औषधादि मलना),५स्वेद (पसीना दिलाना), ६ विम्लापन (विलयन करना),७ उपनाह (गरम वस्तुसे सेकना या गरम लेप करना), ८ पाचन (पकाना),९विस्रावण (जोक पछने आदिसे रक्त निकालना), १० स्नेह (चिकनाई पहुंचाना या स्नेहपान), ११ वमन (वमन कराना), १२ विरेचन (विरेचन कराना), १३ छेदन (फोडना), १४ भेदन (चीरना), १५ दारण (विदारण करना फाडदेना), १६ लेखन (छीलना), १७ एषण (खींच लेना), १८ आहरण (निकालना), १९ व्यधन (वींधना), २० स्रावण (पीव झिराना, छांटना), २१ सीवन (सीना),२२ संधान (जोड मिलाना), २३ पीडन (दबाना सूंतना), २४ शोणितास्थापन (खून रोकना), २५ निर्वापण (शांति करना दोषोंको मारना), २६ उत्कारिका (लूपरी), २७ कषाय (क्काथ व्रण धोने आदिके लिये), २८ वर्त्ति (बत्ती औषध स्नेहादिमें भरकर घावमें रखना), २९ कल्क (लुगदी), ३० सर्पिः (घृत), ३१ तैल, ३२ रसक्रिया (शोधनी रसक्रिया), ३३ अवचूर्णन (पिसी औषध बुरकाना), ३४ व्रणधूपन (व्रणको धूनी देना), ३५ उत्सादन (ऊपरको उकसाना), ३६ अवसादन (नीचेको बिठाना), ३७ मृदुकर्म (कोमल करना), ३८ दारुणकर्म (कठोर करना), ३९ क्षारकर्म (तेजाबका उपयोग करना),४० अग्निकर्म (व्रणको दाग देना), ४१ कृष्णकर्म (कालापन करना), ४२ पांडुकर्म (पीलापन करना), ४३ प्रतिसारण (फैला देना एकसा करना), ४४ रोमसंजनन (बाल पैदा करना), ४५ लोमापहरण (बाल दूर करना), ४६ वास्तिकर्म (पिचकारी देना), ४७ उत्तरवस्तिकर्म, ४८ बंध (पट्टी बांधना), ४९ पत्रदान (पत्ते लगाना या पत्ते बांधना), ५० कृमिघ्न (यदि कीडे पडगये हों तो उन्हें नाश करना या कृमि नहीं पड़ने देना), ५१ बृंहण (मांसादि बढाना), ५२ विषघ्न (व्रणसे जहरीलापन दूर करना),५३ शिरोविरेचन (मूर्द्धाका विरेचन कराना), ५४ नस्य (नास सुँघाँना), ५५ कवलधारण (मुखमें दवा रखना), ५६ धूम (धूमपान कराना या धूम पहुँचाना), ५७ मधुसर्पि (शहत और घीका उपयोग), ५८ यंत्र (सलाई चिमटी आदि), ५९ आहार (व्रणितको पथ्य भोजन देना), ६० रक्षाविधान (व्रणकी रक्षा रखना छिल न जावे दबे न तथा रगड आदि आघात न पहुंचने पावे) ॥ २२ ॥

उपक्रमोंके कार्य और कथन।

तेषु कषायो वर्त्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियावचूर्णनमिति शोधनरोपणानि ॥ २३ ॥ तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः। शोणितास्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं बन्धविधानं चोक्तानि ॥ २४ ॥

इन ६० उपक्रमोंमेंसे कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल रसक्रिया और अवचूर्णन ये शोधन और रोपणके वास्ते किये जाते हैं॥२३॥और इनमेंसे आठ उपक्रम(छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, विस्रावण और सीवन) शस्त्रके कृत्य हैं (ये अष्टविध शस्त्रकर्म सूत्रस्थानके २५वें अध्यायमें पहले वर्णन करचुके हैं) और शोणितास्थापन ४ प्रकारका (संधान, स्कंदन, पाचन, दहन) ये रुधिर बंद करनेके चार उपाय सूत्रस्थानके १४ वें अध्यायमें कहचुके हैं तथा क्षार दो प्रकारका (१ प्रतिसारणीय, २ पानीय) सूत्रस्थानके ग्यारहवें अध्यायमें कहा गया है और अग्निकर्म (दाग देना) यह सूत्रस्थानके १२ वें अध्यायमें कहा जा चुका है तथा यंत्र सूत्रस्थानके ७ वें अध्यायमें वर्णन होचुके हैं और आहारका वर्णन हिताहितीय तथा अन्नपानविधि नामक अध्यायोंमें होचुकाहै इसी भांति रक्षाविधान सूत्रस्थानके पंचमाध्यायमें वर्णन होचुका है और बंधविधि (१४ प्रकारके बंध) सूत्रस्थानके १८वें अध्यायमें कहचुके हैं ॥ २४ ॥

स्नेहस्वेदनवमनविरेचनवस्त्युत्तरवस्तिशिरोविरेचननस्यधूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः। यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यंते ॥ २५ ॥

स्नेहपानादि, स्वेदविधि, वमनविधि, विरेचन वस्तिकर्म, उत्तरवस्ति, शिरोविरेचन और नस्य (नास लेना), धूमपान और कवलधारणविधि अन्यत्र अगाडी वर्णन करेंगे इनके सिवाय जो उपाय ६० उपक्रमोंमेंसे शेष रहे वे यहांपर वर्णन किये जाते हैं ॥ २५ ॥

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफस्तस्यैकादशोपक्रमा संत्यपतर्पणादयो विरेचनांतास्ते च विशेषेण शोथप्रतीकाराः वर्त्तन्ते व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यंते। शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव। अपतर्पणं त्वाऽद्य उपक्रम एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च ॥ २६ ॥

(वा० २४) तेषु षष्ट्युपक्रमेषु अष्टौ छेदनादयः शस्त्रकृत्याः ॥

पहले जो ६ प्रकारका शोथ वर्णन किया है उसके अपतर्पणसे लेकर विरेचन पर्यंत ११ उपक्रम हैं और ये ग्यारह उपाय शोथ (शारीरक व्रणके पूर्व होनेवाले) के ही प्रतीकार हैं परंतु शोथके व्रणभावको प्राप्त होने परभी ये विरुद्ध नहीं हैं परंच शेष जो उपक्रम रहे वे व्रण (घावहीके प्रतीकारके हेतु हैं इन सबमें भी अपतर्पण (लंघन या जिससे वृद्धिका वेग रुके) सब शोथोंमें आद्य सामान्य और विशेष प्रधान उपाय है ॥ २६ ॥

अपतर्पण ।

दोषोच्छ्रायोपशांत्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः ॥ अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम् ॥ २७ ॥ ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोष-श्रमान्वितैः ॥ न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः ॥ २८ ॥

दोष करके व्याप्त जो मनुष्य हो उसके दोषोंके उफान (बढाव) की शांतिके अर्थ उसका दोष और बल देखकर उसके अनुसार अपतर्पण कर्म करना उचित है ॥ ॥ २७॥ और जिसके वायु ऊर्द्धगामी हो तथा तृषा और क्षुधाकी व्यथा हो, जिस का मुख सूखता हो, जो श्रमसे थका हो तथा गार्भिणी स्त्री,वृद्ध,वालक, दुर्बल और डरपोक इन्हें अपतर्पण न कराना ॥ २८ ॥

लेपन ।

शोफेषूत्थितमात्रेषु व्रणेषूग्ररुजेषु च ॥ यथास्वैरौषधैर्लेपं प्रत्येकं चै-व कारयेत् ॥ २९ ॥ यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यंभसा परिषेचनम् ॥ क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥ ३० ॥ प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा ॥ उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत् ॥ ३१ ॥

शोथके उठतेही अथवा दारुण व्यथावाले व्रणके उत्पन्न होतेही यथोक्त औषधों-का लेप दोष दोषके प्रति करना चाहिये ॥ २९ ॥ (इसमें दृष्टांत है कि) जैसे घरके जलते समय जल डालनेसे शीघ्रही अग्नि शांत हो जाती है ऐसेही लेपन रोगकी व्यथाको शांत करता है ॥ ३० ॥ लेप प्रह्लादन (सुख उत्पन्न) करने और शोधन तथा शोथके हरने और उत्सादन एवं रोपण और चकारसे अवसादन, रोमसंजनन आदिमें भी हित होता है ॥ ३१ ॥

(श्लो० २८) अपतर्पण न कार्यम् । अपतर्पणेन पूर्वोक्तेनान्वयः ॥ (श्लो० २९) प्रत्येकमिति-प्रत्येकदोषानुरूपेणेत्यर्थः ॥

परिषेक।

वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलधान्याम्लमांसरसवातहरौषधनिःक्वाथैरशीतैः परिषेकान्कुर्वीत ॥ ३२ ॥ पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधक्षीरवृक्षनिःक्वाथैरनुष्णैः परिषेकान्कुर्वीत ॥ ३३ ॥ श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैरशीतैः परिषेकान्कुर्वीत ॥ ३४ ॥

वायुका शोथ हो तो उसकी वेदनाकी शांतिके लिये घृत, मीठा तैल, धान्याम्ल (एक प्रकारकी कांजी), मांसका रस और वायुनाशक औषधोंके क्वाथ इनमेंसे जो जो उचित हों उन्हें गरम कर परिषेक (तरडा देना) चाहिये ॥ ३२ ॥ पित्त रुधिर तथा अभिघात (चोट) तथा विषके शोथमें दूध, घृत, शहत, शरबत, ईखका रस, मधुर औषध (जैसे मधुयष्टी), क्षीर वृक्ष (दूधवाले वृक्ष जैसे गूलर, वट) इनके शीतल क्वाथका परिषेक करना उचित है ॥ ३३ ॥ कफके शोथमें कटुतैल, मूत्रक्षारोंका जल, मदिरा, सिरका तथा कफनाशक औषधोंके गरम क्वाथका परिषेक करना चाहिये ॥ ३४ ॥

यथांबुभिः सिच्यमानः शांतिमग्निर्नियच्छति ॥
दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति ॥ ३५ ॥

परिषेक उपाय पर दृष्टांत कहते हैं कि, जैसे जलके छिडकनेसे अग्नि शांत हो जाती है इसी भांति परिषेक करनेसे दोषकी अग्नि शीघ्र शांत होती है ॥ ३५ ॥

अभ्यंग।

अभ्यंगस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो दोषोपशमं मृदुतां च करोति ॥ ३६ ॥ स्वेदविम्लापनादीनां क्रियाणां प्राक् स उच्यते ॥ पश्चात्कर्मसु चादिष्टः स च विस्रावणादिषु ॥ ३७ ॥

अभ्यंग (तैलादिका मर्दन) दोषोंको देखकर उसपर जो उचित हो सो दोषोंको शांत करता है तथा मृदुता (कोमलता) करता है ॥ ३६ ॥ वह अभ्यंगकर्म स्वेद और विम्लापन आदि क्रियाओंसे पहले करना उचित है तथा विस्रावण (रुधिर निकालने) आदि कर्मोंसे पीछे करना उचित है ॥ ३७ ॥

स्वेदन।

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च ॥
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः ॥ ३८ ॥

(श्लो० ३८) ये च एवंविधा व्रणास्तत्रापि स्वेदनं कार्यमित्यन्वयः ॥

वेदनावाले दारुण और कठिन (कठोर) जो शोथ होते हैं अथवा ऐसे ही जो व्रण होते हैं उनका स्वेदनकर्म (पसीना निकालना अर्थात् औषधोंसे या ईंट, मिट्टी आदिसे सेकना) चाहिये ॥ ३८ ॥

विम्लापन।

स्थिराणां रुजतां मन्दं कार्यं विम्लापनं भवेत् ॥ अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः ॥ विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा ॥ ३९ ॥

जो वात, कफके स्थिर और मंद पीडावाले शोथ हैं उनमें विम्लापन कर्म (उचित) होताहै। यह इस भांति करना चाहिये कि, पहले तैलादिका मर्दन और स्वेदन कराकर चतुर वैद्य धीरे २ बांसकी पोरीसे या अँगूठेसे दबाकर मले जिससे संचित दोष फैलकर विलाय जावें ॥ ३९ ॥

उपनाह।

शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः ॥
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च ॥ ४० ॥

आम (कच्चे) और विदग्ध (पके) दोनों प्रकारके शोथोंपर उपनाहकर्म (गरम २ भुरता या अन्य स्निग्ध गरम औषध बांधना या इनसे सेकना) करना चाहिये इससे कच्चा शोथ हो तो बैठ कर शांत हो जाता है और जो पक्का शोथ होता है वह पक जाता है ॥ ४० ॥

पाचन तथा उत्कारिकाविधि।

निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः ॥ तस्य संपाचनं कुर्यात्समाहृत्यौषधानि तु ॥ ४१ ॥ दधितक्रसुराशुक्तधान्याम्लैर्योजितानि तु ॥ स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥ ४२ ॥ सैरण्डपत्रया शोफं नाहयेदुष्णया तया ॥ हितं संभोजनं चापि पाकायाभिमुखो यदि ॥ ४३ ॥

जो शोथ अपतर्पणको आदिले विरेचन पर्यंत उपक्रमोंसे शांत न हो तो औषधोंसे उसे पकाना ही चाहिये ॥ ४१ ॥ दही, छाछ, मदिरा, सिरका, कांजी इनकी

(श्लो० ४१ । ४२ । ४३) समाहृत्यौषधानीति–औषधानि मिश्रकोक्तानि शणमूलादीनि समभागानीति। तत्र चतुर्गुणप्रमाणदध्यादिद्रव्याणि समाहृत्य स्पष्टलवणीकृत्य उत्कारिकां लप्सिकाकृतिं नाहयेत् पचेत्। अन्ये तु पूपलिकाकृतिं नाहयेत् बध्नीयात् (इति डल्हनः)

योजना युक्त स्निग्ध (चिकनाई युक्त) और लवण सहित सुन्दर उत्कारिका (लूपरी) पकावे उसे अरंडके पत्तेपर रखकर (या उसमें अरंडके पते मिले हों) उस गरम गरमसे शोथको सेके (या उसपर बांध दे) और हित (पथ्य) भोजन दे यदि पकाव पर आता देखे तो यह उत्कारिकाबंधन (पाचन) कर्म करे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

रक्तस्रावण।

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च ॥ अचिरोत्पतिते शोफे कुर्य्याच्छोणितमोक्षणम् ॥ ४४ ॥ सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति ॥ संरब्धे विषमे वापि व्रणे विस्रावणं हितम् ॥४५॥ सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा ॥ वेदनायाः प्रशांत्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा ॥ ४६ ॥

तत्कालके उठे शोथमें वेदनाकी शांतिके लिये और पकावके रोके जानेके अर्थ रक्तमोक्षण (सिरामोक्ष या जलौका आदिसे रुधिर निकालना) हित है ॥ ४४ ॥ तथा शोथयुक्त, कठिन, काले रुधिरसे युक्त तथा वेदना सहित और संरब्ध (संरंभवाले) तथा विषम (ऊंचे नीचे) ऐसे व्रण (घाव) में भी विस्रावण (रुधिर निकलवाना) हित है ॥ ४५ ॥ और जो घाव विषयुक्त हो उसमें विशेष करके जलौका अथवा पछने (शृंग) आदिसे वेदनाकी शांतिके अर्थ और पकावकी रोकके लिये रुधिर निकलवाना चाहिये ॥ ४६ ॥

स्नेहपान।

सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम् ॥
यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते ॥ ४७ ॥

व्रण करके शुष्क जो मनुष्य होगये हों तथा जो दुबले हों उनके और रूक्ष मनुष्योंके उपद्रव युक्त व्रण हों तो उन्हें यथोक्त औषधोंसे सिद्ध किया हुआ स्नेह पान करना चाहिये ॥ ४७ ॥

वमन और विरेचन।

उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः ॥ संक्लिष्टश्यामरुधिरे व्रणे

(श्लो० ४५) संरब्धे विशालमूले। विषमे निम्नोन्नते। (श्लो० ४६) जलौकोभिस्तथापदैः विस्रावणं हितमित्यन्वयः। (श्लो० ४७) व्रणशोषिणां व्रणनिमित्तक्षीणानाम् ॥ (श्लोक ४८) संक्लिष्टे दुष्टम्। श्याम ईषत्कृष्णम् ॥

प्रच्छर्दनं हितम् ॥ ४८ ॥ वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबंधिषु ॥
विरेचनं प्रशंसंति व्रणेषु व्रणकोविदाः ॥ ४९ ॥

जिसमें मांस ऊपरको उकसा हो ऐसे शोथमें तथा कफयुक्त शोथमें और जिसमें कडा और काला रुधिर हो ऐसे व्रणमें वमन कराना उचित है ॥४८॥ वात-पित्तसे दूषित और अधिक समयके ठहरे हुए (शोथ) अथवा व्रण हों तो उनमें विरेचन देना ठीक समझा जाता है ॥ ४९ ॥

छेदन ।

अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च ॥
स्नायुकोथादिषु तथा छेदनं प्राप्तमुच्यते ॥ ५० ॥

जो न पकें ऐसे (अर्बुदादि) रोगोंमें तथा कठिन और स्थिर (ग्रंथि आदि) रोगोंमें तथा स्नायु कोथादि व्रणोंमें छेदन (काटना) उचित कहा जाता है ॥५०॥

भेदन ।

अंतःपूयेष्ववक्रेषु तथैवोत्संगवत्स्वपि ॥
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ॥ ५१ ॥

जिसमें भीतरकी तरफ पीव प्रवेश कर रहा हो जिसके मुह न हो या छोटा मुह हो तथा जो उत्संगवाला हो अर्थात् गहरा हो तथा चलायमान हो ऐसे व्रणोंमें भेदनकर्म (चीरना) उचित है ॥ ५१ ॥

दारण ।

बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि ॥ मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तं च दारणम् ॥ ५२ ॥ सुपक्वे पिंडिते शोफे पीडनैरवपीडिते ॥ पाकोद्वृत्तेषु दोषेषु तत्तु कार्यं विजानता ॥ सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥ ५३ ॥

बालक, वृद्ध तथा जो छेदन भेदनकी शस्त्रपीडा नहीं सहसके और जो क्षीण हो तथा डरपोक हो तथा स्त्री हो इनके शोथ (गुमडा) हो उसे तथा मर्मस्थानोंपर जो विद्रधि आदि हों उन्हें दारण करना चाहिये अर्थात् औषधोंसे ही फोडना चाहिये ॥ ५२ ॥ जो शोथ खूब पकगया हो, सिमटकर एकठौर पिंडासा होगया हो और पीडनकर्मसे पीडित किया गया हो (आस पासका मवाद सूँतकर एक जगह

(श्लो० ५०) अपाकेषु अविद्यमानपाकेषु मेदःकफग्रंथिमांसकफादिषु अथवा ईषत्पाकेषु वल्मीकादिषु प्राप्तं युक्तम् ॥

इकट्ठा किया गया हो) और दोष खूब पकाव पर आगये हों तो दारण कर्म करना (फोडना) चाहिये। सुज्ञ वैद्य पिसे हुए दारण द्रव्य (कपोतकी विष्ठा, कांच, लवण आदिसे) अथवा उचित तेजाबसे दारण कर्म करे॥ ५३॥

लेखन।

कठिनान्स्थूलवृत्तौष्ठान्दीर्यमाणान्पुनः पुनः॥ कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक्॥ ५४॥ समं लिखेत्सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः॥ वर्त्मनाऽनुप्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत्॥५५॥ क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैंधवम्॥ कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्॥ ५६॥

जिन व्रणोंके किनारे मोटे मोटे और गोल हों तथा जो कई वार फटने पर भी शुद्ध न हो, जिनमें कडा, उठा हुआ मांस हो उसका लेखन कर्मसे यत्न करे अर्थात् ऐसे व्रणोंको आवश्यक ठौरसे खुरचदे (छीलदे)॥ ५४॥ जहांसे छीले वहां एकसा छीले और छीलने या खुरचनेके समय निःशेष खुरचदेना चाहिये और खुरचनेके समय मुखके अनुगत खुरचना चाहिये और शस्त्रके अनुसार छीलना चाहिये॥ ५५॥ क्षौम प्लोत (कर्पट), पिचु (रुई), फेन (समुद्रफेन), यावशूक (यवक्षार या यवशूक) और सैंधव तथा कडे पत्ते ये वस्तु कई जगह लेखन (खुरचने) के लिये उपयोग करे॥ ५६॥

एषण।

नाडीव्रणाञ्छल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्संगिनः शनैः॥ करीरबालांगुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक्॥ ५७॥ नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्राः सशोणिताः॥ चुच्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेत्तु ताः॥ ५८॥

(श्लो० ५४। ५५। ५६) लेखनविषय डल्लन एव व्याख्याति—कठिनान् मांसहीनान् अधिकं लिखेत् स्थूलवृत्तौष्ठान् सुलिखितं लिखेत्। पुनः पुनः दीर्यमाणान् निरवशेषतो लिखेत्। कठिनोत्सन्नमांसान् वर्त्मनानुप्रमाणेन समं लिखेदिति। श्रीसवीरजैटब्रह्मदेवाश्चतुरो विषयानाह तथाहि—कठिनान् इत्येको विषयः। स्थूलवृत्तौष्ठानिति द्वितीयो विषयः। दीर्यमाणान् पुनः पुन इति तृतीयो विषयः। कठिनोत्सन्नमांसानिति चतुर्थः। तत्र समं लिखेत् सुलिखितं लिखेत्। निरवशेषतो लिखेत् वर्त्मनानुप्रमाणेन समं शस्त्रेण लिखेदिति प्रत्येकं विषयेन सबध्यते इति। परमत्र सर्वेभ्योऽर्थेभ्यः समाहारार्थो भाषयोदितः श्रेष्ठतमः॥ (श्लो०५७) उन्मार्गी भगंदरः अथवा उत्सृष्टो मार्गो विद्यते येषां ते उन्मार्गिणो व्रणाः। उत्संगिनः ऊर्ध्वसंगिनः अथवा शंबूकावर्ताद्याः (इति डल्लनः) करीरः वंशांकुरः (इति शब्दस्तोमः) वालाः करिशूकरादीनाम्॥ (श्लो० ५८) गुदाभ्यासनाड्यः गुदासमीपजा नाड्यश्च अवक्रा अमुखाः॥

नाडीव्रणोंको और जिनमें भीतर शल्य (कांटा, नोक आदि) हो तथा उन्मार्गी (जिनका उपरिमार्गकी ओर गमन हो जैसे भगंदर) और उत्संगी (जैसे शंबूकावर्त आदि) ऐसे व्रणोंमेंसे वैद्य करीर (बांसके अंकुर), बाल तथा अंगुली, अथवा एषणीयंत्रसे धीरे धीरे शल्य खींचकर निकाले ॥ ५७ ॥ नेत्रवर्त्म और गुदाके आसपासके व्रण और नाडीव्रण तथा जिनके मुख न हो या सूक्ष्म मुख हो ऐसे रुधिरसे भरे व्रण हों तो उन्हें चुञ्चूशाक या पोईके शाककी लजलजी नालीसे या बांसकी नालीसे एषण करे (घुसाना चाहिये) ॥ ५८ ॥

आहरण ।

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान्भिषक् ॥
यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्तोद्धरणलक्षणम् ॥ ५९ ॥

जिन व्रणों (घावों) का मुह खुला हो अथवा नहीं खुला हो उनमेंसे बुद्धिमान् वैद्य शल्यको तब आहरण करे (निकाले) जब कि, वह शल्य सर्वतोभावसे प्राप्त होसके और उसमें निकल आनेके यथोक्त पूरे लक्षण पाये जावें ॥ ५९ ॥

व्यधन और स्रावण ।

रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशप्रमाणतः ॥
शस्त्रं निदध्याद्दोषं च स्रावयेत्कीर्तितं यथा ॥ ६० ॥

जो रोग व्यधनसाध्य है अर्थात् बींध कर मल निकालनेसे साध्य हो जैसे जलोदरादि या विस्फोटक (फाल) के आदि उनमें उपदेशके अनुसार प्रमाणसे शस्त्र प्रवेश करके यथोचित स्राव करावे ॥ ६० ॥

सीवन और संधान ।

अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये ॥
यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं संधानमेव च ॥ ६१ ॥

जो पकावके उपद्रवोंसे रहित तत्कालके कटे घाव हैं और मांसमेंसे (या त्वचामेंसे) फट गये हैं उनको यथोक्त रीतिसे सीवना और संधान करना (जोडना) चाहिये॥ ६१॥

पीडन ।

पूयगर्भानणुद्वारान्व्रणान्मर्मगतानपि ॥ यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समंतात्परिपीडयेत् ॥ ६२ ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥ न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥ ६३ ॥

(श्लो० ६०) व्यधनसाध्ये दकोदरमूत्रवृद्ध्यादौ ॥ (श्लो० ६२) यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः त्वङ्मूलादिभिः । (श्लो० ६३) प्रदेह लेपनम् । दोषः पूयः ॥

जिनके भीतर पीब हो और उनका मुह तंग हो तथा मर्मस्थानोंमें जो व्रण हों उन्हें यथोक्त पीडन द्रव्योंसे मुखके आसपासमें पीडन करे (दबावे या सूंते) या गद्दी चढाके बांधे जिससे सब पीब छूट जाय॥ ६२ ॥ जहां जहांसे व्रण सूखता जावे वहां वहां प्रदेह (लेप या मल्हम) नहीं लगावे और वहां पीडन भी नहीं करे तथा व्रणके मुहको लेप आदिसे रोकना भी नहीं चाहिये जैसे उसके दोष छूट जावें उस प्रकार लेप आदि यत्न करे ॥ ६३ ॥

शोणितास्थापन।

तैस्तैर्निमित्तैर्बहुधा शोणिते प्रस्रुते भृशम् ॥
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं खलु ॥ ६४ ॥

यदि रक्तमोक्षण तथा विस्रावणादि कारणोंसे बहुत रुधिर निकले और वह स्वयं बंद न हो तो वैद्यको यथोक्त रीतिसे शोणित स्थापन करना (रुधिर रोकना) चाहिये ॥ ६४ ॥

निर्वापण।

दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः ॥ रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥ ६५ ॥ यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृतप्लुतैः ॥ दिह्याद्वहलाँल्लेपान्सुशीतांश्चावचारयेत् ॥ ६६ ॥

जिन व्रणोंमें दाह और पकनेकीसी पीडा तथा ज्वर हो, जो व्रण पित्तके कोपसे उपजे हों तथा रुधिरदोषसे उठे हों उनमें निर्वापण (शीतल लेप सेचन) कर्म करना उचित है ॥ ६५ ॥ जो पहले मिश्रकाध्यायमें दूर्वादि शीतल द्रव्य कहे गये हैं उन्हें दूधमें पीस घृत मिलाकर ठंढा २ हलका लेप करना चाहिये ॥ ६६ ॥

उत्कारिका स्वेदन।

व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु ॥ तोदकाठिन्यपारुष्यशूलवेपथुमत्सु च ॥ ६७ ॥ वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा ॥ स्नैहिकेषु च वीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥ तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम् ॥ ६८ ॥

जिन व्रणोंमें मांसकी क्षीणता हो, जो कम झिरते हों, जो पकते न हों, जिनमें तोद (तरडाव) कडापन, खरदरापन, शूल और वेपथु (कंप या झनझनाट) हो। उनपर वायुनाशक द्रव्यों और अम्लगणों तथा काकोल्यादि गण एवं स्नैहिक (चिकनाईवाले) बीज (अलसी तिलादि) मिलाकर अच्छी (न बहुत कडी और

न बहुत नरम) उत्कारिका (लूपरी या पुलटस) पकाकर बांधे और उससे पूर्वोक्त स्थिर और व्यथायुक्त व्रणोंका स्वेदन कर्म करे ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

शोधन ।

दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छलानां विशेषतः ॥ कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः ॥ ६९ ॥ अंतःशल्यानणुमुखान्गंभीरान्मांससंश्रितान् ॥ शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान्यथाक्रमम् ॥७०॥ पूतिमांसप्रतिच्छन्नान्महादोषांश्च शोधयेत् ॥ कल्कीकृतैर्यथालाभं वर्तिद्रव्यैः पुरोदितैः ॥ ७१ ॥ पित्तप्रदुष्टान्गंभीरान्दाहपाकप्रपीडितान् ॥ कार्पासीफलमिश्रेण जयेच्छोधनसर्पिषा ॥ ७२ ॥

जिन व्रणोंमें दुर्गंध हो, जो आर्द्र ही बनेरहें, जो पिच्छल (स्निग्ध) हों उन्हें विशेष कर पूर्वोक्त शोधन द्रव्योंके काथसे शोधन करना चाहिये (व्रणशोधनद्रव्य सूत्रस्थानके ३८ वें अध्यायमें कह आये हैं) ॥६९॥ जिनके भीतर शल्य हो, जिनका मुह छोटा हो, जो गंभीर हों, जिनपर मांस छाया हो उन्हें शोधन द्रव्योंसे सानी हुई बत्तीसे शुद्ध करे (अर्थात् उनमें शोधन औषधोंकी बत्ती स्थापनकर शोधन करे) ॥ ७० ॥ जो सडे मांससे आच्छादित हों, जिनमें प्रबल दोष हों उन्हें पूर्वोक्त शोधन द्रव्योंके कल्ककी बत्तीसे शोधन करना चाहिये ॥ ७१ ॥ जो व्रण पित्तदूषित हों, गंभीर हों। जिनमें दाह और पाककी पीडा हो उन्हें कार्पासबीज (बिनौले) से मिश्रित शोधनद्रव्योंके घृतसे शुद्ध करे ॥ ७२ ॥

उत्सन्नमांसानस्निग्धानल्पास्रावान्व्रणांस्तथा ॥ सर्षपस्नेहयुक्तेन धीमांस्तैलेन शोधयेत् ॥ ७३ ॥ तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम् ॥ व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्य्याद्द्रव्यैरुदीरितैः ॥७४॥

जिन व्रणोंमें मांस उभराहुवा हो, जो रूखे हों, जिनमेंसे स्राव कम हो ऐसे व्रणोंको सरसोंके तैलसे मिले शोधन द्रव्योंसे शुद्ध करे ॥ ७३ ॥ जो व्रण तैलसे शुद्ध नहीं हों और जिन व्रणोंमें स्थिर मांस हो उनके लिये पूर्वोक्त शोधन द्रव्योंकी रसक्रिया करनी चाहिये (अर्थात् शोधनद्रव्योंके रसका उपयोग करे) ॥ ७४ ॥

शोधनीरसक्रिया ।

कषाये विधिवत्तेषां कृते व्यामिश्रयेत्पुनः ॥ सुराष्ट्रजां सकासीसां दद्याच्चापि मनःशिलाम् ॥ ७५ ॥ हरितालं च मतिमांस्ततस्तामवचारयेत् ॥ मातुलुंगरसोपेतां सक्षौद्रामतिमर्दिताम् ॥ ७६ ॥

व्रणेषु दत्त्वा तां तिष्ठेत्त्रींस्त्रींश्च दिवसान्परम् ॥ गंभीरान्मेदसा जु-ष्टान्दुर्गंधांश्चूर्णशोधनैः ॥ उपाचरेद्भिषक्प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनव-र्तिजैः ॥ ७७ ॥

विधिपूर्वक उक्त शोधन द्रव्योंका क्वाथ करके उसमें फटकडी, कसीस मिलावे और मैनसिलभी डाले॥७५॥तथा हरताल भी बुद्धिमान् वैद्य इसमें मिलावे और मातुलुंग (नींबू)के रसकी योजना भी करे और शहत,मिलाकर इसे खूब मले॥७६॥ फिर इसे व्रणोंमें भरकर तीन तीन दिनतक रहने दे (चौथे दिन बदल दिया करे जबतक व्रण खूब शुद्ध न हो तबतक ऐसे ही करे) तथा जो व्रण गंभीर और मेद-युक्त हो और जिनमें दुर्गंध आती हो उन्हें शोधन द्रव्योंके चूर्णसे शोधन करे अथवा शोधन द्रव्योंकी मुलायम (स्निग्ध वत्तीसे शोधनका उपाय) करे ॥ ७७ ॥

रोपण।

शुद्धलक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम् ॥ तत्र कार्यं यथोद्दिष्टै-र्द्रव्यैर्वैद्येन जानता ॥ ७८ ॥ अवेदनानां शुद्धानां गंभीराणां तथैव च ॥ हिता रोपणवर्त्यंगकृता रोपणवर्त्तयः ॥ ७९ ॥

जिन व्रणोंमें शुद्ध हुएके लक्षण पाये जावें उनमें रोपण (भरनेवाला) क्वाथ उपयोग करना हित है वह रोपण क्वाथ जानकर वैद्योंको पूर्वोक्त रोपण द्रव्योंसे बनाना चाहिये ॥ ७८ ॥ जिन व्रणोंमें वेदना नहीं रहे और शुद्ध हो जावें पर गंभीर हों उनमें रोपणवत्तीके द्रव्योंकी वत्ती बनाकर स्थापन करके रोपण करना चाहिये॥७९॥

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम् ॥ कल्कः संरोहणः कार्यस्तिलजो मधुसंयुतः ॥ ८० ॥ स माधुर्यात्तथौष्ण्याच्च स्नेहा-च्चानिलनाशनः ॥ कषायभावान्माधुर्यात्तिक्तत्वाच्चापि पित्तहृत् ॥ औष्ण्यात्कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्च कफे हितः ॥ ८१ ॥

जिनमेंसे दुर्गंधयुक्त दूषित मांस दूर होगया हो और जो मांसमें हों ऐसे व्रणोंमें यदि अंकुर नहीं आता हो तो तिल और शहदका कल्क करके उसपर योजना कर-नेसे संरोहण होताहै अर्थात् अंकुर आजाताहै ॥८०॥ यह कल्क मीठा और गरम तथा स्निग्ध होनेसे वायुनाशक है और कसैले, मीठे और थोडा तिक्त होनेसे पित्त-नाशक है और गरम, कसैले और कडवेपनसे कफके लिये भी हित है ॥ ८१ ॥

(श्लो० ७९) रोपणवर्त्यंगकृता रोपणवर्तिद्रव्यकृताः । (श्लो० ८०) पूतिमांसम् अपेतं निर्गतं येभ्यः तेषाम् ॥

शोधयेद्रोपयेच्चापि युक्तः शोधनरोपणः॥ निंबपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः ॥ ८२ ॥ पूर्वाभ्यां सर्पिषा चापि युक्तः संरोपणे भवेत् ॥ तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ ८३ ॥ शमयेदविदग्धं च विदग्धमपि पाचयेत् ॥ पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेत्तथा ॥ ८४ ॥

यह तिलकल्क (तिलोंकी लुगदी) शोधन भी करती है और रोपण भी करती है इससे यह शोधन और रोपण दोनोंमें हित है तथा नींवके पत्ते और शहद मिलाकर शोधनके योग्य होती है॥८२॥पूर्वोक्त दोनोंमें घृत मिलानेसे रोपण होजाताहै और कोई२ बुद्धिमान् वैद्य जौके कल्कको भी तिलके कल्ककी समान गुणवाला कहते हैं यह कल्क कच्चेको बिठा देता है और पकावपर आयेको पका देता है और पके हुएको फोडदेता है और फूटेका शोधन करके रोपण कर देता है ("तिलवद्यवकल्कं" का कई यह भी अर्थ करतेहैं कि, तिलयुक्त यवकल्क देखो टिप्पणी)॥ ८३ ॥ ८४ ॥

पित्तरक्तविषागन्तुगंभीरानपि च व्रणान् ॥ रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा ॥ ८५ ॥ कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान्भिषक् ॥ कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तर्यथोदितैः ॥ ८६ ॥

पित्त, रुधिर, विष इनसे उपजे व्रण तथा आगंतु और गंभीर व्रण इन्हें दूधसे सिद्ध किये हुए रोपणीय घृत करके रोपण करे ॥८५॥ कफ और वायुसे उत्पन्न हुए व्रणोंमें बुद्धिमान् वैद्य पूर्वोक्त रोपण द्रव्योंसे सिद्ध किये हुए तैलसे रोपण करे॥८६॥

अवंध्यानां चलस्थानां शुद्धानां च प्रदुष्यताम् ॥ द्विहरिद्रायुतां कुर्याद्रोपणार्थां रसक्रियाम् ॥ ८७ ॥ समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक् ॥ चूर्णं विदध्यान्मतिमान्प्राक्स्थानोक्तो विधिर्यथा ॥ ८८ ॥

जो व्रण बांधनेमें न आसके या बंधनके योग्य न हों तथा चल स्थानमें हो (जैसे संधिका व्रण) ये शुद्ध हों और चाहे दूषित हों इन पर दोनों हलदियों सहित रोपणी रसक्रिया करनी चाहिये (प्रदुष्यताके स्थानमें अप्ररोहता यह भी पाठांतर

(श्लो० ८३) तिलवद्यवकल्कन्त्वित्यत्र तिलसदृशो यवकल्कः (इति डल्हनः) जैज्झटगयदासी तु यथा–तिला विद्यंतेऽस्मिन्निति तिलवान् तिलवांश्चासौ यवकल्कश्च तिलवद्यवकल्कस्त तिलवद्यवकल्कं ततः तिलयुक्तो यवकल्कः अविदग्ध शमयेदित्यादि ॥

है) अर्थात् जिस पर अंकुर न आया हो उस पर रोपणी रसक्रिया करे ॥८७॥ जो व्रण समान हो तथा जिनमें स्थिर मांस हो, जो त्वचामें हों उनपर रोपणके अर्थ चूर्णका उपयोग सूत्रस्थानोक्त विधिके अनुसार करे ॥ ८८ ॥

शोधनो रोपणश्चैव विधिर्योयं प्रकीर्तितः ॥ सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषतः ॥ ८९ ॥ एष. आगमसिद्धत्वात्तथैव फलदर्शनात् ॥ मंत्रवत्संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथंचन ॥९०॥ स्वबुद्ध्या चापि विभजेत्कषायादिषु सप्तसु ॥ भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया ॥ ९१ ॥

शोधन और रोपणकी जो विधि कही वह सब व्रणोंमें सामन्यतासे कही है दोषोंकी विशेषता न्यूनताका विचार इनमें नहीं ॥ ८९ ॥ यह विधि आगम (शास्त्र) से सिद्ध होनेसे और श्रेष्ठ फल दिखानेसे मंत्रकी भांति शंका, समाधान त्यागकर उपयोग करना चाहिये ॥ ९० ॥ और अपनी बुद्धिसे विचार कर वैद्य क्वाथ आदि सात उपायोंमेंसे यथायोग्य जो पहले वर्णन कर दिये गये हैं उनमेंसे कल्पना करके उपयोग करे ॥ ९१ ॥

आद्ये द्वे पंचमूल्यौ तु गणो यश्चानिलापहः ॥ स वातदुष्टे दातव्यः कषायादिषु सप्तसु ॥ ९२ ॥ न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिश्च यः स्मृतः ॥ तौ पित्तदुष्टे दातव्यौ कषायादिषु सप्तसु ॥ ॥ ९३ ॥ आरग्वधादिस्तु गणो यश्चोष्णः परिकीर्त्तितः ॥ तौ देयौ कफदुष्टे तु संसृष्टे संयुता गणाः ॥ ९४ ॥

आद्य दोनों पंचमूली और वायुनाशक गण वायुसे दूषित व्रण हो तो सातों कषायादिकमेंसे यथायोग्य मिलाकर देना चाहिये ॥ ९२ ॥ पूर्वोक्त न्यग्रोधादिक गण अथवा काकोल्यादिक गण ये दोनों सप्तकषायादिमें योजनाकर पित्तदुष्ट व्रण वालेको देना चाहिये ॥ ९३ ॥ आरग्वधादि गण तथा जो उष्ण (गरम द्रव्योंके) गण पहले कहचुके हैं कफदूषित व्रणमें ये दोनों उपयोग करने चाहिये तथा संसृष्ट दो दोषोंका व्रण तथा सन्निपातका व्रण हो तो उन्हीं सब गणोंको संयुक्त करक देना चाहिये ॥ ९४ ॥

व्रणधूपन ।

वातात्मकानुग्ररुजान्सास्रावानपि च व्रणान् ॥
सक्षौमयवसर्पिर्भिर्धूपनांगैश्च धूपयेत् ॥ ९५ ॥

वायुके व्रण जिनमें उग्र पीडा हो, जो स्रावयुक्त हों ऐसे व्रणोंको क्षौम वस्त्र, जौ और घृत मिलाकर धूपन द्रव्यों (गुग्गुलादि) की धूनी देना उचित है ॥ ९५ ॥

उत्सादन ।

परिशुष्काल्पमांसानां गंभीराणां तथैव च ॥
कुर्य्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च ॥ ९६ ॥

जिन व्रणोंमें सूखकर थोडा मांस हो तथा जो व्रण गम्भीर (नीचे) हों उन्हें उत्सादन (उकसानेवाले) घृत तथा लेपोंसे उपचार करे ॥ ९६ ॥

मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः ॥
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्द्धते ॥ ९७ ॥

जो मांसभक्षी मनुष्योंके मांस अल्प हो तो उसे विधिपूर्वक मांस भक्षण करावे क्योंकि जब उसके मनमें किसी प्रकारके शोकादि नहीं हों तब मांसको मांस बढाताही है ॥ ९७ ॥

अवसादन ।

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥
कुर्याद्द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह ॥ ९८ ॥

जिसमें कोमल और उठा हुआ मांस हो उन व्रणोंमें पूर्वोक्त कासीसादि द्रव्योंके चूर्णको शहतमें मिलाकर लगाने आदिसे अवसादन कर्म करना (अर्थात् उनका मांस नीचा करना) चाहिये ॥ ९८ ॥

मृदुकर्म ।

कठिनानामम्मांसानां दुष्टानां मातरिश्वना ॥ मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत् ॥ वातघ्नौषधसंयुक्तान्स्नेहान्सेकांश्च कारयेत् ॥ ९९ ॥

जिन व्रणोंमें विशेष कडापन हो, जिनमें मांस नहीं हो, जो वायु करके दुष्ट हों उनको वायुनाशक औषधों सहित घृत, तैल, वसा आदिसे तथा ऐसेही अभिषेकोंसे मृदु (नरम) करना चाहिये तथा रक्तमोक्ष (फस्त आदि) करना चाहिये ॥९९ ॥

दारुणकर्म ।

व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम् ॥ धवप्रियंग्वशोकानां रोहिण्याश्च त्वचस्तथा ॥ १०० ॥ त्रिफलाधातकीपुष्परोध्रसर्जरसान्स-

(श्लो० १००) दारुणीकरणं त्वचः काठिन्यकरणम् ॥

सान् ॥ कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत् ॥ १०१ ॥

जिन व्रणोंमें बहुत नरम (लजलजा और शीला) मांस हो उन्हें धव, प्रियंगु (गोंदी), अशोक, रोहिणी इनकी छाल ॥ १०० ॥ त्रिफला, धायके फूल, लोध, सर्जरस (राल) इन्हें सम भागले सूक्ष्म चूर्णकरके व्रणपर बुरकावे जिससे वह कडा होवे इस प्रकार दारुणीकरण करना ॥ १०१ ॥

क्षारकर्म।

उत्सन्नमांसकठिनान्कंडूयुक्तांश्चिरोत्थितान् ॥
तथैव खलु दुःशोधाञ्शोधयेत्क्षारकर्मणा ॥ १०२ ॥

जिनमें उभरा हुवा कडा मांस हों, जो खाज युक्त हों बहुत समयके उठे हों तथा जो दुःशोध्य हों उन्हें क्षारकर्म (तेजाब) से शोधना उचित है ॥ १०२ ॥

अग्निकर्म।

स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ॥
निःशेषच्छिन्नसंधींश्च साधयेदग्निकर्मणा ॥ १०३ ॥

जो पथरीके कारण व्रण होकर उनमेंसे मूत्र स्रवने लगे अथवा अन्य व्रण जिनसे रुधिर बहा करताही हो तथा जिनकी संधि निःशेष छिन्न हो गई हों उन्हें अग्निकर्म (दाग लगाने) से साधन करे ॥ १०३ ॥

कृष्णकर्म।

दुरूढत्वात्तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत् ॥ भल्लातकान्वासयेत्तु क्षीरे प्राङ्मूत्रभावितान् ॥ १०४ ॥ ततो द्विधा छेदयित्वा लौहे कुंभे निधापयेत् ॥ कुंभेन्यस्मिन्निखाते तु तं कुंभमथ योजयेत् ॥ ॥ १०५ ॥ मुखं मुखेन संधाय गोमयैर्दाहयेत्ततः ॥ यः स्नेहश्च्यवते तस्माद्ग्राहयेत्तं शनैर्भिषक् ॥ १०६ ॥ ग्राम्यानूपशफान्दग्ध्वा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ तैलेनानेन संसृष्टं शुक्लमालेपयेद्व्रणम् ॥ ॥ १०७ ॥ भल्लातकविधानेन सारस्नेहांस्तु कारयेत् ॥ ये च केचित्फलस्नेहा विधानं तेषु कीर्तितम् ॥ १०८ ॥

बहुत दिनतक दुःखसे भरनेके कारण जो व्रण सुपेद (दागसे) रहजावें उन्हें कृष्णकर्म (काला करना) उचित है इसके लिये भिलावोंको पहले (सात दिन) गोमूत्रमें भिगो कर फिर गोदुग्धमें भिगोवे फिर उन्हें दो दो टुकडे कर लोहेकी

कुप्पीमें भरे फिर दूसरी लोहकी कुप्पी नीचे गढेमें रख उसपर भिलावेंसे भरी कुप्पी मुख मिलाकर संधित कर देवे फिर ऊपर गोबर (छाण) की आंच दे फिर जो तैल नीचेवाली कुप्पीमें टपक आवे उसे वैद्य निकाललें ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ ॥ १०६ ॥ फिर ग्राम्य (घोडा आदि) आनूप (महिषादि) इनके नख जलाकर चूर्ण करले फिर इस चूर्णको उस भिलावेंके तैलमें मिलाकर सुपेद दाग पर लेप करे ॥ ॥ १०७ ॥ इसी विधिसे सारोंका तैलभी निकाले और जो फलोंके तैल होते हैं उनकी विधि पहले कही जा चुकी है ॥ १०८ ॥

पांडुकर्म ।

दुरूढत्वात्तु कृष्णानां पांडुकर्म हितं भवेत् ॥ सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम् ॥ तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम् ॥ १०९ ॥

दुरूढताके कारण जिसमें काला दाग रह गया हो उसपर पांडुकर्म (पीलापन) करना हित है इसके लिये रोहिणीफल (कडवी तूंबी) को तोड सात दिन तक बकरीके दूधमें भिगोवे फिर उसे गीलाही पीसकर व्रणके काले दागपर लगानेसे शरीरके सदृश वर्ण हो जाता है ॥ १०९ ॥

नवं कपालिकाचूर्णं वैदुलं सर्जनाम च ॥ कासीसं मधुकं चैव क्षौद्रयुक्तं प्रलेपयेत् ॥ ११० ॥ कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत् ॥ कासीसं रोचना तुत्थं हरितालं मनःशिलाम् ॥ १११ ॥ वेणुनिर्लेखनं चापि प्रपुन्नाटं रसांजनम् ॥ अधस्तादर्जुनस्यैतन्मासं भस्म निधापयेत् ॥ मासादूर्ध्वं ततस्तेन कृष्णमालेपयेद्व्रणम् ॥ ११२ ॥

अथवा नवीन ठेकरीका चूर्ण और वैदुल (वेतसकी जड) और सर्ज (रालके वृक्ष) की जड तथा कसीस और मुलेठी इन्हें शहदमें मिलाकर लेप करे (तो कृष्णता मिटे) ॥ ११० ॥ अथवा कपित्थ (कैथ) के भीतरकी गिरी निकालकर उसमें बकरीका मूत्र भर दे और इसीमें कसीस, गोरोचन, नीलाथोथा, हरताल, मैनसिल, बांसका बुरादा, पँवाडेके बीज और रसोत भरदे और इसे अर्जुनवृक्षके

(श्लो० १०९) रोहिणीफलमिति–रोहिणी हरीतकीभेदस्तत्फलम् । अन्ये तु कटुतुम्बीफलमाहुः ॥ (श्लो० ११०) कपालिका शरावकर्परिका । वैदुलं विदुलो वेतसस्तद्भव वैदुल मूलमिति शेषः । सर्जनाम सर्जवृक्षमूलम् ॥ (श्लो० ११२) वेणुनिर्लेखन वंशत्वग् (इति डल्लनः)

नीचे जडमें पृथ्वी खोदकर गाडदे फिर एक महीने पीछे उन सबको पीस काले व्रणोंपर लेप करे ॥ १११ ॥ ११२ ॥

प्रतिसारण ।

कुक्कुटांडकपालानि कतकं मधुकं समम् ॥ तथा समुद्रमंडूकीमणिचूर्णं च दापयेत् ॥ गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम् ॥ ११३ ॥

मुरगेके अंडेके ऊपरका भाग (छिलका), कैथ, (निर्मली), मुलेठी तथा समुद्रमंडूकी (समुद्रसीप) और मणिका चूर्ण (स्फटिकचूर्ण) ये समभाग ले गोमूत्रसे पीस गोली बनाले इनका लेपन करनेसे व्रणोंका प्रतिसारण होता है अर्थात् वर्ण पलट जाता है ॥ ११३ ॥

रोमसंजनन ।

हस्तिदंतमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसांजनम् ॥ रोमाण्येतेन जायंते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥ ११४ ॥ चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृंगास्थिभस्मना ॥ तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः ॥ ११५ ॥ कासीसं नक्तमालस्य पल्लवांश्चैव संहरेत् ॥ कपित्थरसपिष्टानि रोमसंजननं परम् ॥ ११६ ॥

हाथीके दांतको जलाकर उसकी काली राख करले उसमें रसोत मिलाकर लेप करनेसे (जिस व्रणकी जगह बाल नहीं आते हों वहां इससे) रोम आजाते है यहांतक कि, हथेली जैसी कठिन जगहमें भी इससे रोम पैदा होजावें ॥ ११४ ॥ अथवा चतुष्पदोंका चर्म, रोम, खुर, सींग और हड्डियां जलाकर उनका चूर्णकर तेल मिलाकर लेप करनेसे या तेल लगाकर वह चूर्ण बुरकनेसे उस स्थानमें रोम होजाते हैं ॥ ११५ ॥ अथवा कसीस, करंजके पत्ते जलाकर कैथके रसमें पीसकर लेप करना परम रोमसंजनक है (अवश्य रोम पैदा करनेवाला है) ॥ ११६ ॥

रोमापहरण ।

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति ॥ क्षुरकर्तरिसंदंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत् ॥ ११७ ॥ शंखचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम् ॥ शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम् ॥११८॥

(श्लो० ११३) समुद्रमण्डूकी मुक्ताशुक्तिः ॥

तैलं भल्लातकस्याथ स्नुहीक्षीरं तथैव च ॥ प्रगृह्यैकत्र सतिमान्रो-मशातनमुत्तमम् ॥ ११९ ॥ कदलीदीर्घवृंताभ्यां भस्माऽऽलं लवणं शमीं ॥ बीजं शीतोदपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत् ॥ १२० ॥

जो व्रग आसपास रोमों अथवा बालोंसे व्याप्त होनेके कारण ठीक नहीं भरता हो तो उस्तरे या कैंची या मोचनेसे उसके पास या ऊपरके बाल दूर करडालने चाहियें ॥ ११७ ॥ तथा शंखका चूर्ण दो भाग या शंख और चूना दोनों दो भाग और हरताल एक भाग इन्हें सिरकेमें पीस कर लगा देना उत्तम रोमनाशक है ॥ ॥ ११८ ॥ अथवा भिलावेंका तैल और थूहरका दूध इन्हें इकट्ठा कर लगाना भी उत्तम रोमनाशक है ॥ ११९ ॥ अथवा केला, सोनापाठा, हरताल इनकी भस्ममें लवण और शमी (जांट) वृक्षके बीज मिला ठंढ पानीसे पीस लेप करनेसे भी बाल उडजाते हैं ॥ १२० ॥

आगारगोधिकापुच्छं रंभाऽऽलं बीजमैंगुदम् ॥
दग्ध्वा तद्भस्म तैलांबु सूर्यपक्कं कचांतकृत् ॥ १२१ ॥

छिपकलीकी पुच्छ, केला, हरिताल, इंगुदीके बीज इन्हें जलाकर भस्मको तैल पानी मिला कई दिन धूपमें रख उसका लेप करनेसे बाल दूर होजाते हैं ॥ १२१ ॥

वस्ति और उत्तरवस्ति ।

वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः ॥ अधःकाये विशेषेण तत्र वस्तिर्विधीयते ॥ १२२ ॥ मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे ॥ तथैवाऽऽर्तवदोषे च वस्तिरप्युत्तरो हितः ॥ १२३ ॥

जो व्रण वायुसे दूषित हो, रूक्ष हो, जिसमें वेदना अधिक हो और विशेष कर नीचेके शरीरमें हो तो वस्तिकर्म करना हित है ॥ १२२ ॥ मूत्राघात, मूत्रदोष और शुक्रदोष तथा पथरीके कारण जो व्रण हों तथा स्त्रियोंके आर्तव (रजोधर्म) दूषित हो तो उत्तरवस्तिकर्म हित है ॥ १२३ ॥

बंधन ।

यस्माच्छुध्यति बंधेन व्रणो याति च मार्दवम् ॥
रोहत्यपि च निःशंकस्तस्माद्बन्धो विधीयते ॥१२४॥

जो कि, बंधनसे व्रण शुद्ध होता है तथा कोमलताको प्राप्त होता है तथा निःशंक भरकर अंकुर आजाता है इस लिये व्रणमें बंधन बांधना ठीक है ॥ १२४ ॥

पत्रदान ।

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ॥ पत्रदानं भवेत्कार्यं यथादोषं यथर्तु च ॥१२५॥ एरंडभूर्जपूतीकहरिद्राणां तु वातजे ॥ पत्रमाश्ववलं यच्च काश्मरीपत्रमेव च ॥ १२६ ॥ पत्राणि क्षीरवृक्षाणामौदकानि तथैव च ॥ दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः ॥ १२७ ॥ पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः ॥ पत्रं च शुकनासाया योजयेत्कफजे व्रणे ॥ १२८ ॥

जो व्रण स्थिर हों, अल्पमांसवाले हों, रूक्षतासे अंकुर न आता हो ऐसे व्रणोंपर दोष और ऋतुके अनुसार पत्तोंका बांधना या लगाना योग्य है ॥ १२५ ॥ वातके व्रणों पर एरंडके पत्ते या भूर्जपत्र या पूतिकरंज या हलदीके पत्र बांधना । पित्त और रक्तके व्रणोंपर अश्ववल (आसबल), खंभारीके पत्ते अथवा दूधके वृक्षों (गूलर आदि) के और जलज (कमल आदिके) पत्ते बांधने ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ कफके व्रणोंपर पाठा, मूर्वा, गिलोय और मकोय तथा हलदी एवं श्योनाकके पत्तोंका उपयोग करना चाहिये ॥ १२८ ॥

अकर्कशमविक्लिन्नमजीर्णं सुकुमारकम् ॥ अजंतुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते ॥ १२९ ॥ स्नेहमौषधसारं च पट्टवस्त्रांतरीकृतम् ॥ न दूषयंति यत्पत्रं लेपस्योपरि दापयेत् ॥ १३० ॥ शैत्यौष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च ॥ दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता ॥ १३१ ॥

जो पत्र कडे न हों, क्लेदित (सडे) न हों बहुत पुराने न हों किंतु कोमल हों तथा कीडे आदिके खाये न हों ऐसे नरम पत्ते गुणकारक होते हैं ॥ १२९ ॥ चिकनाई और औषधका सार जिससे बांधनेकी पट्टीके बाहर फूटकर नहीं जावे इस लिये बांधनेकी औषध और लेपपर पत्ते लगाकर बांधना अच्छा है ॥ १३० ॥ पित्त और रुधिरके व्रणोंमें शीत तथा वायु और कफके व्रणोंमें उष्णता उत्पन्न करनेके लिये तथा चिकनाई संगृहीत रखनेके लिये व्रणपर लगाई हुई औषधपर चतुर वैद्यको पत्ते अवश्य लगाने या बांधने चाहिये ॥ १३१ ॥

कृमिनाशन ।

मक्षिका व्रणजातस्य निक्षिपंति यदा कृमीन् ॥ भक्षयंतु भक्षिते

तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥ १३२ ॥ तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते ॥ सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा ॥ १३३ ॥ सप्तपर्णकरंजार्कनिंबराजादनत्वचः ॥ हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन च ॥ १३४ ॥ प्रच्छाद्य मांसपेश्या च कृमीनपहरेद्व्रणात् ॥ विंशतिकृमिजातीस्तु वक्ष्याम्युपरि भागशः ॥ १३५ ॥

जब मक्खियां व्रणके ऊपर बैठके कदाचित् कीडे डालदेती हैं तब उन कीडोंके काटनेसे दारुण सोजा हो जाता है ॥ १३२ ॥ और उसमें बडी पीड़ा तथा रुधिरका स्राव होता है । इस व्रणके धोने और घाव भरनेको सुरसादिक गणका क्राथ हित होता है ॥ १३३ ॥ सप्तपर्ण (सातला), करंज, आक, नींब और खिरनीकी छालको गोमूत्रमें पीसकर लगावे अथवा क्षारोदक (तेजाब) के पानीसे धोवे (जैसे आजकल डाक्टर कारबोलिक एसिडके पानीसे धोते हैं) ॥१३४॥ अथवा (अन्य बकरी आदिके मांसमें शर्करा गोदकर उस) मांसको कृमियुक्त व्रणपर लगावे जिससे सब कृमि उसमें चढ आवें फिर उसे फेंकदे कीडोंकी जो २० जातियाँ हैं उनको उत्तरतंत्रमें कहेंगे ॥ १३५ ॥

बृंहणकर्म ।

दीर्घकालातुराणां तु कृशानां व्रणशोषिणाम् ॥
बृंहणीयो विधिः सर्वः कार्योऽग्निं परिरक्षिता ॥ १३६ ॥

जो बहुत समयसे रोगी हों, दुबले हों और जो व्रणके कारण क्षीण हो गये हों उनको बृंहण औषधादिका उपयोग जठराग्निकी रक्षापूर्वक करे अर्थात् बृंहण आहार औषध इतनी करे कि जठराग्नि मंद न होजाय ॥ १३६ ॥

विषनाशन ।

विषजुष्टस्य विज्ञानं विषनिश्चयमेव च ॥
चिकित्सितं च वक्ष्यामि कल्पे तु प्रतिभागशः ॥ १३७ ॥

विषजुष्ट व्रण आदिका विज्ञान और विषका निश्चय और उसकी चिकित्सा भेदपूर्वक कल्पस्थानमें अगाडी वर्णन करेंगे ॥ १३७ ॥

शिरोविरेचन नस्य ।

कंडूमंतः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः ॥ शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात्कुशलो भिषक् ॥ १३८ ॥ रुजावंतोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः ॥ व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता ॥ १३९ ॥

जिन व्रणोंमें खाज हो और शोथ हो ऐसे व्रण ग्रीवाके जोतोंके ऊपरी भागमें हों तो उनमें चतुर वैद्य शिरोविरेचन कर्म करे ॥ १३८ ॥ जो व्रण व्यथायुक्त और वायुसे आविष्ट तथा रूखे हों ऐसे व्रण ऊर्ध्वजत्रु (ऊपरके जोतों) से ऊपर हों तो उनमें वैद्य नस्य (नास) दे ॥ १३९ ॥

कवलधारण ।

दोषप्रच्यवनार्थाय रुजादाहक्षयाय च ॥ जिह्वादंतसमुत्थस्य हरणार्थं मलस्य च ॥ १४० ॥ शोधनो रोपणश्चैव व्रणस्य मुखजस्य वै ॥ उष्णो वा यदि वा शीतः कवलग्रह इष्यते ॥ १४१ ॥

जिह्वा दांत और मुखके व्रणोंके दोष नाश करनेके लिये तथा व्यथा और दाह नष्ट करनेके लिये तथा मल दूर करनेके लिये शोधन तथा रोपण द्रव्योंका उष्ण अथवा शीतल जैसा उचित हो वैसा कवलग्रह (ग्रासरूप लुगदी) मुखमें रखना उचित है ॥ १४० ॥ १४१ ॥

धूमपान ।

उर्ध्वजत्रुगतान्रोगान्व्रणांश्च कफवातजान् ॥
शोफस्रावरुजायुक्तान्धूमपानैरुपाचरेत् ॥ १४२ ॥

ऊपरके जोतों (ग्रीवा) से ऊपर प्राप्त हुवे रोगोंको और कफ, वायुसे उपजे शोथ और स्राव तथा पीडायुक्त व्रणोंको धूमपानसे उपचार करे (उर्ध्वजत्रु अर्थात् ऊपर गमन करनेवाले जोते जो कि नाभिसे ऊपरको गमन करके शिरतक पहुँचते हैं । कई ऊर्ध्वजत्रु ग्रीवासे ऊपरके जोतोंको ही कहते हैं) ॥ १४२ ॥

मधुसर्पि ।

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं संधानार्थं तथैव च ॥
सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥ १४३ ॥

घावकी गरमी शांत करनेके लिये तथा जो विस्तारयुक्त सद्योव्रण(तत्कालके व्रण) हों उनके जुड़ जानेके लिये उनमें शहद और घृतका उपयोग करना उचित है॥१४३॥

यंत्रकर्म ।

अवगाढास्तवणुमुखा ये व्रणाः शल्यपीडिताः ॥
निवृत्तहस्तोद्धरणा यंत्रं तेषु विधीयते ॥ १४४ ॥

जो व्रण गहरे हों और उनका मुख छोटा हो तथा जिन व्रणोंके भीतर शल्य हो

(श्लो० १४०) दंतशब्देनात्र दंतसमीपस्थानि तन्मूलानि ग्राह्याणि ।

और वह शल्य हाथसे नहीं निकलसके तो ऐसे व्रणोंमें यंत्र (स्वस्तिक, संदंश आदि) से कार्य करना चाहिये ॥ १४४ ॥

आहार ।

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्निदीपनः ॥
सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता ॥ १४५ ॥

सब प्रकारके व्रणरोगीको सुज्ञ वैद्य ऐसा आहार (भोजन) दिलावे कि जो मात्रामें लघु हो (कम हो) तथा लघु (हलका) हो, चिकना हो, उष्ण हो और अग्निको दीपन करनेवाला हो (परंतु व्रणके आरंभिक शोथमें जहां अपतर्पण उचित हो वहां स्निग्धताका परित्याग रक्खे) ॥ १४५ ॥

रक्षाविधान ।

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ॥
रक्षाविधानैर्दिष्टैर्यमैः सनियमैस्तथा ॥ १४६ ॥

क्षतातुर(जखमी मनुष्य) को नित्य निशाचरों (राक्षसों) से रक्षित (रखना) चाहिये और पूर्वोक्त रक्षाविधानसे यमों (१ अहिंसा, २ सत्य, ३ चोरी न करना, ४ब्रह्मचर्य, ५ व्यवहारनिवृत्ति) तथा पाँच नियमों (१ अक्रोध, २ गुरुजनोंकी शुश्रूषा, ३ पवित्रता, ४ लघु और शुद्ध भोजन तथा ५ अप्रमाद) पूर्वक रखना चाहिये (निशाचर शब्दसे कई चंद्रमा और तारागण ऐसा अर्थ मानकर यह तात्पर्य लेते हैं कि क्षतातुरको चौडेमें नहीं रखना चाहिये क्योंकि बाजे समय चन्द्रमाका और तारोंका विषैल प्रभाव क्षतमें प्रवेश कर जानेसे व्रणितको एक प्रकारकी चमक हो जाती है जिससे व्रण असाध्य हो जाता है देशभाषामें इसे कहा करते हैं कि, अमुक क्षतातुरको चांद मारगया प्रत्युत इसी अभिप्रायसे जर्राह लोग फस्त खोले आदमीको चांदकी चांदनीमें नहीं रखते हैं) ॥ १४६ ॥

षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पंचलक्षणलक्षितः ॥
षष्ट्युपक्रमनिर्दिष्टश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ॥ १४७ ॥

(श्लो० १४६) यमाः पच नियमा अपि पच । उक्त च-अहिंसासत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य तथैव च ॥ व्यवहारनिवृत्तिश्च यमाः पंच प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥ अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ॥ अप्रमादश्च पंचैते नियमाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥ (इति डल्लनः) । (श्लो० १४७) षण्मूल इति-वातपित्तकफशोणितसन्निपातागतवः षडेव मूल यस्य। अष्टपरिग्राहीति त्वङ्मांसशिरास्नायुसंध्यस्थिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ परिग्रहाः यस्य । परिग्रहोऽधिष्ठानम् । पचलक्षणलक्षित इति-वातपित्तकफसन्निपातागंतूनां लक्षणानि तैर्लक्षितः। रक्तजस्यात्र पित्तवल्लक्षण बोध्यम् अथवा गंधवर्णस्पर्शास्राववेदनालक्षणानि तैर्लक्षितः । षष्ट्युपक्रमाः पूर्वोक्ताः। चतुर्भिः वैद्यातुरपरिचारकौषधैः साध्यते (इति नि०सं०) ॥

जिस व्रणके छः (वात, पित्त, कफ, रुधिर, सन्निपात और आगंतुक ये (मूलकारण हैं और आठ (त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, संधि, अस्थि, कोष्ठ और मर्म ये) परिग्राही अर्थात् स्थान हैं और जो पांच(वात,पित्त,कफ,सन्निपात और आगंतुक, अथवा गंध, वर्ण, स्पर्श, स्राव, वेदना) लक्षणोंसे लक्षित है वह व्रण पूर्वोक्त साठ उपक्रमोंद्वारा चारों (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) से साधन किया जाता है (यह श्लोक भी कठिन समझ कर कूटमुद्गर नामक ग्रंथमें रक्खा है) ॥ १४७ ॥

औषधप्रयोगविधि ।

याऽल्पौषधकृतो योगो बहुग्रंथभयान्मया ॥ द्रव्याणां तत्समानानां तत्राऽऽवापो न दुष्यति॥१४८॥प्रसंगाभिहितो यो वा बहुदुर्लभभेषजः ॥ यथोपपत्तितश्चाऽपि कार्यमेव चिकित्सितम् ॥१४९॥ गणोक्तमपि यद्द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम् ॥ तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम् ॥ १५० ॥

यह योग (नुसखा) थोडे औषधोंका किया है ग्रंथ बढनेके भयसे विशेष नहीं बढाया उसमें यदि आवश्यकता हो तो उसके समान (रस-गुण-वीर्य-विपाकमें समान) अन्य औषध और अपनी बुद्धिसे वैद्य डालदे तो उसका कुछ दोष नहीं ॥ १४८ ॥ प्रसंगाभिहित योगमें यदि बहुतसी और दुर्लभ औषधें हों तो जितनी२ जहांतक मिलसकें उन्हींसे चिकित्सा करनी चाहिये॥ १४९॥जो औषध गणमें कहाभी है पर वह व्याधिमें अयोग्य है तो उस कहे हुएको भी निकाल देना उचित है और जो व्याधिके अनुसार गुणकारी हो वह विना लिखा भी औषध मिला देना उचित है ॥ १५० ॥

व्रणके उपद्रव ।

उपद्रवास्तु विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च ॥ तत्र गंधादयः पंच व्रणस्योपद्रवाः स्मृताः ॥ १५१ ॥ ज्वरातिसारो मूर्च्छा च हिक्का छर्दिररोचकम्॥ श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य च॥१५२॥

व्रणित मनुष्यके दो प्रकारके उपद्रव होते हैं एक तो व्रणके उपद्रव, दूसरे व्रणयुक्त रोगीके उपद्रव जिनमेंसे दुर्गंध आदि (दुर्गंध, शूल, दाह, दुरास्राव, कृमिप्रभृति) पांच तो व्रणमें होनेवाले उपद्रव हैं ॥ १५१ ॥ तथा ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिचकी, वमन, अरुचि, श्वास, खांसी, अपरिपाक और तृषा ये दश व्रणरोगी मनुष्यके उपद्रव होजाते हैं ॥ १५२ ॥

व्रणक्रियास्वेवमाशु व्यासेनोक्तास्वपि क्रियाम् ॥
भूयोऽप्युपरि वक्ष्यामि सद्योव्रणचिकित्सिते ॥ १५३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

यद्यपि यहाँ विस्तारपूर्वक व्रणकी क्रिया(चिकित्सा)का वर्णन किया है तथापि अगाडी सद्योव्रणचिकित्सित अध्यायमें फिर और भी क्रिया वर्णन करेंगे ॥ ५३ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः २.

अथातः सद्योव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे तात्कालिक व्रण (तुरतके कटे) हुएकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

धन्वंतरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः ॥ विश्वामित्रात्मजमृषिं शिष्यं सुश्रुतमन्वशात् ॥ १ ॥ नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ॥ नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा वाणी बोलनेमें चतुर श्रीधन्वंतरि भगवान् विश्वामित्रके पुत्र निज शिष्य सुश्रुत ऋषिके प्रति शिक्षा देते हैं कि, नानाप्रकारकी धार और नानाप्रकारके मुख (नोक)वाले शस्त्रोंके नानाप्रकारके(शारीरक) स्थानोंपर पडने या लगनेसे नानाप्रकारके रूपवाले व्रण (घाव) होते हैं उनके लक्षण वर्णन करते हैं॥ १॥ २॥

आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मंडलिनस्तथा ॥ अर्द्धचंद्रप्रतीकाशा विशालाः कुटिलास्तथा ॥ ३ ॥ शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथा परे ॥ एवंप्रकाराकृतयो भवंत्यागंतवो व्रणाः ॥ दोषजा वा स्वयंभिन्ना न तु वैद्यनिमित्तजाः ॥ ४ ॥

आयत (लंबे), चौकोन, त्रिकोण, गोल तथा आधे चन्द्रमाके आकार तथा विशाल(बडे फैले हुए), कुटिल (बाँके या टेढे) तथा सलाईकी भांति बीचसे नीचे तथा बीचमें जौके समान इस प्रकार कई आकृतिवाले आगंतुक घाव होते हैं अथवा वात आदि दोषोंसे पककर स्वयं फोडा फुंसीरूप होके फूट जातेहैं और घाव होजाते हैं इनका कारण वैद्य नही हाता "वैद्यनिमित्तजा" की जगह घातनिमित्तजा ऐसा

(श्लो० १) अन्वशात् शिक्षितवानित्यर्थः । (श्लो० ४) 'वैद्यनिमित्तजा' इत्यत्र घातनिमित्तजा इति पठानर श्रेष्ठम् ।

पाठांतर है सो श्रेष्ठ है अर्थात् इन वातादि दोषोंके पके फोडे फुन्सी आदिका कारण चोट नहीं होता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

भिषग्व्रणाकृतिज्ञो हि न मोहमधिगच्छति ॥
भृशं दुर्दर्शरूपेषु व्रणेषु विकृतेष्वपि ॥ ५ ॥

जो वैद्य व्रणों (घावों) की आकृतिको जाननेवाला होता है वह बहुत दुर्दर्शन (जो बुरे दीखें) और विकारयुक्त (बिगडे) व्रणोंमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् कैसाही जखम हो उससे घबराता नहीं ॥ ५ ॥

सद्योव्रणके ६ प्रकार ।

अनेकाकृतिरागंतुः स भिषग्भिः पुरातनैः ॥ समासतो लक्षणतः षड्विधः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥ छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ॥ घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ७ ॥

अनेक आकृतिवाला आगंतुक व्रण (घाव) जो ऊपर वर्णन हुआ वह पुरातन (पुराने) वैद्योंने संक्षेपतापूर्वक लक्षणोंसे छः प्रकारका कहा है ॥ ६ ॥ १ छिन्न, २ भिन्न, ३ विद्ध, ४ क्षत, ५ पिच्चित (पिसा), ६ घृष्ट (रगडाहुआ) इस प्रकार ६ भेद हैं इनके लक्षण (जुदे जुदे) वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

छिन्नके लक्षण ।

तिरश्चीन ऋजुर्वापि यो व्रणश्चायतो भवेत् ॥
गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

जो घाव तिरछा हो अथवा सीधा हो या लंबा हो अथवा कोई अंग कट गया हो उसे छिन्न कहते हैं (जो खड्ग या छुरे आदिकी सीधी धारके खिंचावसे कटे वह छिन्न कहलाता है) ॥ ८ ॥

भिन्नके लक्षण ।

कुंतशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः ॥
हतः किंचित्स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ९ ॥

कुंत (भाला), शक्ति (बरछी), ऋष्टि (द्विधारा खड्ग अर्थात् किरच) और खड्ग (तरवार) इनके अग्रभागसे अथवा शृंग आदिके घुसनेसे जो आशय भेदा जावे और कुछ रक्तादि स्रवे उसे भिन्न कहते हैं ॥ ९ ॥

(श्लो० ८) ऋजुः अवक्रः । आयतः लंबः ॥ (श्लो० ९) कुंतः भल्लाख्यः शस्त्रः भाला इति लोके । शक्तिः त्रिधारो वा चतुर्धारो भल्लः बरछी इति लोके । ऋष्टिः द्विधारः खड्गविशेषः किरचवत् (इति श० स्तो०) आशयः आमाशयाद्याशयः ॥

कोष्ठ और वहांके भेदनके लक्षण ।

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ॥ हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ १० ॥ तस्मिन्भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ॥ मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ ॥ ११ ॥ मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छंद एव च ॥ विण्मूत्रवातसंगश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ १२ ॥ लोहगंधित्वमास्यस्य गात्रदौर्गंध्यमेव च ॥ हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चाऽत्र मे शृणु ॥ १३ ॥

आमस्थान (आमाशय, मेदा) अग्न्याशय तथा पक्वाशय, मूत्राशय और रक्ताशय हृदय उंडुक (मलाशय), फुप्फुस (फेफडा) इनकी कोष्ठसंज्ञा है अर्थात् जिस शरीरभाग (धड) में ये रहते हैं उतनेको कोष्ठ (कोठा) कहते हैं ॥ १० ॥ उक्त कोष्ठगत आशयोंके भेदन होनेसे रक्तपूर्णता होकर ज्वर, दाह उत्पन्न होता हैं तथा मूत्रमार्ग, गुदा तथा मुख एवं नासिकासे रुधिर निकलने लगता है ॥ ११ ॥ फिर मूर्च्छा, श्वास, तृषा, अफारा, अरुचि, विष्ठा मूत्र और अधोवायुका रुकाव, पसीना आना, नेत्र लाल होना तथा मुहसे लोहकेसी गंध आना और शरीरमें दुर्गंध, हृदयमें शूल और पंसवाडेमें भी दरद; होता है इतने उपद्रव कोष्ठभेदनमें होते हैं और इनके विशेष लक्षण (जुदे जुदे) और सुनो ॥ १२ ॥ १३ ॥

आमाशयादिगत रुधिरके लक्षण ।

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत्पुनः ॥ आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ १४ ॥ पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च ॥ शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥ १५ ॥

यदि आमाशयमें रुधिर हो तो रुधिरका वमन होता है और बहुत अफारा और दारुण शूल होता है ॥ १४ ॥ जो पक्वाशयमें रुधिर होता है तो वहां पीडा और भारीपन होता है तथा शरीरमें शीतता होती है और नाभिके नीचेके छिद्रों (लिंग, गुदा) से रुधिर निकलता है ॥ १५ ॥

अभिन्नेप्याशयेन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् ॥
पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ॥ १६ ॥

यदि अंत्राशय (अंतडियोंका स्थान) न भी फटे तो भी (आमाशयादिके फ-

नेका रुधिर) सूक्ष्म छिद्रोंद्वारा आँतोंमें भर जाता है जैसे मुँहबँधा घडा (पानीमें रखनेसे पानीसे भर जावे) और उसमें भारीपन होजाता है ॥ १६ ॥

विद्धलक्षण।

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदंगं त्वाऽऽशयाद्विना ॥
उत्तुंडितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥ १७ ॥

पतली नोकवाले तीर आदिसे जो शरीर आशयोंसे पृथक वींध जावे यदि वह तीर आदिकी नोक टूटकर रह जावे अथवा निकल जावे तो इसे विद्ध कहते हैं ॥ १७ ॥

क्षतके लक्षण।

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ॥
विषमं व्रणमंगे यत्तत्क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ॥ १८ ॥

जो न ज्यादा छिन्न हो और अधिक भिन्न भी न हो परंतु छेदन (कटाव) और भेदन इन दोनोंके मिलेजुले लक्षण हों और बांका (टेढा) ऊंचा नीचा या उखडा हुआसा घाव शरीर पर हो उसे क्षत कहते हैं ॥ १८ ॥

पिच्चितके लक्षण।

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदंगं पृथुतां गतम् ॥
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जारक्तपरिप्लुतम् ॥ १९ ॥

चोट लगने या दबजाने तथा मिच जाने आदिसे जो शरीर कुचला जावे और चपटा पडकर फैल जावे (और यदि हाडवाला अवयव हो तो) हाडसमेत कुचला जाकर उसमेंसे मज्जा और रुधिर निकलकर उसे परिप्लुत करदे तो उसे पिच्चित कहते हैं ॥ १९ ॥

घृष्टके लक्षण।

विगतत्वग्यदंगं हि संघर्षादन्यथापि वा ॥
उषास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ॥ २० ॥

किसी खरदरे पदार्थकी रगडसे अथवा और भांतिसे रगडा जाकर शरीरकी त्वचा छिल जावे या घिस जावे और उसमें दाह विशेष हो और रुधिर आदि निकल आवें तो उसे घृष्ट कहते हैं ॥ २० ॥

यत्न।

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् ॥ रक्तक्षयाद्रुज-स्तत्र करोति पवनो भृशम् ॥ २१ ॥ स्नेहपानं हितं तत्र तत्सेको

विहितस्तथा ॥ वेसवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम् ॥ २२ ॥ धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धान्यालेपनानि च ॥ वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्वस्तिर्विधीयते ॥ २३ ॥

छेदन (कटे) हुए तथा भेदन हुए और विद्ध (वींधे) तथा क्षत (कुरेचे) हुए घावोंसे रुधिर अधिक निकलता है तो रुधिरक्षय होनेसे वायु (प्रबल होकर) उस स्थानमें दारुण पीडा करता है ॥ २१ ॥ ऐसी अवस्थामें स्नेह (घृतादिका) पान कराना श्रेष्ठ है तथा उस स्थानको तत्काल ही (ठंढे पानीसे सेचन करना हित है) कोई कुछ कुछ गरम सेचन ठीक बताते हैं और वेसवार (जिसमें हलदी, सरसों और धान्यादिका चूर्ण हो जैसे उबटन, उस)में (कृशरा) कसार अर्थात् गोधूमचूर्णादि मिलाकर स्निग्धतायुक्त उसे पकाकर कवलिका (लूपरी) बनाकर गरम २ सेक करे॥ ॥ २२ ॥ तथा माषादि धान्य चिकनाई युक्त पकाकर उससे सेककर पसीना दिलावे और स्निग्ध लेप करे तथा वायुनाशक औषधोंसे सिद्ध किये स्नेहसे वस्ति करे ॥ २३॥

(वक्तव्य) नाभिसे ऊपरके सद्योव्रणमें स्नेहपान करना और नाभिसे नीचे स्नेहवस्ति करना ऐसा डल्लनमिश्र कहते हैं ॥

पिच्चिते च विघृष्टे च नाति स्रवति शोणितम् ॥ अगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते ॥ २४ ॥ तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः ॥ शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः॥२५॥

जो पिच्चित (कुचला गया) हो तथा विघृष्ट (रगडा गया) हो, उसमें रुधिर अधिक नहीं निकलताहै और रुधिरके न निकलनेसे उसमें तीक्ष्ण दाह होताहै और पाक होजाता है ॥ २४ ॥ तब उसमें गरमीकी रोकके लिये तथा दाह और पाककी शांतिके लिये शीतल ही लेप करना तथा शीतल ही परिषेक (ठंढे ही छिडके देना) चाहिये ॥ २५ ॥

षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः ॥
ज्ञेयं समर्पितं सर्वं सद्योव्रणचिकित्सितम् ॥ २६ ॥

ऊपर कहे हुए छः प्रकारके छिन्न आदि व्रणोंकी जो संक्षेपसे चिकित्सा कही वह तत्कालही करने योग्य समझनी चाहिये ॥ २६ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि छिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥ २७ ॥ ये व्रणा विवृताः केचिच्छिरःपार्श्वावलंबिनः ॥तान्सीव्येद्विधिनोक्तेन

(श्लो० २६) समर्पितं सम्यक् अर्पितम् (इति नि० सं०) (श्लो० २७) अत्र तु शब्दः निर्धारणार्थे ।

वध्नीयाद्गाढमेव च ॥ २८ ॥ कर्णं स्थानादपहृतं स्थापयित्वा यथास्थितम् ॥ सीव्येद्यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाप्यभितर्पयेत् ॥ २९ ॥

इससे अगाडी अब हम छिन्न अर्थात् सीधे कटे हुएकी चिकित्सा वर्णन करते-हैं ॥ २७ ॥ यदि शिर या पसवाडेमें लंबा घाव हो तो उसे विधिपूर्वक सीम कर कडा बंध बांध देवे ॥ २८ ॥ जो कान कटकर अपनी जगहसे अलग हो जावे तो उसी जगह जोडकर शीघ्र सीम देना चाहिये और कानके भीतर तैल डाल देना चाहिये ॥ २९ ॥

कृकाटिकान्ते छिन्ने तु गच्छत्यपि समीरणे ॥ सम्यङ्निवेश्य वध्नीयात्सीव्येच्चाऽपि निरंतरम् ॥ ३० ॥ आजेन सर्पिषा चैव परिषेकं तु कारयेत् ॥ उत्तानोऽन्नं समश्नीयाच्छयीत च सुयंत्रितः ॥ ३१ ॥

कृकाटिका (ग्रीवाका भाग) तक कट जावे और उधरसे वायु निकलने लगे तब भी उसे ठीक स्थित करके बांध देवे और टांके लगाकर जोड देवे ॥ ३० ॥ और बकरीके घृतसें सींचता रहे और ग्रीवा नीची किये हुए ही कुछ अन्न (पतलासा) भोजन करे तथा यंत्रसे बँधे और जिस भांति वह स्थान हिले नहीं उसी भांति सोवे ॥ ३१ ॥

शाखासु पतितांस्तिर्यक्प्रहारान्विवृतान्भृशम् ॥ सीव्येत्सम्यङ्निवेश्याऽऽशु संध्यस्थीन्यनुपूर्वशः ॥ ३२ ॥ वद्धा वेल्लितकेनाशु ततस्तैलेन सेचयेत् ॥ चर्मणा गोफणाबंधः कार्यो यो वा हितो भवेत् ॥ ३३ ॥

हाथ वा पावोंमेंसे किसीमें तिरछे प्रहारसे चौडे मुखका घाव होजावे तो उसकी हड्डी संधी जहांकी तहां ठीक २ जोडकर यथायोग्य सीम देना चाहिये ॥ ३२ ॥ और वेल्लित बंधसे शीघ्र बांधकर उस पर तैल सींचता रहे और (जो संधीकी जगह कोहनी आदि पर घाव हो तो) चर्मका गोफणा बंध लगाकर बांध दे अथवा जहां जैसा बंध उचित हो वहां वैसा बंध लगाकर बांध दे ॥ ३३ ॥

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत्तु तम् ॥
अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत्पुरुषं व्रणे ॥ ३४ ॥

(श्लो० ३० । ३१) कृकाटिकान्ते ग्रीवायाः पश्चात् कृकाटिकापर्यंते । उत्तानम् अधोमुखः ।

जिसकी पीठमें घाव होजावे उसे औंधा सुलाना चाहिये और जिसके छातीमें घाव होवे उस मनुष्यको इसके विपरीत चित्त सुलावे ॥ ३४ ॥

छिन्नांन्निःशेषतः शाखान्दग्ध्वा तैलेन बुद्धिमान् ॥
बध्नीयात्कोशबंधेन प्राप्तं कार्यं च रोपणम् ॥ ३५ ॥

यदि हाथ या पांव कोई निःशेष कटकर गिर जावे तो बुद्धिमान् वैद्य गरम तैलसे उसे दग्ध करके फिर कोशबंधसे बांध दे और यथाप्राप्त रोपण क्रिया करे ॥ ३५ ॥

रोपण तैल।

पद्मकं चंदनं रोध्रमुत्पलानि प्रियंगवः॥ हरिद्रा मधुकं चैव पयः स्यादत्र चाष्टमम् ॥ तैलमेभिर्विपक्वं तु प्रधानं व्रणरोपणम् ॥३६॥ चंदनं कर्कटाख्या च सहे मांस्याह्वयामृते ॥ हरेणवो मृणालं च त्रिफला पद्मकोत्पलम् ॥ ३७ ॥ त्रयोदशांगं त्रिवृतमेतद्वा पयसान्वितम् ॥ तैलं विपक्वं सेकार्थे हितं तु व्रणरोपणे ॥ ३८ ॥

पद्माख, चंदन, लोध, कमल, प्रियंगु (गांदे), हलदी, मुलेठी और आठवां दूध इनमें पकाया हुआ तैल घावके भरनेमें प्रधान है ॥ ३६ ॥ अथवा चन्दन, काकडासिंगी, क्षुद्रसहा, महासहा अर्थात् मुद्गपर्णी, माषपर्णी मांस्याह्वया (जटामांसी), अमृता (गिलोय), हरेणु (कलायभेद धान्य), मृणाल (उशीर), त्रिफला, पद्माख, उत्पल (कमल), त्रिवृत (निशोथ) और दूध इनसे पका हुआ तैल सेचनके लिये भी हित है और व्रणके रोपण (घाव भरने) में भी श्रेष्ठ है (त्रिवृतके कई अर्थ इस प्रकार करते हैं कि, घृत, वसा, मज्जा इन तीनोंसे वृत अर्थात् युक्त ऐसा तैल) यह त्रयोदशांगनामक तैल है (दुग्धकी मात्रा यहां चतुर्गुण लेनी) ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

भिन्नकी चिकित्सा।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥ ३९ ॥ भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लंबते तु यत् ॥ तन्निवेश्यं यथास्थानमव्याविद्धशिरं शनैः ॥ ४० ॥ पीडयेत्पाणिना सम्यक् पद्मपत्रांतरेण तु ॥

(श्लो० ३६) प्रियगव इत्यत्र बहुत्वेन त्रिविधाः प्रियगवो बोध्याः ।

(श्लो० ३७) सहे इति-क्षुद्रसहा महासहा । मांस्याह्वयामृते इत्यत्र मांस्याह्वया मांसी अमृता गुडूची द्वयोः समाहारे द्विवचनम् । हरेणवो धान्यविशेषकलायभेदाः । मृणालम् उशीरः । डल्लनस्तु सहे इत्यत्र माषपर्णी मुद्गपर्णी इति ब्रूते ॥ (श्लो० ३८) त्रिवृतमिति-त्रिभिर्घृतवसामज्जभिर्वृतं युक्तं तैलं त्रयोदशांगं स्यात् । क्षीरेण चतुर्गुणेन पक्वम् (इति निबंधसंग्रहः) ॥ (श्लो० ४०) अकर्मण्यम् असाध्यम् । अव्याविद्धशिरम् अनाकुलितशिरम् (इति नि० स०)

ततोस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा ॥ ४१॥ आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुकं चोत्पलानि च ॥ जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥ सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत्प्रशस्यते ॥ ४२ ॥

अब यहांसे अगाडी भिन्न हुएकी चिकित्सा वर्णन करते हैं॥ ३९ ॥ यदि नेत्र भेदन होजावे तो वह अकर्मण्य (असाध्य) है और जो विना भेदन हुआ लटकजावे तो उसे फिर अपने स्थानमें बैठाकर सीधी शिराके अनुसार न बींधा हो तो धीरे धीरे हाथसे दबाकर कमलका पत्र ऊपर लगाकर बाँधदे और नीचे लिखे घृतसे उसकी तृप्ति करे और उसी घृतका नासभी देवे ॥ ४० ॥ ४१ ॥ बकरीके एक प्रस्थ घृतमें एक आढक दूध तथा मुलेठी, कमल, जीवक, ऋषभक इनके चूर्णको डालकर उस घृतको पकाले यह घृत सब प्रकारके नेत्रके अभिघातमें श्रेष्ठ है॥४२॥

उदरभिन्नकी चिकित्सा।

उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः ॥ कषायभस्ममृत्कीर्णां बद्ध्वा सूत्रेण सूत्रवित् ॥ ४३ ॥ अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिंद्यान्मधुसमायुतम् ॥ बद्ध्वा व्रणं सुजीर्णेऽन्ने सर्पिषः पानमिष्यते ॥ ४४ ॥ स्नेहपानादृते चापि पयःपानं विधीयते॥ शर्करामधुयष्टिभ्यां लाक्षया वा श्वदंष्ट्रया ॥ चित्रासमन्वितं चैव रुजादाहविनाशनम् ॥४५॥

जिस मनुष्यके पेटमें भेदन होकर मेदकी बत्तीसी बाहर निकलआवे उसे कसीली भस्म और मिट्टी लगाकर शास्त्रज्ञ वैद्य सूत्रसे बांधदे ॥ ४३ ॥ फिर अग्निमें लाल किये हुए शस्त्रसे काटकर उसपर शहत लगाकर उसके घावको बांधदे और पेटके भीतरके अन्न पच जानेपर घृत पिलावे ॥ ४४ ॥ घृतपानके सिवाय दूधमें शर्करा, मुलेठी मिलाकर या लाख अथवा गोखरू मिलाकर या चित्रा (अरंडबीज) युक्त करके पिलावे इससे पीडा और दाह शांत होता है ॥ ४५ ॥

आटोपो मरणं वा स्याच्छूलो वाऽच्छिद्यमानया ॥
मेदोग्रंथौ च यत्तैलं वक्ष्यते तच्च योजयेत् ॥ ४६ ॥

यदि वह मेदकी वर्ति न भी काटीजाय तो उससे अफारा और शूल होजाताहै अथवा मृत्युभी हो जावे इससे नहीं काटे जानेपर मेदकी ग्रंथिपर जो तैल अगाडी कहेंगे उस तैलकी योजना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

(श्लो० ४२) क्षीरपात्रं क्षीराढकं दत्त्वा विपचेत्(इति डल्हन.) घृत प्रस्थम् ॥
(श्लो० ४३) सूत्रवित् शास्त्रवित् । (श्लो० ४५) चित्रा एरंड. दंतीत्यन्ये (इति नि० सं०)

शल्ययुक्तके उपद्रव ।

त्वचोतीत्य शिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ॥ कोष्टे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥ ४७ ॥ तत्रांतर्लोहितं पांडुं शीतपादकराननम् ॥ शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जो शल्य त्वचाके भीतर जाकर शिराआदिको वेधकर या बचाकर कोष्ठके अंतर्गत हो तो वह उक्त उपद्रवोंको करता है अर्थात् पूर्वोक्त (सूत्रस्थानोक्त) आटोप आदि उपद्रवोंको करता है ॥ ४७ ॥ जिसमें भीतर रुधिर इकट्ठा होजावे, पांडु हो, हाथ पांव शीतल होजावें, ठंढे श्वास लेने लगे, नेत्र लाल होजावें और पेट फूल जावे ऐसे शल्यरोगीको त्याग देवे ॥ ४८ ॥

आमाशय और पक्वाशयगत रुधिरमें यत्न ।

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते ॥
पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम् ॥ ४९ ॥

यदि आमाशयमें रुधिर हो तो वमन कराना हित है और जो पक्वाशयमें हो तो निःसंदेह विरेचन कराना चाहिये ॥ ४९ ॥

आस्थापनं च निःस्नेहं कार्यमुष्णैर्विशोधनैः ॥ यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च ॥५०॥ भुंजीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैंधवसंयुताम् ॥ अतिनिस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ॥ ५१ ॥

तथा स्नेहरहित आस्थापनवस्ति करना चाहिये जिसमें उष्णद्रव्य और शोधन द्रव्य हो । तथा जौ, कोल, कुलथीके रस चिकनाईरहितके संग अन्न खावे तथा सैंधवयुक्त यवागू पीवे और जिसका कोष्ठभेदन हुआ हो, अतिरुधिर बहा हो वह रुधिरका पान करे ॥ ५० ॥ ५१ ॥

भिन्नकोष्ठका साध्यत्व ।

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः ॥
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ॥ ५२ ॥

जिस मनुष्यके विष्ठा, मूत्र और वायु (श्वास और अधोवायु) अपने अपने मार्गसे ठीक २ प्रवृत्त होते रहें और कोई तीक्ष्ण उपद्रव भी न हो तो कोष्ठके भेदन होजाने पर भी मनुष्य जी सकता है ॥ ५२ ॥

अंत्रप्रवेशन।

अभिन्नमंत्रं निष्क्रांतं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत् ॥ पिपीलिकाशिरो-ग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ॥ ५३ ॥ प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृण-शोणितपांशुभिः ॥ प्रवेशयेत्कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ॥५४॥ प्रवेशयेत्क्षीरसिक्तं शुष्कमंत्रं घृतप्लुतम् ॥ अंगुल्याभिमृशेत्कंठं जलेनोद्वेजयेदपि ॥ ५५ ॥

जो आंतें कटी न हों और बाहर निकल आई हों वह भीतर प्रवेश करने योग्य होती हैं और जो कटगइ हों वह फिर भीतर प्रवेश करने योग्य नहीं होतीं (अर्थात् जिसकी आंतें कट जावें वह नहीं जी सकता) परन्तु कई ऐसा कहते हैं कि कटी हुई आंतें भी शीघ्र जोड मिलाकर उस पर चेंटीसे कटा कर चेंटीके शिर सहित भीतर प्रवेश कर देनेसे आंतें जुड जाती हैं और मनुष्य जीसकता है (चेंटीके डंककी पकड टांकोंका काम देती है और टांके आंतोंमें काम नहीं देते, देखो ! क्षतोदरकी चिकित्सामें भी कटी आंतें चेंटीके डंकसे जोडना लिखा है) ॥५३॥ यदि रुधिर और धूलिसे सनी हुई आंतें हों तो दूधसे धोकर घृत चुपडकर नखून कटाये हुए वैद्य धीरे धीरे भीतरको प्रवेश करदे ॥ ५४ ॥ यदि आंतें सूख गई हों तो उन्हें दूधसे सेचन करके घृत चुपडकर भीतर प्रवेश करना चाहिये और आंतें भीतर प्रवेश करते समय कंठको अंगुलीसे मलते रहे और पानीसे उद्वेजन करे (छींटे देवे)५५

हस्तपादेषु संगृह्य समुत्थाप्य महाबलाः ॥ भवत्यंतःप्रवेशस्तु यथा निर्धुनुयुस्तथा ॥ ५६ ॥ यथांत्राणि विशंत्यंतः स्वां कलां पीडयंति च ॥ ५७ ॥

अथवा बलवान् पुरुष उसके हाथ पांव पकडकर उठालें और हिलावें ज्योंही हिलावेंगे त्योंही आंतें भीतरको प्रवेश होजावेंगी ॥ ५६ ॥ जब निकली हुई आंतें भीतर प्रविष्ट होती हैं तब अपनी कला (मलधरा) को पीड़ित करती हैं ॥ ५७ ॥

आंतोंका यथास्थान स्थापन करना।

व्रणाल्पत्वाद्बहुत्वाद्वा दुष्प्रवेशं भवेत्तु यत् ॥ तदापाट्य प्रमा-णेन भिषगंत्रं प्रवेशयेत् ॥ ५८ ॥ यथास्थानं निविष्टे च व्रणं

(श्लो० ५३) अभिन्नमन्त्र प्रवेश्यम्। भिन्नमपि मतांतरेण प्रवेश्यमिति निर्दिशन्नाह–"पिपीलिका-शिरोग्रस्तम्" इत्यादि तदपि भिन्नमपि अत्र पिपीलिकावदनसंदंशसहित प्रवेश्यमिति (नि० सं०) ॥

(श्लो० ५८) व्रणाल्पत्वात् व्रणसूक्ष्मत्वात्। बहुत्वात् व्रणस्य बहुलत्वात्। व्रणाल्पत्वात्पाटय बहुलत्वात् सीव्य (इति डल्हनः) ॥

सीव्येद्वतांद्रितः ॥ स्थानादपेतमादत्ते प्राणान्गुंफितमेव वा ॥ ॥ ५९ ॥ वेष्टयित्वा तु पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ घृतं पिबेत्सुखोष्णं च चित्रातैलसमन्वितम् ॥ ६० ॥

जब घाव बहुत छोटा (तंग) होता है और आंतें उसमेंसे बाहर निकल आती हैं तो फिर भीतरको प्रवेश होनेमें दुःख होता है और बडी कठिनाई पडती है तथा जब घाव बहुत बडा होता है तो भीतर प्रविष्ट आंतें झट फिर बाहर निकल पडती हैं इन दोनों अवस्थाओंमें दिक्कत होती है, तब यदि घाव तंग हो तो उसे चीरकर ठीक प्रमाणका करले (जिसमें सहजतासे आंतें प्रवेश होजावें) फिर आंतोंका प्रवेश करे और जो घाव बडा हो तो पहले थोडा सीमले फिर आंतें प्रवेश करे ॥ ५८ ॥ जब आंतें ठीक २ अपने ठिकाने बैठजावें तब घावको सीमकर बंद करदे यदि आंतें ठीक २ अपनी जगह नहीं बैठें या उसमें उलझाव होकर गुच्छा पडजावे तो उससे व्रणी पुरुष मरजाता है इससे ठीक २ आंतें प्रवेश करना चाहिये ॥ ५९ ॥ फिर ऊपरसे पट्टी बांधकर घृत सींचते रहे और थोडा गरम घृत अरंडके तैलमें मिलाकर पिलावे ॥ ६० ॥

मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधःप्रवृत्तये ॥
ततस्तैलमिदं कुर्य्याद्रोपणार्थं चिकित्सकः ॥ ६१ ॥

पूर्वोक्त अरंडतैलयुक्त घृत इसलिये पीवे कि इससे पुरीष मृदु होजाता है और अधोवायु भी नीचेको प्रवृत्त होता है इसके अनन्तर रोपणके अर्थ वैद्य नीचे लिखा हुआ तैल उपयुक्त करे ॥ ६१ ॥

त्वचोऽश्वकर्णधवयोर्मोचकीमेषशृंगयोः ॥ शल्लक्यर्जुनयोश्चापि विदार्याः क्षीरिणां तथा ॥६२ ॥ बलामूलानि चाहृत्य तैलमेतैर्विपाचयेत् ॥ व्रणं संरोपयेत्तेन वर्षमात्रं यतेत च ॥ ६३ ॥

अश्वकर्ण (जिसके पीपलकेसे पत्ते होते हैं यह पूर्वदेशोंमें होता है), धव (धौ), मोच (शाल्मली), मेषशृंगी (मेढासिंगी), शल्लकी (शाल), अर्जुन (कुहा), विदारीकंद और क्षीरवृक्ष (दूधवाले वृक्ष-गूलर, वट आदि) इन सबकी छाल, और खरेंटीकी जड लेकर तैलमें पकावे इस तैलसे पूर्वोक्त व्रणका रोपण करे और एक वर्षतक यत्नपूर्वक पथ्यसे रहे ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

(श्लो० ६०) घृतसेकमिति-घृतेन कोष्णेन सिचेदिति ॥ (श्लो० ६१) शकृतो पुरीषस्य मृदुक्रियार्थं वायोश्चाधःप्रवृत्तये चित्रातैलान्वितं सुखोष्णघृतं पिबेदिति पूर्वेणान्वयः । रोपणार्थं तैल वक्ष्यमाणमेतम् ।

अंडकोशभिन्नका यत्न ।

पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोक्ष्य चक्षुषी ॥ प्रवेश्य तुन्नसेवन्या मुष्कौ सीव्येत्ततः परम् ॥ ६४ ॥ कार्यो गोफणिकाबंधः कट्यामावेश्य यंत्रकम् ॥ न कुर्यात्स्नेहसेकं च तेन क्लिद्यति हि व्रणः ॥ ६५ ॥ कालानुसार्यागुर्वेलाजातीचंदनपद्मकैः ॥ शिलादार्व्यमृतातुत्थैस्तैलं कुर्वीत रोपणम् ॥ ६६ ॥

जिसके अंडकोशोंमें घाव होकर अंडगोलक बाहर निकल आवें उसके पावों और नेत्रोंको जलसे धोकर उन अंडगोलकोंको भीतर प्रवेश करके ऊपरसे तुन्नसेवनी सीमनसे सीमदे ॥ ६४ ॥ फिर गोफणाबंधसे बांध दे और कमरमें यंत्र (पट्टा) लगा दे। अंडकोशके घावपर चिकनाईका सेचन नहीं करे क्योंकि चिकनाईसे यहांका व्रण क्लेदित (गीला या लजलजा) रहता है ॥ ६५ ॥ कालानुसारी (तगर), अगर, इलायची, जाती (जातिपत्री), चंदन, पद्माख, शिला (मैनसिल), देवदारु, अमृता (गिलोय), तुत्थ (नीलाथोथा) इनसे तैल पकाकर उक्त व्रणका रोपण करे ॥ ६६ ॥

शिरसोपहृते शल्ये वालवर्ति प्रवेशयेत् ॥ बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुंगं व्रणात्स्रवेत् ॥ ६७ ॥ हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत् ॥ व्रणे रोहति चैकैकं शनैर्बालमपाक्षिपेत् ॥ ६८ ॥

यदि शिरमेंसे शल्य निकाला जावे तो उस घावमें बालोंकी बत्ती बनाकर शीघ्र प्रवेश करदेवे क्योंकि जो बालोंकी बत्ती नहीं भरी जावे तो उस घावमेंसे मस्तुलुंग (मस्तकमज्जा) निकल जाती है ॥ ६७ ॥ और फिर वहाँ वायु भरकर उस मनुष्यको मृत्युकारक होता है इस हेतु पूर्वोक्त ही उपाय करना चाहिये और फिर ज्यों ज्यों घाव भरने लगे त्यों त्यों एक २ बाल धीरे २ निकालते जावे ॥ ६८ ॥

गात्रादपहृतेन्यस्मात्स्नेहवर्तिं प्रवेशयेत् ॥ कृते निःशोणिते चापि विधिः सद्यःक्षते हितः ॥ ६९ ॥ दूरावगाढाः सूक्ष्मास्याः स्युर्ये व्रणास्तान्विशोणितान् ॥ कृत्वा सूक्ष्मेण नेत्रेण चक्रतैलेन तर्पयेत् ॥ ७० ॥

शिरके सिवाय और किसी अंगसे जो शल्य निकाला जावे तो उस घावमें चिकनाईकी भरी बत्ती प्रवेश करनी चाहिये और जब घाव रुधिर रहित हो तब सद्यःक्षतमें कही हुई विधि करनी चाहिये ॥ ६९ ॥ जिन व्रणोंमें दूर और गहरा शल्य

(श्लो० ७०) नेत्रेण व्रणप्रक्षालनयन्त्रेण तच्च अष्टांगुलं मुद्गतुल्याकारकम् (इति डल्लनः)

घुसा हो उन व्रणोंको रुधिरसे रहित करके सूक्ष्म-"नेत्र" नामक यंत्रसे चक्रतैल (ताजा कोल्हूका निकला तिलतैल) से तर्पण करे (नेत्र नामक व्रण धोनेका यंत्र है यह आठ अंगुल लंबा मूंगके बराबर आकारवाला होता है) ॥ ७० ॥

समंगां रजनीं पद्मां त्रिवर्गं तुत्थमेव च ॥ विडंगं कटुकां पथ्यां गुडूचीं सकरंजिकाम् ॥ संहृत्य विपचेत्काले तैलं रोपणमुत्तमम् ॥७१॥

समंगा (मंजीठ), हलदी, पद्मा (भारंगी), त्रिवर्ग (त्रिफला), लीलाथोथा, वायविडंग, कुटकी, हरीतकी, गिलोय और करंज इन्हें लेकर तैल पकावे यह तैल गहरे घाव भरनेमें उत्तम है ॥ ७१ ॥

तालीशं पद्मकं मांसी हरेण्वगुरुचंदनम् ॥ हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः ॥ पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम् ॥७२॥

तालीसपत्र, पद्माख, जटामांसी, हरेणु, अगर, चंदन, दोनों हलदी, कमलके बीज, उशीर (खश), मुलेठी इनसे पका तैल सद्योव्रणके रोपणमें बहुत उत्तम कहा है ॥ ७२ ॥

क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद्विधिः ॥
घृष्टे रुजो निगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद्व्रणम् ॥ ७३ ॥

क्षतमें तो क्षतहीकी विधि करनी चाहिये और पिच्चितमें भग्नके समान विधि करे तथा घृष्टमें पीडाकी शीघ्र शांति (पूर्वोक्त शीतल सेचनादि द्वारा) करके व्रणपर (खदिरादिका) चूर्ण बुरकावे ॥ ७३ ॥

विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव च ॥ वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशिनम् ॥७४॥ अयमेव विधिः कार्यः क्षीणे मर्महते तथा ॥ ७५ ॥ रोपणे सपरीषेके पाने च व्रणिनां सदा ॥ तैलं घृतं वा संयोज्यं शरीरं तूनवेक्ष्य हि ॥ ७६ ॥

जिसका शरीर विश्लिष्ट (चूर) होगया हो, जो वृक्षादिसे गिरगया हो, जो विलो-डालासा होगया हो, जो मुक्के आदि भीतरी मारसे मारा हुआ हो उन्हें तैलसे भरे हुए द्रोणपात्र (टप या कठरे या कडाह आदि) में बिठाया रक्खे और मांसका रस

(श्लो० ७१) पद्मा भार्गी त्रिवर्ग त्रिफला । त्रिफलाग्रहणेनैव पथ्यायां लब्धायां पुनः पथ्याग्रहणं भागद्वयप्रक्षेपार्थम् । (श्लो० ७४) विश्लिष्टदेहमिति—नमनाकर्षणारोपणयानपतनवधसाहसादिभिः स्वस्थानच्युतावयवम् । पतितं वृक्षाद्यादिभ्यः । मथितं विलोडितम् । हतं वेगवता द्रव्येण दंडमुष्ट्यादिभिः (इति डल्हनः) ।

पिलावे ॥ ७४ ॥ और क्षीण मनुष्यको तथा जिसके मर्ममें चोट (भीतर) लगी हो उसे भी इसी विधिसे उपचार करे (अर्थात् तैल भरे पात्रमें विठावे) ॥ ७५ ॥ रोपण (घाव भरनेमें), परिषेक (सेचन करनेमें), पान करानेमें व्रणी मनुष्योंको शरीर और ऋतु विचारकर सदा तैल अथवा घृतहीका उपयोग करना चाहिये ॥७६॥

सद्योव्रणका यत्न ।

घृतानि यानि वक्ष्यामि यत्नेतः पित्तविद्रधौ ॥ सद्योव्रणेषु देयानि तानि वैद्येन जानता ॥ ७७ ॥ सद्यःक्षतव्रणं वैद्यः सशूलं परिषेचयेत् ॥ सर्पिषा नातिशीतेन बलातैलेन वा पुनः ॥ ७८ ॥

जो घृत पित्तविद्रधिकी चिकित्सामें अगाडी कहे जावेंगे वे सम्पूर्णही जानकार वैद्यको सद्योव्रणोंमें यत्नपूर्वक लगाने चाहिये ॥ ७७ ॥ तत्कालका क्षत व्रण शूल युक्त हो तो उसे निवाये घृतसे अथवा बला (खिरेंटी) के तैलसे सेचन करना चाहिये ॥ ७८ ॥

समंगां रजनीं पद्मां पथ्यां तुत्थं सुवर्चलाम् ॥ पद्मकं रोध्रमधुकं विडंगानि हरेणुकम् ॥७९॥ तालीशपत्रं नलदं चंदनं पद्मकेशरम्॥ मंजिष्ठोशीरलाक्षाश्च क्षीरिणां चापि पल्लवान् ॥ ८० ॥ प्रियालबीजं तिंदुक्यास्तरुणानि फलानि च ॥ यथालाभं समाहृत्य तैलमेभिर्विपाचयेत् ॥ ८१ ॥ सद्योव्रणानां सर्वेषामदुष्टानान्तु रोपणम् ॥ कषायमधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धाश्च योजयेत् ॥ सद्योव्रणानां सप्ताहं पश्चात्पूर्वोक्तमाचरेत् ॥ ८२ ॥

समंगा (लज्जालू), हलदी, भारंगी, हरडे, लीलाथोथा, ब्राह्मी, पद्माख, लोध, मुलेठी, वायविडंग, हरेणुका ॥ ७९ ॥ तालीशपत्र, नलद (मांसी), चन्दन, कमलका केशर, मँजीठ, उशीर (खश), लाख और दूधवाले वृक्षों (उदुंबर आदि) के पत्ते ॥ ८० ॥ प्रियालबीज (चिरोंजी), तिंदुकी (तेंदूके) पक्के फल इनमेंसे जो जो मिलसकें उन्हें लेकर तैल पकावे ॥ ८१ ॥ यह तैल दोष रहित सद्योव्रणोंको रोपण करता है परंतु पहले ७ दिन तक सद्योव्रणोंमें मधुर शीतल कषाय और स्निग्ध क्रिया करे और फिर इस पूर्वोक्त तैलका उपयोग करे ॥ ८२ ॥

दुष्टव्रणेषु कर्त्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ॥ विशोषणं तथाहारः शोणितस्य च मोक्षणम् ॥ ८३ ॥ कषायं राजवृक्षादौ सुरसादौ च

धावनम् ॥ तयोरेव कषायेण तैलं शोधनमिष्यते ॥८४॥ क्षारकल्पेन वा तैलं क्षारद्रव्येण साधितम् ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रण (दूषित घाव) हो तो ऊपर और नीचेसे (वमन, विरेचनादि द्वारा) शोधन करना चाहिये और आहारभी शोधन करनेवाले देवे और (फस्त आदिसे रुधिर निकालना चाहिये ॥ ८३ ॥ राजवृक्ष (किरमाल) आदिके क्वाथसे अथवा सुरसा आदिके क्वाथसे धोना और इन्हीं क्वाथोंसे साधन किये तैलसे शोधन करना चाहिये ॥ ८४ ॥ अथवा क्षारकल्पके अनुसार क्षार द्रव्योंसे साधित तैलका उपयोग करे (जैसे क्षारपाकविधिमें कहचुके हैं कि एक प्रस्थ क्षारभस्ममें ६ प्रस्थ जल मिलाकर क्षार बनावे और फिर उससे चौगुना तैल डालकर सिद्ध करे) ॥ ८५ ॥

द्रवंती चिरबिल्वश्च दंती चित्रकमेव च ॥ पृथ्वीका निंबपत्राणि कासीसं तुत्थमेव च ॥ ८६ ॥ त्रिवृत्तेजोवती नीली हरिद्रे सैंधवं तिलाः ॥ भूमीकदंबः सुवहा शुकाख्या लांगलाह्वया ॥८७ ॥ नैपाली जालिनी चैव मदयंती मृगादनी ॥ सुधामूर्वार्ककीटारिहरितालकरंजिकाः ॥८८॥ यथोपपत्ति कर्त्तव्यं तैलमेभिस्तु शोधनम् ॥८९॥

द्रवंती, करंज, दंती, चित्रक, कलौंजी, निंबके पत्ते, कसीस, लीलाथोथा ॥८६॥ निशोथ, तेजोवती, नीलनी, दोनों हलदी, सैंधा नमक, तिल, भूमिकदंब (मुण्डितिका), सुवहा (गोपदी), शुकाख्या (चमरुवा वट), लांगलाह्वया (गणिकारिका) ॥ ८७ ॥ नैपाली (मनःशिला), जालिनी (कोशातकी), मदयंती (मेंजिका), मृगादनी (इन्द्रायण), सुधा (सेहुँड), मूर्वा, अर्ककीटारि (विडंग), हरताल, करंजिका (नक्तमाल), इनमेंसे जो २ मिलसकें उनमें तैल पकावे यह तैल शोधन करता है ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

घृतं वा यदि वा प्रोक्तं कल्काः संशोधनास्तथा ॥ सैंधवं त्रिवृदेरंडपत्रकल्कस्तु वातिके ॥९०॥ त्रिवृद्धरिद्रामधुककल्कः पैत्ते तिलैर्युतः ॥ कफजे तिलतेजोह्वादंतीस्वर्जिकचित्रकाः ॥९१ ॥ दुष्टव्रणविधिः कार्यो मेहकुष्ठव्रणेष्वपि ॥ ९२ ॥

अथवा शोधन घृतका उपयोग करे अथवा शोधन कल्कोंका उपयोग करे जैसे वातदुष्ट व्रणोंमें सैंधा नमक, निशोथ और अरंडके पत्ते इनका कल्क हित है ॥९०॥

(श्लो० ८६) अत्र दंतीशब्देन उदुंबरपर्णी ग्राह्या । पृथ्वीका स्थूलजीरकः । सुवहा गोपदी । शुकाख्या चर्मकारवटः (इति डल्हनः) ।

तथा पित्तदुष्ट व्रणोंमें निशोथ, हलदी और मुलेठीका कल्क तिल सहित श्रेष्ठ है और कफसे दूषित व्रणोंमें तिल, तेजोह्वा (मालकांगनी), दंती, सज्जी और अरंडोली इनका कल्क बनाकर उपयोग करे ॥ ९१ ॥ प्रमेहजनित व्रणोंमें और कुष्ठजव्रणोंमें भी दुष्ट व्रणकीही विधि करनी चाहिये ॥ ९२ ॥

षड्विधः प्राक्प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः ॥ नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभिः ॥ ९३ ॥ उपसर्गैर्निपातैश्च तं तु पंडितमानिनः ॥ केचित्संयोज्य भाषंते बहुधा मानगर्विताः ॥ ९४ ॥ बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेवेवावतिष्ठते ॥ विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम् ॥ ९५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

पहले जो छः प्रकारके सद्योव्रण (छिन्न भिन्न आदि) निश्चय किये हैं इनसे अधिक भेद कोई भी विद्वान् नहीं कहसकते ॥ ९३ ॥ और कोई २ पंडिताईका अभिमान रखनेवाले और मनमें गर्वित हुए लोग उपसर्ग (कुष्ठादिकी छूवा छूतके उपद्रव) जनित (अथवा लूतादिजनित) तथा निपात (प्रपतनादि) जनित इत्यादिको मिलाकर बहुत प्रकारके भेद मान लेते हैं ॥ ९४ ॥ परंतु उनके बहुत भेद मानने युक्त छहही भेदोंके अंतर्गत पाये जाते हैं जैसे सामान्यमें बहुतसे विशेष भेद रहा करते हैं इसी प्रकार इन सद्योव्रणके भी छही भेद मुख्य हैं और अधिक इन्हीं छःके अंतर्गत हैं (सामान्य जैसे फल, अन्न इसमें फलके कथनसे आम्र, जंबू आदि विशेष सभी आगये ऐसे ही अन्नके कथनसे व्रीहि, यवादि सब उसीके अंतर्गत हैं) ॥ ९५ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ३.

अथातो भग्नानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी भग्न (टूटे) हुएकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

भग्नकी कृच्छ्रसाध्यता ।

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जंतोर्वातात्मकस्य च ॥
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ १ ॥

भग्न (अस्थि अंग आदि टूटे हुए) के भेदपूर्वक निदान पहले निदान स्थानके पंद्रह १५ वें अध्यायमें वर्णन कर चुके हैं अब यहां उसकी चिकित्सा कहते-

(श्लो० १) अल्पाहारादीनां भग्नः कृच्छ्रेण सिध्यति न सिध्यति वा ॥

हैं जिसमें प्रथम साध्यासाध्य वर्णन करते हैं जो अल्प भोजन करता हो, पथ्यसे नहीं रहे अथवा वायुप्रधान हो और उपद्रव युक्त हो तो उस मनुष्यका टूटा हुआ शरीर कठिनतासे सिद्ध होता है ॥ १ ॥

भग्नरोगीका अपथ्य और पथ्य ।

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम् ॥ व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥ २॥ शालिमांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीन-जः ॥ बृंहणं चान्नपानं स्याद्देयं भग्नाय जानता ॥ ३ ॥

जिसका कोई अवयव टूटगया हो उस मनुष्यको लवण, कटु (चरपरा), क्षार (खारी) और खट्टे पदार्थ नहीं खाने चाहिये तथा मैथुन और धूप (गरमी) एवं परिश्रम इन्हेंभी त्याग देना चाहिये और रूक्ष अन्न खानाभी उचित नहीं ॥२॥ वैद्य-को चाहिये कि भग्न मनुष्यको शाली (चावल), मांसका रस,दूध, घृत, मुद्गादिका यूष,सतीनज(मटर) का यूष इनके अतिरिक्त बृंहण अन्नपान आहारके लिये देवे॥ ३॥

भग्नका बंधन और आलेपन ।

मधूकोदुंबराश्वत्थपलाशककुभत्वचः ॥ वंशसर्जवटानां वा कुशा-र्थमुपसंहरेत् ॥ ४ ॥ आलेपनार्थं मंजिष्ठा मधूकं रक्तचंदनम् ॥ शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥ ५ ॥

मधूक (महुवा), गूलर, पीपल, ढाक, कुहा इनकी छाल तथा बांस, सर्ज (रालका वृक्ष), वड इनकी छाल भग्नस्थानमें बांधनेके अर्थ लेना चाहिये ॥ ४ ॥ लेपनके अर्थ ये वस्तु लेनी चाहिये-मँजीठ, मुलेठी, लालचंदन, सौवारके धोये घृतमें मिलाकर चावलोंकी पिट्ठी ॥ ५ ॥

बंधकी अवधि ।

सप्ताहादथ सप्ताहात्सौम्येष्वृतुषु बंधनम् ॥ साधारणेषु कर्तव्यं पंच-से पंचसेऽहनि ॥६॥ आग्नेयेषु त्र्यहात्कुर्याद्भग्नदोषवशेन वा ॥ तत्रा-तिशिथिले बद्धे संधिस्थैर्यं न जायते ॥७॥ गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक्पाक एव च ॥ तस्मात्साधारणं बंधं भग्ने शंसंति तद्विदः॥८॥

यदि शीत ऋतु हो तो बंधको सात सात दिनमें खोलर के बदले और साधारण ऋतु हो तो पांच पांच दिनमें खोले ॥६॥ और गरमीकी ऋतु हो तो तीन तीन दिनमें ही बंधको खोलकर बदलते रहे अथवा जैसे मौके पर टूटा हो उसके अनुसार बंध

(श्लो० ४) कुशार्थं बंधनार्थम् (इति डल्हनः)

ब्रदले और अत्यंत ढीला बंध बाँधनेसे संधि (जोड) में स्थिरता नहीं होती ॥७॥ तथा अत्यंत कडा बंध बांधनेसे त्वचा आदिमें शोथ, शूल और पकाव हो जाता-है इस लिये भग्नपर जानकारोंने साधारण बंध बांधना ही श्रेष्ठ कहा है ॥ ८ ॥

भग्नपर परिषेकादि ।

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने ॥ पंचमूलीविपक्वं तु क्षीरं कुर्यात्सवेदने ॥ सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता ॥ ९ ॥ विभज्य कालं दोषं च दोषघ्नौषधसंयुतम् ॥ परिषेकं प्रदेहं च विदध्याच्छीतमेव च ॥१० ॥

न्यग्रोधादि गणका क्वाथ शीतल करके भग्नस्थानपर सेचन करे और जो वेदना-युक्त हो तो पंचमूलीसे पका हुआ दूध अथवा चक्रतैल (कच्ची घानीका तैल) निवाया २ सेचनकरे ॥ ९ ॥ समय ऋतु और दोषको विचारकर उसके अनुसार दोषघ्न औषधोंसे संयुक्त परिषेक अथवा शीतल लेप जैसा उचित हो वैसा करे॥ १०॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ॥ शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः ॥ ११ ॥ सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः ॥ प्रतिसार्य कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत् ॥ १२ ॥

मधुर औषधों (काकोली आदि)से साधन किया हुआ प्रथम प्रसूता गौका दुग्ध घृतयुक्त कर, लाख मिला शीतल (ठंढे) को भग्नपुरुष प्रभातमें पान करे ॥११॥ और जिसका भग्न व्रणयुक्त हो उसके व्रणको घृत तथा शहदसे युक्त (न्यग्रोधादि) कषायसे प्रतिसारण (लेपन) करे और शेष सब विधि भग्नहीके समान करे॥१२॥

भग्नमें साध्यताका नियम ।

प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत् ॥ अल्पदोषस्य जंतोस्तु काले च शिशिरात्मके ॥ १३ ॥ प्रथमे वयसि त्वेवं मासात्संधिः स्थिरो भवेत् ॥ मध्यमे द्विगुणात्कालादुत्तरे त्रिगुणात्स्मृतः॥ १४॥

पूर्वोक्त वर्ताव करनेपर प्रथम अवस्थामें भग्न सुखसाध्य होता है तथा अल्प दोषवाले मनुष्यका भग्न और सरदीकी ऋतुमें हुआ भग्नभी सुखसाध्य जानो॥१३॥

(श्लो० ११) गृष्टिः प्रथमप्रसूता गौः । मधुराणां काकोल्यादीनाम् । कर्षमात्रद्रव्यमष्टगुणं क्षीरं चतुर्गुणोदकसिद्ध क्षीरशेष सर्पिर्लाक्षाकर्षमात्रप्रक्षेपान्वितम् (इति डल्हनः) (श्लो० १२) सव्रणस्य व्रणं प्रतिसार्य लेपयित्वा । कषायोत्र न्यग्रोधादिकल्कः तैः मधुघृतप्रधानैः (नि० सं०) (श्लो० १३) सुकरं सुखसाध्यम् ।

पूर्वोक्त विधान करनेपर प्रथम अवस्थामें १ महीनेमें संधि स्थिर होती है और दूसरी अवस्थामें दो महीनेमें और तीसरी अवस्थामें तीन महीनेमें स्थिर होतीहै॥१४॥

अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत् ॥ आञ्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत् ॥ १५॥ आञ्छनैः पीडनैश्चैव संक्षेपैर्बन्धनैस्तथा ॥ संधीञ्शरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि ॥ एतैस्तु स्थापनो-पायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक् ॥ १६ ॥

जो अवनामित (नवगया) हो उसे उभारकर सीधा करे और जो ऊंचा होगया हो उसे दबाकर ठीक करे और जो अतिक्षिप्त हो फैले नहीं उस अंगको फैलावे और जो नीचा होगया हो उसे ऊपर चढाकर ठीक करे ॥ १५ ॥ आंछन (सीधा करना फैलाना सूँतना), पीडन (मलना दबाना), संक्षेप (सकोडना अथवा सम्यक् प्रेरण करना) तथा बांधना इन सब क्रियाओंसे शरीरकी चलायमान और निश्चल सब भग्नसंधियोंको बुद्धिमान् वैद्य जहांकी तहां स्थापन करे ॥ १६ ॥

उत्पिष्ट और विश्लिष्टसंधिकी चिकित्सा ।

उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं संधिं वैद्यो न घट्टयेत् ॥ तस्य शीतान्परीषे-कान् प्रदेहांश्चावचारयेत् ॥१७॥ अभिघाते हते संधिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः ॥ घृतादिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि ॥ पट्टो-परि कुशान्दत्त्वा यथावद्बंधमाचरेत् ॥ १८ ॥

उत्पिष्ट और विश्लिष्ट (इनके लक्षण पहले कहचुके हैं) संधियोंको वैद्य विघट्टन (अस्तव्यस्त न करे) किंतु उसपर शीतल परिषेक और लेप करते रहे ॥१७॥ चोट आदिसे जो संधि मारी जातीहै वह स्वयं फिर अपनी प्रकृतिपर आजाया करतीहै अर्थात ठीक हो जाती है केवल उसपर घृतका भिगोया कपडा लपेट और फिर उसपर कुशा या बांसकी पच्चटें लगाकर यथावत बंध बांध देना ठीक है ॥ १८ ॥

प्रत्यंगभग्नकी चिकित्सा ।

प्रत्यंगभग्नस्य विधिरत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥ १९ ॥ नखसंधिं समु-त्पिष्टं रक्तानुगतमाशयाम् ॥ अवमथ्य स्नुते रक्ते शालिपिष्टेन लेप-येत् ॥ २० ॥ भग्नां वा संधिमुक्तां वा स्थापयित्वांगुलीं समम् ॥ अणुनावेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ २१ ॥

(श्लो० १५) आञ्छेत् आयामेत् आयामं कुर्यादित्यर्थः । (श्लो० १६) आञ्छनैः विस्तृतकरणैः। संक्षेपैः संकोचनैः सम्यक्प्रेरणैर्वा ।

अब यहांसे अगाडी प्रत्यंगोंके भग्नकी चिकित्साविधिका वर्णन करतेहैं ॥ १९ ॥ नखूनकी संधि कुचलीगई हो और रुधिर चमकने लगा हो तो उसे आरा नामक शस्त्रसे मथे (वेधे) जब रुधिर निकल जावे तब चावल पीसकर लेप करदे ॥२०॥ यदि कोई अंगुली टूटगई हो या संधिमेंसे उतर गई हो तो उसे जोडकर या चढाकर बराबर अंगुली करके बारीक कपडेसे बांधकर ऊपरसे घृतका सेचन करे (तरडादे)॥२१॥

पादभग्नकी चिकित्सा ।

अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम् ॥ वस्त्रपट्टेन बध्नीयान्न च व्यायाममाचरेत् ॥ २२ ॥ अभ्यज्यायामयेज्जंघामूरुं च सुसमाहितः ॥ दत्त्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥२३॥ मतिमांश्चक्रयोगेन आंछेदूर्वमस्थिनिर्गतम् ॥ स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात्पूर्ववद्भिषक् ॥ २४ ॥

यदि पाँवका तलुवा टूटगया होवे तो उसपर घृत लगाकर ऊपर बांसकी पच्चटें लगाकर कपड़ेकी पट्टीसे बांधदे और परिश्रम (चलने आदि) से बचारहने दे॥२२॥ यदि जंघा(पिंडली),ऊरु(साथल)ये टूटगई हों या उतर गई हों तो चिकनाई लगाकर उसे जोडकर या चढाकर शीतल वृक्षोंकी छाल लपेटकर ऊपरसे कपडेकी पट्टीसे बांध देवे ॥ २३ ॥ जो साथलका अस्थि निकल आया हो तो उसे चक्रके योगसे ठीक बिठावे अर्थात् उसके चारों तरफ पच्चट आदिका चक्रसा बनाकर लगावे और जो फूटगई हो या कुचली गई हो (ऐसी साथलको)पूर्वोक्त रीतिसे वैद्य बांध देवे॥२४॥

आंछेदूर्ध्वमधो वापि कटिभग्नं तु मानवम् ॥
ततः स्थानस्थिते संधौ बस्तिभिः समुपाचरेत् ॥ २५ ॥

जिस मनुष्यकी कमर टूटगई हो (अर्थात् कमरकी हड्डी टूटी हो) उसे ऊपरसे नीचेको और नीचेसे ऊपरको करके (जोड मिलादे) और जब स्थान जुडजावे तब स्नेह आदिकी बस्तिसे उपचार करे ॥ २५ ॥

पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः ॥ दक्षिणास्वथ वा वामास्वनुसृज्य निबंधनीः ॥ २६ ॥ ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत्सुसमाहितः ॥ तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम् ॥२७॥

जिसकी पार्श्वका (पीठकी हड्डियां) टूट(नव)जावें उस मनुष्यको बिठाकर घृतका मर्दन करावे और दाहिनी या बांई निबंधनी (मांसरज्जू) भग्न होजावें तबभी वैसे ही घृत मले ॥ २६ ॥ फिर ऊपर लूपरी बांधदे और तैल भरे कडाह या कठडे या नवाडेमें सुलाते रहे ॥ २७ ॥

सुशलेनोत्क्षिपेत्कक्षामंससंधौ विसंहते ॥ स्थानस्थितं च बध्नीत स्वस्तिकेन विचक्षणः ॥ २८ ॥ कौर्परं तु तथा संधि मंगुष्ठेनानुमार्जयेत् ॥ अनुमृज्य ततः संधिं पीडयेत्कूर्पराच्च्युतम् ॥ २९ ॥ प्रसार्याकुंचयेच्चैनं स्नेहसेकं च दापयेत् ॥ एवं जानुनि गुल्फे च मणिबंधे च कारयेत् ॥ ३० ॥

यदि कंधेकी संधि हट जावे तो कांखमें मूसल देकर उसे ऊपरको चढादेवे और जब ठीक बैठ जावे तब स्वस्तिक नाम बंधसे बांधदेवे ॥ २८ ॥ और कोहनीकी संधि हट जावे तो उसे अँगूठेसे दबाकरही चढादे फिर उस कोहनीकी संधिको दबा कर मले (और फिर उसी भांति स्वस्तिकबंधसे बांधदे) ॥ २९॥ और उसे पसार सकोडकरभी देखलेना चाहिये फिर उसपर घृतका सेचन करे और इसी प्रकार जानु (घुटने), गुल्फ (टकने) और मणिबंध (पहुँचे) की संधि हटनेपरभी यत्न करे ॥ ३० ॥

उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः ॥ बध्नीयाद्दामतैलेन परिषेकं च कारयेत् ॥ ३१ ॥ प्राग्गोमयमयं पिंडं धारयेन्मृण्मयं ततः ॥ हस्ते जातबले चापि कुर्यात्पाषाणधारणम् ॥ ३२ ॥

जिसकी हथेली भग्न होजावे उसके दोनों हाथोंकी हथेली बराबर कराकर बांध दे और कच्चे तैलका सेचन करे ॥ ३१ ॥ पहले उसके हाथसे गोबरका गोला उठवावे फिर जब कुछ बल आजावे तब मिट्टीका ढेला उठवावे और जब ज्यादा २ बल आवे तब पत्थर उठवाया करे ॥ ३२ ॥

सन्नमुन्नमयेत्स्विन्नमक्षकं मुशलेन तु ॥ तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद्गाढमेव च ॥ ऊरुवद्वापि कर्तव्यं बाहुभग्नचिकित्सितम् ॥३३ ॥

यदि अक्षक नाम स्थानकी संधि भग्न हुई हो तो उसे घृत लगा स्वेद दिलाकर नीची हुईको मूशल लगाकर उठादे और ऊंची हुईको दबादे फिर कडे बंधसे बांधदेवे (अक्षक कोई कंधेसे ऊपरके जोडको कहते हैं और कोई कूलेकी संधिको कहते हैं) तथा जैसे साथलके भग्नकी विधि है उसी प्रकार बाहुभग्नकीभी चिकित्सा करना चाहिये ॥ ३३ ॥

ग्रीवायां तु विवृत्तायां प्रविष्टायामथोपि च ॥ अवटावथ हन्वोश्च प्रगृह्योन्नमयेन्नरम् ॥ ३४ ॥ तथा कुशान्समं दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ उत्तानं शाययेच्चैनं सप्तरात्रमतंद्रितः ॥ ३५ ॥

जिसकी ग्रीवाकी संधि हटगई हो या नीचेको प्रविष्ट होगई हो उस मनुष्यकी अवटु (गुद्दी) और ठोडी पकडकर ऊपरको नवादे और ठीक करदे ॥३४॥ फिर उसमें समान कुशा (बांसकी पच्चटें) लगाकर वस्त्रकी पट्टीसे बांध देवे और सात दिनतक पथ्यपूर्वक औंधा सुलावे ॥ ३५ ॥

हन्वस्थिनी समानीय हनुसंधौ विसंहते ॥ स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक्पंचांगीं वितरेद्भिषक् ॥ वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम् ॥ ३६ ॥

यदि ठोडीकी संधि हट जावे तो ठोडीकी हड्डियोंको स्वेदन कराके संधि बिठा देनी चाहिये और जब ठीक बैठ जावे तब पंचांगीनामक बंधसे बांध देवे तथा वैद्य वायुनाशक मधुर औषधोंसे सिद्ध कियेहुए घृतका नस्य देवे ॥ ३६ ॥

अभग्नांश्चलितान्दन्तान्सरक्तानवपीडयेत् ॥ तरुणस्य मनुष्यस्य शीतैरालेपयेद्बहिः ॥ ३७ ॥ सिक्ताम्बुभिस्ततः शीतैः संधानीयैरुपाचरेत् ॥ उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते ॥ जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्जयेच्चलितान्द्विजान् ॥ ३८ ॥

जिस तरुण मनुष्यके दांत टूटे तो न हों पर चलायमान होगये हों और उनमें रुधिर आता हो तो उन्हें दबाकर अपनी जगह जमा देना चाहिये और बाहर शीतल लेप कर देना चाहिये ॥ ३७ ॥ और ठंढे जलसे सेचन करे और संधानीय (जोडनेवाले) उपचार करे तथा कमलकी नालीसे उसे दूध पिलावे और वृद्ध मनुष्यके चलायमान दांत असाध्य हैं उन्हें त्याग देवे ॥ ३८ ॥

नासिका और कर्णभग्नकी चिकित्सा ।

नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया ॥ पृथङ्नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत् ॥ ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ ३९ ॥ भग्नं कर्णं च बध्नीयात् समं कृत्वा घृतप्लुतम् ॥ सद्यःक्षतविधानं च ततः पश्चात्समाचरेत् ॥ ४० ॥

यदि नासिका बैठ (दब) गई हो या कुचली (चपटी फैलगई) हो तो उसे सलाई डालकर बराबर उठादेवे और दोनों नाकके छिद्रोंमें दो मुखवाली दो जुदी २ नाली प्रवेश करके ऊपर पट्टी बांधदेवे और घृतका सेचन करे ॥ ३९ ॥ यदि

(श्लो० ३९) सन्नां निम्नीभूतां द्विमुख्यौ नाड्यौ प्रवेशयेत् । द्विमुख्यौ उभयतो मुख्यौ प्रश्वासोच्छ्वासशिंघाणकनिर्गमनार्थम् ।

किसीका कान भग्न होगया हो तो उसे बराबर करके घृतसे प्लुत करदे और उसके पीछे सद्यःक्षतकी विधि करे ॥ ४० ॥

कपालभग्नचिकित्सा ।

मस्तुलुंगाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी ॥
दत्त्वा ततो निर्बध्नीयात्सप्ताहंश्च पिबेद् घृतम् ॥ ४१ ॥

जिसका कपाल इतना फटे कि उसके भीतरकी मस्तकमज्जा नहीं निकले तो उसपर शहद और घृत लगाकर पट्टी बांधदे और सात दिन तक घृत पीवे (यदि मस्तकमज्जा निकलने लगे तो पूर्वोक्त बालोंकी बत्ती बनाकर भरदेवे) ॥ ४१ ॥

अभिघातशोथचिकित्सा ।

पतनादभिघाताद्वा शूनमंगं यदक्षतम् ॥
शीतान्प्रदेहान्सेकांश्च भिषक्तत्रावचारयेत् ॥ ४२ ॥

गिरपड़नेसे अथवा चोट लगने आदिसे किसीका अंग सूज आया हो और घाव नही हो तो उसपर शीतल लेप और शीतलही परिषेक वैद्यको कराना चाहिये॥४२॥

जंघादिभग्नकी चिकित्सा ।

अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ॥ कीलकाः बंधनार्थं च पंच कार्या विजानता ॥ ४३ ॥ यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा ॥ संधेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ॥ ४४ ॥ श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा ॥ भग्नसंधिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥ ४५ ॥

यदि किसीकी पिंडली या साथल टूटगई हो तो उसे लंबे तखतेपर सुलाना चाहिये और बांधनेकी कीलक (चपटी लकडियां या बांसकी मोटी मजबूत पच्चटें) पांच बनवावे ॥ ४३ ॥ फिर टूटे हुएका जोड मिलाकर उसपर वे लकडियां ऐसे बाधें कि संधिके दोनों तरफ तो दोदो और नीचेको एक जिससे वह जोड हट न जावे॥४४॥ कमर, पीठका बांस, छाती, अक्षक (खोदे) इनके टूटनेपर तथा संधि हटजानेपर भी यही विधि करे ॥ ४५ ॥

संधींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान्स्विन्नान्मृदूकृतान् ॥
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च सम्यक्प्रकृतिमानयेत् ॥ ४६ ॥

(श्लो॰ ४१) मस्तुलुंगलावे तु प्रागभिहितैव वालवर्तिरित्यभिप्रायः (इति डल्लनः)

बहुत दिनकी उखडी हुई संधि होगई हो तो उसे चिकनाईसे तरकरके पसीना दिला (सेक सेक) कर नरम करे फिर उक्त विधिसे या बुद्धिकी युक्तिसे ठीक करके अपनी जगह बिठावे ॥ ४६ ॥

कांडभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्बणसंहिते ॥ आपोथ्य शमयेद्भग्नं ततो भग्नवदाचरेत् ॥ ४७ ॥ कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणांतेऽस्थि समाहितः ॥ संध्यंते वा क्रियां कुर्यात्सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥ ४८ ॥

किसीका कांड भग्न हो (हड्डी हाथ पावोंकी टूट) कर टेढी या ऊँची जुडकर उसपर अंकुर आगया हो तो उसे फिर अलग करके ठीक २ जोड मिलावे और फिर भग्नकी तरहसे ही क्रिया करे ॥ ४७ ॥ यदि व्रणके पास निकली हुई हड्डी सूखगई हो तो थोडी काटदे जिससे ठीक बैठजाय तथा व्रणयुक्त संधिके समीप निकलकर हड्डी सूखजाय तो वहांभी ऐसेही करे (थोडी काटदे) और व्रणभग्नकी भांति यत्न करे ॥ ४८ ॥

ऊर्द्ध्वकाये तु भग्नानां मस्तिक्यं कर्णपूरणम् ॥
घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम् ॥ ४९ ॥

ऊपरके शरीर (शिर आदि) के भग्न होनेमें मस्तकका हित (पुष्टि) करनेवाले कर्णपूरण (कानोंमें तेल डालना), घृतपान और नासआदि यत्न करने हित हैं और प्रशाखा (नीचेके अंग पांव आदि) भग्न हैं तो अनुवासन वस्ति करे ॥ ४९ ॥

गंधतैल ।

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलं भग्नस्य साधकम् ॥ रात्रौ रात्रौ तिलान् कृष्णान् वासयेदस्थिरे जले ॥ ५० ॥ दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत् ॥ तृतीयं सप्तरात्रं वा भावयेन्मधुकाम्बुना ॥ ५१ ॥ ततः क्षीरे पुनः पीतान्सुशुष्कांश्चूर्णयेद्भिषक् ॥ काकोल्यादिं सयष्ट्याह्वं मंजिष्ठां सारिवां तथा ॥ ५२ ॥ कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचंदनम् ॥ शतपुष्पां च संचूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत् ॥ ॥ ५३ ॥ पीडनार्थं च कर्तव्यं सर्वगंधशृतं पयः ॥ चतुर्गुणेन पयसा तत्तैलं विपचेद्भिषक् ॥ ५४ ॥

(श्लो० ४८) कल्पयेत् छिद्यात् (इति डल्हनः)

(श्लो० ४९) मस्तिक्यं शिरोवस्तिप्रकारः स च स्नेहाक्तपिचुप्रोतादिभिः (श्लो० ५२) क्षीरे पुनः पीतान् इति–क्षीरेण भाव्य द्रव्यसमेन पुनर्भावितान् (इति नि. सं.)

इससे अगाडी अब भग्नका साधन करनेवाला तैल वर्णन करते हैं, काले तिलों- को लेकर रात रातको बहते पानीमें रक्खे (पोटली बांध कर बहते पानीमें डाल दे) ॥ ५० ॥ और दिन प्रतिदिन सुखावे ऐसे सात दिन करे फिर सात दिन गौके दूधकी भावना दे । फिर तीसरे सप्ताह मुलेठीके रसमें भावना दे ॥५१॥ फिर दूधमें भिगोकर सुखाले और पीस लेवे फिर काकोल्यादि गण, मुलेठी, मँजीठ ॥ ५२ ॥ सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चंदन और सौंफ इनको पीस कर उस तिलचूर्णमें मिलादे ॥ ५३ ॥ और कोल्हूसे पेरवाकर तैल निकलवा ले परंतु काको- ल्यादिका चूर्ण और तिलोंका चूर्ण मिलाकर इलायची आदिसे उबाला हुआ दूध डालकर कोल्हूमें पेरनेके वास्ते पिट्ठीसी बनावे फिर इस पिट्ठीको पेरकर तैल निक- लवावे फिर इस तैलमें चौगुना दूध डालकर वैद्य इसे पकावे और नीचे लिखी औषधोंका इसमें संस्कार करे ॥ ५४ ॥

एलामंशुमतीं पत्रं जीवकं तगरं तथा ॥ रोध्रं प्रपौंडरीकं च तथा कालानुसारिणम् ॥५५॥ सैरेयकं क्षीरशुक्लामनंतां समधूलिकाम्॥ पिष्ट्वा शृंगाटकं चैव पूर्वोक्तान्यौषधानि च ॥ ५६ ॥ एभिस्तैर्द्वि- पंचैस्तैलं शास्त्रविन्मृदुनाग्निना ॥ एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु ॥ ५७ ॥

इलायची, अंशुमती (शालपर्णी), पत्रज, जीवक, तगर, लोध, प्रपौंडरीक, कालानुसारी (तगरका भद अथवा शैलेय अर्थात् लोबान) ॥ ५५ ॥ सैरेयक (कंटशेलूक), क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), अनन्ता (अनंतमूल), मधूलिका (मर्कटतृण) तथा सिंघाडा इन पूर्वोक्त औषधोंको पीसकर ॥ ५६ ॥ इनसे शास्त्रज्ञ वैद्य मन्दी अग्निसे उस तैलको पकावे यह तैल भग्नरोगियोंको सब कार्योंमें सदा पथ्य है ॥ ५७ ॥

गंधतैलके गुण ।

आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथार्दिते ॥ मन्यास्तंभे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे ॥ ५८ ॥ बाधिर्य तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षयं गताः ॥ पथ्यं पाने तथाभ्यंगे नस्ये वास्तिषु भोजने ॥५९॥ ग्रीवा- स्कंधोरसां वृद्धिरसुनै वोपजायते ॥ मुखे च पद्मप्रतिमं ससुगंधि- समीरणम् ॥ ६० ॥ गंधतैलमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्॥ राजा- र्हमेतत्कर्तव्यं राज्ञामेव विचक्षणैः ॥ ६१ ॥

आक्षेपकरोग, पक्षाघात, तालुकी शुष्कता, अर्दितवायु, मन्यास्तंभ (ग्रीवाके पिछले जोते अकडजाने), शिरके रोग, कानके शूल, ठोडीके जकडाव इन रोगोंमें ॥ ॥ ५८ ॥ तथा बहरेपनमें, तिमिर (आंखोंके अगाडी अँधेरी आना) तथा जो अति विषयसे क्षीण होगये हों ऐसे रोगियोंको पीने तथा मलने, नास लेने एवं वस्तिकर्म तथा खानेमें श्रेष्ठ है ॥ ५९ ॥ ग्रीवा, कंधे, छाती इनकी वृद्धि इसी तैलसे होती है, (मलनेसे) मुख कमलसरीखा होता है और सुगंधयुक्त वायु मालूम होती है ॥ ६० ॥ इस तैलका नाम गंधतैल है यह समस्त वायुके विकारोंको दूर करता है, राजाओंके योग्य है, जो राजाओंमें चतुर राजा हों उन्हें यह अवश्य तैयार कराके रखना चाहिये ॥ ६१ ॥

त्रपुसाक्षप्रियालानां तैलानि मधुरैः सह ॥ वसान्दत्त्वा यथालाभं क्षीरे दशगुणे पचेत् ॥ ६२ ॥ स्नेहोत्तरमिदं चाशु कुर्याद्भग्नप्रसाधनम् ॥ पानाभ्यंजननस्येषु वस्तिकर्मणि सेचने ॥ ६३ ॥

ककडीके बीज, बहेडेकी गिरी और चिरोंजी इनका तैल निकलवावे फिर काकोल्यादि मधुर द्रव्योंके साथ मिलाकर जितनी मिल सकें उतनी वसा (चरबी) डालकर इन्हें दशगुणे दूधमें पकावे ॥ ६२ ॥ यह स्नेहप्रधान तैल है, भग्नरोगीको पीने, मलने, नासलेने, वस्तिकर्म और परिषेक करनेसे शीघ्रही टूटे हुएको जोड देताहै ॥ ६३ ॥

भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥
पक्कमांसशिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिद्ध्यति ॥ ६४ ॥

जबतक टूटी हुई जगह पक नहीं जावे तबतक यह यत्न करने चाहिये (अथवा वैद्य ऐसा यत्न करे जिससे भग्न पक नही जावे) और यदि भग्नस्थानके मांस शिरा, स्नायु पक जावें तो फिर वह कठिनतासे सिद्ध होताहै ॥ ६४ ॥

भग्नं संधिमनाविद्धमहीनांगमनुल्बणम् ॥
सखचेष्टाप्रचारं च संहितं सम्यगादिशेत् ॥ ६५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

जिस भग्नके रूढ होने (अच्छे होने) पर संधिमें विकार न रहे और अंग कुछ हीन नहीं हो तथा विशेष उभराहुआ भी न हो और आकुंचन, प्रसारण आदि चेष्टा सुखपूर्वक होसकें उसे ठीक ठीक जुडा और अच्छा हुआ जानना चाहिये ॥ ६५ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ४.

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम वातव्याधिकी चिकित्साका व्याख्यान करतेहैं ।

आमाशयगतवायुका यत्न ।

आमाशयगते वाते छर्दयित्वा यथाक्रमम् ॥ देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखांबुना ॥ १ ॥ चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकातिविषाभया ॥ वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ २ ॥

यदि आमाशयमें वायु हो (और रोगी बलवान् तथा दोषकी अधिकता हो) तो विधिपूर्वक वमन कराकर सात दिन तक षड्धरण नामक योग कुछ गरम पानीसे देवे ॥ १ ॥ षड्धरण योग यह है कि चित्रक, इंद्रजौ, पाठ, कुटकी, अतीस और हरीतकी इन छहोंको धरण२ (टंकटंकभर) ले यह षड्धरण योग आमाशयके वायुको शांत करता है ॥ २ ॥

पक्काशय और वस्तिगत वायुका यत्न ।

पक्काशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम् ॥ वस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥ ३ ॥ कार्यो वस्तिगते चापि विधिर्वस्तिविशोधनः ॥ ४ ॥

यदि वायु पक्काशयमें हो तो स्नेहविरेचन (अरंडीके तैल आदिका जुलाव) दे और शोधन वस्तुओंके काथादिसे वस्तिकर्म करे और लवणप्रधान भोजन (विशेषतया)करावे ॥ ३ ॥ और जो वस्ति (मसाने) में वायु स्थित हो तो वस्ति स्थानके शोधनकी विधि करे (गोक्षुरकादि द्रव्योंके काथसे वस्तिशोधन करे)॥ ४ ॥

श्रोत्रादिमें प्राप्त वायुका यत्न ।

श्रोत्रादिषु प्रकुपिते कार्यश्चानिलहा क्रमः ॥ स्नेहाभ्यंगोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च ॥ त्वङ्मांसासृक्शिराप्राप्ते कुर्याच्चासृग्विमोक्षणम् ॥ ५ ॥

श्रोत्रादिकमें कुपित वायु हो तो वायुनाशक क्रम स्नेहाभ्यंगादि (तैलपूरण आदि) करे तथा त्वचा,मांस, रुधिर और शिराओंमें कुपित वायु हो तो स्नेहाभ्यंग, उपनाह, मर्दन, लेपन और शिरामोक्षण इनमें जो जहाँ उचित हो वह करे (त्वगगतमें स्नेहाभ्यंग, मांसगतमें उपनाह, मर्दन और रक्तगतमें रक्तमोक्ष इत्यादि करे)॥५॥

(श्लो० ३) पक्वाशयगते इति–पक्वाशयो नाभेरधः तस्मान्नाभेरधः कुपिते वाते ।

स्नायु संधि और अस्थिगत वायुका यत्न।

स्नेहोपनाहाग्निकर्मबंधनोन्मर्दनानि च॥ स्नायुसंध्यस्थिसंप्राप्ते कुर्याद्वायावतंद्रितः॥ ६॥ निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते॥ नाडीं दत्त्वास्थनि भिषक् चूषयेत्पवनं बली॥ ७॥

यदि स्नायु, संधि और अस्थि इनमें वायु प्राप्त हो तो स्नेह, उपनाह, अग्निकर्म और बंधन तथा मर्दन करना चाहिये॥ ६॥ और अस्थिके भीतर वायु रुकगया हो तो पाणिमंथ (आरा) शस्त्रसे छेदन करके उसमें नाली लगाकर बलवान् वैद्य वायुको चूस लेवे॥ ७॥

शुक्रगत वायुका यत्न।

शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोषचिकित्सितम्॥ ८॥

यदि वीर्यमें वायु हो तो शुक्रदोषनाशक चिकित्सा करे अर्थात् शुक्रशोधन वाजीकरणतंत्रोक्त विधि अथवा मूत्रदोषहरचिकित्सोक्त विधि करे॥ ८॥

सर्वांग और एकांगगत वायुका यत्न।

अवगाहकुटीकर्षुप्रस्तराभ्यंगवस्तिभिः॥ जयेत्सर्वांगजं वातं शिरामोक्षैश्च बुद्धिमान्॥ ९॥ एकांगजं च मतिमाञ्छृङ्गैश्चावस्थितं जयेत्॥ १०॥

यदि सर्वांगमें वायु दूषित हो तो अवगाह (वायुनाशक औषधोंके निवाये काथसे भरी हुई द्रोणीमें अवगाहन करे अर्थात् बैठे और मल मलकर न्हावे) अथवा कुटी (अर्थात् एक चौकोन मिट्टीकी कोठरीसी बनाकर उसमें अग्निसे तपाकर वायुनाशक द्रव्योंके काथ छिडककर सुहाता २ पसीना निकाले इसे कुटी कहते हैं) अथवा कर्षु (पुरुषके प्रमाण लंबा गढा खोद उसे तपा वातहर द्रव्योंसे बुझाकर उसमें सुलाकर ऊष्मस्वेद करावे इसे कर्षु कहते हैं) अथवा प्रस्तर (गरम किये हुये तृण, धान्यादिको पृथ्वीपर बिछाकर उसपर शयन करावे इसे प्रस्तर कहते हैं) इन विधियोंसे तथा अभ्यंग (वायुनाशक तैलादिका मलना) और वस्तिकर्म आदिसे अथवा शिरामोक्ष (हफ्तअंदामफस्त) से बुद्धिमान् वैद्य सर्वांगदूषित वायुको जीते॥ ९॥ और जो किसी एक अंगमें दूषित वायु स्थित हो तो उसे सींगीद्वारा खिंचवाले १०॥

(श्लो० ७) अस्थिगते वर्ज्यत्वे चापि कर्म निर्दिशन्नाह–पाणिमंथेन आराशस्त्रेण (इति नि. सं.)।

(श्लो० ९) अवगाह इति–वातहरक्वाथपूर्णद्रोण्यादिषु अवगाहनेन द्रव्यस्वेदोऽवगाहः। कुटी इति–चतुर्द्धांभूभागारोपिता अपनीतविधूमांगा वातहरद्रव्यसिक्ता च० उष्मस्वेदः। कर्षु इति–पुरुषायाममात्रनिखातदग्धावनिप्रदेशे वातहरद्रव्यसिक्ते शयनं स चोष्मस्वेदविशेषः। प्रस्तर इति–स्विन्नतुषधान्यादिभिरास्तृतायां भूमौ परिशयनं प्रस्तरः सोपि चोष्मस्वेदविशेषः (इति निबधसं.)

बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिभिः ॥ ११ ॥ सुप्तिवातेऽवसृ-
ङ्मोक्षं कुर्याच्च बहुशो भिषक् ॥ दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलसं-
मन्वितैः ॥ १२ ॥

यदि कफ या पित्त या रुधिरमें वायु मिला हुआ हो तो उसे उनके अविरोधी यत्नोंसे जीते ॥ ११ ॥ सुप्तवायुमें बहुत वार रक्तमोक्ष (फस्त) करावे और फस्तकी जगह (व्रण) पर लवण और घरके धुवाँको तेलमें मिलाकर लगादे ॥ १२ ॥

वातव्याधिमें भोजन और उपनाह।

पंचमूलीशृतं क्षीरं फलाम्लो रस एव च ॥ सुस्निग्धो धान्ययूषो
वा हितो वातविकारिणाम् ॥ १३ ॥ काकोल्यादिः स वातघ्नः
सर्वाम्लद्रवसंयुतः ॥ सानूपोदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः ॥१४॥
सुखोष्णः स्पष्टलवणः शाल्वणः परिकीर्तितः ॥ तेनोपनाहं कुर्वीत
सर्वदा वातरोगिणाम् ॥ १५ ॥

पंचमूलीसे सिद्ध किया हुआ दूध अथवा अम्लफलोंकी अम्लतायुक्त मांसरस अथवा चिकनाई युक्त धान्ययूष वातविकारवालोंको हित है ॥ १३ ॥ काकोल्यादि-गणमें वायुनाशक औषधोंको मिलाकर अनेक खट्टे रस युक्त करे और आनूप तथा जलचारी जीवोंका मांस, घृत, तैल, चरबी और मज्जा मिलावे इसे थोडा गरम और तेज लवणसे युक्त करे इसको शाल्वण कहतेहैं इससे उपनाह करना समस्त वातविकारवालोंको हित है ॥ १४ ॥ १५ ॥

कुंचमानं रुजार्तं वा गात्रं स्तब्धमथापि वा ॥ गाढं पट्टैर्निबध्नीया-
त्क्षौमकार्पासकौर्णिकैः ॥ १६ ॥ बिडालनकुलोष्ट्राणां चर्मगोण्यां
मृगस्य वा ॥ प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं शाल्वणेनोपनाहितम् ॥ १७ ॥

जो कोई अंग कूबडा होगया हो, किसीमें पीडा ठहरगई हो अथवा कोई अंग कडा पडगया या रुकगया हो तो उसे रेशमी, टसरी, सूती या ऊनी कपडेसे कडा बाँधदे॥ ॥ १६ ॥ और पहले अच्छे प्रकार तैल मर्दन करके तथा उक्त शाल्वणसे उपनाह अर्थात् स्वेद कराकर (पट्टी बांधकर) बिलाव या नौल या ऊंट या हिरनकी चर्म-गोणी (थैली) में प्रवेश करदे (जिससे गरमी पहुँचकर ठीक होजावे) ॥ १७ ॥

(श्लो० ११) एतदर्द्धं पत्र जयेदिति गतार्द्धेनान्वेतव्यम् । (श्लो० १७) उष्ट्रशब्देनात्र पार्नयबिडालो बोध्यः (इति डल्हनः) चर्मगोणी चर्मनिर्मिता गोणी थैलिकाकारा इति ।

स्कंधादि अवयवगत वायुकी चिकित्सा।

स्कंधवक्षस्त्रिकप्राप्तं वायुं मन्यागतं तथा ॥ वमनं हंति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम् ॥ १८ ॥ शिरोगतं शिरोवस्तिर्हन्ति वासृग्विमोक्षणम् ॥ स्नेहमात्रासहस्रं तु धारयेत्तत्र योगतः ॥ १९ ॥ सर्वांगगतमेकांगस्थितं वापि समीरणम् ॥ रुणद्धि केवलो वस्तिर्वायुवेगमिवांचलः ॥ २० ॥

कंधे, छाती और त्रिकस्थानमें प्राप्त हुए वायुको तथा मन्यागत वायुको चतुर वैद्यसे प्रयुक्त कियाहुआ वमन तथा नास शांत करदेताहै ॥ १८ ॥ शिरमें प्राप्त हुए वायुको शिरोवस्तिसे जीते अथवा रक्तमोक्ष (सरेरू फस्त खुलाना) अथवा स्नेहकी हजार मात्रा योगपूर्वक धारण करनेसे उपचार करे (अर्थात् जितने समयमें सहस्रवार लघु अक्षर उच्चारण हो उतने समयतक शिरपर स्नेह धारण करे, धारण करनेकी विधि यह है कि उडदकी पीठीकी चारों तरफ आड करके शिरपर स्नेह धारण करे) ॥ १९ ॥ सर्वांगमें या किसी एक अंगमें जो वायु स्थित हो उसे केवल वस्तिही इस भांति रोक शांत कर देतीहै जैसे पर्वत वायुके वेगको रोक लेता है ॥ २० ॥

वातव्याधिमें पथ्य।

स्नेहस्वेदस्तथाभ्यंगो वस्तिः स्नेहविरेचनम् ॥ शिरोवस्तिः शिरःस्नेहो धूमः स्नैहिक एव च ॥ २१ ॥ सुखोष्णः स्नेहगंडूषो नस्यं स्नैहिकमेव च ॥ रसाः क्षीराणि मांसानि स्नेहाः स्नेहान्वितं च यत्॥ ॥ २२ ॥ भोजनानि फलाम्लानि स्निग्धानि लवणानि च ॥ सुखोष्णश्च परीषेकस्तथा संवाहनानि च ॥ २३ ॥ कुंकुमागुरुपत्राणि कुष्ठैलातगराणि च ॥ कौशेयौर्णिकरोमाणि कार्पासानि गुरूणि च ॥ २४॥ निवातातपयुक्तानि तथा गर्भगृहाणि च ॥ मृद्वी शय्याग्निसंतापो ब्रह्मचर्यं तथैव च ॥ समासेनैवमादीनि योज्यान्यनिलरोगिषु ॥ २५ ॥

स्नेहस्वेद (चिकनाई युक्त पसीना) तथा तैलादि मलना, वस्तिकर्म, चिकनाविरेचन, शिरकी वस्ति, शिरस्नेह और चिकनाईकी धूम ॥२१॥ गरम सुहाते सुहाते तैल घृतादिके कुल्ले, चिकनाईकी नास, मांसरस, दूध, मांस, घृतादि तथा स्नेह युक्त जो पदार्थ हों॥२२॥ भोजनके लिये खट्टे फल और चिकने लवण युक्त पदार्थ तथा

गरम २ क्काथादिका परिषेक और पालकी आदि सवारी ॥ २३ ॥ केसर, अगर, पत्रज, कूट, बडी इलायची, तगर तथा रेशमी, ऊनी, सूती भारी कपडे पहरना या ओढना ॥ २४ ॥ विना वायुका स्थान, धूपका स्थान तथा भीतरके कोठे रहनेको और नरम शय्या, अग्निसे तापना और ब्रह्मचर्य रखना इत्यादि वस्तु आहार विहारके लिये वातरोगवालोंको उपयोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

स्नेहविरेचनतैल।

त्रिवृद्दंतीसुवर्णक्षीरीसप्तलाशंखिनीत्रिफलाविडंगानामक्षसमाः कल्काः। बिल्वमात्रकल्कस्तिल्वकमूलकंपिल्लकयोस्त्रिफलारसदधिपात्रे द्वे द्वे घृतपात्रमेकम्। तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्तिल्वकसर्पिरेतत् स्नेहविरेचनमुपदिशंति वातरोगेषु। तिल्वकविधिरेवाशोकरम्यकयोर्द्रष्टव्यः ॥ २६ ॥

निशोथ, दंती, चोक, सातला, शंखिनी, त्रिफला, विडंग इनको एक २ अक्ष लेकर पीसकर कल्क करले और तिल्वक (पट्टिका लोध) और कंपिल्लक (कमेला) (इसे डल्लन एला वृक्ष बताते हैं) इनका कल्क बिल्व प्रमाण करे फिर त्रिफलाका रस दो पात्र और दही दो पात्र और घृत एक पात्र अर्थात् चौंसठ ६४ पल ले सबको एकमें मिलाकर पकावे यह तिल्वकका घृत वायुरोगोंमें स्नेहविरेचनके लिये कहा है और इस तिल्वकहीकी विधि अशोक और रम्यक (पहाडीनींब) के घृत बनानेमें समझनी चाहिये ॥ २६ ॥

अणुतैलकी विधि।

तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरिपीतान्यणूनि खंडशः कल्पयित्वावक्षुद्य महति कटाहे पानीये आप्लाव्य क्काथयेत्ततः स्नेहमंबुपृष्ठाद्यदुदेति तत्सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं च स्नेहपाककल्पेन विपचेदेतदणुतैलमुपदिशंति वातरोगेषु। अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यत इत्यणुतैलम् ॥ २७ ॥

तिलपेरनेके (कोल्हूके) काष्ठको जिसने बहुत समयतक तैल पिया हो (या खूब तैल पिलाकर) उसका बुरादा कराकर (या टुकडे कराके और कूटके) बडे कडाह भरे पानीमें भिगोकर औटावे जब जल पर उसका तैल निकलकर तिरने लगे तब सरक(सरके कपडा लपेट अथवा सराईसे)तथा हाथसे इनमेंसे किसीसे उस तैलको

(वाक्य २६) कंपिल्लक एलावृक्षः (इति डल्लनः) रम्यकः पर्वतनिंबः।

उतारले फिर उसमें वायुनाशक औषधें डालकर तैलपाककी विधिसे पकालेवे यह अणुतैल वायुके रोगोंमें (अभ्यंग आदिके लिये) कहा है तैल द्रव्योंके छोटे टुकडों या कणकोंसे यह तैल निकाला जाता है इससे इसे अणुतैल कहते हैं ॥ २७ ॥

सहस्रपाक और शतपाक तैलकी विधि ।

अथ महापंचमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसितमुषितमेकरात्रमुपशांतेऽग्नावपोह्य भस्म निर्वृत्तां भूमिं विदारिगंधादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिंचेत्तत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत्तत्पाणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात् ॥ २८ ॥

महत्पंचमूलकी लकडियां बहुतसी लेकर काली साफ पृथ्वीपर फैलाकर जलावे और रातभर रहने दे जब अग्नि बुझजावे तब वहांसे उस भस्मको हटाकर उस पृथ्वीमें विदारिगंधादिसे सिद्ध किये हुए तैलके सौ घडे बराबर दूध मिलाकर डालदे और रात भर रहने दे प्रभात जितनी मिट्टी उससे चिकनी हुई हो उसे खुदवाकर बडे बडे कडाहोंमें गरमपानीमें डालकर गरम करे जब तैल पानीपर उठ आवे तब उसे हाथोंसे (या पात्रादिसे) लेलेकर सावधानीसे रक्खे ॥ २८ ॥

ततस्तैलं वातहरौषधक्काथमांसरसक्षीराम्लभागसहस्रेण सहस्रपाकं विपचेद्यावता कालेन शक्नोति पक्तुं प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगाश्च गंधा वातघ्नानि च । तस्मिन् सिध्यति शंखानाध्मापयेद्दुंदुभिं घातयेच्छत्रं धारयेद्वालव्यजनं च वीजयेद्ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत् । तत्साधुसिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्तदेतत्सहस्रपाकमप्रतिवारवीर्यं राजार्हं तैलमेवं भागशतविपक्वं शतपाकम् ॥ २९ ॥

फिर उस पूर्वोक्त तैलको वायुनाशक औषधोंके क्काथ, मांसरस, दूध और अम्ल (कांजी) के हजार भाग डाल डालकर हजारवार पकावे या जितने समय पका सके उतने वार पकावे और इसमें हिमालयकी सुगंधियां (कस्तूरी, केसर, जटामांसी आदि) और दक्षिणापथ (मलयाचल) की सुगंधियां (चंदन, जायफल, लवंगादि) डाले तथा वायुनाशक शतपुष्पा, अश्वगंधादि औषधें भी डाले और

पकते समय शंख और नगारे बजावे, ऊपर छत्रकी छाया रक्खे, बालोंकी चँवरसे मक्खी आदि उडाते रहे और हजार ब्राह्मणोंको भोजन करावे जब पकजावे तब उतारकर सुवर्ण या चांदीके पात्रमें या मिट्टीके चिकने पात्रमें (या काचपात्रमें) भरभर कर सावधानीसे रक्खे यह सहस्रपाक नामक तैल अतिप्रभाववाला राजोंके योग्य होता है इसी प्रकार वातहर औषधोंके क्काथ, मांसरस, क्षीर और अम्लके सौ भाग डाल २ कर सौ वार पकावे तो वह शतपाक नामक तैल होता है (इसमें भागका अर्थ कई चतुर्थांश करते हैं अर्थात् १००० चतुर्थांश हजार भाग हुए) ॥२९॥

गंधर्वहस्तकमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्रकादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेदेतत्पत्रलवणमुपदिशंति वातरोगेषु ॥ ३० ॥

गंधर्वहस्त (अरंड), मुष्कक (घंटापारुली), करंज, अडूसा, पूतिकरंज, किरमाल, चित्रक इत्यादिके गीले पत्ते लेकर सेंधा नमक मिलाकर ऊखलीमें कूटडाले और चिकने घडेमें भरकर कपडमिट्टी करके गोबरके आरनोंमें फूँक दे यह पत्रलवण वायुरोगोंके लिये हित है (लवणका प्रमाण वृद्ध वैद्य पत्रोंके बराबर कहते हैं परंतु यह लवणका भाग बहुतही अधिक प्रतीत होता है हां एक वृक्षके पत्रोंके समान ठीक होसकता है ॥ ३० ॥

एवं स्नुहीकांडवार्ताकुशिग्रुलवणानि संक्षुद्य घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जाभिः प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेदेतत्स्नेहलवणमुपदिशंति वातरोगेषु कांडलवणम् ॥ ३१ ॥

इसी भांति थोहरके डंडे, जंगली बैंगन (बृहतीफल), सोहँजना और सेंधानमक इन्हें कूटकर घडा भरदे ऊपरसे घृत, तैल, चरबी, मज्जाभी डालदे फिर कपडमिट्टीकर गोबरके उपलोंसे फूँकदे यह स्नेहलवण वातरोगोंमें हित कहा है और इसेही कांडलवण भी कहते हैं ॥ ३१ ॥

गंडीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगंधानीपनिर्दहन्याटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकंटकारिकाभल्लातकेंगुदीवैजयंतीकदलीवर्षाभूहीबेरक्षुरकेंद्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृष्टं पूर्ववद्दग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेदेतत्प्रतिवापश्चात्र हिंग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा ॥ ३२ ॥ इत्येतत्कल्याणकलवणं

वातरोगेषु गुल्मप्लीहाग्निमांद्याजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभि-रुपद्रुतानां चोपदिशंति पानभोजनेष्विति ॥ ३३ ॥ भवति चात्र–

गंडीर (हरितशाक), ढाक, कुडा, विल्व, आक, थोहर, औंगा, पाढल, पारिभद्र (निंब या कूट), नादेयी (जलजंबू), कृष्णगंधा, (सोहँजना), कदंब, निर्दहनी (अग्निमंथ), अडूसा, दोनों करंज, दोनों कटेली, भिलावां, इंगुदी (हिंगोट), वैजयंती, बड़ी अरणी, केला, सांठी, ह्रीवेर (सुगंधवाला), क्षुरक (तालमखाना), इंद्रायण, सुपेद मोखा और अशोक इन सब औषधोंको मूल, पत्र, शाखा समेत हरी लाकर लवण मिलाकर पूर्वोक्त रीतिसे भस्मकरके क्षारकल्पकी विधिसे जलमें घोलकर चुवाकर पकाले (लवण बनाले) और इसमें हिंग्वादिक अथवा पिप्पल्यादिक औषधें ऊपरसे मिलादे ॥ ३२ ॥ यह कल्याणक नाम लवण वायुके रोगोंमें पीने और खानेके लिये श्रेष्ठ है तथा गुल्म, प्लीहा, अग्निमंदता, अजीर्ण, बवासीर और अरुचिसे पीडित रोगियोंको तथा खांसी आदि रोगोंके उपद्रवयुक्त मनुष्योंके लिये भी यह कल्याण लवण खाने और पीनेमें हितकारक कहा है ॥ ३३ ॥ इस विषयमें श्लोक है–

विष्यंदनादुष्णभावाद्दोषाणां च विपाचनात् ॥
संस्कारपाचनाच्चेदं वातरोगेषु शस्यते ॥ ३४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

विष्यंदी (अभिष्यंदिताको दूर करनेवाला) होनेसे और उष्ण होनेसे तथा दोषोंको पकानेवाला होनेसे तथा संस्कारसेभी पाचन होनेसे यह कल्याणक लवण वायुके रोगोंमें श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

इति पण्डितमुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पंचमोऽध्यायः ५.

अथातो महावातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे महावातव्याधियोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषंते तत्तु न सम्यक् । कुष्ठवदुत्तानं सूक्ष्मं कालांतरेणावगाढीभवति तस्मान्न द्विविधम् ॥ १ ॥

कई आचार्य वातरक्तको दो प्रकारका इस भांतिसे कहते हैं कि एक तो ऊपर शरीरपर उभरा हुआ, दूसरा अवगाढ (शरीरके भीतर घुसा हुआ) परंतु यह ठीक

नहीं है क्योंकि यहभी कुष्ठकी तरहसे शरीरपर उभरकर कालांतरमें शरीरके भीतर घुसजाता है इससे यह दो प्रकारका नहीं होसकता ॥ १ ॥

तत्र बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितस्य वायोर्गुरूष्णाध्यशनशीलस्य प्रदुष्टं शोणितं मार्गमावृत्य वातेन सहैकीभूतं युगपद्वातरक्तनिमित्तां वेदनां जनयतीति वातरक्तं तत्तु पूर्वं हस्तपादयोरवस्थानं कृत्वा पश्चाद्देहं व्याप्नोति ॥ २ ॥

वहां बलवान्के साथ कुस्ती करने तथा अति परिश्रम करने आदिसे कुपित हुआ वायु और भारी गरम भोजन करने तथा बारबार भोजनपर भोजन करनेवाले मनुष्यका रुधिर दूषित होकर मार्ग(धमनियोंके मार्ग)में स्थित होकर जब वायुके संग मिल जाता है तब वायु और रुधिरकी वेदनायें उत्पन्न करता है इसे वातरक्त कहते हैं यह पहले हाथ पावोंमें स्थित होकर फिर शरीरमें व्याप्त होजाता है ॥ २ ॥

पूर्वरूपादि ।

तस्य पूर्वरूपाणि तोददाहकंडूशोफस्तंभत्वं पारुष्यं शिरास्नायुधमनिस्पंदनसक्थिदौर्बल्यानि श्यामरक्तमंडलोत्पत्तिश्चाऽकस्मात्पाणिपादतलांगुलिगुल्फप्रभृतिषु ॥ ३ ॥ तत्राप्रतिकारिणोऽपचारिणश्च रोगो व्यक्तस्तस्य लक्षणमुक्तं तत्राप्रतिकारिणो वैकल्यं भवति ॥ ४ ॥ भवति चात्र–

इस वातरक्तका पूर्वरूप यह है कि अंगोंमें दरद, दाह, खाज,सूजन,जकडाव, खुरदरापन तथा शिरा, स्नायु और धमनियोंमें फुरकन होना और साथलोंमें दुर्बलता होना तथा अकस्मात् हाथोंकी हथेली, तलवे, अंगुली, टकने आदिमें काले, लाल चकत्ते हो जाना ॥ ३ ॥ यदि इस दशामें कोई यत्न न करे तथा कुपथ्यसे रहे तो उनके यह रोग प्रगटरूपसे शरीरपर होजाताहै जिसके लक्षण पहले कहे जाचुके हैं (देखो निदानस्थानका प्रथम अध्याय) और प्रगट वातरक्त रोग होनेपरभी जो प्रयत्न नहीं करे उनके शरीरमें विकलता हो जाती है ॥ ४ ॥ यहां एक श्लोक है–

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ॥ स्थूलानां सुखिनां चापि वातरक्तं प्रकुप्यति ॥ ५ ॥

प्रायः यह वातरक्तका कोप सुकुमार (नाजुक या कोमल) तथा स्थूल (मोटे) और सुखी (आराममें पडे रहनेवाले) मनुष्योंके मिथ्या आहार विहार करनेसे होताहै ॥ ५ ॥

साध्यता।

तत्र प्राणमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तंभारोचकाविपाकविसरणसङ्कोचनैरनुपद्रुतं बलवंतमात्मवंतमुपकरणवंतं चोपक्रमेत् ॥ ६ ॥

इसमें जो बल और मांसक्षय, पिपासा, ज्वर, मूर्च्छा, श्वास, खांसी, शरीर अकडना, अरुचि, भोजन न पचना, विसरण (फैलाव अथवा अतिसार), अंगोंका सुकड़ जाना इन उपद्रवोंसे रहित हो, बलवान् हो, पथ्यसे रहनेवाला हो, ठीक २ उपचार करनेवाला हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

तत्रादावेव बहुवातरूक्षम्लानांगाद्दते मार्गावरणाद्दुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिंचेद्वातकोपभयात्। ततो वमनादिभिरुपक्रमैरुपपाद्य प्रतिसंसृष्टभक्तं वातप्रबले पुराणघृतं पाययेदजाक्षीरं चार्द्धतैलं मधुकाक्षयुक्तं शृगालविन्नासिद्धं वा शर्करामधुमधुरं शुंठीशृंगाटककशेरुसिद्धं वा श्यामारास्नासुषवीशृगालविन्नापीलुशतावरीश्वदंष्ट्राद्विपंचमूलीसिद्धं वा ॥ ७ ॥

इस वातरक्त रोगमें आरंभहीमें बहुत वायुसे रूक्ष और ग्लानियुक्त शरीर हुए पहलेही तथा दुष्ट रक्तसे मार्गोंका अवरोध होनेसे प्रथम बिगडे रुधिरको कईवार थोडा थोडा निकालना चाहिये एकवार ज्यादा वायुकोप होनेके भयसे न निकलावें और पेयादिक्रमसे भक्त (तंडुलजलादि) का त्याग कराके वमन, विरेचनादिसे उपचार करे (प्रतिसंसृष्टभक्तका अर्थ यह है कि, चावलोंके पेयादिपदार्थको त्यागदेनेवाले रोगीको) और वायु प्रबल होनेवालेको पुराना घृत पिलावे अथवा बकरीके दूधमें आधा तेल मिलाकर शृगालविन्ना (पृश्निपर्णी) से सिद्धकर कर्षभर मुलेठी युक्त कर शर्करा और शहदसे मधुर करके पिलावे अथवा सोंठ, सिंघाडे और कसेरुसे सिद्ध किया वही बकरीका दूध अर्द्ध तैलयुक्त पिलावे अथवा वही बकरीका दूध अर्द्धतैलयुक्त श्यामा (काली निसोथ) रास्ना, सुषवी (जलवल्ली), पृश्निपर्णी, पीलू, शतावरी, गोखरू और दोनों पंचमूलोंसे सिद्धकरके पिलावे ॥ ७ ॥

द्विपंचमूलीकाथाष्टगुणसिद्धेन च पयसा मधुकमेषशृंगीश्वदंष्ट्रासरलभद्रदारुवचासुरभिकल्कप्रतिवापं तैलं पाचयित्वा पानादिषूप-

(गद्य ७) प्रतिसंसृष्टभक्तमिति—प्रतिसंसृष्टपेयादिक्रमेण त्यक्तं भक्तम् ओदनं येन तम् (इति डल्हनः)

युंजीत । शतावरीमयूरकमधुकक्षीरविदारीबलातिबलातृणपंचमूलीक्वाथसिद्धं वा काकोल्यादिप्रतिवापं बलातैलं शतपाकं च ॥८॥

दोनों पंचमूलोंका क्वाथ करके आठगुण क्वाथ और एक भाग दूध डालकर दुग्ध शेष रहनेपर उसमें मुलेठी, मेढासींगी, गोखरू, सरल (रालका वृक्ष), देवदारु, वच, सुरभि (रास्ना) इनका कल्क युक्तकर तैल मिलाकर सिद्ध करे फिर इस तैलको पिलाने आदिमें उपयोग करे अथवा शतावरी, ओंगा, मुलेठी, क्षीरविदारी, खरेंटी, अतिबला (कंघी) और तृणपंचमूलके क्वाथसे सिद्ध किया हुआ तैल उपयोग करे अथवा काकोल्यादिगण डाला हुआ बलातैल उपयोग करे तथा पूर्वोक्त शतपाक तैलका उपयोग करे ॥ ८ ॥

वातहरमूलसिद्धेन च पयसा परिषेचनमम्लेन वा कुर्वीत । यवमधुकैरंडतिलवर्षाभूभिर्वा प्रदेहः कार्यः ॥ ९ ॥

और वायुनाशक मूलोंसे सिद्ध कियेहुए दूधका सेचन करे या अम्लरसका परिषेक करे तथा जो, मुलेठी, अरंड (मूल), तिल और सांठी (की जड) इनका लेप करे ॥ ९ ॥

वातप्रबल वातरक्तका उपाय ।

तत्र चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु प्रत्येकशः काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकबलातिबलाबिसमृणालशृगालविन्नामेषशृंगीपियालशर्कराकसेरुकसुरभिवचाकल्कैर्मिश्रैरुपनाहार्थे सर्पिस्तैलवसामज्जदुग्धसिद्धाः पंच पायसा व्याख्याताः ॥ १० ॥

जौ, गेंहू, तिल, मूँग, उडद इनका चूर्ण करके काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, खरेंटी, कंघी, कमलकी जड और नाली, पृश्निपर्णी, मेढासींगी, चिरोंजी, शक्कर, कसेरू, रास्ना, वच ये मिलाकर इनमें घृत, तैल, चरबी, मज्जा, और दूध सिद्ध करके निवाये २ से उपनाह (स्वेद) करे इन्हें पंचपायस कहतेहैं ॥ १० ॥

स्नैहिकफलसारोत्कारिका वा । चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु विचित्रमत्स्यपिशितवेशवारो वा । बिल्वपेशिकातगरदेवदारुसरलारास्नाहरेणुकुष्ठशतपुष्पासुरादधिमस्तुयुक्त उपनाहः । मातुलुंगाम्लसैंधवघृतमिश्रो मधुशिग्रुमूलमालेपः तिलकल्कश्चेति वातप्रबले ११

(वा० ११) मातुलुंगादिभिः सह तु शोभाजनकमूलम् आलेपः ।

स्नैहिकफलसार (अरंड आदिकी गिरी)की लूपरी पकाकर उपयोग करे अथवा जौ, गेहूं, तिल, मूंग, उडद इनका चूर्ण कर विचित्र (रंग रँगीली) मछलीके मांसको मिलाकर वेशवार बनाकर उपयोग करे तथा बेलकी गिरी, तगर, देवदारु, सरला (निसोथ), रास्ना, हरेणु (मटरसम धान्यविशेष), कूठ, सौंफ, मद्य, दही, दहीका जल इन्हें मिलाकर उपनाह (स्वेद) करे तथा मातुलुंग (विजोरा नींबू), सैंधा नमक घृतमें मिलाकर मधुशिग्रु (मीठे सहिंजने) की जडका लेप करे अथवा तिल पीसकर लेप करे ये यत्न वातप्रधान वातरक्तमें करने चाहिये ॥ ११ ॥

पित्तप्रबल वातरक्तका यत्न ।

पित्तप्रबले द्राक्षारेवतकट्फलपयस्यामधुकचंदनकाश्मर्यकषायं शर्करामधुमधुरं पाययेत् । शतावरीमधुकपटोलत्रिफलाकटुरोहिणीकषायं गुडूचीकषायं वा पित्तज्वरहरचंदनादिकषायं शर्करामधुमधुरं तिक्तकषायसिद्धं वा सर्पिः ॥ १२ ॥

पित्तप्रबल वातरक्त हो तो उसमें दाख (मुनक्का), आरेवत (किरमाला), कायफल, पयस्या (अर्कपुष्पी), मुलेठी, चंदन, खंभारी इनका क्वाथ शर्करा तथा शहदसे मीठा करके पिलावे अथवा शतावरी, मुलेठी, परवल, त्रिफला, कुटकीका क्वाथ पिलावे अथवा गिलोयका क्वाथ (शर्करा मधु युक्त) पिलावे अथवा पित्तज्वरनाशक चंदनादिका क्वाथ शर्करा तथा शहदसे मीठा करके पिलावे अथवा तिक्त (पटोलादि) कषाय (त्रिफलादि) इनसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे ॥ १२ ॥

बिसमृणालभद्रश्रियपद्मककषायेणार्द्धक्षीरेण परिषेकः ॥ १३ ॥ क्षीरेक्षुरसमधुशर्करातंडुलोदकैर्वा द्राक्षेक्षुकषायमिश्रैर्मस्तुमधुधान्याम्लैर्जीवनीयसिद्धेन वा सर्पिषाऽभ्यंगः ॥ १४ ॥

कमलकी जड और नाली, भद्रश्रिय (सुपेद चंदन), पद्माख इनके क्वाथमें आधा दूध मिलाकर उसका परिषेक करे (तरडा दे) ॥ १३ ॥ तथा दूध, ईखका रस, शहद, शर्करा और चावलोंका पानी इनसे अथवा दाख, ईखके क्वाथसे मिले दहीके जल, शहद और धान्याम्ल इनसे अथवा जीवनीयगणसे सिद्ध किये हुए घृतका अभ्यंग करे (मालिश करे) ॥ १४ ॥

शतधौतघृतेन वा काकोल्यादिकल्कविपक्वेन वा सर्पिषा ॥ १५ ॥ शालिषष्टिकनलवंजुलतालीशशृंगाटकगलोड्यगौरिगैरिकशैवल-

---

(वा० १३) भद्रश्रियं शुक्लचंदनम् । परिषेकः सर्वतो धारासेचनम् ।(वा०१४) अभ्यंगो मर्दनम् ।

पद्मकपद्मपत्रप्रभृतिभिर्धान्याम्लपिष्टैः प्रदेहो घृतमिश्रः ॥ १६ ॥ वातप्रबलेऽप्येष सुखोष्णः प्रदेहः कार्यः । रक्तप्रबलेऽप्येवं वहुशश्च शोणितमवसेचयेत् शीततमाश्च प्रदेहाः कार्या इति ॥ १७ ॥

अथवा सौ वारके धोये घृतका मर्दन करे अथवा काकोल्यादिगणके कल्कसे पकाये हुए घृतका मर्दन करे ॥ १५ ॥ और शाली, षष्टिक दोनों भांतिके चावल, नल (नरसल), वंजुल (बेंत), तालीश (जिसके पत्र तालीशपत्र होते हैं), सिंघाडा, गलोडय (गलोडय एक पहाड़ी फल होता है इसको डल्लन यवबीज कहते हैं), गौरी (हलदी) और गेरू, सिवाल, पद्माक और कमलके पत्र इन्हें धान्याम्ल (एक भांतिकी कांजी) से पीसकर घृत मिलाकर लेप करना चाहिये ॥ १६ ॥ और वातप्रबल वातमें यही लेप थोडा गरम करके करना उचित है और रुधिरप्रधान वातरक्तमें भी यह लेप करे तथा बार बार फस्त खुलाकर खून निकलवावे तथा ठंढा लेप करे ॥ १७ ॥

कफप्रधान वातरक्तमें औषध ।

श्लेष्मप्रबले त्वामलकहरिद्राकषायं मधुमधुरं पाययेत्त्रिफलाकषायं वा मधुकशृंगवेरहरीतकीतिक्तरोहिणीकल्कं वा सक्षौद्रमूत्रं तोयेन गुडहरीतकीं वा भक्षयेत् ॥ १८ ॥

कफप्रधान वातरक्त हो तो आंवले और हलदी इनका क्वाथ कर शहदसे मीठा करके पिलावे अथवा त्रिफलाका क्वाथ पिलावे अथवा मुलेठी, सोंठ हरडे और कुटकी इनका कल्क पिलावे अथवा गोमूत्रमें शहद मिलाकर पिलावे अथवा जलके संग गुड, हरीतकी खिलावे ॥ १८ ॥

तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैः परिषेक आरग्वधादिकषायैर्वोष्णैः ॥ १९ ॥ मस्तुमूत्रसुराशुक्तमधुकसारिवापद्मकसिद्धं वा घृतमभ्यंगः ॥ २० ॥ तिलसर्षपातसीयवचूर्णानि श्लेष्मातककपित्थमधुशिग्रुमिश्राणि क्षारमूत्रपिष्टः प्रदेहः ॥ २१ ॥

तैल, गोमूत्र, क्षारोदक (खारका पानी), मदिरा, सिरका और कफनाशक औषधोंका क्वाथ इन्हें मिलाकर कफप्रधान वातरक्तपर परिषेक करे अथवा किरमाला आदि औषधोंके गरम २ क्वाथसे परिषेक करना उचित है ॥ १९ ॥ दहीका जल,

(वा० १६) प्रदेहः आलेपनम् । वंजुल. वेतसः स्थलपद्मं च । गलोड्यं (पर्वतीयफलविशेषः गिलोट इति प्रसिद्धः) डल्लनमंते तु यवबीजम् ।

गोमूत्र, मदिरा, सिरका, मुलेठी, सारिवा और पद्माख इनसे सिद्ध किया घृत मालिश करे ॥ २० ॥ और तिल, सरसों, अलसी, जौ इनके चूर्णमें ल्हेसुवा, कैथ, मीठा सहिंजना मिलाकर क्षार तथा गोमूत्रमें पीसकर लेप करे ॥ २१ ॥

श्वेतसर्षपकल्कः तिलाश्वगंधाकल्कः प्रियालशेलुकपित्थत्वक्कल्कः मधुशिग्रुपुनर्नवाकल्कः व्योषतिक्तापृथक्पर्णीबृहतीकल्क इत्येते पंच प्रदेहाः सुखोष्णाः क्षारोदकपिष्टाः ॥ २२ ॥

सुपेद सरसोंका कल्क, तिल और असगंधका कल्क, चिरोंजी, ल्हेसुवा और कैथकी छालका कल्क, मीठा सहिंजना और सांठीका कल्क तथा त्रिकुटा, कुटकी, पृश्निपर्णी और बृहतीका कल्क ये पांच कल्क कहे इन्हें क्षारके जलसे पीस थोडा गरम करके लेप करे ॥ २२ ॥

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वा क्षीरपिष्टास्तर्पणमिश्राः ॥ २३ ॥ संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथमुक्तं मिश्रं कुर्य्यात् ॥ २४ ॥

शालपर्णी, पृश्निपर्णी और दोनों कटेलियोंको दूधमें पीसकर और संतर्पण औषध (जैसे जौके सत्तू) मिलाकर लेप करे ॥ २३ ॥ तथा द्विदोषप्रबल वातरक्तमें और त्रिदोषप्रबल वातरक्तमें उन्हीं उन दोषोंकी कहीहुई औषधोंको मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २४ ॥

सर्वेषु गुडहरीतकीं वा सेवेत ॥ २५ ॥ पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टां वा पंचाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरोदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेदेवं यावत्पंच दश चेति ॥ २६ ॥ तदेतत्पिप्पलीवर्द्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपांडुरोगप्लीहोदरार्शःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्युपहन्ति २७॥

सब प्रकारके वातरक्तमें सामान्यतासे गुड और हरीतकीका सेवन करना श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥ अथवा पिप्पलियोंको दूधमें पीसकर या जलमें पीसकर पांच पांच वढाकर या दश दश बढाकर (ऋतु और बलके अनुसार) दश दिन तक (यथाक्रमसे बढा २ कर) पीना और उसपर दूध, चावल भोजन करना दश दिन पीछे फिर उसी क्रमसे घटा घटा कर दश दिनमें वही पांच या दश पर आजाना चाहिये॥२६॥ (यह वीस दिनका प्रयोग) वर्द्धमानपिप्पली वातरक्त, विषमज्वर, अरुचि, पांडु, प्लीहा,

(वा० २४) तर्पणमिश्रा यवसक्तुयुताः ।

उदररोग और बवासीर, खांसी, श्वास, शोथ, क्षय, मंदाग्नि, हृदयरोग और वातोदरादि उदरके रोग इन्हें नष्ट करता है ॥ २७ ॥

जीवनीयप्रतिवापं सर्पिः पयसा पाचयित्वाऽभ्यंजयेत् ॥२८॥ सहासहदेवाचंदनमूर्वामुस्ताप्रियालशतावरीकशेरुपद्मकमधुकशतपुष्पाकुष्ठानि क्षीरपिष्टः प्रदेहो घृतमंडयुक्तः ॥ २९ ॥

जीवनीयगणसे मिलाहुआ घृत दूधसे पकाकर उसका मर्दन करे ॥ २८ ॥ सहा (माषपर्णी), सहदेवी, चंदन, मूर्वा, नागरमोथा, चिरोंजी, शतावरी, कशेरु, पद्माख, मुलेठी, सौंफ और कूट इन्हें दूधमें पीसकर घृतकी पपडी मिलाकर लेप करे ॥ २९ ॥

सैरेयकाटरूषकबलातिबलाजीवंतीसुषवीकल्को वा छागक्षीरपिष्टः काश्मर्यमधुकतर्पणकल्को वा ॥३०॥ मधूच्छिष्टमंजिष्ठासर्जरससारिवाक्षीरसिद्धं पिण्डतैलमभ्यंगः ॥ ३१ ॥

सैरेयक (पियाबासा), अडूसा, खरेंटी, अतिबला (कंघी), जीवंती, सुषवी (कलौंजी) इनका कल्क बकरीके दूधमें पीसकर लेप करे अथवा खंभारी, मुलेठी, और जौ इनका कल्क (बकरीके दूधमें) पीसकर लेप करे ॥ ३० ॥ और मोम, मँजीठ, राल, सारिवा इन्हें दूधमें सिद्धकर पिंडतैल पकाकर मर्दन करे ॥ ३१ ॥

सर्वेषु च पुराणघृतमामलकरसविपक्कं वा पानार्थे । जीवनीयसिद्धं परिषेकार्थे काकोल्यादिक्काथकल्कसिद्धं वा सुषवीक्काथसिद्धं वा कारवेल्लकक्काथमात्रसिद्धं वा । बलातैलं वा परिषेकावगाहवस्तिभोजनेषु ॥ ३२ ॥

सब प्रकारके वातरक्तमें पुराना घृत आमलोंके रसमें पक्क किया हुआ पीनेके लिये देना उचित है और जीवनीयगणसे सिद्ध किया घृत परिषेकके लिये उचित है तथा काकोल्यादिगणके क्काथ और कल्कसे सिद्ध किया घृत तथा सुषवी (कलौंजी) के क्काथसे सिद्ध किया घृत तथा करेलेके क्काथसे सिद्ध किया घृत परिषेकके लिये हित है अथवा बलातैल परिषेक, अवगाहन (मलना, स्नान करना), वस्ति और भोजनमें वातरक्तवालोंको हित है ॥ ३२ ॥

(वा० २९) प्रियाल चारुबीजम् । (वा० ३२) सुषवी कालाजाजी लोके कलौंजी इति प्रसिद्धा। बलातैलं मूढगर्भचिकित्सितोक्तम् ।

वातरक्तमें भोजन।

शालिषष्टिकयवगोधूमान्नमनवं भुंजीत पयसा जांगलरसेन वा मुद्गयूषेण वा नाम्लेन ॥ ३३ ॥

शाली और षष्टिक दोनों प्रकारके चावल, जौ, गेहूं, पुराने भोजन करने चाहिये जिसमें भी पित्त प्रबल हो तो दूधके साथ, वायु प्रबल हो तो जांगल जीवोंके मांसके रसके साथ और कफ प्रबल हो तो मूंगके यूषके साथ भोजन करे और खटाईके साथ नहीं खावे ॥ ३३ ॥

शोणितमोक्षं चाभीक्ष्णं कुर्वीत। उच्छ्रितदोषे च वमनविरेचनास्थापनानुवासनकर्म कर्तव्यम् ॥ ३४ ॥ भवंति चात्र-

वातरक्तमें अच्छे प्रकार रक्तमोक्ष करना (फस्त खोलना) भी चाहिये और यदि दोषोंकी अधिक उल्वणता हो तो वमन, विरेचन और आस्थापन तथा अनुवासन (वस्तिकर्म) करानाभी श्रेष्ठ है (रक्तकी प्रधानतामें रक्तमोक्ष, कफकी प्रबलतामें वमन, पित्तप्रबल वातरक्तमें विरेचन और वातप्रबल वातरक्त हो तो वस्ति करना हित है) ॥ ३४ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

एवमाद्यैः क्रियायोगैरचिरोत्पतितं सुखम् ॥ वातासृक्साध्यते वैद्यैर्याप्यते तु चिरोत्थितम् ॥ ३५ ॥ उपनाहपरीषेकप्रदेहाभ्यंजनानि च ॥ शरणान्यप्रवातानि मनोज्ञानि महांति च ॥ ३६ ॥ मृदुगंडोपधानानि शयनानि सुखानि च ॥ वातरक्ते प्रशस्यंते मृदुसंवाहनानि च ॥ ३७ ॥

कहेहुए उपायोंसे थोड दिनका हुआ वातरक्त वैद्योंसे सुखसाध्य होसकता है और अधिक समयका पुराना याप्य होताहै (याप्यके लक्षण पहले कहेगये हैं) ॥ ३५ ॥ वातरक्त रोगमें नीचे लिखे हुए कार्य (आहार विहारादि) हित होते हैं। उपनाह (एक प्रकारका सेकना), परिषेक (तरडे या छींटे देना), लेप करना, यथोक्त स्नेहादिका मर्दन करना, शरण अर्थात् रहनेके स्थान वायुवर्जित, विशाल और मनोज्ञ (सजे साफ) होना ॥ ३६ ॥ कोमल तकिये (और ओढना बिछौना) तथा सुखदायक शय्या और धीरे धीरे हाथ पैर दबाना ये हित हैं॥ ३७॥

(वा० ३३) पयसा पित्तोत्तरे जांगलरसेन वातोत्तरे मुद्गयूषेण कफोत्तरे (इति डल्हनः)

(श्लो० ३६-३७) शरणानि गृहाणि। गडोपधानानीत्यत्र गंडपदेन मरतकादीनामपि उपधानानि। मृदुसंवाहनानि इति-संवाहनानि करमर्दनानि (इति नि. सं.

वातरक्तमें कुपथ्य ।

व्यायामं मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणाशनम् ॥
दिवास्वप्नमभिस्यंदि गुरु चान्नं विवर्जयेत् ॥ ३८ ॥

व्यायाम (परिश्रम) करना, मैथुन,क्रोध तथा गरम, खट्टे,खारे पदार्थ खाने,दिनमें सोना, अभिस्यंदी और गरिष्ठ अन्न इन्हें वातरक्तका रोगी त्याग देवे ॥ ३८ ॥

अपतानकवायुचिकित्सा ।

अपतानकिनमस्रस्ताक्षमवक्रभुवमस्तब्धमेढ्रमस्वेदनमवेपनमप्रलापिनमखट्वापातितमबहिरायामिनं चोपक्रमेत् ॥ ३९ ॥

अपतानक वायुका रोगी जिसके नेत्र स्तंभित न हुए हों, जिसकी भ्रुकुटी टेढी न हुई हों, जिसका लिंगेंद्रिय स्तब्ध (उत्थित) ही नहीं रहता हो, जिसके पसीना नहीं आता हो, तथा कम्पसे रहित हो, जो प्रलाप नहीं करता हो, जिसे खट्वापर गिराया हुआ नहीं हो, जिसकी पीठ पीछेको धनुषाकार हो मुड नहीं गई हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये और जिसके ये लक्षण न हों उसे असाध्य जान त्यागना चाहिये ॥ ३९ ॥

तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनैर्न तीक्ष्णैरुपक्रमेत् शिरःशुद्ध्यर्थम् ॥ ४० ॥ अनंतरं च विदारिगंधादिकाथमांसरसक्षीरदधिपक्वं सर्पिरच्छं पाययेत् तथाहि नातिमात्रं वायुः प्रसरति ॥ ४१ ॥

अपतानक वायुके साध्य रोगीको प्रथम शिरकी शुद्धिके लिये यह यत्न करे कि, स्नेहाभ्यंग कराकर पसीना दिलाकर तीक्ष्ण अवपीडन (मूर्द्धाके शिरा, स्नायु आदिका सम्यक् संचालन करनेवाले) द्रव्योंसे उपक्रम करे (शिरोविरेचन करे) ॥ ४० ॥ इसके पीछे विदारिगंधादिके क्वाथ, मांसके रस, दूध और दही इनसे सिद्ध किये हुए स्वच्छ घृतका पान करावे जिससे वायुका अत्यन्त प्रसर (फैलाव) न हो ॥ ४१ ॥

ततो भद्रदार्वादिवातघ्नगणमाहृत्य सयवकोलकुलत्थसानूपौदकमांसं पंचवर्गमेकतः प्रकाथ्य तमादाय काषायमम्लक्षीरैः सहोन्मिश्र्यसर्पिस्तैलवसामज्जभिः सह विपचेन्मधुरकप्रतिवापं तदेतत्त्रैवृतमपतानकिनां परिषेकावगाहाभ्यंगपानभोजनानुवासननस्येषु विदध्याद्यथोक्तैश्च स्वेदविधानैः स्वेदयेत् ॥ ४२ ॥

फिर भद्रदारु आदि वातनाशक गण लाकर उसमें जौ, कोल, कुलथी और अनूप और जलजंतुओंका मांस, पंचवर्ग इकट्ठा करके काथ करले फिर उस काथको लेकर उसमें अम्लवर्ग और दूध डालकर मिलालेवे फिर उसमें घृत, तैल, चरबी और मज्जा डालकर पकाले और पकते समय काकोल्यादि मधुर द्रव्य डाल दे (जब स्नेहमात्र शेष रहे तब सिद्ध जाने) यह त्रैवृत घृत अपतानक वायुके रोगियोंको परिषेक, अवगाहन (उसमें बैठना, स्नान करना, शरीर भिगोना) और मलना और पिलाना, खिलाना तथा अनुवासनवस्ति और नस्यमें बरतना चाहिये तथा यथायोग्य विधानोंसे स्वेद करावे (पसीना दिलानाभी हित है) ॥ ४२ ॥

वलीयसि वाते सुखोष्णतुषबुसकरीषपूर्णे कूपे निदध्यादासुखांत्। तप्तायां वाङ्गारचुल्यां तप्तायां वा शिलायां सुरापरिषिक्तायां पलाशदलच्छन्नायां शाययेत्। कृशरावेशवारपायसैर्वा स्वेदयेत् ॥४३॥

यदि वायु अति प्रबल हो तो थोडे गरम तुष, बुस (भूसा) तथा करीष (उपलोंकी करसी) (अर्थात् इनकी निवाई राख) से पूर्ण किये हुए गढेमें मुख तलक दबाकर कुछ देर बिठावे अथवा तपाये हुए भाड या लुहारकी भट्टी या शिलापर मदिरा छिडककर (मदिरासे भिगोकर) ऊपर ढाकके पत्ते बिछाकर उसपर (सुहाते २) लिटावे अथवा कृशरा (तिल तंडुलकी खिचडी), वेसवार (हलदी युक्त पिष्टधान्य) तथा पायस (खीर या खोआ आदि दुग्धके पदार्थ) इन्हें गरम२ से पसीना दिलावे ॥ ४३ ॥

मूलकोरुबूकस्फूर्जार्जकार्कसप्तलाशंखिनीस्वरससिद्धं तैलमपतानकिनां परिषेकादिषूपयोज्यम् ॥ ४४ ॥

पिप्पलीमूल उरुबूक (शुक्ल एरंड), स्फूर्जक (फणि अकार तुलसीभेद), अर्जक (कुठेरक), आक, सप्तला (थोहर), शंखिनी (यवतिक्ता) इनके स्वरसमें सिद्ध किया हुआ तैल अपतानकवाले रोगियोंको परिषेकादिमें उपयोग करना हित है ॥ ४४ ॥

अभुक्तवता पीतमम्लं दधिमरिचवचायुक्तमपतानकं हंति तैलसर्पिर्वसाक्षौद्राणि च ॥ ४५ ॥ एतच्छुद्धवातापतानकविधानमुक्तं संसृष्टं कर्तव्यम्। वेगांतेषु चावपीडनं दद्यात् ॥ ४६ ॥

विना भोजन किये खट्टा दही, मिरच और वचका चूर्ण मिलाकर पीना अपतानकको नाश करता है तथा तैल, घृत, चरबी, शहद पीनेसेभी अपतानक रोग जाय॥ ॥ ४५ ॥ यह शुद्ध वातके अपतानकका विधान कहा है और अन्यदोषसे मिला

हुआ अपतानक हो तो उसमें उसके अनुसार मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिये और दोरा होचुकने पश्चात् अवपीडन कराना चाहिये ॥ ४६ ॥

ताम्रचूडकर्कटकृष्णमत्स्यशिशुमारवराहवसाश्च सेवेत क्षीराणि वा वातहरसिद्धानि । यवकोलकुलत्थमूलकदधिघृततैलसिद्धां वा यवागूम् ॥ ४७ ॥ स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्राहतवेगमुपक्रमेत् । वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत रक्षाकर्म च कुर्यादिति ॥ ४८ ॥

ताम्रचूड(कुक्कुट),कर्कट(ककेडा), कृष्ण मत्स्य, शिशुमार (सूसनाम जलजंतु) तथा शूकर इनकी चरबीका सेवन करे अथवा वातनाशक द्रव्योंसे सिद्ध किये हुए दुग्ध पान करे अथवा जौ, कोल (बेर), कुलथी, मूलक (पिप्पलीमूल),दही,घृत, तैल इनसे सिद्ध कीहुई यवागू पीवे ॥ ४७ ॥ तथा स्नेह विरेचन और आस्थापन तथा अनुवासन वस्तिकर्म करके दश रात्रितक उसके वेग शांत होनेकी राह देखे यदि फिर वेग होजाय तो फिर यत्न करे और वातव्याधिकथित चिकित्साको देखे और रक्षाकर्म भी करे ॥ ४८ ॥

पक्षाघातकी चिकित्सा ।

पक्षाघातोपद्रुतमम्लानगात्रं सरुजमात्मवंतमुपकरणवंतं चोपक्रमेत् । तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकालमाक्षेपविधानेनोपचरेत् । वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्कशिरोवस्तिश्चाणुतैलमभ्यंगार्थे शाल्वणमुपनाहार्थे बलातैलमनुवासनार्थे एवमतंद्रितस्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथमुपसेवेत ॥ ४९ ॥

यदि पक्षाघात रोग हो तो उसके रोगीको जिसका शरीर हीन नहीं हुआ हो (दुबला न पडगया हो) और जिसके शरीरमें पीडा होती हो और पथ्यसे रहनेवाला हो तथा उपचार करनेवाला हो तो उसकी चिकित्सा करे (नहीं तो न करे) इसमें पहले स्नेह और स्वेदका उपचार करके मृदु शोधनसे शोधकर(हलके वमन, विरेचनादिसे कोठा शुद्ध करके) अनुवासन और आस्थापन वस्ति करके समयके अनुसार (ऋतुके अनुसार) आक्षेपक वायुके विधानसे उपचार करे (आक्षेपककी औषधें करे) यहां इतना विशेष है कि, दिमाग (की शुद्धि) के लिये शिरोवस्ति करे और मलनेके लिये पूर्वोक्त अणुतैलका वरताव करे और उपनाहके लिये शाल्वणका

उपयोग करे तथा बलातैलसे अनुवासन करे और तीन या चार महीने तक साव-धानीसे चिकित्सा करता रहे ॥ ४९ ॥

मन्यास्तंभकी चिकित्सा ।

मन्यास्तंभेप्येतदेव विधानं विशेषतो वातश्लेष्महरैर्नस्यै रूक्षस्वेदैश्चोपचरेत् ॥ ५० ॥

मन्यास्तंभरोगमें भी यही पूर्वोक्त विधान करना चाहिये विशेष करके वायु और कफनाशक नस्योंसे तथा रूक्षस्वेद (रूखा पसीना दिलानेसे) उपचार करे ॥ ५० ॥

अपतंत्रवायुकी चिकित्सा ।

अपतंत्रकातुरं नापतर्पयेद्वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत । वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रधमापनैर्मोक्षयेत् । तुम्बुरुपुष्करा-ह्वहिंग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्काथेन पातुं प्रयच्छेत् । पथ्या-शतार्द्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धं वात-श्लेष्मापनुच्च कर्म कुर्यात् ॥ ५१ ॥

अपतंत्रक वायुके रोगीको अपतर्पण(लंघनादि)नहीं करावे तथा वमन,अनुवासन और आस्थापन भी नहीं करावे । वायु और कफसे रुके हुए उच्छ्वासको तीक्ष्ण प्रधमापन (धमानेवाली या श्वास जारी करनेवाली) औषधोंसे (नस्य देकर या खान पानादिमें उपयोग करके) (श्वासका) मार्ग खोले । धनियाँ, पुष्करमूल, हिंगु, अम्लवेतस, हरीतकी और तीनों लवण (सेंधा, काला, सांभर) इन सबका चूर्ण कर जौके क्वाथके संग पिलानेका उपाय करे । तथा हरीतकी ५० पल, सौवर्चल (काला नमक) दो पल इनसे चौगुना दूध लेकर उसमें १ प्रस्थ घृत सिद्ध करके सेवन करे तथा वायुकफनाशक अन्य उपायभी करे ॥ ५१ ॥

अर्दितवायुकी चिकित्सा ।

अर्दितातुरं बलवंतमुपकरणवंतं च वातव्याधिविधानेनोपचरेद्वैशे-षिकैश्च मस्तिष्कशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः ॥ ॥ ५२ ॥ ततः सतृणं महापंचमूलं काकोल्यादिविदारिगंधादि-मौदकानूपमांसं तथैवौदककंदांश्च संहृत्य द्विगुणोदके क्षीरद्रोणे निःक्वाथ्य पादावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य तैलप्रस्थेनोन्मिश्र्य पुनरग्नावधिश्रयेत् । ततस्तैलं क्षीरानुगतमवतार्य शीतीभूतमभि-

मथ्नीयात्तत्र यः स्नेह उत्तिष्ठेत्तमादाय मधुरौषधसहाक्षीरयुक्तं विप-
चेदेतत्क्षीरतैलमर्दितातुराणां पानाभ्यंगादिषूपयोज्यं तैलहीनं वा
क्षीरसर्पिरक्षितर्पणमिति ॥ ५३ ॥

अर्दित वायुके रोगीको (देखे) जो बलवान् हो और यत्न करनेवाला हो तो उसे वातव्याधिके उपायोंसे चिकित्सा करे विशेषकर मस्तिष्क (मगज) की शिरोवस्ति, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेहकर्म और नाडीस्वेद आदि करावे ॥५२॥ और तृणपंचमूल सहित बृहत्पंचमूल और काकोल्यादिगण, विदारिगंधादिगण, तथा जलजंतु और अनूपजीवोंका मांस तथा जलके कंद ये सब लेकर एक द्रोण दूध, दो द्रोणजल इन्हें मिलाकर पंचमूलादि औषधोंका इसमें क्काथ करे जब चतुर्थांश रहे तब उतारकर छान ले इसमें एक प्रस्थ तैल मिलाकर मथे और फिर अग्निपर चढावे जब दूध और तैल खूब मिल जाय तब उसे उतारले (और जमादे) जब ठंढा होजाय तब विलो ले और जो घृत निकले उसे लेकर काकोली, मधुयष्टी आदि मधुर औषध तथा माष-पर्णी और (चतुर्गुण) दूध डालकर फिर पकावे यह क्षीरतैल अर्दितवायुके रोगीको पीने और मालिश आदिमें उपयोग करना चाहिये और तैल विना जो इसी रीतिसे बना हुआ क्षीरसर्पि हो वह नेत्रोंको तर्पण (तृप्ति) करनेवाला होता है॥ ५३ ॥

गृध्रसी आदि।

गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखंजपंगुलवातकंटकपाददाहपादहर्षा-
वबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च शिरा-
व्यधं कुर्य्यादन्यत्रावबाहुकाद्वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत ॥५४॥

गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुशीर्ष, खंज, पंगुता, वातकंटक, पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बधिरता और धमनीगत वायुरोग इनमें यथोक्त और यथोद्देश शिरावेध करे (जहां जैसे उचित हो वैसे फस्त खोले) परंतु अवबाहुकमें फस्त नहीं खोले और कई ऐसा अर्थ करतेहैं कि अवबाहुकके सिवाय उक्त सबमें वातव्याधिवर्णित चिकित्साको (स्नेहस्वेदादिको) भी देखे और करे ('अन्यत्रावबाहुकात्' इस पदको कई तो शिरावेधके साथ लगाकर उसका निषेध अवबाहुकमें करतेहैं और कई "वातव्याधिचिकित्सितं अवेक्षेत" के साथ लगाकर अवबाहुकमें उसका निषेध करतेहैं) ॥५४॥

(वा० ५३) सहा माषपर्णी तस्याः क्षीरयुक्तम् (इति डल्लनः) अन्गे तु माषपर्णी दुग्धं च नियोज्य विपचेत् । अत्र सर्वद्रव्याणा समभागानामाढकम् ॥ (वा० ५४) 'अन्यत्रावबाहुकात्' इतिवाक्येन शिराव्यधो निषिध्यते। गयी तु 'अन्यत्रावबाहुकात् वातव्याधिचिकित्सितमवेक्षेत' इति संबध्नाति (इति नि. स.)

कर्णशूलका यत्न ।

कर्णशूले तु शृंगवेररसं तैलमधुसंसृष्टं सैंधवोपहितं सुखोष्णं कर्णे दद्यादजामूत्रं मधुतैलानि वा मातुलुंगदाडिमतिंतिडीकस्वरसमूत्रसिद्धं तैलं शुक्तसुरातक्रमूत्रलवणसिद्धं वा नाडीस्वेदैश्च स्वेदयेद्वातव्याधिचिकित्सां चावेक्षेत भूयश्चोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५५ ॥

कर्णशूलमें अदरखका रस, तैल, शहद मिलाकर सैंधा नमक डालकर थोडा २ गरम कानमें डाले अथवा बकरीका मूत्र, शहद और तैल डाले अथवा नींबू या अनार या अमलीके रस और गोमूत्रसे सिद्ध किये तैलको कानमें डाले अथवा सिरका, मद्य, छाछ, गोमूत्र और लवण इनसे सिद्ध किया हुआ तैल डाले तथा नाडीस्वेदकी रीतिसे पसीना दिलावे और वातव्याधिकी चिकित्साको देखे और उसके अनुसार करे विशेष उत्तरतंत्रमें कर्णरोगोंकी चिकित्साके विषयमें कहेंगे ॥ ५५ ॥

तूणी प्रतूणी ।

तूणीप्रतूण्योः स्नेहलवणमुदकेन पाययेत्पिप्पल्यादिचूर्णं वा हिंगुयवक्षारप्रगाढं वा सर्पिर्वस्तिभिश्चैनमुपक्रमेत् ॥ ५६ ॥

तूणी और प्रतूणी संज्ञक वायुमें घृत और लवणको जलके साथ पिलावे अथवा पिप्पल्यादि चूर्णको जलसे पिलावे अथवा हींग, जवाखारसे मिले हुए घृतका सेवन करे तथा वस्तिकर्म करे ॥ ५६ ॥

आध्मान और प्रत्याध्मानका यत्न ।

आध्माने त्वपतर्पणपाणितापदीपनचूर्णफलवर्तिक्रियापाचनीयवस्तिभिरुपचरेल्लंघनानंतरं चाऽन्नकाले धान्यकजीरकादिदीपनसिद्धान्यन्नानि । प्रत्याध्माने छर्दनापतर्पणदीपनानि कुर्यात् ॥ ५७ ॥

आध्मान (अफरा) रोगमें अपतर्पण (लंघन) कराना और हाथोंको तपाना तथा दीपन चूर्ण दे और फलवर्ति क्रिया करे तथा पाचनीय तथा वस्तिसे उपचार करे और लंघनके पीछे भोजनके समय धनियाँ, जीरा, लवणादि दीपन द्रव्योंसे सिद्ध किया अन्न खिलावे और प्रत्याध्मानमें वमन, लंघन और दीपन यत्न करे॥५७॥

अष्ठीला प्रत्यष्ठीला ।

अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यंतरविद्रधिवत्क्रियाविभाग इति ॥५८॥

हिंगुत्रिकटुवचाजमोदधन्याजगंधादाडिमतिंतिडीकपाठाचित्रकयव-

क्षारसैंधवबिडसौवर्चलस्वर्जिकापिप्पलीमूलाम्लवेतसशठीपुष्करमूलहवुषाचव्याजाजीपथ्याश्चूर्णयित्वा मातुलुंगाम्लेन बहुशः परिभाव्याक्षमात्रां गुटिकां कारयेत्ततः प्रातरेकैकां वातविकारी भक्षयेत् । अथैष योगः कासश्वासगुल्मोदरारोचकहृद्रोगाध्मानपार्श्वोदरवस्तिशूलानाहमूत्रकृच्छ्रप्लीहार्शस्तूणीप्रतूणीरपहंति ॥५९॥

भवन्ति चात्र–

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीलामें गुल्म तथा अंतर्विद्रधिकी चिकित्साकी भांति क्रिया करे ॥५८॥ हिंगु, त्रिकटु, वच, अजमोद, धनियाँ, अजगंधा (ममरी कई अजवायन कहते हैं) खट्टा अनारदाना, इमली, पाठा, चित्रक, जौखार, सैंधा नमक, बिडनोन, काला नोन, सज्जी, पिप्पलीमूल, अम्लवेत, कचूर, पुष्करमूल, हाऊवेर, चव्य, जीरा और हरीतकी इन सबको कूट चूर्ण बना मातुलुंग (बिजौरा नींबू) के रसकी कई वार भावना देकर ४ टंक प्रमाणकी गोली बांधे फिर नित्य प्रातःकाल एक एक गोली वातविकारवाला मनुष्य खावे यह ऐसा योग है कि इससे खांसी, श्वास, गुल्म, उदररोग, अरुचि, हृद्रोग, अफरा, पासू और उदर तथा वस्तिका शूल और अनाह. मूत्रकृच्छ्र, प्लीहवृद्धि (तिल्ली) और बवासीर तूणी तथा प्रतूणी इनके रोग नष्ट होते हैं ॥ ५९ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं–

केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वा वृतोऽनिलः ॥ विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्सा वाऽविरोधतः ॥ ६० ॥ रुजावंतं घनं शीतं शोफं मेदो युतोनिलः॥ करोति यस्य तं वैद्यः शोथवत्समुपाचरेत् ॥६१॥

केवल वायु या और दोषसे मिला हुआ अथवा धातुओंसे आवृत हो तो लक्षणोंसे तथा चेष्टासे जान लेवे और कदाचित् ठीक न जाना जावे तो विरोधरहित यत्न करे ॥ ६० ॥ मेदसे मिला हुआ वायु हो तो वेदना (चीस) करे, कडापन और शीत तथा शोथ करे उसे शोथकी भांति चिकित्सा करे ॥ ६१ ॥

ऊरुस्तंभ ।

कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते ॥ तदांगमर्दशैथिल्यरोमहर्षरुजाज्वरैः ॥ ६२ ॥ निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ ॥ गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते ॥ तमूरुस्तंभमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ६३ ॥

कफ और मेदसे मिला हुआ वायु जब ऊरु (जंघा) में पहुँचताहै तब अंगमर्द (अंगडाई),शिथिलता,रोम खडे होना और दर्द तथा ज्वर इन उपद्रवों सहित॥६२॥ दोनों साथल निद्रासे अर्दित (सोये हुएसे) तथा स्तब्ध (अकडेहुए) और शीतल तथा चैतन्यतारहित भारी और अस्थिर (नरम) होजातेहैं । स्पर्शज्ञानशक्ति नष्ट होजानेसे उन्हें मनुष्य अपने साथल हैं या नहीं हैं ऐसा नहीं जानता इस व्याधिको ऊरुस्तंभ कहते हैं और कई इसको आढ्यवायुभी कहते हैं (साथल नरम होनेका कारण कफ और मेद होताहै) ॥ ६३ ॥

ऊरुस्तंभकी चिकित्सा ।

स्नेहवर्जं पिबेत्तत्र चूर्णं षड्धरणं नरः ॥ हितमुष्णाम्बुना तद्वत्पिप्पल्यादिगणैः कृतम् ॥ ६४ ॥ लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णं क्षौद्रेण कटुकान्वितम् ॥ मूत्रैर्वा गुग्गुलं श्रेष्ठं पिबेद्वापि शिलाजतु ॥ ॥ ६५ ॥ ततो हंति कफाक्रांतं समेदस्कं प्रभंजनम् ॥ हृद्रोगमरुचिं गुल्मं तथाभ्यंतरविद्रधिम् ॥ ६६ ॥ सक्षारमूत्रैस्स्वेदांश्च रूक्षाण्युत्सादनानि च ॥ कुर्याद्दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करंजफलसर्षपैः॥६७॥

ऊरुस्तंभरोगमें षडधरण नाम (पहले कहा हुआ) चूर्ण विना चिकनाईके गरम जलसे पीना चाहिये अथवा पिप्पल्यादि गणका चूर्ण गरम जलसे पीना चाहिये॥ ॥ ६४ ॥ अथवा त्रिफलाका चूर्ण कुटकी और शहदके संग चाटे अथवा गोमूत्रके संग गुग्गुल या शिलाजतु पीवे ॥ ६५ ॥ इन यत्नोंसे कफ और मेदसे मिला हुआ वायु शांत होवे तथा हृद्रोग, अरुचि, गुल्म एवं अंतर्विद्रधिभी अच्छे होजावें ॥ ॥ ६६ ॥ तथा गोमूत्रमें क्षार मिलाकर स्वेद करावे तथा उत्सादन (उद्वर्तन) भी करे वे रूक्षही होने चाहिये तथा करंजफल और सरसोंको गोमूत्रमें पीसकर लेप करना चाहिये ॥ ६७ ॥

ऊरुस्तंभमें भोजनादि ।

भोज्याः पुराणश्यामाककोद्रवोद्दालशालयः ॥ शुष्कमूलकयूषेण पटोलस्य रसेन वा ॥ जांगलैरघृतैर्मांसैः शाकैश्च लवणैर्हितैः ॥ ॥ ६८ ॥ यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी ॥ तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत् ॥ ६९ ॥

ऊरुस्तंभके रोगीको पुराने श्यामाक (कोदों), उद्दालक (बनके कोदों) तथा शालि (चावल), सूखे मूलोंके यूषके संग या पटोल (परवर) के रसके संग या

घृत रहित (रूखे) जांगल जीवोंके मांसरस (शोरवे) के संग या अलोने हित-कारक शाकोंके संग भोजन करावे ॥ ६८ ॥ और जब कफ, मेद बहुतही क्षीण होजावे तब फिर स्नेह आदि कर्म करावे (स्नेहपान करावे तथा स्निग्ध और स्नेहा-भ्यंगादि करावे) ॥ ६९ ॥

गुग्गुलुकल्प ।

सुगंधिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसः ॥ कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः ॥ ७० ॥ स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिकर्षणः ॥ तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्त-नुत् ॥ सौगंध्यात्पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः ॥ ७१ ॥

वातव्याधियोंमें गुग्गुलु सेवन उत्तम होता है इससे उसके गुण कहते हैं-गुग्गुल सुगंधित है, हलका है, सूक्ष्म है और तीक्ष्ण गरम है, कटुरस है और पाकमें भी कटु (चरपरा) है, सर (फैलनेवाला और दस्तावर) है हृदयको हित है, स्निग्ध है और पिच्छिल (घन) है ॥ ७० ॥ यह गुग्गुल नया होवे तो बृंहण (शरीरके धातु आदिको बढानेवाला) होता है और वृष्य (पुरुषार्थदायक) होता है और पुराना होवे तो अतिकर्षण (दुबला करनेवाला शरीरके धात्वादिको सुखानेवाला) होता है यह तीक्ष्ण और गरम होनेसे कफ और वायुको शांत करता है और सर होनेसे मल और पित्तको नाश करता है तथा सुगंधित होनेसे कोठेकी दुर्गंधको नष्ट करता है और सूक्ष्म होनेसे जठराग्निको दीपन करता है (इतने गुण गुग्गुलमें हैं) ॥ ७१ ॥

गुग्गुलुसेवनविधि ।

तं प्रातस्त्रिफलादार्वीपटोलकुशवारिभिः ॥ पिबेदावाप्य वा मूत्रैः क्षारैरुष्णोदकेन वा ॥ ७२ ॥ जीर्णे यूषरसैःक्षीरैर्भुंजानो हंति मासतः ॥ गुल्मं मेहमुदावर्तमुदरं सभगंदरम् ॥ ७३ ॥ कृमिकंडु-रुचिश्वित्राण्यर्बुदग्रंथिमेव च ॥ नाड्याढ्यवातश्वयथुकुष्ठदुष्टव्र-णांश्च सः ॥ कोष्ठसंध्यस्थिगं वायुं वृक्षमिंद्राशनिर्यथा ॥ ७४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस गुग्गुलु (शुद्धगुग्गुलु) को प्रातःकाल त्रिफला, दारुहलदी, पटोल (परवल) और कुशाके जलके संग (घोलकर) पीवे अथवा गोमूत्रके संग अथवा क्षारके संग अथवा गरम जलसे पीवे ॥ ७२ ॥ जब यह पचजावे तब यूषरस (मांसरस)

तथा दूधके संग हितकारक भोजन करे इस प्रकार एक मास तक सेवन करनेसे गुल्म, प्रमेह, उदावर्त, उदरके रोग और भगंदर ॥ ७३ ॥ कृमि, खाज, अरुचि, श्वित्र (सुपेद कुष्ठ), अर्बुद (रसौली), गाँठें, नाडीरोग, आढ्यवायु (ऊरुस्तंभ), शोथ, कुष्ठ तथा बिगडे हुए घाव और कोष्ठसंधि तथा अस्थि-इनमें प्राप्त हुआ वायु इतने रोगोंको यह गुग्गुलु इस प्रकार नष्ट करता है कि जैसे इंद्रका वज्र वृक्षको नष्ट करदेता है ॥ ७४ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मत्रि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६.

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे हम अर्श (बवासीर) की चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः । तद्यथा भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति ॥ १ ॥ तत्राचिरकालजातान्यल्पदोषलिंगोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि । मृदुप्रसृतावगाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण । कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवंति च शस्त्रेण ॥ ॥ २ ॥ तत्र भेषजसाध्यानामर्शसामदृश्यानां च भेषजं भवति क्षाराग्निशस्त्रसाध्यानां तु विधानमुच्यमानमुपधारय ॥ ३ ॥

अर्श (बवासीर) के साधनके चार उपाय हैं यथा १ औषध, २ क्षार (तेजाब), ३ अग्नि, ४ शस्त्र ॥ १ ॥ जिनमेंसे थोडे दिनका हुआ और अल्पदोष, अल्पचिह्न और अल्प उपद्रववाला अर्श औषधसे साध्य होता है अर्थात् औषध सेवनसे अच्छा होसकता है और जिसके मस्से कोमल, फैलेहुए, मोटे उभरेहुए हों वे क्षार (तेजाब) से साध्य होते हैं तथा जो खरदरे, स्थिर, ऊँचे और कडे मस्से हों वे अग्निके दागनेसे अच्छे होते हैं और जिनकी जड पतली हो, जो ऊँचे उभरे (लटकते) हों, क्लेदयुक्त हों वे शस्त्रद्वारा काटनेसे साध्य होते हैं ॥ २ ॥ इनमेंसे जो भीतर हों नहीं दीखसकें ऐसे बवासीर (मस्सों) को भेषजसाध्य ही होनेसे औषधही होसकती है (जैसे नागकेसर और मिश्री समान भाग पीसकर दो टंक नित्य दूधके संग लेना यह प्रयोग नये रक्तार्शको बहुत हित है) और क्षार, अग्नि तथा शस्त्र साध्योंका विधान सुनो ॥ ३ ॥

अर्शपर क्षार (तेजाब) लगानेकी विधि ।

तत्र बलवंतमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नमानिलवेद-

नाभिवृद्धिप्रशमार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवंतमुपवे-श्य संभृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्संगे निषण्णपूर्वकायमुत्तानं किंचिदु-न्नतकटिकं वस्त्रकंबलकोपविष्टं यंत्रशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थं परिकर्मभिः सुपरिगृहीतमस्पंदनशरीरं कृत्वा ततोऽस्मिन्घृता-भ्यक्तं यंत्रमृज्वणुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य शलाकयोत्पीड्य पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य क्षारं पातयेत् । पातयित्वा च पाणिना यंत्रद्वारं पिधाय वाक्शत-मात्रमुपेक्षेत ॥ ४ ॥

तहां बलवान् जो अर्शका रोगी हो उसे स्नेहन, स्वेदन कराके वायुकी उपाधियां बढें नहीं इसलिये चिकना, गरम, थोडा, पतला अन्न खिलाकर पवित्र जगह साधारण कालमें जब मेह बादल न हो समान तख्त या खाटपर दूसरे मनुष्यकी गोदमें इस प्रकार औंधा बैठावे कि सूर्यकी तरफ गुदा हो और शिर नीचा और कमर (चूतड) कुछ ऊंचे हों फिर उसे कंबल या और वस्त्र उठाकर (और बिछा-कर) वस्त्रकी पट्टी या निवार ग्रीवा और साथलोंमें डालकर ऐसा करदे कि क्षार-कर्ममें शरीर हिले नहीं फिर और परिचारक भी उसे पकडे रहें जिससे वह हिले-झुले नहीं फिर सीधा पतले मुखवाला अर्शोयंत्र घृतसे चुपडकर धीरे धीरे गुदामें प्रवेशकरे जब यंत्र भीतर जावे तब मस्सोंको देखकर सलाईसे दबाकर या उकसा-कर रुई या कपडेसे साफ करके मस्सोंपर क्षार (तेजाब) जो इसीलिये बना हो डाले (लगावे) क्षार डालकर यंत्रके द्वारको हाथसे ढकले और सौवार गिननेके समयतक रहने दे ॥ ४ ॥

ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं चावेक्ष्य पुनरालेपयेत् । अथार्शः पक्वजांबवप्रतीकाशमभिसंमीक्ष्यावसन्नमीषन्नतमुपावर्तयेत् ॥५॥ क्षारं प्रक्षालयेद्धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा ततो यष्टी-मधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यंत्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदको-पविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिंचेदशीताभिरित्येके ॥६॥ ततो निर्वा-

(वा० ४) ननु सूत्रस्थाने चोक्तम्-"अर्शोव्याधेरभुक्तवतः कर्म कुर्वीत" तदत्र कथं स्निग्धद्रव-प्रायमन्नं भुक्तवतमित्युक्त तत्राहुरेकद्वित्रिचतुःपंचदिनानि पूर्वाणि स्निग्धादिभोजनं न तु तद्दिने (इति नि. सं.)

(वा० ६) फलाम्ल बीजपूरादिरसः ॥

तमागारं प्रवेश्याचारिकमादिशेत्सावशेषं पुनर्दहेत्। एवं सप्तरात्रात्सप्तरात्रादेकैकमुपक्रमेत तत्र बहुषु पूर्वं दक्षिणं साधयेद्दक्षिणाद्वामं वामात्पृष्ठजं ततोऽग्रजमिति ॥ ७ ॥

फिर पोंछकर क्षार (तेजाब) का बल और व्याधिका बल देखकर पुनः लेप करे फिर जब बवासीरका मस्सा पके जामुनके फल जैसा ऊंधा होजावे और कुछ नीचा हो जावे तब छोडदे ॥५॥ और क्षारको धान्याम्ल, दही, दहीके पानी, सिरका या फलोंकी खटाईसे धोडाले फिर मुलेठी मिले हुए घृतसे लेप कर यंत्र निकालले और रोगीको उठ खडा हो जानेदे और गरम जलमें (कमरतक)बिठाकर ठंढे पानीके छिडके शरीरपर दे और कोई कहते हैं कि छिडकेभी गरम ही पानीके देवे ॥ ६ ॥ फिर वायुरहित स्थानमें रोगीको रखकरके आचारका उपदेश करे और जो बाकी रहें फिर इसी रीतिसे उन्हें क्षारसे दग्ध करदे ऐसे सातसात दिनमें एक एक मस्सेको दग्ध करे यदि बहुतसे मस्से हों तो पहले दाहिनी तरफके मस्सेका उपचार करे फिर बांई तरफके मस्सेका फिर पिछाडीकी तरफके मस्सेका और सबसे पीछे अगली तरफके मस्सेका उपचार करे ॥ ७ ॥

तत्र वातश्लेष्मनिमित्तान्यग्निक्षाराभ्यां साधयेत्। क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि ॥ ८ ॥

इनमेंसे वायु और कफकी बवासीरके मस्सोंको अग्नि और क्षारसे साधन करना चाहिये और पित्त तथा रुधिरकी बवासीरके मस्सोंको हलके क्षारसे साधन करे॥८॥

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिरग्निदीप्तिर्लाघवं बलवर्णोत्पत्तिर्मनस्तुष्टिरिति सम्यग्दग्धलिंगानि ॥ ९ ॥ अतिदग्धे तु गुदावदरणं दाहो मूर्च्छा ज्वरः पिपासा शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा भवंति॥ १० ॥ श्यामाल्पव्रणता कण्डूरनिलवैगुण्यमिंद्रियाणामप्रसादो विकारस्य चाशांतिर्हीनदग्धे ॥ ११ ॥

जिसमें वायुका अनुलोम ठीक हो, अन्नपर रुचि हो, जठराग्नि दीपन हो, शरीर हलका हो जावे, बल और रूप बढने लगे तथा मन प्रसन्न हो तो सम्यक् दग्ध(ठीक ठीक तेजाबसे जलकर आरामकी सूरत है) ऐसा जानना॥ ९ ॥ और जो प्रमाणसे

(वा० ७) एकाहं सर्वाणि दहतो अतियोगोक्तो दोषः (इति वृ. वा.) (वा० ८) शुष्काण्यग्निना क्षारेण वा साधयेत्। क्षारेणैव मृदुनाऽऽर्द्राणि (इति वृ. वा.) अतिदहनेल्पदहने च ये विकारा उत्पद्यते तेषां प्रतीकारा यथोक्तेन कर्तव्याः ॥

ज्यादा दग्ध हो जावे तो गुदामें चिरमिराट, जलन, मूर्च्छा, ताप, तृषा, अधिक रक्त बहना और इसके निमित्तसे अन्य उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं ॥ १० ॥ तथा अल्प दग्ध होनेसे व्रण कालासा पडजावे, थोडा व्रण बाकी रह जावे, खाज चले, वायुकी विगुणता हो जावे, इंद्रिय प्रसन्न नहीं हों और विकारकी शांतिभी नहीं हो ॥ ११ ॥

महांति च प्राणवतश्छित्त्वा दहेत् । निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यंत्राद्विना स्वेदाभ्यंगस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणालेपनक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत् ॥ १२ ॥ प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन भिन्नपुरीषाणि चाऽतीसारविधानेन बद्धवर्चांसि स्नेहविधानेनोदावर्तविधानेन वा एवं सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः ॥ ॥ १३ ॥ आसाद्य च दर्वीकूर्चशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत् । भ्रष्टगुदस्य तु विना यंत्रेण क्षारादिकर्म प्रयुंजीत ॥ १४ ॥

बडे मस्से यदि बलवान् मनुष्यके हों तो उन्हें पहले शस्त्रसे काट दे फिर क्षारादिसे जलादे और जो बाहरही मस्से हों और दोषोंसे परिपूर्ण हों तो उनपर विनाही यंत्र लगाये स्वेद, अभ्यंग, स्नेह, अवगाहन, उपनाहन, विस्रावण, लेपन, क्षार, अग्नि और शस्त्र आदिसे यथायोग्य उपचार करे ॥ १२ ॥ और जिनमेंसे अधिक रुधिर निकलता हो उनकी चिकित्सा रक्तपित्तके विधानसे करे । और जिस ववासीरमें दस्त अधिक लगते हों उसका उपचार अतिसारके विधानसे करना चाहिये तथा जिस ववासीरमें कबजीयत हो उसका उपचार स्नेहविधानसे (स्नेहपानादिसे मलको अनुलोम करे) और उदावर्त्तकी विधिसे करना चाहिये । इसी प्रकार सब स्थानोंके मस्सोंके दग्ध करनेकी क्रिया समझे ॥ १३ ॥ क्षार लगाना हो तो दर्वी (लकडी आदिकी चपटे सिरेवाली) तथा कूची अथवा सलाई इनमेंसे किसीपर क्षार लगाकर मस्से आदिपर लगावे । जिसकी गुदा बाहर निकली हो उसके विनाही यंत्रके क्षार आदि कर्मोंका प्रयोग करना उचित है ॥ १४ ॥

सर्वेषु च शालिषष्टिकयवगोधूमान्नं सर्पिःस्निग्धमुपसेवेत पयसा निंबयूषेण पटोलयूषेण वा यथादोषं शाकैर्वास्तुकतंडुलीयकजीवंत्युपोदिकाश्वबलाबालमूलकपालंक्यसनचिल्लीचुच्चूकलायवल्लीभिरन्यैर्वा । यच्चान्यदपि स्निग्धमग्निदीपनमर्शोघ्नं सृष्टमूत्रपुरीषं च तदुपसेवेत ॥ १५ ॥

(पा० १५) चिल्ली क्षेत्रवास्तुकः ।

यंत्र गुदामें देकर क्षार, अग्नि तथा शस्त्रका अवचार करना उचित है इसके विभ्रम (भूलचूक न्यूनाधिक) से नपुंसकता, शोथ, दाह, मद मूर्च्छा, पेट फूलना और अफारा, अतीसार तथा प्रवाहिका होजातेहैं अथवा मृत्युभी होजातीहै ॥ १९ ॥

यंत्रका प्रमाण ।

अत ऊर्ध्वं यंत्रप्रमाणमुपदेक्ष्यामः । तत्र यंत्रं लौहं दांतं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरंगुलायतं पंचांगुलपरिणाहं पुंसां षडंगुलपरिणाहं नारीणां तलायतं तद्द्विच्छिद्रं दर्शनार्थमेकं छिद्रमेकं तु कर्मणि । एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति ॥ २० ॥ छिद्रप्रमाणं तु अंगुलायतमंगुष्ठोदरपरिणाहं यदंगुलमवशिष्टं तस्यार्द्धांगुलमधस्तादर्द्धांगुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकमेष यंत्राकृतिसमासः ॥ २१ ॥

यहांसे अगाडी अब हम यंत्रके प्रमाणका उपदेश करते हैं यह अर्शोयंत्र लोह (सुवर्ण, चांदी, लोह आदि धातुओंका) तथा दांत (हाथीदांत) या सींग या लकडीका गौके थनके आकारका होना चाहिये जिसकी लंबाई चार अंगुल और गोलाई पांच अंगुल ऐसा पुरुषोंके लिये और स्त्रियोंके लिये गोलाई (ऊपरसे) छः अंगुल और हथेली जैसा लंबा होना चाहिये उसमें दो छेद हों एक तो ऊपर बाहरको चौडा छेद दिखाई देनेकेलिये दूसरा बराबरमें बीचमेंसे क्षारादिका उपयोग करनेको क्योंकि उस एक छिद्रमेंसे शस्त्र, क्षार तथा अग्निकर्म किया जावे तो उसका ठीक अनिक्रम नहीं होता है ॥ २० ॥ (जिस छिद्रमेंसे मस्सा निकालकर उसपर क्षारादिकर्म किया जाता है उस) छिद्रका प्रमाण यह है कि उसकी लंबाई अनुमान तीन अंगुलके गोल हो जो अँगूठेके बराबर छेद होजाय (कई इस छेदको तीन अंगुल लंबा और अँगूठे जितना चौडा ' ऐसा कहते हैं और कई अंगुल अंगुलके अन्तरसे तीन तरफ अँगूठेकी मुटाई जैसे तीन छेद करना ऐसा ठीक समझते हैं) और ऊपरको जो एक अंगुल बचा इससे आधा अंगुल नीचे और आधा अंगुल ऊपर किनारा (कंगूर) होने चाहिये (कई आचार्य पुरुषों और स्त्रियोंके लिये एकसाही यंत्रका प्रमाण कहते हैं) ॥ २१ ॥

अत ऊर्द्ध्वमर्शसामालेपान्वक्ष्यामः ।

इससे अगाडी हम बवासीरके लिये लेप वर्णन करते हैं ।

(व्या० २०) केचिदत्र स्त्रियाः पृथग्यंत्राभिधानमथमपठित्वा स्त्रीपुंसयोस्तुल्यमेव यंत्रमाहुः (इति निबंधसंग्रहः) तलायतमित्यत्र तदायतमिति पाठांतरम् ॥

स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः प्रथमः ॥ २२ ॥ कुक्कुटपुरीष-गुंजाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः ॥ २३ ॥ दन्तीचित्रकसुवर्चिकालांगलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीयः ॥ ॥ २४ ॥ पिप्पलीसैंधवकुष्ठशिरीषफलकल्कैः स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थः ॥ २५ ॥

हलदीके चूर्णको थोहरके दुग्धमें पीसकर मस्सेपर लेप करना यह प्रथम लेप है ॥ २२ ॥ मुरगेकी वीट, सुपेद चिरमटी, हलदी और पीपल इनके चूर्णको गोमूत्र और पित्तेमें पीसकर लेप करे यह दूसरा लेप है ॥ २३ ॥ दंती, चित्रक, ब्राह्मी, कलिहारी इनका कल्क गोमूत्र और पित्तेमें पीसकर लेप करना (गोपित्तके स्थानमें गोरोचन उपयोग करना ऐसा कई शिष्टोंका मत है) यह तीसरा लेप है ॥ ॥ २४ ॥ पिप्पली, सैंधा नमक, कूट, शिरसके बीज इनका कल्क थोहरके दूधमें अथवा आकके दूधमें पीसकर लेप करना यह चौथा लेप है ॥ २५ ॥

कासीसहरितालसैंधवाश्वमारकविडंगपूतीकक्रतवेधनजंब्वर्कोत्त-मारणीदंतीचित्रकालर्कस्नुहीपयःसु तैलं विपक्वमभ्यंजनेनार्शांसि शातयति ॥ २६ ॥

अथवा कसीस, हरताल, सैंधा नमक, कनेर, विडंग, पूतिकरंज, कटुतोरी, जामुन, आक, उत्तम अरणी (भुई आंवला), दंती, चित्रक अलर्क (सुपेद आक) तथा थोहरका दूध इनसे सिद्ध कियाहुआ तैल लगानेसे मस्सेको गिरादेता है ॥ २६ ॥

अत ऊर्ध्वमदृश्येष्वर्शस्सु योगान् पातनार्थं वक्ष्यामः ।

यहांसे अगाडी अदृश्य मस्सोंके गिरानेके अर्थ योग वर्णन करते हैं ॥

प्रातःप्रातर्गुडहरीतकीमासेवेत । ब्रह्मचारी गोमूत्रद्रोणसिद्धं वा हरीतकीशतं प्रातःप्रातर्यथाबलमुपयुंजीत । क्षौद्रेण अपामार्गमूलं वा तंडुलोदकेन सक्षौद्रमहरहः शतावरीमूलकल्कं वा क्षीरेण । चित्रकचूर्णयुक्तं वा सीधुं पराध्र्यम् ॥ २७ ॥

नित्य सवेरे २ गुड, हरीतकी मिलाकर सेवन करना (चूर्णका प्रमाण एक २ कर्ष भर समझिये) अथवा द्रोणभर गोमूत्रमें १०० हरीतकी सिद्ध करके शहदके

(वा० २७) सीधु मद्यं पराध्र्यं श्रेष्ठम् । अपामार्गमूलं पित्तरक्तार्शःसि । शतावरीमूलकल्कं वातपित्तानुबद्धरक्तजेषु । चित्रकचूर्णं कफवातार्शःसि । चूर्णं कर्षप्रमाणम् (इति डल्हनः)

संग नित्य सबेरे २ बलके अनुसार चाटे और ब्रह्मचारी रहे अथवा अपामार्ग (चिरचेट) की जडको चावलोंके जलसे पीस शहद मिलाकर नित्य सेवन करे (यह योग पित्तार्शको हित होताहै) अथवा शतावरीकी जड़ दूधके संग पीसकर पीवे (यहभी रक्तार्श,पित्तार्शमें हित है)अथवा तेज मदिरामें चित्रकका चूर्ण मिलाकर पीवे (यह कफ और वायुके अर्शमें हित है) ॥ २७ ॥

भल्लातकचूर्णयुक्तं वा सक्तुमंथमलवणं तक्रेण । कलशे वान्तश्चित्रकमूलकल्कावलिप्ते निषिक्तं तक्रमम्लमनम्लं वा पानभोजनेषूपयुंजीत ॥ एष एव भार्ङ्ग्यास्फोतायवान्यामलकगुडूचीषु तक्रकल्पः२८

अथवा भिलावेंका चूर्ण १ कर्ष और सत्तू ३ कर्ष लेकर४ पल छांछमें घोलकर लवण रहित पीना अथवा घडेके भीतर चित्रककी जड पीसकर लेप करदे उसमें छांछ डालकर रक्खे उस छांछको खट्टी होनेपर या विना खट्टी ही पीने और खानेके काममें लावे। और जैसे यह चित्रकके संग छांछकी विधि लिखी इसी भांति भारंगी, आस्फोता अजवायन, आंवले और गिलोयके संग भी छांछकी विधि है (जो अन्य रोगोंपर उचित उपचारार्थ काममें आती है) ॥ २८ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकविडंगशुंठीहरीतकीषु च पूर्ववदेव निरन्नो वा तक्रसहायो मासमुपसेवेत । शृंगवेरपुनर्नवाचित्रककषायसिद्धं वा पयः । कुटजमूलत्वक्फाणितं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं क्षौद्रेण वातव्याध्युक्तं हिंग्वादिचूर्णमुपसेवेत तक्राहारः क्षीराहारो वा । क्षारलवणांश्चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धान्वा कुल्माषान्भक्षयेत् । चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धं वा पयः । पलाशतरुक्षारसिद्धान्वा कुल्माषान् ॥ २९ ॥

पीपल, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, विडंग, सोंठ, हरीतकी इनसे पूर्वोक्त विधिसे निरन्न नित्यप्रति एक मास तक छांछका सेवन करे अथवा सोंठ, सांठी, चित्रक इनके क्वाथसे सिद्ध किया दूध पान करे अथवा कुडेकी जडकी छालका फाणित पिप्पलीका चूर्ण डालकर शहदके संग देवे अथवा वातव्याधिमें कहेहुए हिंग्वादि चूर्णको तक्राहारी या क्षीराहारी सेवन करे अथवा खारीनमक और चित्रककी जडके क्षारोदकसे सिद्ध की हुई कुल्माष (बाकली) सेवन करे अथवा चित्रककी जडके क्षारके जलसे सिद्ध कियाहुआ दुग्ध पान करावे अथवा पलाश (ढाक) के वृक्षके क्षारसे सिद्ध की हुई कुल्माष सेवन करे ॥ २९ ॥

पाटलापामार्गबृहतीपलाशक्षारं वा परिस्रुतमहरहर्घृतसंसृष्टम् । कुटजवंदाकीमूलकल्कं वा तक्रेण । चित्रकपूतीकनागरकल्कं वा पूतीकक्षारेण । क्षारोदकसिद्धं वा सर्पिः पिप्पल्यादिप्रतीवापम् । कृष्णतिलप्रसृतं प्रकुंचं वा प्रातःप्रातरनुसेवेत शीतोदकानुपानम् । एभिरभिवर्द्धतेऽग्निरर्शांसि चोपशाम्यंति ॥ ३० ॥

पाटला, अपामार्ग (ओंगा), बृहती और पलाश इनके क्षारको चुवाकर घृत मिलाकर नित्य सेवन करे या कुडा, वंदाकीकी जडका कल्क छांछके संग लेवे अथवा चित्रक, पूतिकरंज और सोंठ इनका कल्क पूतिकरंजके क्षारके संगले अथवा इस क्षारके जलसे सिद्ध किये घृतमें पिप्पल्यादिका चूर्ण मिलाकर सेवन करे अथवा दो पल या एक पल काले तिल नित्य सवेरे चबाकर ठंढा पानी पीवे । इन प्रयोगोंसे जठराग्नि बढती है और बवासीर शांत होतीहै ॥ ३० ॥

द्विपंचमूलीदंतीचित्रकपथ्यानां तुलामाहृत्य जलचतुर्द्रोणे विपाचयेत् । ततः पादावशिष्टं कषायमादाय सुशीतं गुडतुलया सहोन्मिश्र्य घृतभाजने निक्षिप्य मासमुपेक्षेत यवपल्ले । ततः प्रातःप्रातर्मात्रां पाययेत । तेनार्शोग्रहणीदोषपांडुरोगोदावर्तारोचका न भवंति दीप्तोऽग्निश्च भवति ॥ ३१ ॥

दोनों पंचमूल (दशमूल), दंती, चित्रक और बडी हरड इन्हें एक एक तुला लेकर चार द्रोण जलमें पकावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतारकर ठंढा करले फिर उसमें एक तुला (सौ १०० पल) गुड डालकर मिलाले और घृतके चिकने बासन हांडी (आदि) में भरकर मुख मूंदकर जौके ढेरमें दबादे और १ महीना दबा रहने दे फिर इसमेंसे प्रातःकाल नित्य बलके अनुसार मात्रा पिलावे इससे बवासीर नहीं होती और हो तो नष्ट होजातीहै तथा संग्रहणी, पांडुरोग, उदावर्त और अरुचिभी नहीं होती और हो तो नष्ट होजाती है तथा जठराग्नि दीप्त होजाती है ॥ ३१ ॥

पिप्पलीमरिचविडंगैलवालुकलोध्राणां द्वे द्वे पले इन्द्रवारुण्याः पंच पलानि कपित्थमध्यस्य दश पथ्याफलानामर्द्धप्रस्थः प्रस्थो धात्रीफलानामेतदैकध्यं जलचतुर्द्रोणे विपाच्य पादावशेषं परिस्राव्य सुशीतं गुडतुलाद्वयेनोन्मिश्र्य घृतभाजने निक्षिप्य पक्षमुपेक्षेत यवपल्ले। ततः प्रातःप्रातर्यथाबलमुपयुंजीत । एष खल्वरिष्टः प्लीहा-

प्लिसङ्ग्नार्शोग्रहणीहृत्पांडुरोगशोफकुष्ठगुल्मोदरकृमिहरो बलवर्ण-
करश्चेति ॥ ३२ ॥

पीपल, मिरच, विडंग, एलवालुक (कई इसे एलवा बताते हैं पर एलवा तो गुवार-पाठेके रससे बनता है और यह उससे पृथक् कट्फल (कायफल) के समान छाल होती है) और लोध ये दो दो पल और इंद्रायण ५ पल, कैथका मध्य १० पल और हरडेकी छाल आधा प्रस्थ और आंवले एक प्रस्थ ले इन्हें ४ द्रोण पानीमें पकावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतारकर छान ले और ठंडा करले फिर उसमें २ तुला गुड मिलाकर घृतके चिकने वासनमें भर मुँह मूंद १५ दिनतक जौंके ढेरमें रहने दे फिर उसमेंसे बलके अनुसार नित्य प्रातःकाल पीवे यह अरिष्ट प्लीह, मंदाग्नि, बवासीर, ग्रहणी, हृद्रोग, पांडुरोग, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, कृमि इन्हें नष्ट करता है और बल तथा रूपको उत्पन्न करता है ॥ ३२ ॥

वातजादि अर्शोंके यत्न ।

तत्र वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषि-
द्धम् । पित्तजेषु विरेचनम् । एवं रक्तजेषु संशमनम् । कफजेषु
शृंगवेरकुलत्थोपयोगः । सर्वदोषहरं यथोक्तं सर्वजेषु यथास्वौषध-
सिद्धं वा पयः सर्वेष्विति ॥ ३३ ॥

वातप्रधान अर्शमें स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन निषिद्ध नहीं हैं (अर्थात् करने चाहिये) और पित्तज अर्शमें विरेचन देना योग्य है एवं रुधिरकी बवासीरमें संशमन करे और कफज अर्शमें शृंगवेर (अदरख या सोंठ) और कुलत्थ इनका उपयोग करे तथा सब दोषके अर्शमें यथोक्त सब दोषहारी क्रिया करे अथवा सबमें उनके नाशक औषधोंका सिद्ध किया दूध उपयोग करे ॥ ३३ ॥

अत ऊर्ध्वं भल्लातकविधानमुपदेक्ष्यामः ।

इससे अगाडी हम भिलावेंका विधान वर्णन करतेहैं ।

भल्लातकानि परिपक्वान्युपहृतान्याहृत्यैकमादाय द्विधा त्रिधा चतुर्धा
वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृ-
ताभ्यक्तताल्वोष्ठजिह्वोष्ठः प्रातःप्रातरुपसेवेत ततोऽपराह्णे क्षीरं सर्पिरो-
दनं इत्याहारः । एवमेकैकं वर्द्धयेत्तावद्यावत्पंचेति ततः पंचपंचाभि-
वर्द्धयेद्यावत्सप्ततिरिति । प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेद्भूयः पंचपंच

यावत्पंचेति। पंचभ्यश्चैकैकं यावदेकमिति। एवं भल्लातकसहस्र-मुपयुज्य सर्वकुष्ठार्शोभिर्विमुक्तो बलवानरोगः शतायुर्भवति ॥३४॥

अच्छे पके भिलावें मँगाकर एकके दो तीन चार टुकडे करे और क्वाथके विधानसे पहले दिन एक भिलावेंका क्वाथ करके ठंढा होनेपर एक शुक्ति (दो कर्ष) पीवे परंतु पहले मुँह, जिह्वा और तालुवेको घृतसे चिकना करलेना चाहिये (नहीं तो सारा मुँह सूज जाताहै और इसीप्रकार टुकडे करते समय हाथोंमें घृत लगाले और भिलावेंका तेल न लगनेदे तथा क्वाथ करते समय भी उसके धुवांसे बचा रहे) तीसरे पहर दूध, घृत, चावल खावे फिर नित्य सबेरे इसीप्रकार एक एक बढाकर सेवन करे जबतक ५ हों तबतक एक २ बढावे। फिर पांच पांच नित्य बढावे जबतक ७० हों। जब ७० होजावें तब इसी भांति नित्य पांच २ घटावे जबतक ५ रहें। फिर एक २ नित्य घटावे जब एक रहे तब छोडदे इसप्रकार १००० हजार भिलावोंका उपयोग करनेसे सब कुष्ठ और बवासीर नष्ट होकर बलवान् तथा रोगरहित होकर सौ १०० वर्षकी आयुवाला होता है ॥ ३४ ॥

दूसरी विधि।

द्विव्रणीयोक्तेन विधानेन भल्लातकनिश्च्युतितं स्नेहमादाय प्रातः-प्रातः शुक्तिमात्रमुपयुंजीत जीर्णे पूर्ववदाहारः फलप्रकर्षश्च ॥ ३५ ॥

द्विव्रणीयोक्तविधानसे भिलावेंका निकला हुआ तैल लेकर नित्य सबेरे दो कर्ष मात्र पीवे (इसमें भी पहले मुखमें घृत लगाले) फिर जब पचजावे तब तीसरे पहर वही दूध घृत भात खावे तो अति फलदायक हो ॥ ३५ ॥

तीसरी विधि।

भल्लातकमज्जभ्यो वा स्नेहमादायापकृष्टदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तो निवातमागारं प्रविश्य यथाबलं प्रसृतिं प्रकुंचं चोपयुंजीत। तस्मिञ्जीर्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः। एवं मासमुपयुज्य मासत्रय-मादिष्टाहारो रक्षेदात्मानम्। ततः सर्वोपतापानपहृत्य वर्णवान्ब-लवाञ्छ्रवणग्रहणधारणशक्तिसंपन्नो वर्षशतायुर्भवति। मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। एवं दशमासा-नुपयुज्य वर्षसहस्रायुर्भवति ॥ ३६ ॥ भवन्ति चात्र—

अथवा भिलावेंकी गिरीका तेल निकलवावे और वमन, विरेचनादिसे पहले दोषोंको अपकर्ष करके और यथोक्त आहारादि करके वातवर्जित स्थानमें प्रविष्ट होकर बलके अनुसार प्रसृति (दो पल) या प्रकुंच (एक पल) भिलावेंकी गिरीका तेल

पीवे और जब पच जावे तब तीसरे पहर दूध, घृत और भातका आहार करे इसप्रकार एक महीना सेवन करे और तीन महीने पथ्यसे रहे और (क्रोध, अग्नि, ताप, श्रमादिसे) आत्माकी रक्षा करे इससे सब प्रकारके उपतापोंसे मुक्त होकर रूपवान् और बलवान् हो, श्रवण (सुनने), ग्रहण (पकडने) और धारण करनेकी शक्तिसे संपन्न होकर सौ वर्षकी आयुवाला होजाता है और एक २ महीना यह प्रयोग करनेमें सौ सौ वर्षकी अवस्था बढती है ऐसे दश महीना प्रयोग करनेसे हजार वर्षकी आयु होजातीहै ॥ ३६ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

(वक्तव्य) इनमें यह है कि पहलेके मनुष्य बलवान् अधिक होतेथे तथा जठराग्नि और सहनशक्तिभी विशेष होतीथी तब इतने भिलावे उपयोग किये जासकते होंगे परंतु अबके मनुष्योंकी शक्ति बहुत हीन है इससे समय विचारकर उपयोग करे पुस्तकमें बांचकर कभी कोई ऐसे उग्र उपचार न करे पहले जिन वस्तुओंकी अधिक मात्रा लिखी है अब उससे बहुतही स्वल्प करनी चाहिये ॥

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ ॥ तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः ॥ ३७ ॥ असाध्या नातिवर्तन्ते प्रमेहा रजनीं यथा ॥ क्षाराग्नी नातिवर्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः ॥ ३८ ॥ घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः ॥ आसवाश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम् ॥ ३९ ॥

जैसे सब प्रकारके कुष्ठोंको खदिर और बीजक नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार सब प्रकारके बवासीरोंको वृक्षक (कुडा) और अरुष्कर (भिलावाँ) नष्ट करदेते हैं॥ ॥३७॥ जैसे असाध्य भी प्रमेह हलदीसे अच्छे होजातेहैं वैसेही बाहरके दृष्ट मस्से क्षार(तेजाब) तथा अग्निसे (जलानेसे) निर्मूल अच्छे होजाते हैं ॥ ३८ ॥ वैद्यको चाहिये कि दोषकी उल्वणता देखकर उसके अनुसार दीपन घृत, अवलेह, अयस्कृति (लोहसाधन), मदिरा, आसव और अरिष्टादिका उपयोग करे ॥ ३९ ॥

वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटकासनम् ॥
यथास्वं दोषलं चान्नमर्शस्सु परिवर्जयेत् ॥ ४० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्शके रोगीको इतने विहाराहार त्याग देने चाहिये-वेगोंका रोकना, स्त्रीसंग, पृष्ठयान (ऊँट घोडे आदिकी सवारी) और उत्कट आसन (ऊकडू तथा विषम आसन बैठे रहना) और जिस दोषकी उत्कृष्टता हो उस दोषके करनेवाले अन्नपानादि करना ॥ ४० ॥

इति प० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ७.

अथाऽतोऽश्मरीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम अश्मरी (पथरी रोग) की चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

अश्मरी दारुणो व्याधिरंतकप्रतिमो मतः ॥
औषधैस्तरुणस्साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥ १ ॥

पथरी दारुण रोग है यह अंतक (काल) के समान समझिये नवीन(छोटी) हो तो औषधोंसे भी साध्य होजाती है परंतु पुरानी होने (बडी होने) पर छेद (शस्त्रसे चीर कर निकालने) से ही शांत होसकती है ॥ १ ॥

तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ॥
तेनास्यापचयं याति व्याधेर्मूलान्यशेषतः ॥ २ ॥

इसके पूर्वरूपमें (जब कि यह होनेवाली हो तब) स्नेहादि कर्म किये जाने उचित हैं इससे इस व्याधिके मूल निःशेष नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

वाताश्मरीचिकित्सा ।

पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तकौ तथा ॥ शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कंटकारिका ॥ ३ ॥ कपोतवंकार्तगलः ककुभोशीरकुब्जकाः ॥ वृक्षादनी भल्लूकश्च वरुणः शाकजं फलम् ॥ ४ ॥ यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च ॥ उषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथैः कृतं घृतम् ॥ भिनत्ति वातसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥५॥ क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥ भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन्वातनाशने ॥ ६ ॥

पाषाणभेद,वसुक(बकपुष्प),वशिर (सूर्यावर्त्त),अश्मन्तक(अम्लोटक),शतावरी, गोखरू,बडी कटेली, छोटी कटेली॥३॥कपोतवंका(ब्राह्मी),आर्त्तगल(कवहा),अर्जुन, खस, कुब्जक (गुंजा), वृक्षादनी(वंदा), भल्लूक (श्योनाक), वरना, शाकफल॥४॥जौ, कुलथी, कोल (बेर), कतकके फल(निर्मली) इन्हे इकट्ठाकर इसमें ऊपकादिगणका प्रतीवाप करके (डालके) तैल सिद्ध करे यह तैल वातकी पथरीको शीघ्रही भेदन

(श्लो० ३ । ४) वसुकः बकपुष्पम् । वशिरः सूर्यावर्तः । अश्मन्तकः अम्लोटः । कुब्जः गुंजा (इति डल्हनः) आर्तगलः ककुनरः सुगन्धिमूलः कवहा इति लोके ॥

करताहै ॥ ५ ॥ तथा वायुकी पथरीमें खार, यवागू, यूष, क्काथ, दूध और भोजन सब वातनाशक वर्गमेंसे करने चाहिये ॥ ६ ॥

पित्ताश्मरीचिकित्सा ।

कुशः काशः शरो गुंद्रा उत्कटो मोरटोऽश्मभित् ॥ वरी विदारी वाराही शालिमूलं त्रिकंटकम् ॥ ७ ॥ भल्लूकः पाटला पाठा धत्तूरोऽथ कुरंटिका ॥ पुनर्नवा शिरीषश्च कथितास्तेषु साधितम् ॥ ॥ ८ ॥ घृतं शिलाजं मधुकं बीजैरिंदीवरस्य च ॥ त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम् ॥ भिनत्ति पित्तसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥ ९ ॥ क्षारान्यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥ भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन्पित्तनाशने ॥ १० ॥

कुशा, कास, सर, गुंद्रा (गोंदी), उत्कट (मडी खगोली या गहला), मोरटा (ईखकी जड), पाषाणभेद, शतावरी या खरेंटी, विदारीकंद, वाराहीकंद, शालिकी जड, गोखरू ॥ ७ ॥ अरलू, पाटला, पाढ, धत्तूर (शरवालिका पतंग), पियावासा, सांठी, सिरस इन्होंका क्काथ करे और इसमें घृत सिद्ध करे और शिलाजीत, मुलेठी, कमलके बीज (कमलगट्टे) और खीरे तथा ककड़ीके बीज उस घृतमें डाले यह घृत पीना पित्तकी पथरीको शीघ्र नाश कर देता है ॥ ८ ॥ ९ ॥ और पित्तकी पथरीमें खार, यवागू, यूष तथा क्काथ और दूध एवं भोजन सब पित्तनाशक वर्गमेंसे करने चाहिये (अर्थात् क्षारादिक जो उपयोग किये जावें वे सब पित्तनाशक होने चाहिये और भोजनभी पित्तनाशकही करना उचित है) ॥ १० ॥

कफाश्मरी चिकित्सा ।

गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेलाहरेणवः ॥ कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैः सुरसाह्वयैः ॥ ११ ॥ एतैः सिद्धमजासर्पिरूषकादिगणेन च ॥ भिनत्ति कफसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥ १२ ॥ क्षारान्यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥ भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन्कफनाशने ॥ १३ ॥

(श्लो० ७ । ८) उत्कटो महती खगाली । मोरटः इक्षुमूलम् । कुरंटिका शरवालीभेदः (इति डल्लनः) अन्ये तु कुरंटिका सहचरी पियावासा इति लोके । (श्लो० ११ । १२ । १३) भद्रादीत्यत्रादिशब्देन भद्रदारुहरिद्रेत्यादयो ग्राह्याः । कफाश्मरीचिकित्सितेनैव शुक्राश्मरीचिकित्सितं युक्तं मन्तव्यं कफशुक्रयोस्तुल्यगुणत्वात् (इति नि० सं०)

वरुणादिगण, गुग्गुल, इलायची, हरेणु (लघु मटरसम धान्यविशेष), कूट, भद्रदारु आदिगण, मिरच, चित्रक, सुरसा (तुलसी) ॥ ११ ॥ इनसे सिद्ध किया हुआ बकरीका घृत ऊषकादि गणके प्रतिवाप करके युक्त कफकी पथरीको शीघ्रही नाश करता है ॥ १२ ॥ कफकी पथरीमें क्षार, यवागू, यूष, क्वाथ, दूध और भोजन सब कफनाशक वर्गहीमेंसे करने चाहिये (जिस प्रकार कफाश्मरीकी चिकित्सा है इसीप्रकार शुक्राश्मरीकी भी जानना चाहिये क्योंकि कफ और शुक्रके समान गुण हैं देखो टिप्पणीमें निबंधसंग्रहका वाक्य) ॥ १३ ॥

शर्करानाशक यत्न ।

पिचुकंकोलकतकशाकेंदीवरजैः फलैः॥ चूर्णितैः सगुडं तोयं शर्कराशमनं पिबेत् ॥ १४ ॥ क्रौंचोष्ट्रासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका ॥ अजमोदा कदंबस्य मूलं नागरमेव च ॥ पीतानि शर्करां भिंद्युः सुरयोष्णोदकेन वा ॥ १५ त्रिकंटकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ॥ अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत् ॥ १६ ॥

पिचु (नींब अथवा कपास), कंकोल (शीतलमिरच), कतकके फल (निर्मली) शाक और नीलकमलके कमलगट्टे इन्हें चूर्ण करके गुडके शरबतके संग पीनेसे शर्कराकेटुकडे २ बहकर निकलजाते हैं ॥ १४ ॥ क्रौंच पक्षी, ऊंट, गधा इनकी हड्डी, गोखरू, मूशली, अजमोद, कदंबकी जड, सोंठ इन्हें मद्य या गरम जलसे पीवे तो ये शर्कराका नाश करती हैं ॥ १५ ॥ गोखरूका चूर्ण शहतमें मिलाकर बकरीके दूधके संग सात दिन सेवन करनेसे पथरीका नाश होता है ॥ १६ ॥

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोवीमूत्रगालितः ॥ ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः संयुक्तः साधितः शनैः ॥ १७॥ तत्रोषकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः ॥ एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि ॥ १८॥

जिन द्रव्योंका घृत पथरीरोगमें लिखा है उनका क्षार बनाकर भेडीके मूत्रमें घोलकर ग्राम्यपशु गोमहिषादिके गोबरका क्षार मिलाकर उसका क्षार साधन करे और

(श्लो० १४) पिचुकः करीरस्तस्य फलं कर्पासि इत्येके । कंकोलः ककोलमरिचम् । डल्हनस्तु कंकोलस्थाने अकोलमिति पठित्वा "पिचुकांकोल" इति पाठं पठति । कतकः कतकफलम् । डल्हनस्तु कतकः प्रागुक्तः फटकरी इति भाषायामेव पठति । (श्लो० १७) ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैरिति-ग्राम्यजंतुशकृत्क्षारैः ग्राम्यजंतवो ग्राम्यपशवः । सत्त्वः जंतुः (इति शब्दस्तोमः) ।

उसमें ऊषकादिगणका प्रतिवाप देकर त्रिकटु मिलाकर तैयार करे यह क्षार पथरी, गुल्म और शर्करा (मूत्रगतरेत) का नाश करता है ॥ १७ ॥ १८ ॥

तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः ॥ क्षारः पेयोविमूत्रेण शर्करानाशनः परः ॥ १९ ॥ पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत् ॥ श्वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मीकल्कं वाक्षसमं पिबेत् ॥ २० ॥ सहैडकाख्यौ पेयौ वा शोभांजनकमार्कवौ ॥ कपोतवंकामूलं वा पिबेदम्लैसुरादिभिः ॥२१॥ तत्सिद्धं वा पिबेत्क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ॥हरीतक्यादिसिद्धं वा वर्षाभूसिद्धमेव वा ॥२२॥ सर्वथैवोपयोज्यः स्याद्गणो वीरतरादिकः ॥ घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरवस्तिभिः॥२३॥

तिल, चिरचटा, केला, पलाश (ढाक) और जौ इनका क्षार भेडके मूत्रके संग पीवे तो यह परमशर्करा नाशक है ॥ १९ ॥ तथा पाटला और कनेरभी इसी भांति सेवन करे अथवा गोखरू, मुलेठी, ब्राह्मी इनका कर्षमात्र कल्क करके पीवे ॥ ॥ २० ॥ सहा (क्षुद्रसहा, महासहा), एडकाख्य (मेंढासींगी) इनका कल्क पीवें अथवा सहिजना और भृंगराजका कल्क अथवा ब्राह्मीकी जडका कल्क अम्ल (धान्याम्लादि) तथा मद्यके संग पीवे ॥ २१ ॥ अथवा इनसे सिद्ध किया दूध पथरी और शर्कराकी पीडासे पीडित मनुष्य पीवे अथवा हरडेसे सिद्ध किया दुग्ध पीवे अथवा सांठीका सिद्ध किया दुग्ध पीवे ॥ २२ ॥ अथवा घृतके सिद्ध करनेमें, क्षार बनानेमें, क्काथ करनेमें और दुग्धमें सर्वथा वीरतरु आदि गणका उपयोग करे अथवा वीरतरु आदिहीका उपयोग उत्तरवस्तिमें करे ॥ २३ ॥

यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥ कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा॥२४॥उपक्रमो जघन्योयमतः स परिकीर्तितः ॥ अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥ तस्मादापृच्छ्य कर्त्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥ २५ ॥

यदि पथरी औषधोंसे शांत न हो तो उसकी पिछली विधि चीरकर निकालन है पर इसमें चतुर वैद्यकोभी सिद्धिकी प्राप्ति होना अनिश्चितही है अर्थात् चीरकर निकालनेपर प्रायः थोडेही दिनमें फिर होजानेकी पूरी शंका है ॥ २४ ॥ पथरीको चीरकर निकालना निंद्य उपाय है क्योंकि चीरनेमें अस्तव्यस्त होजावे तो शीघ्रही

(श्लो० १९) पलाशयववल्कजः इत्यत्र तिलपलाशयवादीनां खडजः क्षारः । वल्कः त्वचि खंडे च (इति वाचस्पतिः) ।

मृत्यु होजावे और ठीक चीरकर निकालने पीछे फिर होनेका भय है इससे अति आवश्यकतामें चीरकर निकाले भी तो ईश्वर (परमेश्वर या राजासे) प्रार्थना करके अभ्यासमें चतुर वैद्य चीरनेका साहस करे (अन्यथा कभी न चीरे) ॥ २५ ॥

छेदकर पथरी निकालनेकी विधि ।

अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषमीषत्कर्शितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवंतं कृतबलिमंगलस्वस्तिवाचनमग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसंभारमाश्वास्य ततो बलवंतमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपवेश्यं पुरुषं च तस्योत्संगे निषण्णपूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटिकं वस्त्राधारकोपविष्टं संकुचितजानुकूर्परमितरेण सहाबद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वं विमृद्य मुष्टिनाऽवपीडयेदधोनाभेर्यावदश्मर्यधः प्रपन्नेति ततः स्नेहाभ्यक्ते कृतनखे वामहस्तप्रदेशिनीमध्यमे पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेढ्रांतरमानीय निर्व्यलीकमनायतमविषमं च वस्तिं सन्निवेश्य भृशमुत्पीडयेदंगुलीभ्यां यथा ग्रंथिरिवोन्नतं शल्यं भवति ॥ २६ ॥

जिसकी पथरी निकालनी आवश्यक हो उसको कुछ स्नेहन कराके दोषोंको विरेचनादिसे कर्षण करके थोडा कृश होनेपर उसके शरीरपर तैलाभ्यंग करके पसीना दिलाये हुए पीछे (जिस दिन पथरी निकाले उस दिन) कुछ थोडा भोजन कराके बलिदान, मंगलपाठ, स्वस्तिवाचन आदि कराके अग्रोपहरणीय अध्यायकी विधिसे सब यंत्र, शस्त्र, शलाका, पट्टी आदि सामान पास रखकर रोगीको आश्वास (तसल्ली देवे और एक अन्य बलवान् सावधान पुरुषको घुटने बराबर ऊँचे तखते पर बिठाले और उसकी गोदमें रोगीको स्थापन करे, रोगीके पूर्वकाय शिर आदिको नीचा करदे और कमरको ऊँची करके उभारदे उसके नीचे वस्त्र बिछादे और उसके घुटने तथा कोहनी सिमटादे और इन्हें अन्यवस्तुसे या सूतके सांकडेसे बांध दे (जिससे छेदके समय हाथ पांव न फैलावे) फिर नाभिसे कुछ बाई तरफ नीचेसे चिकनाई लगाकर मले और मुट्ठीसे दबावे जिससे पथरी नीचेको आजावे फिर वैद्य अंगुलियोंके नख कटाकर बायें हाथकी तर्जनी और मध्यमा दो अंगुलियोंको चिकनाई लगाकर रोगीकी गुदामें प्रवेश करे और सीवनकी तरफ करके यत्न और

बलसे गुदा और लिंगके बीचमें लेआवे और फिर शलवट रहित सुकड़ी हुई सीधी वस्तिमें लेजाकर दोनों अंगुलियोंसे पथरीको उकसावे जिससे वह पथरीरूप शल्य ग्रंथिकी भांति ऊपरको उकस आवे ॥ २६ ॥

स चेद्गृहीतेशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः॥ हतवल्लंबशीर्षश्च निर्विहारो मृतोपमः ॥ २७ ॥ न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरंस्तु म्रियेत सः ॥ विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं समुपाचरेत् ॥ २८ ॥

यदि शल्य (पथरी) के अंगुलियोंसे (गुदामें प्रवेशकर) पकडने उकसानेमें आंखें निकालदे, चेतना रहित (वेहोश) होजाय, मृतके समान शिर लंबा करदे, अंग न हिलावे, मृतके तुल्य होजाय तो उसकी पथरी (छेदकर) नहीं निकाले यदि (चीरा लगाके) निकाले तो मृत्यु होजावे और यदि ऊपर लिखे मृतकेसे रूप नहीं हों तो वेशक चीरा लगाकर निकाले ॥ २७ ॥ २८ ॥

सव्ये पार्श्वे सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वावचारयेत् । शस्त्रमश्मरीप्रमाणं दक्षिणतो वा क्रियासौकर्य्यहेतोरित्येके ॥ २९ ॥ यथा च न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति तस्मात्समस्तामग्रवक्रेणाददीत ॥३०॥ स्त्रीणां तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः संनिकृष्टस्तस्मान्नासामुत्संगवच्छस्त्रं पातयेदतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत् ॥३१॥ पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षतान्मूत्रक्षरणम् ॥ ३२ ॥ अश्मरीव्रणादृते भिन्नो वस्तिरेकधा न भवति । द्विधाभिन्नवस्तिराश्मरिको न सिध्यति । अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधा भिन्नवस्तिर्जीवति क्रियाभ्यासाच्छास्त्रविहितच्छेदान्निःस्यंदपरिवृद्धत्वाच्च शल्यस्येति ॥ ३३ ॥ उद्धृतशल्यं तूष्णोदकद्रोण्यामवतार्य स्वेदयेत्तथा हि वस्तिरसृजा न पूर्यते पूर्णे वा क्षीरवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात् ॥३४॥ भवति चात्र—

(श्लो० २९) सेवनीं मुक्त्वा विहाय शस्त्रं अवचारयेत् । (वा० ३०) अग्रवक्रेण आहरणयंत्रेण । (वा० ३२) मूत्रप्रसेको नाम मूत्रक्षरणमार्गः । (वा० ३३) क्रियाभ्यासात् योजनाधिक्रियाभ्यसनात् । निस्यंदपरिवृद्धत्वाच्छल्यस्येति—निःस्यंदो मूत्रं तेन परिवृद्धमश्मरीशल्यं तस्य शल्यापहरणेपि निःशेषापरिलुतत्वात् भिन्नवस्तिर्जीवति गयी तु शल्यस्येति पदं परित्यज्य निःस्यदपरिवृद्धत्वादित्येव पठति (इति नि. सं.)

बाईं तरफको सीवनसे जो बराबर छोडकर पथरीके समान चीरा लगावे और कइयोंका यह भी मत है कि पथरीके प्रमाण दाहिनी तरफको चीरे इससे क्रियामें सरलता होती है ॥ २९॥ वैद्यको ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे भीतर पथरी टूट न जावे या कट न जावे क्योंकि जो किंचित् मात्रभी टुकडा या चूरा पथरीका शेष रह जावे तो फिर बढजाती है इससे अग्रवक्र नामक शस्त्रसे पकडकर समस्त पथरीको खींच लेना चाहिये ॥ ३० ॥ स्त्रियोंके वस्तिके पास मिला हुआही गर्भाशय होता है इससे उनके उभरा हुआ शस्त्र न चलावे क्योंकि ऐसा करनेसे उनके मूत्र झिरनेवाला जखम हो जाता है ॥ ३१ ॥ और पुरुषोंके भी मूत्रवाहिस्थानके कटनेसे मूत्र झरने लग जाताहै ॥ ३२ ॥ पथरीके जखमके सिवाय कटा हुआ वस्तिस्थान एकसा नहीं होता और दो जगह जिसका वस्तिस्थान कट जावे वह अच्छा होताही नहीं है (इससेही पुष्ट करते हैं कि) पथरी निकालनेके लिये जिसका वस्ति एक ठौर चीरागया है वह मनुष्य जी सकता है क्योंकि उसमें क्रियाओंकी साध्यता होती है इससे तथा शास्त्रविहित छेद होनेसे तथा मूत्रादिसे शल्यकी वृद्धि होती है तो एक ठौर भिन्न होनेसे वह अति वृद्ध न हो इससेभी एक ठौर ही छेदयुक्त है ॥ ३३ ॥ जब पथरी निकल जावे तब रोगीको गरम जलसे भरी द्रोणीमें उतारके स्वेद करावे जिससे वस्ति खूनसे न भर जाय जो भर जावे तो क्षीरवृक्षका क्वाथ पुष्पनेत्र नामक यंत्रसे उपयोग करे ॥३४॥ इस विषयमें श्लोक हैं–

क्षीरवृक्षकषायं तु पुष्पनेत्रेण योजितम् ॥
निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं वस्तिगतं च यत् ॥ ३५ ॥

क्षीरवृक्षका क्वाथ पुष्पनेत्र नामक यंत्रसे योजना किया हुआ शीघ्रही पथरीको (या पथरीके चूर्णको) तथा वस्तिमें प्राप्त हुए रुधिरको निकाल देताहै ॥ ३५ ॥

मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुडसौहित्यं वितरेत् । उद्धृत्य चैनां मधुघृताभ्यक्तव्रणां मूत्रविशोधनद्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेदुभयकालं त्रिरात्रम् । त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेद्दशरात्रं मूत्रासृग्विशुद्ध्यर्थं व्रणक्लेदनार्थं च दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जांगलरसैरुपाचरेत् ॥ ३६ ॥

मूत्रमार्गकी शुद्धिके अर्थ रोगीको गुडसे वासित भात (गुडमें पका हुआ पतला भात)देवे और पथरी निकल गये पीछे रोगीके व्रणपर शहत और घृत लगाकर

(श्लो० ३५) पुष्पनेत्रेण उत्तरवस्तिना । (वा० ३६) गुडसौहित्यं गुडवासितं भक्तं दद्यादित्यर्थः । उद्धृत्य उष्णोदकद्रोणादिति शेषः। मूत्रशोधनद्रव्याणि तृणपंचमूलगोक्षुरककूष्मांडपाषाणभेदादीनि।

मूत्र शोधन करनेवाले (गोखरू आदि) द्रव्योंसे सिद्ध की हुई यवागू घृतयुक्त गरम २ दोनों वखत तीन दिन तक पिलावे फिर तीन दिन पीछे गुडसे गाढे किये हुए दूधके संग मुलायम (पतला) भात थोडा २ दश दिन तक खिलावे मूत्र और रुधिरकी शुद्धिके लिये तथा व्रणमें मुलायमपन रहे कडा न पडजाय इसलिये तथा दश दिन पीछे फलोंकी खटाईसे युक्त जंगली जीवोंका मांसरस उपयोग करे (थोडा २ खिलावे) ॥ ३६ ॥

ततो दशरात्रं चैनमप्रमत्तः स्वेदयेत्स्नेहेन द्रव्यस्वेदेन वा । क्षीरवृक्षकषायेण वास्य व्रणं प्रक्षालयेत् । लोध्रमधुकमंजिष्ठाप्रपौंडरीककल्कैर्व्रणं प्रतिग्राहयेत् । एतेष्वेव हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यंजनमिति ॥ ३७ ॥

इसके पीछे दश दिन सावधान होकर स्नेहन द्रव्योंके स्वेदसे पसीना दिलावे अथवा क्षीरवृक्षों (गूलर आदि) के क्काथसे रोगीके व्रणको धोवे और लोध, मुलहटी, मँजीठ, कमल इनको पीसकर व्रणपर लेप करे अथवा लोध्रादिमें हलदी मिलाकर तैल या घृत पकाकर व्रणपर लगावे ॥ ३७ ॥

स्त्यानशोणितं चोत्तरबस्तिभिरुपाचरेत् । सप्तरात्राच्च स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन विधिना दहेदग्निना । स्वमार्गप्रतिपन्ने चोत्तरबस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेन्मधुरकषायैरिति॥३८॥

यदि रुधिर जमगया हो तो उत्तरबस्तिद्वारा उपचार करे और जो सात दिनमें मूत्र अपने मार्गमें होकर प्रवृत्त न हो (व्रणसे निकले) तो व्रणको विधिपूर्वक अग्निसे दागदे और जो मूत्र अपने मार्गमें प्रवृत्त हो तो उत्तरबस्ति, आस्थापन बस्ति तथा अनुवासन बस्ति मधुर द्रव्योंके क्काथसे करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यदृच्छया वा मूत्रमार्गप्रतिपन्नामंतरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसापहरेत् । एवं चाशक्ये विदार्य वा नाडीं शस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत् । रूढव्रणश्चागनाश्वनगनागरथद्रुमान्नारोहेत् । वर्षं नाप्सु प्लवेत भुंजीत वाऽगुरु ॥ ३९ ॥

यदि भीतरकी पथरी शुक्राश्मरी या शर्करा आपही मूत्रमार्गमें होकर निकले तो उसे मूत्रमार्गहीसे निकाले और जो बडी होनेके कारण वहां आई हुई उस छिद्रसे

(वा० ३७) अप्रमत्तः सावधानः । क्षीरवृक्षाः वटोदुंबराश्वत्थप्लक्षादयः । प्रतिग्राहयेत् लेपनं कुर्य्यात् । (इति नि. सं.)

नहीं निकल सके तो नाडी (मूत्रनाडी) की जगह शस्त्रसे चीरकर बडिश (आकडेदार कांटे) से खींचकर निकाल ले और जब पथरी निकलनेका जखम भर भी जाय (अच्छा होजावे तब भी) वर्ष दिनतक स्त्रीसंग न करे, घोडेपर न चढे, पहाडपर न चढे, हाथी और रथकी सवारी न करे, वृक्षपर न चढे, जलमें न तैरे और गरिष्ठ भोजन भी नहीं करे ॥ ३९ ॥

मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदवस्तीन्परिहरेत् । तत्र मूत्रवहच्छेदान्मरणं मूत्रपूर्णवस्तेः । शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा । मुष्कस्रोतउपघाताद्ध्वजभंगः । मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रप्रक्षरणम् । सेवनीयोनिच्छेदाद्रुजः प्रादुर्भावः । वस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥ ४० ॥ भवतश्चात्र—

चीरा लगानेमें मूत्रवाहिनी और शुक्रवाहिनी नाडियोंको तथा अंडकोशके स्रोतोंको, मूत्रप्रसेकमार्गको, सेवनी तथा स्त्रियोंके योनिको, गुदाको और वस्तिस्थानको बचाकर चीरा लगाना उचित है क्योंकि मूत्रवाहिनी नाडीके छेदनसे वस्ति मूत्रसे भरकर मृत्यु होजाता है और वीर्यवाहिनी शिरा कटजानेसे मृत्यु होजाती है या नपुंसकता होजाती है तथा अंडके स्रोत कटजानेसे ध्वजभंग होजाता है और मूत्रप्रसेक कटजानेसे मूत्र झिरताही रहता है तथा सेवनी और योनि कटजानेसे व्याधियां (नासूर आदि) होजाती हैं और वस्ति तथा गुदाके वेधनसे जो हानि होजाती है वह पहले शारीरकमें मर्मविद्धके वर्णनमें कहही चुके हैं ॥ ४० ॥ इस विषयमें दो श्लोक हैं—

मर्माण्यष्टावसंबुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम् ॥ व्यापादयेद्बहून्मर्त्याञ्छस्त्रकर्मापटुर्भिषक् ॥ ४१ ॥ सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम् ॥ मूत्रसेकं मूत्रवहं मूत्रवस्तिस्तथाष्टमः ॥ ४२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो मनुष्योंके स्रोतोंके आठों मार्गोंको नहीं जानता है ऐसा शस्त्रकर्ममें मूर्ख वैद्य बहुत मनुष्योंको मारडालता है ॥ ४१ ॥ आठ मर्मस्थान यहां ये हैं १ सेवनी, २ शुक्रवाहिनी शिरा, ३-४ दोनों अंडोंके स्रोत, ५ गुदा, ६ मूत्रप्रसेक, ७ मूत्रवाहिनी शिरा और ८, वस्ति (मूत्रवस्ति) इन्हें जाने विना कभी चीरकर पथरी निकालनेका साहस नहीं करना ॥ ४२ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ८.

अथातो भगंदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी भगंदरोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

पंच भगंदरा व्याख्यातास्तेष्वसाध्यः शम्बूकावर्तः शल्यनिमित्तश्चेति शेषाः कृच्छ्रसाध्याः ॥ १ ॥

पहले निदानस्थानमें जो पांच प्रकारके भगंदर कहे गये हैं उनमेंसे शंबूकावर्त (सन्निपातज) और शल्यनिमित्त(उन्मार्गी) ये दो भांतिके भगंदर असाध्य होतेहैं और शेष तीन भाँतिके भगंदर (शतपोनक, उष्ट्रग्रीव और परिस्रावी)ये कष्टसाध्य होतेहैं (देखो निदानस्थानका ४ अध्याय) ॥ १ ॥

भगंदरकी फुन्सीका आद्यप्रयत्न ।

तत्र भगंदरपिडिकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनांतैनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापकपिडिकम् ॥ २ ॥

जब भगंदरकी फुन्सी होवे और जबतक वह पके नहीं तबतक अपतर्पण (लंघन) को आदिले विरेचन पर्यंत ग्यारह विधान (देखो चिकित्सास्थानके प्रथम अध्यायमें व्रणके ६० उपक्रमोंमें) करके उपक्रम करना चाहिये ॥ २ ॥

पकी फुन्सीका यत्न ।

पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यंत्रयित्वा भगंदरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा बहिर्मुखमंतर्मुखं वा ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण ॥ ३॥ अंतर्मुखे चैवं सम्यग्यंत्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगंदरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत् । आसाद्य वाग्निक्षारं चेत्येतत्सामान्यं सर्वेषु ॥ ४ ॥ विशेषतस्तु–

जब फुन्सी पक जावे तब स्नेहन, अवगाहन और स्वेदन करा खाटपर स्थापनकर बवासीरकी तरह यंत्रित करके भगंदरको देखे कि यह पराचीन बहिर्मुख है या अवाचीन अंतर्मुख है (अथवा पुराना नया तथा बाहरमुखवाला भीतरमुखवाला) तब सलाई डालकर उभारे और जडसहित छेदनकरे ॥ ३ ॥ ऊपर कही क्रिया बाहर मुखवाले-

(वा० ३) अंतर्मुखमवाचीनम् बहिर्मुखं पराचीनम् । (इति डल्हनः) तत्रांतर्मुखस्य गुदमध्यमुखस्य प्रवहमाणे मुखे बहिर्गतमासाद्य क्रिया कुर्यात् ।

की है और जो अंतर्मुख हो तो भीतर भगंदरयंत्र देकर मुखको बाहर निकाले और रोगीसे प्रवाहण करने (किनछने) को कहे और गुदाके भीतरका मुख बाहर आजाने पर सलाई डालकर चीरा लगावे अथवा भगंदरके मुखको देख विचारकर अग्नि या क्षारसे दग्ध करे यह सब भगंदरोंकी सामान्य क्रिया है ॥ ४ ॥ विशेष यह है-

शतपोनककी चिकित्सा ।

नाड्यंतरे व्रणान्कुर्य्याद्भिषक् तु शतपोनके ॥ ततस्तेषूपरूढेषु शेषाः नाडीरुपाचरेत् ॥५॥ गतयोऽन्योन्यसंबद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा ॥ नाडीरनभिसंवद्धा यश्छिनत्त्येकधा भिषक्॥६॥ स कुर्य्याद्विवृतं जंतोर्व्रणं गुदविदारणम्॥तस्य तद्विवृतं मार्गं विण्मूत्रमनुगच्छति ॥ ७ ॥ आटोपं गुदशूलं च करोति पवनो भृशम् ॥ अत्राधिगततंत्रोपि भिषङ्मुह्येदसंशयम् ॥ ८ ॥

यदि शतपोनक भगंदर हो तो वैद्य नाडियोंके बीचमें व्रण करे और जब वे शस्त्रकृत व्रण भरजावें तब शेष नाडियोंमें भी व्रणकरके उपचार करे ॥ ५ ॥ परस्पर मिलीहुई जो नाडियां हैं उन्हें बाहरसे अनेक जगह छेदे और जो परस्पर वे मिली नाडीकोही एक जगहसे जादे चीर देवे तो वह व्रण चौडा होजाता-है जिससे गुदा विदीर्ण होजाती है और उस व्रणके चौडे मार्गसे विष्ठा और मूत्र निकलने लगते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ और अधोवायु जोर करके अफारा तथा गुदामें शूल कर देता है इस विषयमें शास्त्रज्ञवैद्य भी कभी कभी निःसंदेह मोहको प्राप्त होजाता (घबराकर चूक जाता) है ॥ ८ ॥

तस्मान्न विवृतः कार्यो व्रणस्तु शतपोनके ॥ व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा वै विजानता ॥ ९ ॥ अर्द्धलांगलकश्छेदः कार्यो लांगलकोऽपि वा ॥ सर्वतोभद्रको वापि कार्यो गोतीर्थकोपि वा ॥ १० ॥

इस कारणसे शतपोनकमें चौडा लंबा व्रण न करना चाहिये, जानकार वैद्यको इस बहुत छिद्रवाली व्याधि (शतपोनक) में " अर्द्धलांगल " छेद करना या " लांगलक" छेद करना या " सर्वतोभद्र " छिद्र करना या "गोतीर्थक" छेद करना उचित है ॥ ९ ॥ १० ॥

(श्लो० ५) नाड्यंतरे इति-नाडीनां पूर्यमाणानां निकटस्थानां त्रिचतुराणामतरं मध्यं नाड्यंतरं तस्मिन् व्रणान्कुर्यात् (इति डल्हनः) । (श्लो० ६) अन्योन्यसंबद्धा निकटस्थाः । अनभिसंबद्धाः अनिश्चितनिकटाः (इति नि. स.) ।

छेदोंके लक्षण ।

द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लांगलको मतः ॥ ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्द्धलांगलकः स्मृतः ॥११॥ सेवनीं वर्जयित्वा च चतुर्द्धा दारिते गुदे ॥ सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः ॥ १२ ॥ पार्श्वागतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत् ॥ १३ ॥

जो दोनों पार्श्वोंमें समान छेद किया जावे उसे "लांगलक" छेद कहते हैं और जो एक तरफ छोटा हो वह "अर्द्धलांगलक" कहाता है ॥ ११ ॥ जो सीवनको छोडकर गुदाके चारों तरफ छेद किया जावे उसे छेदविद्याविशारद वैद्य (जर्राह) " सर्वतोभद्र " कहते हैं ॥ १२ ॥ और जो पँसवाडेकी तरफ झुकाकर छेद किया जावे उसे "गोतीर्थ" छेद कहते हैं ॥ १३ ॥

सर्वतः स्रावमार्गांस्तु दहेद्वैद्यस्तथाग्निना ॥ १४ ॥

सब तरफसे स्रावके मार्गोंको वैद्य अग्निसे दग्ध कर देवे (जिससे उनका अतिस्राव बंद हो जावे) ॥ १४ ॥

सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः ॥ रुजास्रावापहं तत्र स्वेदमाशु प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥ स्वेदद्रव्यैर्यथोद्दिष्टैः कृशरापायसादिभिः ॥ ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैर्लावाद्यैर्वापि विष्किरैः ॥ १६ ॥ वृक्षादनीमथैरंडं बिल्वादिं च गणं तथा ॥ कषायं सुकृतं कृत्वा स्नेहकुंभे निषेचयेत् ॥ नाडीस्वेदेन तेनास्य तं व्रणं स्वेदयेद्भिषक्॥ ॥ १७ ॥ तिलैरण्डातसीमाषयवगोधूमसर्षपान् ॥ लवणान्यम्लवर्गं च स्थाल्यामेवोपसाधयेत् ॥ आतुरं स्वेदयेत्तेन तथा सिध्यति कुर्वतः ॥ १८ ॥

बालक अथवा नाजुक मनुष्य और डरपोक आदमी इनका शतपोनक भगंदर दुःसाध्य होता है तहाँ पीडा और स्रावके वास्ते शांतिके स्वेद (पसीने दिलाने) का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५ ॥ यथोक्त स्वेदन द्रव्योंसे या कृशरा (खिचडी), पायस (खीर) आदिसे या ग्राम्य, अनूप और जलचर जीवोंके मांससे तथा

(श्लो० ११।१२।१३) लांगलं हलमुच्यते तदाकारको लांगलकः । अर्द्धलागल इव अर्द्धलागलकः। सर्वतोभद्रस्त्वासनविशेषः पर्यंकिकाकारो मंडलाकारो वा। गोतीर्थकः गच्छद्गोमूत्रगतिसदृशः। अथवा गोतीर्थं गोयोनिरुच्यते तदाकारो गोतीर्थकः। अथवा गोतीर्थं निपानं येन गावः पिबंति तत्खुरांकितवच्छेदविशेषः (इति नि. सं)

लवा आदि विष्किर जीवोंके मांससे (गरम करके) स्वेद करावे ॥ १६ ॥ बंदा, अरंड, बिल्वादिगण इनका क्वाथ करके चिकने घडेमें भरदे उसके मुखपर ढकना ढांक छेदकर उसमें नलिका लगाकर उससे व्रणको स्वेदन करावे अर्थात् बफारा देवे ॥ १७ ॥ अथवा तिल, अरंड, अलसी, उडद, जौ, गेहूँ, सरसों, पांचों नमक, अम्लवर्ग इन्हें मटकेमें क्वाथकर उसका बफारा देवे ऐसा करनेसे व्याधि शांत होजाती है ॥ १८ ॥

स्विन्नं च पाययेदेनं कुष्ठं च लवणानि च ॥ वचाहिंग्वजमोदं च समभागानि सर्पिषा ॥ मार्द्वीकेनाथ वाम्लेन सुरासौवीरकेण वा ॥ १९ ॥

स्वेदन करनेके पीछे कूट, पांचों नोन, वच, हींग, अजमोद इन्हें समान भागले सबको घृतयुक्त कर द्राक्षासव अथवा कांजी अथवा सुरा (मद्य) अथवा सौवीर (एक प्रकारका खट्टा संधान) इनके संग पिलावे ॥ १९ ॥

ततो मधूकतैलेन तस्य सिंचेद्भिषग्व्रणम् ॥ परिषिंचेद्गुदं चास्य तैलैर्वातरुजापहैः ॥ २० ॥ विधिनानेन विण्मूत्रं स्वमार्गमधिगच्छति ॥ अन्ये चोपद्रवास्तीव्राः सिध्यंत्यत्र न संशयः ॥ २१ ॥

इसके अनंतर उसके व्रणको मुलहटीसे सिद्ध किये तैलसे तर करे (कई महुवेके तैलसे तर करे ऐसा भी अर्थ करते हैं) और वातनाशक तैलोंसे उसकी गुदाको तर करते रहे ॥ २० ॥ इस विधिसे रोगीके विष्ठा और मूत्र ठीक २ अपने मार्गोंसे प्रवृत्त होने लगतेहैं तथा अन्य आध्मानादि उपद्रव भी निःसंदेह शांत होजाते हैं ॥ २१ ॥

उष्ट्रग्रीवचिकित्सा ।

शतपोनक आख्यात उष्ट्रग्रीवे क्रियां शृणु ॥ अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत् ॥ २२ ॥ पूतिमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः ॥ अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः पिष्टैः प्रलेपयेत् ॥ २३ ॥ बंधं ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं तु सर्पिषा ॥ तृतीये दिवसे मुक्त्वा यथास्वं शोधयेद्भिषक् ॥ ततः शुद्धं विदित्वा च रोपयेत्तु यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

शतपोनककी चिकित्साका व्याख्यान कर चुके हैं अब उष्ट्रग्रीवकी क्रिया श्रवण करो । उष्ट्रग्रीवमें सलाई डालकर उसे छेदन करे और छेदकर क्षार (तेजाब)

(श्लो० १९) मार्द्वीकेन द्राक्षामद्येन । अम्लेन धान्याम्लेन ।

लगादे ॥ २२ ॥ सडे हुए मांसके नष्ट करनेको इसमें अग्निकर्म करना उचित नहीं (क्योंकि यह पित्तजनित होता है) किंतु इसपर घृतमिश्रित तिलोंको पीसकर लेप करना चाहिये ॥ २३ ॥ फिर उसपर यथायोग्य बन्ध बांधकर ऊपरसे घृतका परिषेक करते रहे और तीसरे दिन वैद्यको चाहिये कि बंध खोलकर यथा योग्य शोधन करे और जब शुद्ध हुआ जान ले तब यथाक्रम उस व्रणको रोपण करे ॥ २४ ॥

परिस्रावीकी चिकित्सा ।

उत्कृत्यास्रावमार्गं तु परिस्राविणि बुद्धिमान् ॥ क्षारेण वा स्रावगतिं दहेद्धुतवहेन वा ॥ २५ ॥ सुखोष्णेनाणुतैलेन सेचयेद्गुदमंडलम् ॥ उपनाहाः प्रदेहाश्च मूत्रक्षारसमन्विताः ॥ २६ ॥ वामनीयौषधैः कार्याः परिषेकाश्च मात्रया ॥ मृदुभूतं विदित्वैनमल्पस्रावरुगन्वितम् ॥ २७ ॥ गतिमन्वेष्य शस्त्रेण छिंद्यात्खर्जूरपत्रकम् ॥ चन्द्रार्द्धं चंद्रचक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम् ॥ २८ ॥ छित्त्वाग्निना दहेत्सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः ॥ ततः संशोधनैरेवं मृदुपूर्वैर्विशोधयेत् ॥ २९ ॥

परिस्रावी भगंदरमें बुद्धिमान् वैद्य स्रावके मार्गको शस्त्रसे उखाडकर (चीरकर) स्रावकी गतिको क्षार (तेजाब) से जला दे अथवा अग्निसे दग्ध करदे ॥ २५ ॥ और गुदमंडलको निवाये २ अणुतैलसे सेचन करे तथा उपनाह और प्रदेह, मूत्र (गोमूत्र) और क्षार (तेजाब) युक्त करने चाहिये ॥२६॥ तथा वमन करानेवाली औषधोंसे मात्रायुक्त परिषेकभी करे और जब जानले कि मुलायम होगया और स्राव तथा पीडा स्वल्प होगई ॥ २७ ॥ तब सलाई डालकर उसकी गति देखे और सूचीमुख तथा अवाङ्मुख जैसा भगंदर हो उसे शस्त्रसे खर्जूरके पत्रके आकार चीरदे अथवा अर्द्धचन्द्रके आकार चीरे या चंद्रचक्रके आकार चीरे ॥ २८ ॥ फिर चीरकर अग्निसे सम्यग्दग्ध करे अथवा क्षारसे समस्त जलादे फिर पहले मृदु द्रव्योंसे और फिर तीक्ष्ण शोधन द्रव्योंसे शोधन करे (फिर रोपण करे) ॥ २९ ॥

बालकके भगंदरका यत्न ।

बहिरंतर्मुखश्चापि शिशोर्यस्य भगंदरः ॥ तस्याहितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचारणम् ॥ ३० ॥ यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्याव-

चारयेत् ॥ आरग्वधनिशाकालाचूर्णं मधुघृताप्लुतम् ॥ ३१ ॥ अग्रवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥ योगोयं नाशयत्याशु गतिं मेघमिवानिलः ॥ ३२ ॥

यदि बालकके बहिर्मुख या अंतर्मुख कैसाही भगंदर हो तो उसे विरेचन, अग्नि, शस्त्रकर्म और क्षार इनका योग उचित नहीं ॥ ३० ॥ इसमें मृदु या तीक्ष्ण यथोक्त औषधोंकाही योग करना हित है । अमलतास, हलदी, काला (अहिंस्रा) इनका चूर्ण शहत और घृतसे युक्तकर उसमें बत्ती सान व्रणमें रखना यह शोधनमें हित है यह प्रयोग गति (नासूर) को शीघ्र नष्ट करता है जैसे मेघको पवन शीघ्र नष्ट करता है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

शल्यनिमित्त उन्मार्गीकी चिकित्सा ।

आगंतुजे भिषङ् नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः ॥ जाम्बवोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया ॥ ३३ ॥ दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः ॥ कृमिघ्नं च विधिं कुर्याच्छल्यानयनमेव च ॥ ॥ ३४ ॥ प्रत्याख्यायैवं चारभ्यो वर्ज्यश्चापि त्रिदोषजः ॥ एतत्कर्म समाख्यातं सर्वेषामनुपूर्वशः ॥ ३५ ॥

आगंतुक शल्यनिमित्त उन्मार्गी भगंदरमें वैद्य नाडीको शस्त्रसे छेदकर जाम्बोष्ठ नामक शस्त्रको या सलाईको अग्निमें लाल करके उस व्रणको बहुत सावधानीसे जलादेवे और ऐसा यत्न करे कि, जिससे कीडे नष्ट होजावें और शल्य निकल जावे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ इस भगंदरको और सन्निपातके शंबूकावर्तको पहले असाध्य कहकर फिर यत्न करे (क्योंकि इनमें सिद्धि होवे भी और नहीं भी होवे) यह क्रिया सब भगंदरोंकी क्रमपूर्वक वर्णन की है ॥ ३५ ॥

शस्त्रवेदनाकी शांति ।

एषां तु शस्त्रपतनाद्वेदना यत्र जायते ॥
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते ॥ ३६ ॥

उनमें शस्त्रके लगनसे जहां वेदना होती है वहां उसकी शांतिके लिये गरम २ अणुतैलसे परिषेक करे (तो शीघ्र वेदना शांत होवे) ॥ ३६ ॥

स्वेदविधि ।

वातघ्नौषधसंपूर्णां स्थालीं छिद्रशराविकाम् ॥ स्नेहाभ्यक्तगुदस्तं-

(श्लो० ३३ । ३४)-अनयोः श्लोकयोरन्वयः अग्रिमतृतीयश्लोकस्याद्यपदेन सह कर्तव्य इति ।

सामध्यासीत सबाष्पंकाम् ॥ ३७ ॥ नाड्या वास्याहरेत्स्वेदं शयानस्य रुजापहः ॥ उष्णोदकेऽवगाह्यो वा तथा शाम्यति वेदना ॥३८॥

वातनाशक द्रव्यों (अरंड आदि) को मटकेमें भर अग्निपर रख ऊपर मलसा ढके मलसेमें १ छेद करे फिर रोगीकी गुदापर तेल चुपडकर उस छिद्रकी वाफ लगावे ॥ ३७ ॥ अथवा उस मलसेके छिद्रपर नली लगाकर सोये हुए रोगीके गुदस्थानको स्वेद करावे अथवा उसे गरम जलकी भरी हुई नांदमें बिठाकर स्नान करावे इनसे वेदना शांत होजाती है ॥ ३८ ॥

कदलीमृगलोपाकप्रियकाजिनसंभृतान् ॥ कारयेदुपनाहांश्च शाल्वणादीन्विचक्षणः ॥३९॥ कटुत्रिकं वचाहिंगुलवणान्यथ दीप्यकम् ॥ पाययेच्चाम्लकौलत्थसुरासौवीरकादिभिः ॥ ४० ॥

कदलीमृग (एक भांतिका मृग), लोपाक (लोमडी), प्रियक (विचित्र मृग) (डल्हन अजगर लिखते हैं) इनके चर्मसे उपनाह (स्वेद) करे अथवा शाल्वण (सालन) से चतुर वैद्य उपनाह करे ॥ ३९ ॥ और त्रिकटु, वच, हींग, पांचों लवण और अजमोद इन्हें धान्याम्ल, कुलथीके मद्य, सुरा तथा सौवीरके साथ पिलावे ॥ ४० ॥

भगंदरशोधनवर्ग ।

ज्योतिष्मती लांगलकी श्यामा दंती त्रिवृत्तिलाः ॥ कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका ॥ कासीसकांचनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते ॥ ४१ ॥

मालकांगनी, कलहारी, श्यामा, निशोथ, दंती (जमालगोटेकी जड), सपेद निशोथ, तिल, कूट, शताह्वा (शतपुष्पा या शतावरी), गोलोमी (दूर्वा), तिल्वक (लोध), गिरिकर्णिका (अपराजिता), कसीस और सुवर्णक्षीरी (चोक) यह वर्ग कषायादिसे उपयोग किया हुआ भगंदरका शोधन करनेवाला है ॥ ४१ ॥

उत्सादन ।

त्रिवृत्तिला नागदंती मंजिष्ठा पयसा सह ॥
उत्सादनं भवेदेतत्सैंधवक्षौद्रसंयुतम् ॥ ४२ ॥

(श्लो० ३९) कदलीमृगः पूर्वदेशे प्रायशः शबलो दृष्टः स तु बृहत्तमविडालसमो व्याघ्राकारो बिलेशयः। लोपाकः लागलकः शृगालभेदः लोमडी इति प्रसिद्धः (नि. सं.)। प्रियकः डल्हनमते तु अजगरप्रायः। वाचस्पत्ये तु विचित्रमृगः स एवात्र युक्तः ॥

निशोथ, तिल, नागदंती, मँजीठ इन्हें दुग्धमें पीस सैंधानमक और शहत, मिलाकर लेप करनेसे (भगंदरका) नीचा व्रण उभरकर समान होजाता है ॥ ४२ ॥

रसांजनं हरिद्रे द्वे मंजिष्ठा निम्बपल्लवाः ॥
त्रिवृत्तेजोवतीदंतीकल्को नाडीव्रणापहः ॥ ४३ ॥

रसवंती, दोनों हलदी, मँजीठ, निंबके पत्ते, निशोथ, तेजोवती, दंती इनका कल्क नाडीव्रण (नासूर) को नष्ट करता है ॥ ४३ ॥

कुष्ठं त्रिवृत्तिलादंतीमागध्यः सैंधवं मधु ॥
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद्व्रणशोधनम् ॥ ४४॥

कूठ, निशोथ, तिल, दंती, पीपल, सैंधानमक, शहत, हलदी, त्रिफला, नीलाथोथा ये व्रणके शोधनमें हित हैं ॥ ४४ ॥

भगंदरनाशक तैल ।

मागध्यो मधुकं लोध्रं कुष्ठमेला हरेणवः ॥ समंगा धातकी चैव सारिवा रजनीद्वयम् ॥४५॥ प्रियंगवः सर्जरसः पद्मकं पद्मकेसरम् ॥ सुधां वचां लांगलकीं मधूच्छिष्टं ससैंधवम् ॥४६॥ एतत्संभृत्य संभारान्तैलं धीरो विपाचयेत् ॥ एतद्वै गंडमालासु मंडलेष्वथ मेहिषु ॥ रोपणार्थं हितं तैलं भगंदरविनाशनम् ॥ ४७ ॥

पीपल, मुलेठी, लोध, कूट, इलायची, हरेणु (मटरके समान होती है), मँजीठ, धायके फूल, सारिवा, दोनों हलदी ॥ ४५ ॥ प्रियंगु, राल, पद्माख, कमलकेसर, थोहर, वच, कलहारी, मोम, सेंधानोन ॥ ४६ ॥ इन सबको लेकर धीर वैद्य तैल साधन करे वह तैल गंडमाला, मण्डल और मेहपिडिका इनके रोपणके लिये हित है तथा भगंदरको नाश करता है ॥ ४७ ॥

(वक्तव्य) इसमें राल, मोम, सेंधानमक इनके सिवाय सबका क्काथ कर उसमें तैल पकावे और राल, मोम, नमक ऊपरसे डाले ॥

न्यग्रोधादिगणश्चैव हितः शोधनरोपणे ॥ तैलं घृतं वा तत्पकं भगंदरविनाशनम् ॥४८॥ त्रिवृद्दंतीहरिद्रार्कमूलं लोहाश्वमारकौ ॥ विडंगसारं त्रिफला स्नुह्यर्कपयसी मधु ॥४९॥ मधूच्छिष्टसमायुक्तैस्तैलमेतैर्विपाचयेत् ॥ भगंदरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः ॥ ५० ॥

(श्लो० ४७) मेहिषु मेहपिडिकासु इत्यभिप्रायः । (श्लो० ४९) लोहम् अगुरु (नि० स०)

न्यग्रोधादि गणभी भगंदरके शोधन और रोपणमें हित है और इस गणमें पकाया हुआ तेल अथवा घृत भी भगंदरनाशक है ॥ ४८ ॥ निशोथ, दंती, हलदी, आकडेकी जड, लोह (अगर), कनेर, विडंग, त्रिफला, थोहर और आकडेका दूध, शहत ॥ ४९ ॥ इनमें मोम मिलाकर इनसे तैल साधन करे यह तेल भगंदरके नष्ट करनेमें विशेष कर योजना करे ॥ ५० ॥

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलयूं हयमारकम् ॥ सुधां वचां लांगलकीं सप्तपर्णं सुवर्चिकाम् ॥ ५१ ॥ ज्योतिष्मतीं च संभृत्य तैलं धीरो विपाचयेत् ॥ एतद्धि स्यंदनं तैलं भृशं दद्याद्भगंदरे ॥ ५२ ॥ शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा ॥ द्विव्रणीयमवेक्षेत व्रणावस्थासु बुद्धिमान् ॥ ५३ ॥

चित्रक, आक, निसोथ, पाटा, कटूमर, गूलर, कनेर, थोहर, वच, कलहारी, सातला, सज्जी ॥ ५१ ॥ मालकांगनी इन्हें इकट्ठा करके इनमें तैल पकावे यह स्यंदन (चुवानेवाला) तेल है इसे भगंदरोंमें अवश्य लगाना चाहिये ॥ ५२ ॥ यह तैल शोधन, रोपण और सवर्ण करनेवाला है तथा व्रणोंकी अवस्थामें बुद्धिमान् वैद्यको द्विव्रणीयचिकित्सित अध्याय देखकर उसके विधानसे क्रिया करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

भगंदरयंत्र ।

छिद्रार्द्धमूर्द्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयंत्रस्य बुद्धिमान् ॥
ततो भगंदरे दद्यादेतदर्द्धेन्दुसंनिभम् ॥ ५४ ॥

अर्शोयंत्रका विधान पहले कहचुके हैं उसके छिद्रके ऊपरसे उसका ओष्ठ दूरकर देनेसे भगंदर यंत्र आधे चंद्रमाके आकारका होजाताहै इसेही भगंदरमें लगाना चाहिये ॥ ५४ ॥

भगंदरमें कुपथ्य ।

व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च ॥
संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः ॥ ५५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

भगंदरका व्रण अच्छा हो जानेपर भी एक वर्ष पर्यंत व्यायाम (परिश्रम दौडना आदि) मैथुन, क्रोध, घोडे, ऊंट आदि पशुओंकी पीठकी सवारी और गरिष्ठ भोजन इन्हें भगंदरका रोगी त्याग देवे ॥ ५५ ॥

इति पण्डितमुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ९.

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अब यहांसे अगाड़ी हम कुष्ठकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

कुष्ठरोगका हेतु ।

विरुद्धाध्यशनासात्म्यवेगविघातैः स्नेहादीनां चायथारम्भैः पापक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषो भवति ॥ १ ॥

विरुद्ध भोजन, अध्यशन (पहले भोजनके विना पचे भोजन करने) तथा जो प्रकृति देश और कालके अनुकूल न हो ऐसा भोजन करनेसे, वेगोंके रोकनेसे, अयथोचित स्नेहपानादि करनेसे, पापक्रियासे और पूर्वजन्मार्जित कर्मयोगसे त्वचामें दोष हो जाता है (उसे कुष्ठ कहते हैं) ॥ १ ॥

कुष्ठमें अपथ्य ।

तत्र त्वग्दोषी मांसवसादुग्धदधितैलकुलत्थमाषनिष्पावेक्षुविकाराम्लविरुद्धाध्यशनाजीर्णविदाह्यभिष्यंदीनि दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत् ॥ २ ॥

त्वचारोगका रोगी मांस, चरबी, दूध, दही, तैल, कुलथी, उडद, निष्पाव, (राजमाप), इक्षुके विकार (गुडादि), खटाई, विरुद्धभोजन, अध्यशन, अजीर्ण, विदाही, अभिष्यंदी पदार्थ त्याग देवे तथा दिनका सोना और मैथुन इन्हें भी छोड दे ॥ २ ॥

कुष्ठमें पथ्य ।

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोरदूषश्यामाकोद्दालकादीनन्नान्भुंजीत मुद्गाढक्योरन्यतरस्य यूषेण सूपेन वा निंबपत्रारुष्करव्यामिश्रेण मंडूकपर्ण्यवल्गुजाटरूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिःसिद्धैः सर्षपतैलसिद्धैर्वा तिक्तवर्गेण वाभिहितेन ॥ ३ ॥ मांससात्म्याय वा जांगलमांसममेदस्कं वितरेत्तैलं वज्रकमभ्यंगार्थे आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे पानपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषायमित्येष आहाराचारविभागः ॥ ४ ॥

शाली, षष्टिक (ये दोनों चावल होते हैं), जौ, गेहूं, कोरदूषक (कोदों), शामक,

(वा० ४) कुष्ठे मांसनिषेधेपि मांससात्म्याय मेदोरहितं जांगलमांसं स्वभावतो वितरेत् । वज्रकं सप्तपर्णीकरजकेत्यादिकम् (इति डल्हनः) अथवा वज्रकनामकं तैलं यदग्रे वक्ष्यते तत् ।

उद्दालक (वनकोदों) ये पुराने भोजन करना । मूँग या अरहडमेंसे किसीके यूपसे या सूप (दालसे) मिलाकर भोजन करना और निंबके पत्र और शुद्ध भिलावें मिलाकर भोजन करना । मंडूकपर्णी (ब्राह्मीभेद), बावची, अडूसा तथा रूपिकापुष्प (आकके फूल) इन्हें घृतमें सिद्ध करके अथवा सरसोंके तेलमें सिद्ध करके अथवा तिक्तवर्ग (निंबादि) के संग भोजन करना चाहिये ॥३॥ और मांस खानेवालोंको जंगली जीवोंका चरबीरहित मांस खानेको देवे तथा मालिशके लिये वज्रतैल देवे और उत्सादनके लिये आरग्वध आदिका क्वाथ देवे तथा पीने, परिषेक करने और न्हाने आदिके लिये खदिरका क्वाथ देवे कुष्ठके रोगियोंके लिये यह आहार और आचारका विभाग कहा गया ॥ ४ ॥

कुष्ठकी चिकित्साका क्रम ।

तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत । तत्र त्वक्प्राप्ते शोधनालेपनानि । शोणितप्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनानि । मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनारिष्टमन्थप्राशाः । चतुर्थं कर्मगुणप्राप्तं याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च तत्र संशोधनाच्छोणितावसेचनाच्चोर्ध्वं भल्लातशिलाजतुगुग्गुलवगुरुतुवरकखदिरासनायस्कृतिविधानमासेवेत । पंचमं नैव चोपक्रमेत् ॥ ५ ॥

कुष्ठके पूर्वरूपमें दोनों तरफसे शोधन (वमन, विरेचन) करावे और जब त्वचामें प्राप्त हो तब शोधन और लेपन करावे । रुधिरमें पहुँच जानेपर शोधन, लेपन, क्वाथपान तथा शिरामोक्ष करावे । मांसगत होनेपर शोधन, लेपन, क्वाथपान, शिरामोक्ष, अरिष्ट और मन्थ सेवन करना । चतुर्थ अर्थात् मेदोगत कुष्ठ जो कर्मके गुणसे प्राप्त होताहै वह याप्य है और आत्मवान् (परहेजगार) और संविधानवान् (धनपात्र तथा आदमियोंवाले) को याप्य है (नहीं तो असाध्य समझिये) इसमें शोधन और शिरामोक्षके अतिरिक्त भिलावें, शिलाजीत, गुग्गुलु, अगुरु, तुवरक (देखो प्रमेहपिडिका), खदिर, विजयसार और अयस्कृति (लोहसेवन) आदिका उपयोग करना चाहिये । और पांचवें (अस्थिगत) कुष्ठको (असाध्य जानकर उसकी) चिकि-

---

(वा० ५) चतुर्थं चतुर्थधातुगत मेदोगतमित्यर्थः । कर्मगुणप्राप्तं प्राक्कृतकर्मणो गुणात् प्राप्तमिति । अथवा कुष्ठस्य कर्माणि अंगुलीपातनादीनि गुणाश्च दुर्गंधादयः तैः प्राप्तमिति । तत्तु आत्मवतः सविधानवतो याप्यमन्यथा त्वसाध्यमिति भावः ।

त्सा न करे (इससे यहभी प्रयोजन है कि कुष्ठ मज्जगत होनेसे परम असाध्य मृत्युकारक होताहै) ॥ ५ ॥

वातकुष्ठादिककी चिकित्सा।

तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत् । मेषशृंगीश्वदंष्ट्राशार्ङ्गेष्टागुडूचीद्विपंचमूलीसिद्धं तैलं घृतं वा वातकुष्ठिनां पानाभ्यंगयोर्विदध्यात् ॥ ६ ॥

पहले कुष्ठरोगीको स्नेहपान करावे फिर मेढासींगी, गोखरू, शार्ङ्गेष्ठा (काकतिक्ता), गिलोय, दशमूल इनसे सिद्ध किये तैल अथवा घृत वातजकुष्ठ रोगवालेको पीने और मलनेको देवे ॥ ६ ॥

धवाश्वकर्णककुभपलाशपिचुमर्दपर्पटकमधुकरोध्रसमंगासिद्धं सर्पिः पित्तकुष्ठिनाम् ॥ ७ ॥ प्रियालशालारग्वधनिंबसप्तपर्णचित्रकमरिचवचाकुष्टसिद्धं श्लेष्मकुष्ठिनाम् ॥ ८ ॥

पित्तकुष्ठवालेको धव, अश्वकर्ण, अर्जुन, ढाक, नींब, पित्तपापडा मुलेठी, लोध, समंगा, लजालू या मँजीठ इनसे सिद्ध किया घृत पीने और मलनेको देवे ॥ ७ ॥ कफकुष्ठवालेको चिरोंजी, शाल, किरमाल, नींब, सप्तपर्ण, चित्रक, मिरच, वच, कूट, इनसे सिद्ध किया हुआ घृत देवे ॥ ८ ॥

भल्लातकाभयाविडंगसिद्धं वा सर्वेषाम् । तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति ॥ ९ ॥

भिलावाँ, हरीतकी, विडंग इनसे सिद्ध किया घृत अथवा तैल तथा तुवरक (पश्चिम समुद्रके किनारे प्रसिद्ध वृक्षविशेष) का तैल या भिलावेंका तैल सब प्रकारके कुष्ठोंमें प्रायः हित है ॥ ९ ॥

महातिक्तकघृत।

सप्तपर्णारग्वधातिविषापाठाकटुरोहिण्यमृतात्रिफलापटोलपिचुमर्दपर्पटकदुरालभात्रायमाणामुस्ताचंदनपद्मकहारिद्रोपकुल्याविशालामूर्वाशतावरीसारिवेंद्रयवाटरूषकषड्ग्रंथामधुकभूनिम्बगृष्टिका इति समभागाः कल्कः स्यात् कल्काच्चतुर्गुणं सर्पिः प्रक्षिप्य तद्द्विगुणो धात्रीफलरसस्तच्चतुर्गुणा आपस्तदैकध्यं समालोड्य विपचेदेतन्महातिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वररक्तपित्तहृद्रोगोन्मादा-

पस्मारगुल्मपिडिकाऽसृग्दरगलगंडगंडमालाश्लीपदपांडुरोगविसर्पषाण्ढ्यकंडूपामादींश्च शमयेदिति ॥ १० ॥

सप्तपर्ण, किरमाल, अतीस, पाठा, कुटकी, गिलोय, त्रिफला, पटोलपत्र, नींब, पित्तपापडा, जवासा, त्रायंती, नागरमोथा, चंदन, पद्माख, हलदी, पीपल, इंद्रायण, मूर्वा, शतावरी, सारिवा, इंद्रजव, अडूसा, वच, मुलेठी, चिरायता, गृष्टिका (वाराही कंद या काश्मरी) इन सबको समान भाग लेकर कल्कसे चौगुना घृत डाले, घृतसे दुगुना आंवलेका रस और इससे चौगुना जल इन सबको इकट्ठाकर मथन करके पकालेवे (जब घृत शेष रहे तब उतारले) यह महातिक्त नामक घृत कुष्ठ, विषमज्वर, रक्तपित्त, हृदयरोग, उन्माद, मृगी, गुल्म, फुन्सी, प्रदर, गलगंड, गंडमाला, श्लीपद, पांडुरोग, विसर्प, नपुंसकता, सूखी और गीली खुजली इतने रोगोंको नष्ट करता है ॥ १० ॥

तिक्तकघृत ।

त्रिफलापटोलपिचुमंदाटरूषककटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणापर्पटकाश्चैतेषां द्विपलिकान्भागाञ्जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भैषज्यान्यर्द्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेंद्रयवचंदनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेदेतत्तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपांडुरोगविसर्पषाण्ढ्यशमनं चेति ॥ ११ ॥

त्रिफला, पटोलपत्र, निंब, अडूसा, कुटकी, जवासा, त्रायमाण, पित्तपापडा इन सबको दो दो पल ले द्रोणभर जलमें डाल क्काथ करे जब चतुर्थ भाग शेष रहे तब उतार ले और आगे लिखी औषध आधे आधे पल लेकर पीसके कल्क बनावे त्रायमाण, नागरमोथा, इंद्रजौ, चंदन, चिरायता, पिप्पली इस कल्क और पूर्वोक्त काथको एक प्रस्थ घृतमें मिलाकर पकावे पक जानेपर यह तिक्तक नाम घृत होवे यह कुष्ठ, विषमज्वर, गुल्म, बवासीर, ग्रहणी, शोथ, पांडुरोग, विसर्प, नपुंसकता इन्हें नष्ट करता है ॥ ११ ॥

कुष्ठनाशक प्रलेप ।

अतोन्यतमेन घृतेन स्निग्धस्विन्नस्यैकां द्वे तिस्रश्चतस्रः पंच वा शिरा विध्येन्मंडलानि चोत्सन्नान्यवलिखेदभीक्ष्णं प्रच्छयेद्वा॥१२॥

समुद्रफेनशाकगोजीकाकोदुंबरिकापत्रैर्वावघृष्यालेपयेल्लाक्षासर्जरसरसांजनप्रपुन्नाडावल्गुजतेजोवत्यश्वमारकार्ककुटजारेवतमूलकल्कैर्मूत्रपिष्टैः पित्तपिष्टैर्वा ॥ १३ ॥ स्वर्जिकातुत्थकासीसविडंगागारधूमचित्रककटुकसुधाहरिद्रासैंधवकल्कैर्वा ॥१४॥ एतान्येवावाप्य क्षारकल्पेन निस्रुते पलाशक्षारे ततो विपाच्य फाणितमिव संजातमवतार्य लेपयेत् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त घृतोंमेंसे किसी एकसे स्निग्धकर स्वेदादिलाके एक, दो, तीन, चार या पांच (जितनी उचित हों उतनी) शिराओंको वेधन करे तथा जो चकत्ते ऊपरको उभरे हुए हों उन्हें खुरच देवे या वहां पछने लगा दे ॥ १२ ॥ या समुद्रफेन, सागोनके पत्र, गोजिह्वा तथा कठगूलर (अंजीर) के पत्तेसे मंडलको घिसकर लाख, राल, रसोत, चकरोंद, बावची, तेजोवती, कनेर, आक, कुडा, आरेवतमूल (किरमालाकी जड) इनका कल्क गोमूत्रमें पीसकर या पित्तेमें पीसकर लेप करे ॥ १३ ॥ अथवा सज्जीखार, नीलाथोथा, कसीस, बिडंग, धमासा, चित्रक, कटुकी, थोहर, हलदी, सैंधानमक इनके कल्कका लेप करे ॥ १४ ॥ अथवा इन्हीं द्रव्योंको ढाकके क्षारमें साधन करते समय डालकर पकावे और फाणित होनेपर उतार ले और लेप करे ॥ १५ ॥

ज्योतिष्कफललाक्षामरिचापिप्पलीसुमनःपत्रैर्वा॥हरितालमनःशिलार्कक्षीरतिलशिग्रुमरिचकल्कैर्वा । स्वर्जिकाकुष्ठतुत्थकुटजचित्रकविडंगमरिचमनःशिलाकल्कैर्वा । हरीतकीकरंजिकाविडंगसिद्धार्थकलवणरोचनावल्गुजहरिद्राकल्कैर्वा ॥ १६ ॥

ज्योतिष्कफल (मेथीदाने या काकमर्दनिका फल), लाख, मिरच, पीपल, सुमन (चमेली) के पत्ते इनका लेप करे अथवा हरिताल, मैनसिल, आकका दूध, तिल, सोहँजना, स्याह मिरच इनके कल्कका लेप करे या सज्जीखार, कूट, नीलाथोथा, कुडा, चित्रक, विडंग, मिरच, मैनासिल इन्हें पीसकर लेप करे अथवा हरड, करंज, विडंग, सुपेद सरसों, सैंधानमक, गोरोचन, बावची, हलदी इन्हें पीसकर लेप करे ॥ १६ ॥

श्वित्र और दद्रुकी चिकित्सा ।

सर्वे कुष्ठापहाः सिद्धा लेपाः सप्त प्रकीर्तिताः ॥ वैशेषिकानतस्तूर्द्ध्वं

(वा०१३) शाकः महाखरपत्र । गोजी गोजिह्वा । खरपत्रत्व मडलघर्षणार्थम् । आरेवतको राजवृक्षः ।

दद्रुश्वित्रेषु मे शृणु ॥ १७ ॥ लाक्षा कुष्ठं सर्षपाः श्रीनिकेतं रात्रिर्व्योषं चक्रमर्दस्य बीजम् ॥ कृत्वैकस्थं तक्रपिष्टः प्रलेपो दद्रूष्क्तो मूलकाद्बीजयुक्तः ॥ १८ ॥ सिंधूद्भूतं चक्रमर्दस्य बीजं इक्षूद्भूतं केशरं तार्क्ष्यशैलम् ॥ पिष्टो लेपोऽयं कपित्थाद्रसेन दद्रूस्तूर्णं नाशयत्येष योगः ॥ १९ ॥ हेमक्षीरी व्याधिघातः शिरीषो निंबः सर्जो वत्सकः साजकर्णः ॥ शीघ्रं तीव्रां नाशयंतीह दद्रूः स्नानालेपोद्धर्षणेषु प्रयुक्ताः ॥ २० ॥

कुष्ठके नाश करनेवाले सब सात सिद्ध लेप वर्णन किये जाचुके हैं इसके अगाडी अब विशेषकर दद्रु (दाद) और श्वित्र (सुपेद कुष्ठ) के लेपादि सुनो ॥ १७ ॥ लाख, कूट, सरसों श्रीनिकेत (श्रीवास सरल वृक्ष), हलदी त्रिकटु, पवाँडके बीज इन्हें इकट्ठाकर मट्ठेमें पीसे और मूलीके बीजभी पीसकर मिलादे इनका लेप करनेसे दद्रु (दाद) नष्ट होजाते हैं ॥ १८ ॥ सैंधा नमक, पवांडके बीज, गुड, केसर, रसौत इन्हें कैथके रसमें घोटकर लेप करे यह योग शीघ्र दादको नष्ट कर देवे ॥ १९ ॥ अथवा चोक, किरमाल, सिरस, नींब, राल, कुडा, अजकर्ण (शाल) इन्हें तक्र वा कैथके रसमें पीसकर लेप करनेसे या इनके काथसे स्नान करने (दद्रु धोने) से या इन्हें कडा पीसकर दादपर रगड देनेसे दाद नष्ट होजाते हैं ॥ २० ॥

भद्रासंज्ञोदुंबरीमूलतुल्यं दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलय्वाः ॥ सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटांश्वित्रे पुंडरीके च कुर्यात् ॥ २१ ॥ द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः ॥ पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन क्षारेणाक्तः श्वित्रमेको निहंति ॥ २२ ॥

भद्रा संज्ञक उदुंबरी (बडी कठगूलर) की जडके समान मलयू (अञ्जीर) की जड खोदकर कुचलले और इनका काथ कर लेवे इसे उष्णकाल (गरमी) में निवाया २ पीवे तो श्वित्र (सुपेद दाग) तथा पुंडरीक कुष्ठमें फोडे पैदा हो जायंगे ॥ २१ ॥ जब फोडे हो जायँ और फूट जायँ तब यह क्रिया करे कि द्वीपी (चीते) के चर्म या

(श्लो० १८) श्रीनिकेतन श्रीवासः सरलवृक्षः (इति शब्दस्तोमः) । डल्हनस्तु श्रीनिकेतन नवनीतामित्याह परंतु तदप्रयुक्त प्रतीयते । (श्लो० १९) तार्क्ष्यशैल रसाञ्जनम् । (श्लो० २०) हेमक्षीरीत्यादीना स्नाने तु कषायो गृह्यते लेपने कल्कः घर्षणे चूर्णम् । हेमक्षीरी चोक इति डल्हनस्तु कंकुष्ठमाह । (श्लो० २२) द्वैपं व्याघ्रचर्म । पूतिः कीटः सस्यादः वर्षाकाले कर्बुरकः ॥

हाथीके चर्मको जलाकर उसकी काली भस्मको तैलमें मिलाकर लेप करदे इससे सुपेद दाग नष्ट हो जाते हैं अथवा पूतिकीट (कातरा एक भांतिका रोमदार कीडा खेती खानेवाला होताहै) उसे किरमालेकी राखमें मिलाकर लगावे यह एक ही प्रयोग श्वित्रको नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा वैभीतकं तैलमथ द्वितीयम् ॥
एतत्समस्तं मृदितं प्रलेपाच्छ्वित्राणि सर्वाण्यपहंति शीघ्रम् ॥
॥ २३ ॥ अर्धोद्धृतोये सुमतिस्त्रुतस्य क्षारस्य कल्पेन तु सप्तकृत्वः ॥
तैलं शृतं तेन चतुर्गुणेन श्वित्रापहं म्रक्षणमेतदग्र्यम् ॥ २४ ॥

काले सर्पको जलाकर उसकी काली राख और दूसरा बहेडेका तैल इन दोनोंको खूब मिलाकर इसका लेप करनेसे सब प्रकारके श्वित्र (सुपेद कुष्ठ) शीघ्र नाश हो जातेहैं ॥ २३ ॥ अथवा पूर्वोक्त काले सर्पकी राखमें आधा जल डाल २ कर क्षारकी रीतिसे ७ वार बुद्धिमान् वैद्य चुवा लेवे फिर उस जल चुए हुएसे चतुर्थांश तैल मिलाकर सिद्ध करले तैलमात्र शेष रहे हुएको श्वित्रपर लगावे यह लेप सबमें प्रधान है ॥ २४ ॥

घृतेन युक्तं प्रपुनाडबीजं कुष्ठं च यष्टीं मधुकं च पिष्ट्वा ॥ श्वेताय दद्याद्गृहकुक्कुटाय चतुर्थभक्ताय बुभुक्षिताय ॥२५॥ तस्योपसंगृह्य च तत्पुरीषमुत्पाचितं सर्वत एव लिंपेत् ॥ अभ्यन्तरं मासमिमं प्रयोगं प्रयाजयच्छ्वित्रमथो निहंति ॥ २६ ॥

पवाँडके बीज, कूट, मुलेठी इन्हें घृतमें पीस (गोलियां बनाकर) पाले हुए सुपेद मुरगेको जो चार समयका भूंखा हो अथवा जिसे भूंखसे चौथाई खिलायाहुआ भूंखा हो उसे भरपेट वे गोलियां खिलावे ॥ २५ ॥ फिर उसकी वह वीट ले लेवे और उसे पकायेहुए तथा फोड डाले हुए श्वित्रपर लगावे इससे १ महीनाके भीतर अंतर्गत श्वित्र नष्ट होजाता है ॥ २६ ॥

क्षारे सुदग्धे गजलेण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्रुते च ॥ द्रोण-प्रमाणे दशभागयुक्तं दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजस्य ॥२७॥ एतद्यदा

(श्लो० २४) म्रक्षणं लेपनम् ॥

(श्लो० २५) चतुर्थभक्ताय एकाहमुपोषिताय द्वितीयेऽहनि सायम् । (इति डल्लनः) अन्ये चतुर्थ-भक्ताय चतुर्थांशभक्ताय इति व्याख्यानयति अस्मिन् पद्ये प्रपुन्नाडस्थाने प्रपुनाड इत्यार्षः ।

चिक्कणतामुपैति तदा समस्ता गुटिका विदध्यात् ॥ श्वित्रं प्रलिंपेदथ संप्रघृष्य तथा व्रजेदाशु सवर्णभावम् ॥ २८ ॥

गजलेंडज (गजपीपली अथवा जलपीपली) को जलाकर उसके क्षारको हाथीके मूत्रमें घोलकर टपका ले फिर इस एक द्रोण गजमूत्रमें दशवां भाग बावचीके बीज पीसके डाल दे और पकावे ॥ २७ ॥ जब यह पकके गाढ और चिकना होजावे तब इसकी गोलियां बना ले फिर इन्हें घिसकर श्वित्रपर लेप करे तो इससे त्वचाका रंग एकसा हो जाता है ॥ २८ ॥

कषायकल्पेन सुभाविता तु दलत्वचं चूतहरीतकीनाम् ॥ तां ताम्रदीपे प्रणिधाय धीमान्वर्त्तिं वटक्षीरसुभाविता तु ॥२९॥ आदीप्य तज्जातमसीं गृहीत्वा तां चापि पथ्यांभसि भावयित्वा ॥ संम्रक्षितं तद्बहुशः किलासं तैलेन सिक्तं कटुना प्रयाति ॥ ३० ॥

आम्र तथा हरडेके पत्ते और छालका क्वाथ कर उसमें बत्तीको भिगो २ कर सुखाले फिर वडके दूधमें भिगोकर सुखाले उस बत्तीको तांबेके दीपकमें रखके जलावे ॥ २९ ॥ इससे हुआ काजल (स्याही) लेकर उसमें हरडेके जल (स्वरस) की भावना देवे फिर किलासकुष्ठ पर कडवा तेल चुपडकर ऊपरसे यह स्याही लगावे इससे किलास नष्ट होजाता है ॥ ३० ॥

आवल्गुजं बीजमथ्यं नदीजं काकाह्वानोडुंबरी या च लाक्षा ॥ लौहं चूर्णं मागधी तार्क्ष्यशैलं तुल्याः कार्याः कृष्णवर्णास्तिलाश्च ॥ ॥ ३१ ॥ वर्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी ॥ लेपात्पित्तं शैखिनं श्वित्रहारि ह्रीबेरं वा दग्धमेतेन युक्तम् ॥ ३२ ॥

बावचीके बीज और तापीनदीकी सुवर्णमाखी, काकोदुंबर (अंजीर), लाख, लोहचून, पीपल, रसौत सबको समभाग और इन सबके समान काले तिलोंको लेकर गौके पित्तमे पीसकर बत्ती बना ले इसका लेप करनेसे श्वित्रवालोंका श्वित्र (सुपेद कुष्ठ) नष्ट होता है अथवा मोरके पित्तेमें ह्रीबेरकी राख मिलाकर लगानेसे भी श्वित्र नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

तुत्थालकटुकाव्योषसिंहार्कहयमारकाः ॥ कुष्ठावल्गुजभल्लातक्षीरिणीसर्षपाः स्नुही ॥ तिल्वकारिष्टपीलूनां पत्राण्यारग्वधस्य वा ॥३३॥

वीजं विडंगाश्वहंत्रोर्हरिद्रे बृहतीद्वयम् ॥ आभ्यां श्वित्राणि योगाभ्यां लेपान्नश्यंत्यशेषतः ॥ ३४ ॥

नीलाथोथा, हरताल, कुटकी, त्रिकुटा, रक्त सोहँजना, आक, कनेर, कूट, बावची, भिलावाँ, क्षीरिणी (अर्कपुष्पी), सरसों, थोहर, तिल्वक (लोध), नीप और पीलू, अमलतासके पत्ते ॥ ३३ ॥ अथवा विडंगके बीज, कनेर, दोनों हलदी, दोनों कटेली इन दोनों लेपोंसे श्वित्र अवश्य नष्ट होजाता है ॥ ३४ ॥

नीलघृत ।

वायसीफल्गुतिक्तानां शतं दत्त्वा पृथक्पृथक् ॥ द्वे लोहरजसः प्रस्थे त्रिफलात्र्याढकं तथा ॥ ३५ ॥ त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावद्भागौ द्वावसनादपि ॥ शिष्टे च विपचेद्भूय एतैः श्लक्ष्णप्रपेषितैः ॥३६ ॥ कल्कैरिंद्रयवव्योषत्वग्दारुचतुरंगुलैः ॥ पारावतपदीदंतीवाकुची-केशराह्वयैः ॥ ३७ ॥ कंटकार्या च तत्पक्कं घृतं कुष्ठिषु योजयेत् ॥ दोषधात्वाश्रितं पानादभ्यंगात्त्वग्गतं तथा ॥ अप्यसाध्यं नृणां कुष्टं नाम्ना नीलं नियच्छति ॥ ३८॥

काकमाची, कठूमर, कुटकी इनको सौ सौ प्रस्थ ले, लोहचूर्ण दो प्रस्थ, त्रिफला, तीन आढक ले ॥ ३५ ॥ इन्हें तीन द्रोण जलमें पकावे, पकतेमें दो भाग विजयसार डाले फिर क्वाथ लेकर उसमें आगे लिखी वस्तु गाढी पीसकर डाले ॥ ३६ ॥ इंद्रजौ, त्रिकुटा, दालचीनी, देवदारु, किरमाला पारावतपदी, दंती, बावची, केसर ॥ ३७ ॥ कटेली और चतुर्थ भाग (काथसे) घृत डालकर पकावे सिद्ध होनेपर कुष्ठियोंको पीने तथा लगानेको यह घृत देवे इससे दोष और धातुवोंमें प्राप्त हुआ असाध्य कुष्ठ भी मनुष्योंका नाश होजाता है यह नील नामक घृत है ॥ ३८ ॥

महानीलघृत ।

त्रिफलात्वक्त्रिकटुका सुरसा मदयंतिका ॥ वायस्यारग्वधानां च तुलां कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥ ३९ ॥ काकमाच्यर्कवरुणदंतीकुटजचि-त्रकान् ॥ दार्वीनिदिग्धिकाभ्यां तु पृथग्दशपलं तथा ॥ ४० ॥ त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावत्षट्प्रस्थं परिशोषितम् ॥ शकृद्रसदधिक्षीरं

(श्लो०-३९) मदयंतिका नखादिरागजननी मेंदीति प्रसिद्धा (इति डल्लनः)। शब्दस्तोमस्तु मद-यंतिका वनमल्लिका इत्याह। वायसी काकोदुबरी।

मूत्राणां पृथगाढकम् ॥ ४१ ॥ तद्धृतस्य तत्साध्यं भूनिम्बव्योष-
चित्रकैः ॥ करंजफलनीलिकाश्यामावल्गुजपीलुभिः ॥ ४२ ॥
नीलिनीनिंबकुसुमैः सिद्धं कुष्ठापहं घृतम् ॥ म्रक्षणादंगसावर्ण्यं
श्वित्राणां जनयेन्नृणाम्॥भगंदरं कृमीनर्शो महानीलं नियच्छति४३

त्रिफला (हरडे, बहेडा, आमला), दालचीनी, सोंठ, मिरच, पीपल, तुलसी, मदयंतिका (मेंदी या मल्लिका), काकोदुम्बरी, किरमाला इन सबको एक एक तुला लेवे ॥ ३९ ॥ काकमाची, आक, वरुणा, दंती, कुडा, चित्रक, दारुहलदी, दोनों कटेली इन सबको दश दश पल लेवे ॥४०॥ इनको तीन द्रोण पानीमें पकावे जब छः प्रस्थ जल शेष रहे तब उतारले फिर इसमें गोबरका रस, दही, दूध एक एक आढक डाले और गोमूत्र भी आढक भर डाले ॥४१॥ तथा इतना इतनाही घृत डालदे और सिद्ध करते समय चिरायता, त्रिकुटा, चित्रक, करंजफल, नीलिका (नीली) काली-निसोथ, बावची, पीलू ॥ ४२ ॥ नीलिनी (कालादाना) नींबके फूल (पीसके) डालदे सिद्ध होनेपर यह महानील घृत श्वित्रकुष्ठवालेको मलनेसे त्वचाका रंग एकसा करदेताहै तथा भगंदर, कृमि और बवासीरको नष्ट कर देताहै ॥ ४३ ॥

(वक्तव्य) ये नील घृत और महानील घृत सुश्रुतसंहिताके सनातनीय नहीं हैं देखो टिप्पणी ।

मूत्रं गव्यं चित्रकव्योषयुक्तं सर्पिः कुंभे क्षौद्रयुक्तं स्थितं हि ॥
पक्षादूर्द्धं श्वित्रिभिः पेयमेतत्कुर्याच्चास्मिन्कुष्ठदिष्टं विधानम्॥४४॥
पूतीकार्कस्नुग्नरेंद्रद्रुमाणां मूत्रैः पिष्टाः पल्लवाः सौमनाश्च ॥ लेपः
श्वित्रं हंति दद्रूव्रणांश्च दुष्टान्यर्शांस्येषं नाडीव्रणांश्च ॥ ४५ ॥

गोमूत्र, चित्रक, त्रिकुटा और शहत इनको घृतके चिकने पात्र (घडे) में रखकर (मुँह बंद करदे) पंद्रह दिन पीछे निकालकर श्वित्रकुष्ठवाला (एकपल नित्य) पीवे और कुष्ठोक्त पथ्यापथ्य विधानसे रहे ॥ ४४ ॥ अथवा पूतिकरंज, आक, थोहर, किरमाला इनके पत्ते तथा चमेलीके पत्ते सबको मिला गोमूत्रमें पीसकर लेप करनेसे श्वित्र, दाद, व्रण और दुष्ट बवासीर तथा नाडीव्रण (नासूर) नष्ट होवें ॥ ४५ ॥

अस्मादूर्द्धं निःस्रुते दुष्टरक्ते जातप्राणं सर्पिषा स्नेहयित्वा ॥ तीक्ष्णै-
र्योगैश्छर्दयित्वा प्रगाढं पश्चाद्दोषं निर्हरेच्चाप्रमत्तः ॥ ४६ ॥

(श्लो० ३५ से ४३) अनार्षे नीलमहानीलघृते एते महावैद्याभ्यां जैजटगयदासाभ्यां व्याख्याते (इति निबंधसंग्रहः)

**दुर्वांतो वा दुर्विरिक्तोथवा स्यात्कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्तदेहः ॥ निःस-
दिग्धं यात्यसाध्यत्वमाशु तस्मात्कृत्स्नान्नि हरेत्तस्य दोषान् ॥४७॥
पक्षात्पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्मासान्मासात्स्रंसनं चापि देयम् ॥
स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात्त्रिरात्रात् ॥४८॥**

यदि इन साधारण क्रियाओंसे आराम न हो तो रोगीकी शिरा वेधन करावे और दुष्ट रुधिर निकलजानेपर जब कुछ ताकत आजावे तब घृतसे स्निग्ध करके तीक्ष्ण प्रयोगोंसे खूब वमन करावे फिर सावधानीसे शेष दोषोंको भी (विरेचनादिद्वारा) निकाले ॥ ४६ ॥ यदि वमन और विरेचनमें अयोग्यता होजावे (मल न गिरे) तो दोष ऊर्ध्वगत होकर देहमें व्याप्त होजाते हैं जिससे निस्संदेह कुष्ठी असाध्य होजाता है इसलिये उसके दोषोंको निर्मूल नष्ट करदेना चाहिये ॥ ४७ ॥ और फिर भी पक्ष पक्षके अंतरसे वमन कराते रहे और महीने महीनेके अंतरसे स्रंसन (रेचन) भी करावे तथा वर्षदिनमें दोवार शिरामोक्ष (फस्त) कराकर थोडा रुधिर निकलवादे और तीन तीन दिनके अंतरसे नास देते रहे जिससे ऊर्ध्वगामी मल छूटता रहे ॥ ४८ ॥

**पथ्यां व्योषं सेक्षुजातं सतैलं लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात् ॥
धात्रीपथ्याक्षोपकुल्याविडंगान्क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वावलिह्यात् ॥
॥ ४९ ॥ पीत्वा मासं वा पलांशां हरिद्रां मूत्रेणांतं पापरोगस्य
गच्छेत् ॥ एवं पेयश्चित्रकैः श्लक्ष्णपिष्टैः पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्र-
युक्ताः ॥ ५० ॥ तद्वत्ताक्ष्यं मासमात्रं च पेयं तेनाजस्रं देहमालेप-
येच्च ॥ आरिष्टत्वक्सप्तपर्णी च तुल्या लाक्षामुस्तं पंचमूल्यो हरिद्रा
॥५१॥ मंजिष्ठाक्षौ वासको देवदारुः पथ्यावह्नी व्योषधात्रीविडंगम् ॥
सामान्यांशं योजयित्वा विडंगैश्चूर्णं कृत्वा तत्पलोन्मानमश्नन् ॥५२॥**

हरडे, त्रिकुटा, गुड इन्हें तेलसे युक्तकर चाटनेसे कुष्ठ रोग नष्ट होजाता है तथा आंवला, हरड, बहेडा, विडंग, पीपल इन्हें शहत और घृत मिलाकर या कोई एक मिलाकर चाटे तो भी कुष्ठसे शीघ्र निवृत्ति होजाती है ॥ ४९ ॥ अथवा एक महीनेतक पलभर हलदीको गोमूत्रके संग नित्य पीनेसे पापरोग (कुष्ठ) का अंत होजाता है अथवा चित्रकको गाढा पीसकर गोमूत्रसे पीवे

(श्लो० ५०) पापरोगस्य कुष्ठस्य अंतं गच्छेत् ।

अथवा पीपलोंको गोमूत्रके संग पीवे तो कुष्ठ नष्ट होवे ॥ ५० ॥ इसी भांति रसौतको एक महीने पीवे और उसीको निरंतर देहपर लेपन करे अथवा नींबकी छाल, सातला, लाख, मोथा, दोनों पंचमूल, हलदी, मँजीठ, बहेडा, अडूसा, देवदारु, हरड, चित्रक, त्रिकुटा, आंवला इन सबको समान भाग और सबके समान विडंग लेकर चूर्ण करले इसे पलभर नित्य सेवन करनेसे कुष्ठ नष्ट होजाता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

कुष्ठाज्जन्तुर्मुच्यते त्रैफलं वा सर्पिर्द्रोणं व्योषयुक्तं च युंजन् ॥ गोमूत्रांबुद्रोणसिद्धेऽक्षपीडे सिद्धं सर्पिर्नाशयेच्चापि कुष्ठम् ॥५३॥ आरग्वधे सप्तपर्णे पटोले सवृक्षके नक्तमाले सनिंबे॥ जीर्णं पक्वं तद्धरिद्राद्वयेन हन्यात्कुष्ठं मुष्कके चापि सर्पिः ॥ ५४ ॥

त्रिफलाके घृतको त्रिकुटा युक्त करके द्रोणभर सेवन करनेसे मनुष्य कुष्ठव्याधिसे छट जाता है अथवा द्रोणभर गोमूत्र क्वाथमें सिद्ध की हुई अक्षपीड (यवतिक्ता) से सिद्ध किया हुआ घृत भी कुष्ठको नष्ट करता है ॥ ५३ ॥ अमलतास, सातला, पटोल, कुडा, करंज और नींब इनसे सिद्ध किया पुराना घृत कुष्ठनाशक है अथवा दोनों हलदियोंसे साधित तथा मुष्कक (घंटापारुली) से सिद्ध किया घृत भी कुष्ठनाशक है ॥ ५४ ॥

कुष्ठनाशक योग।

रोध्रारिष्टं पद्मकं रक्तसारः सप्ताह्वाक्षौ वृक्षको बीजकश्च ॥ योज्याः स्नाने दह्यमानस्य जंतोः पेया वा स्यात्क्षौद्रयुक्ता त्रिभंडी ॥५५॥ खादेत्कुष्ठी मांसपाते पुराणान्मुद्गान्सिद्धान्निम्बतोये सतैलान् ॥ निम्बक्काथं जातसत्त्वः पिबेद्वा क्वाथं वार्कालर्कसप्तच्छदानाम्॥५६॥ जंघेष्वंगेष्वश्वमारस्य मूलं लेपो युक्तः स्याद्विडंगैः समूत्रैः॥मूत्रैश्चैनं सेचयेद्भोजयेच्च सर्वाहारान्संप्रयुक्तान्विडंगैः ॥ ५७ ॥ कारंजं वा सार्षपं वा क्षतेषु क्षेप्यं तैलं शिग्रुकोशाम्रयोर्वा ॥ पक्वं सर्वैर्वा कटूष्णैस्सतिक्तैः शेषं च स्याद्दुष्टवत्संविधानम् ॥ ५८ ॥

(श्लो० ५३) गोमूत्राबु गोमूंत्रकषायः। अक्षपीडे यवतिक्तायाम्। (श्लो० ५४) आरग्वधे इत्यत्र शालिनीच्छंदसि तृतीयाक्षरे लघुत्वं चार्षम्। एवमेव द्वितीयपदेपि चाद्ये त्रयाणामक्षराणां लघुत्वं चार्षम्। जीर्णं पुराणम्। (श्लो० ५६) जातसत्त्वः सजातकृमिः। (श्लो० ५७) जंघेष्वंगेषु क्रिमिभिरिति शेषः। (श्लो० ५८) दुष्टवत् दुष्टव्रणवत्।

लोध, नींब, पलाश, रक्तसार (रक्तचंदन), सातला, बहेडा, कुडा, विजसार इनके ठंढे काथसे कुष्ठजनित दाहवालेको स्नान करावे तथा त्रिभंडी (निसोथ) के काथको मधुयुक्त पिलावे ॥ ५५ ॥ जिस कुष्ठीका मांस गलकर गिरने लगगया हो वह पुराने मूगोंको निंबके काथमें सिद्धकर तैलके संग खावे अथवा जिसके कीडे पडगये हों वह निंबका काथ पीवे अथवा आक, सुपेद आक और सातला इनका काथ पीवे ॥ ५६ ॥ जिसका अंग कीडोंने खालिया है वह कनेरकी जड पीसकर उसपर लगावे अथवा विडंगको गोमूत्रमें पीसकर लगावे और ऊपर गोमूत्रका सेचन करे और सब आहार विडंग युक्त करे ॥ ५७ ॥ कुष्ठके घावपर करंजका तेल अथवा सरसोंका तेल लगावे अथवा सोहँजना और कोशाम्रका तेल लगावे अथवा समस्त कटु, उष्ण और तिक्त द्रव्यों (मिरच, विडंग, निंबादि) से सिद्ध किया तैल लगावे और शेष सब विधान दुष्ट व्रणके समान करे ॥ ५८ ॥

वज्रतैल ।

सप्तपर्णकरंजार्कमालतीकरवीरजम् ॥ स्नुहीशिरीषयोर्मूलं चित्रकास्फोतयोरपि ॥ ५९ ॥ विषलांगलवज्राख्यकासीसालमनःशिलाः॥ करंजबीजंत्रिकटुस्त्रिफला रजनीद्वयम् ॥ ६० ॥ सिद्धार्थकान्विडंगानि प्रपुन्नाडं च संहरेत् ॥ मूत्रपिष्टैः पचेदेतैस्तैलं कुष्ठविनाशनम् ॥ एतद्वज्रकमभ्यंगान्नाडीदुष्टव्रणापहम् ॥ ६१ ॥

सातला, करंज, आक, मालती, कनेर, थोहर और सिरसकी जड, चित्रक, आस्फोत (सारिवा) ॥५९॥ विष (सींगिया), कलहारी, वज्राख्य (अभ्रक), कसीस, हरताल, मैनसिल, करंजके बीज, त्रिकुटा, त्रिफला, दोनों हलदी ॥ ६० ॥ सुपेद सरसों, विडंग, चकरोद इन्हें गोमूत्रमें पीसकर इनसे तैल पकावे यह वज्रतैल मलनेसे कुष्ठका नाश करता है और दुष्टव्रण और नाडीव्रण (नासूर) को भी अच्छा करता है ॥ ६१ ॥

महावज्रकतैल ।

सिद्धार्थकं करंजौ द्वौ द्वे हारिद्रे रसांजनम् ॥ कुटजश्च प्रपुन्नाडसप्तपर्णौ मृगादनी ॥ ६२ ॥ लाक्षा सर्जरसोर्कश्च सास्फोतारग्वधौ स्नुही ॥ शिरीषस्तुवराख्यस्तु कुटजारुष्करौ वचा ॥ ६३ ॥ कुष्ठं कृमिघ्नं मंजिष्ठा लांगली चित्रकं तथा ॥ मालती कटुतुम्बी च गंधाह्वा मूलकं तथा ॥ ६४ ॥ सैंधवं करवीरं च गृहधूमं विषं तथा ॥

कंपिल्लकं ससिंदूरं तेजोह्वातुत्थकाह्वये ॥ ६५ ॥ समभागानि सर्वाणि कल्कपेष्याणि कारयेत् ॥ गोमूत्रं द्विगुणं दद्यात्तिलतैलं चतुर्गुणम् ॥ ६६ ॥ कारंजं वा महावीर्यं सार्षपं वा महागुणम् ॥ अभ्यंगात्सर्वकुष्ठानि गंडमालाभगंदरान् ॥ ६७ ॥ नाडीदुष्टव्रणान्घोरान्नाशयेन्नात्र संशयः ॥ महावज्रकमित्येतन्नाम्ना तैलं महागुणम् ॥ ६८ ॥

सुपेद सरसों, दोनों करंज, दोनों हलदी, रसौत, कुडा, चकरांद (पँवाड), सातला, इंद्रायण ॥ ६२ ॥ लाख, राल, आक, सारिवा, किरमाला, थोहर, सिरस, तुवरी, इंद्रजौ, भिलावें, वच ॥ ६३ ॥ कूट, विडंग, मँजीठ, कलहारी, चित्रक, मालती, कडवी तूंबी, गंधक, मूली ॥ ६४ ॥ सैंधानमक, कनेर, धुवाँसा, विष (सींगिया मोहरा), कमेला, सिंदूर, तेजोवती, नीलाथोथा ॥ ६५ ॥ इन सबको सम भाग लेकर कल्ककी भांति पीस ले और सबसे दूना गोमूत्र ले और चौगुना तिलका तेल लेवे ॥ ६६ ॥ अथवा अतिपराक्रमवाला करंजतैल लेवे अथवा महागुणवाला सरसोंका तैल लेवे इसे सिद्ध करके मर्दन करे, इससे सब प्रकारके कुष्ठ और गंडमाला तथा भगंदर ॥ ६७ ॥ तथा नाडीव्रण (नासूर) और दुष्टव्रण अवश्य नाश हो जाते हैं यह महावज्रक नाम तैल महागुणकारक है ॥ ६८ ॥

अंत्रप्रयोग ।

पित्तावापैर्मूत्रपिष्टैस्तैलं लाक्षादिकैः कृतम् ॥ सप्ताहं कटुकालाब्वां निदधीत चिकित्सकः ॥ ६९ ॥ पीतवंतं ततो मात्रां तेनाऽभ्यक्तं च मानवम् ॥ शोषयेदातपे तस्य दोषा गच्छंति सर्वशः ॥ ७० ॥

लाक्षादि औषधोंको गोपित्तमें और गोमूत्रमें पीसकर उनसे तैल साधन करे फिर उस तैलको सात दिन तक कडुवी तूंबी (गीली) में भरके रहने दे ॥ ६९ ॥ फिर कुष्ठीको अग्निबलके अनुसार उसकी मात्रा पिलावे तथा कुष्ठीके शरीरपर इसकी मालिश कराके धूपमें सुखावे तो उसके सम्पूर्ण दोष (विकार) नष्ट हो जावें ॥७०॥

स्रुतदोषं समुत्थाप्य स्नातं खदिरवारिणा ॥ यवागूं पाययेदेनं साधितां खदिरांबुना ॥ ७१ ॥ एवं संशोधने वर्गे कुष्ठघ्नेष्वौषधेषु च ॥ कुर्यात्तैलानि सर्पींषि प्रदेहोद्धर्षणानि च ॥ ७२ ॥ प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान्वै रेचनाञ्शुभान् ॥ पंच षट् सप्त चाष्टौ

(श्लो० ६९) पित्तावापैः गोपित्तावापैः । मूत्र गोमूत्रम् (इति डल्हनः)

वा यैरुत्थानं न गच्छति ॥ ७३ ॥ कारभं वा पिबेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम् ॥ जातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षड्भिरपोहति ॥ ७४ ॥

जब कुष्ठीका दोष निवृत्त होजावे तब उसे उठाकर खदिरके जलसे स्नान करावे और खदिरके काथमें पकाई हुई यवागू पिलावे ॥ ७१ ॥ इसी तरह संशोधनवर्ग और कुष्ठनाशक जो जो औषध हैं उनमें तैल या घृत साधन करके उसका लेपन तथा मर्दन करे ॥ ७२ ॥ और नित्य सबेरे दस्तावर औषध खायाकरे जिससे पांच, छः या सात, आठ दस्त होजाया करें (अथवा पांच, छः या सात आठ दिनके अंतरसे दस्तावर (विरेचनी) औषध लेवे) जिससे दोष फिर न बढने पावे (इसमें डल्हनने कुछ भी नहीं लिखा जो गूढ बातें हैं उन्हें वे भी न ठीक करसके ऐसा जाना जाता है) ॥ ७३ ॥ अथवा ऊंटका मूत्र नित्य पीवे तथा ऊंटनीके दूधमें पके (खीर आदि) भोजन करे इसके छः महीने करनेसे कीडे पडाहुआ कुष्ठभी नष्ट होजाता है ॥ ७४ ॥

खदिरकी प्रधानता ।

दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः ॥ सर्वथैवं प्रयुंजीत स्नानपानाशनादिषु ॥ ७५ ॥ यथा हंति प्रवृद्धत्वात्कुष्ठमातुरमोजसा ॥ तथा हंत्युपर्युक्तस्तु खदिरः कुष्ठमोजसा ॥ ७६ ॥

कुष्ठका नाश चाहनेवाला कुष्ठी मनुष्य खदिरसारको सर्वत्र स्नान,पान और भोजनमें प्रयुक्त करे ॥ ७५ ॥ जैसे कुष्ठ बढकर रोगीका ओज (बल और प्राण) नाश कर देता है वैसेही सेवन कियाहुआ खैरसार कुष्ठको जड (मूल)से नष्ट करदेता है॥७६॥

नीचरोमनखोऽश्रांतो हिताश्यौषधतत्परः ॥
योषिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति ॥ ७७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

जो केश और नख न बढने दे, श्रम न करे तथा कुष्ठघ्न भोजन और औषधिमें तत्पर रहे तथा स्त्रीसंग.मांसभोजन और मद्यपानका त्याग रक्खे तो कुष्ठसे छूट सकताहै ७७॥

इति प० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः १०.

अथातो महाकुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अब यहांसे अगाडी हम महाकुष्ठोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

कुष्ठेषु मेहेषु कफामयेषु सर्वांगशोफेषु च दारुणेषु ॥
कृशत्वमिच्छत्सु च मेदुरेषु योगानिमाननिष्यमतिर्विदध्यात् ॥१॥

कुष्ठोंमें, प्रमेहोंमें, कफके रोगोंमें, दारुण सर्वांग शोथमें और जो स्थूल मनुष्य दुबला होनेकी इच्छा करे उन्हें तथा मेदारोगोंमें ये प्रयोग (जो अब अगाडी कहे जाते हैं) बुद्धिमान वैद्य उपयोग करे ॥ १ ॥

क्षुण्णान्यवान्निःपूतांत्रौ गोमूत्रपर्युषितान्महति किलिंजे शोषयेदेवं सप्तरात्रं भावयेच्छोषयेच्च ततस्तान्कपालभृष्टान्सक्तून्कारयित्वा प्रातःप्रातरेव कुष्ठिनं प्रमेहिणं वा सालसारादिकषायेण कंटकिवृक्षकषायेण वा पाययेद्भल्लातकप्रपुन्नाडावल्गुजार्कचित्रककविडंगमुस्तचूर्णचतुर्भागयुक्तान् ॥ २ ॥

जवोंको ओखलीमें डाल (थोडा जल डाल) कूटे जिससे उनका छिलका उतर जावे फिर उन्हें रात्रिको गोमूत्रमें भिगोकर बांसकी टोकरीमें डाले और सुखाले इसी प्रकार सात दिन तक नित्य रातको गोमूत्रमें भिगोवे और सुखालिया करे फिर उन्हें भाड़में भुनवाके सत्तू बनवाले इन सत्तुओंको नित्य सबेरे शुद्ध भिलावें, पवाँड, बावची, आक, चित्रक, विडंग मोथा इनका चूर्ण चतुर्थांश मिलाकर सालसारादिके क्वाथसे अथवा कंटकीवृक्ष (काँटोंके वृक्ष-खदिर, बबूल आदि) के क्वाथसे कुष्ठरोगीको तथा प्रमेहरोगीको पिलावे ॥ २ ॥

एवमेव सालसारादिकषायपरिपीतानामारग्वधादिकषायपरिपीतानां वा गोशकृद्धृतानां वा यवानां सक्तून्कारयित्वा भल्लातकादीनां चूर्णान्यावाप्य खदिरासननिंबराजवृक्षरोहितकगुडूचीनामन्यतमस्य कषायेण शर्करामधुमधुरेण द्राक्षायुक्तेन दाडिमवेतसाऽम्लेन सैंधवलवणान्वितेन पाययेदेष सर्वमन्नकल्पः ॥ ३ ॥

इसीप्रकार सालसारादिके क्वाथकी सात भावना दिये हुए अथवा आरग्वधादिके क्वाथकी सात भावना दियेहुए और सुखाये हुए जवोंके सत्तू बनावे अथवा गोको साबत जो खिलावे और फिर उसके गोबरमेंसे निकले हुए उन जवोंके सत्तू बनाकर पूर्वोक्त भल्लातकादिके चूर्णको मिलाके खदिर, विजैसार, नींब, किरमाला, रुहेडा, गिलोय इनमेंसे किसीके क्वाथमें घोलकर खांड और शहतसे मीठा करके

(श्लो० १) मेदुरेषु अतिस्निग्धेषु मेदोयुतेषु च 'मिद्-स्नेहने' इत्यस्माद्धातोः घुरच् ।

या अनारदाने और अम्लवेतसे खट्टा करके सेंधा नमक डालकर (नमकीन) पिलावे यह सब अन्नकल्प है ॥ ३ ॥

यावकांश्च भक्ष्यान्धानालुंचककुल्माषापूपपूर्णकोशोत्कारिकाशष्कुलिकाकुणावीकोनालिप्रभृतीन्सेवेत यवविधानेन गोधूमवेणुयवानुपयुंजीत ॥ ४ ॥

जौके भोजनके पदार्थ जैसे धाणी, लुंचक (मुरमुरे), कुल्माष (वाकली), अपूप, पूर्णकोश (कचौरी), उत्कारिका (लपसी), शष्कुली (पूरी), कुणावी (पापडी) और कोनाली (त्रिकूट जिसे समोसाभी कहते हैं) इत्यादि भोजन करे और जैसे जौके पदार्थ कहे उसी प्रकार गेहूंके तथा वंशबीज (बांसके चावलों) के पदार्थ बनाकर सेवन कर सकते हैं ॥ ४ ॥

कुष्ठनाशक अरिष्ट ।

अरिष्टानतो वक्ष्यामः । पूतीकचव्यचित्रकसुरदारुसारिवादंतीत्रिकटुकानां प्रत्येकं षट्पलिका भागा बदरकुडवस्त्रिफलाकुडव इत्येतेषां चूर्णानि ततः पिप्पलीमधुघृतैरंतःप्रलिप्ते घृतभाजने प्राकृतसंस्कारे सप्तोदककुडवानयोरजोऽर्द्धकुडवमर्द्धतुलां च गुडस्याभिहितानि चूर्णान्यावाप्य स्वनुगुप्तं कृत्वा यवपल्ले सप्तरात्रं वासयेत्ततो यथाबलमुपयुंजीतैषोऽरिष्टः कुष्ठमेहमेदःपांडुरोगश्वयथूनपहन्ति एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ वारिष्टान्कुर्वीत ॥५॥

यहांसे अगाडी अरिष्टसाधन कहते हैं-पूतिकरंज, चव्य, चित्रक, देवदारु, सारिवा, दंती, त्रिकटु इनको छः छः पल और बेरकी छाल, त्रिफला इन्हें एक २ कुडव लेकर सबको चूर्ण करले फिर घृतके चिकने घडेके भीतर पीपल, शहत, घृत लेपकर सात कुडव जल, आधा कुडव लोहचूर्ण और आधा तुला गुड ये सब और पूर्वोक्त पूतिकरंजादिका चूर्ण डालके मुँह बंद करदे फिर जौकी राशिमें सात दिन गाडदे फिर निकालके यथाबल पीवे यह अरिष्ट कुष्ठ, प्रमेह, मेदोरोग पांडु, शोथ इन्हें दूर करे। ऐसेही शालसारादिका तथा न्यग्रोधादिका या आरग्वधादिका भी अरिष्ट बनावे उनके भी यही गुण हैं ॥ ५ ॥

कुष्ठनाशक आसव ।

आसवानतो वक्ष्यामः । पलाशभस्मपरिस्रुतस्योष्णोदकस्य शीती-

भूतस्य त्रयो भागा द्वौ फाणितस्यैकध्यमरिष्टकल्पेन विदध्यात्। एवं तिलादीनां क्षारेषु शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ मूत्रेषु चासवान्विदध्यात् ॥ ६ ॥

अब आसवोंका वर्णन करते हैं-ढाककी राख गरम जलमें घोलकर चुवाले फिर ठंढा होनेपर तीन भाग यह जल और दो भाग फाणित (गुडकी राब) इन्हें एकत्र मिलाकर अरिष्टके विधानकी तरह संधान करे इसी प्रकार तिलादिके क्षारमें शालसारादिका अथवा वट आदिका या आरग्वधादिका गोमूत्रमें आसव बनाले (ये भी कुष्ठमें हित हैं) ॥ ६ ॥

कुष्ठघ्न सुरा।

अथ सुरा वक्ष्यामः। शिंशपाखदिरयोः सारमादायोत्पाद्य चोत्तमारणीब्राह्मीकोशातकीस्तत्सर्वमेकतः कषायकल्पेन विपाच्योदकमाददीत मंडोदकार्थं किण्वपिष्टमभिषुणुयाच्च यथोक्तमेवं सुरां शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च विदध्यात् ॥ ७ ॥

अब सुराका वर्णन करते हैं-शीशम और खदिरका सार (अंतरछाल) या (सार) लेकर बड़ी अरणी, ब्राह्मी, कडवी तोरी इन सबका क्काथ कर छान ले इसे मंडोदकके लिये रक्खे इसमें किण्वपिष्ट (सुराबीज) (खमीर) डालकर उफान आने दे (खमीर उठाले) यही सुरा होती है इसीप्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि और आरग्वधादिकी सुरा (मद्य) बनाले (ये मद्य भी कुष्ठनाशक हैं) ॥ ७ ॥

कुष्ठघ्न अवलेह।

अतोऽवलेहान्वक्ष्यामः। खदिरासननिंबराजवृक्षशालसारक्काथे तत्सारपिंडान्श्लक्ष्णपिष्टान्प्रक्षिप्य विपचेत्ततो नातिद्रवं नातिसांद्रमवतार्य तस्य पाणितलपूर्णमप्रातराशो मधुमिश्रं लिह्यादेवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च लेहान्कारयेत् ॥ ८ ॥

अब अवलेह कहते हैं-खदिर, विजैसार, नींब, किरमाला, शालसार इनका क्काथ करके उसमें इन्हींके सारको पीसकर पिंडे बाँधकर इन्हींके क्काथमें डालके पकावे जब न बहुत पतला और न बहुत कडा हो तब उतारले फिर नित्य सवेरे इसमेंसे एक पाणितल (एक कर्ष) शहदमें मिलाकर चाटे इसी भांति शालसारादि, न्यग्रोधादि और आरग्वधादिके अवलेह बनावे (ये कुष्ठघ्न हैं) ॥ ८ ॥

कुष्ठपर चूर्णप्रयोग ।

अतश्चूर्णक्रियां वक्ष्यामः । शालसारादीनां सारचूर्णप्रस्थमाहृत्यारग्वधादिकषायपरिपीतमनेकशः शालसारादिकषायेणैव पाययेत् । एवं न्यग्रोधादीनां फलेषु पुष्पेष्वारग्वधादीनां चूर्णक्रियां कारयेत् ॥ ९ ॥

अब चूर्णक्रिया कहते हैं-शालसारादिकका सार एक प्रस्थ लेकर उसमें आरग्वधादिगणकी कई भावना देवे फिर इसकी फंकी शालसारादिकके काथहीके संग देवे । इसी भांति न्यग्रोध (वड) इत्यादिक फलोंका तथा आरग्वधादिके पुष्पोंकी भावना दे दे कर) चूर्ण बनावे (ये चूर्ण कुष्ठनाशक हैं) ॥ ९ ॥

लोहका विधान ।

अत ऊर्ध्वमयस्कृतीर्वक्ष्यामः । तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण निर्वापयेत्षोडशवारांस्ततः खदिरांगारतप्तान्युपशांततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेद्गाढतांतवपरिस्त्रावितानि ततो यथाबलं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुंजीत । जीर्णे यथाव्याध्यनम्लमलवणमाहारं कुर्वीत । एवं तुलामुपयुज्य कुष्टमेहमेदःश्वयथुपांडुरोगोन्मादापस्मारानपहृत्य वर्षशतं जीवति । तुलायां तुलायां वर्षशतगुणोत्कर्षः । एतेन सर्वलोहेष्वयस्कृतयो व्याख्याताः ॥ १० ॥

इससे अगाडी हम अयस्कृति (लोहविधान) का वर्णन करते हैं-तीक्ष्ण लोह (पौलाद) के पतले पत्र बनवाकर सब भाँतिके लवण पीसके उनपर लेपन करे और गोबरकी अग्निमें तपाकर त्रिफला, शालसारादिके काथसे बुझावे ऐसे १६ वार करे फिर खदिरके कोयलोंमें लाल करके ठंढे होनेपर बारीक कूट ले और गाढे (घिनके) वस्त्रमें छान ले उसमेंसे बलके अनुसार मात्रा (पांच रत्तीसे चार मासेतक) घृत और शहदमें खूब मिलाकर भोजन करे जब पच जावे तब व्याधिके अनुसार विना खटाई और विना नमकका आहार करे ऐसे तुलाभर सेवन करनेसे कुष्ठ, प्रमेह, मेदोरोग, शोथ, पांडु, उन्माद, मृगी ये सब रोग नष्ट होजाते हैं और सौ वर्षकी अवस्था होजातीहै तथा जितने तुला इसे खावे उतनेही सौवर्ष जीवे (तुला

सौ पलकी होती है कई तुलाका अर्थ एक तोला ऐसा लिखते हैं) इसी प्रकार सब लोहों (सुवर्ण आदि सब धातुओं) का विधान समझना चाहिये ॥ १० ॥

(वक्तव्य) पहलेके मनुष्य सौ पल लोह खा सकते होंगे पर अबके मनुष्य इतना नहीं खा सकते इससे अब समयानुसार तुलाका अर्थ तोलाभरही ठीक समझिये ॥

त्रिवृच्छ्यामाग्निमंथसातलाकेवुकशंखिनीतिल्वकत्रिफलापलाश-शिंशपानां स्वरसमादाय पालाश्यां द्रोण्यामभ्यासिच्य खदिरां-गारतप्तमयःपिंडं त्रिःसप्तकृत्वो निर्वाप्य तमादाय पुनरासिच्य स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत्सिद्ध्यति चास्मिन्पिप्पल्यादिचूर्ण-भागौ द्वौ मधुनस्तावद्घृतस्येति दद्यात्ततश्चतुर्थभागावशिष्टमव-तार्य परिस्राव्य भूयोऽग्नितप्तान्ययःपत्राणि प्रक्षिपेत्ततः प्रशांत-मायसे पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्ततो यथायोगं शुक्तिं प्रकुंचं चोपयुंजीत जीर्णे यथाव्याध्याहारमुपसेवेत ॥ ११ ॥

निशोथ, श्यामा, अरनी, सातला, कवुक (केंद्र), शंखिनी, लोध, त्रिफला, पलाश (ढाक), शीशम इनका स्वरस ढाकके कठडेमें भर ले और लोहेके पिंडाको खैरकी लकडीके अंगारोंमें तपातपाकर इक्कीसवार बुझावे फिर इन्हें मटकेमें डालकर उपलोंकी आँचसे पकावे पकते समय पिप्पल्यादिका चूर्ण दो भाग और शहदके भी दो भाग और इतनाही घृत डाले जब चतुर्थ भाग शेष रहे तब इसे उतारकर छान लेवे और फिर भी लोहेके पत्रे अग्निमें तपातपाकर उसमें बुझावे फिर ठंढा होनेपर उसे लोहेके घडेमें भरकर मुँह बंद करके रहने दे फिर उसमेंसे शुक्ति (आधा पल) या प्रकुंच (पलभर) नित्य पीवे पचजानेपर व्याधिके अनुसार भोजन करे ॥ ११ ॥

एषौषधायस्कृतिरसाध्यं कुष्ठं प्रमेहं वा साधयति स्थूलमपकर्षति शोफमुपहंति सन्नमग्निमुद्धरति विशेषेण चोपदिश्यते राजयक्ष्मिणां वर्षशतायुश्चानया पुरुषो भवति ॥ १२ ॥

यह औषधोंके योगकी अयस्कृति असाध्य भी कुष्ठों तथा प्रमेहोंको साधन करती है (नष्ट करती है), स्थूलको दुबला करती है, शोथको नाश करती है, नष्ट हुए जठराग्निको उभारती है, विशेषकर राजयक्ष्मा रोगमें उपयोगी कही है और इसके सेवनसे मनुष्य सौ वर्षकी अवस्था प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

शालसारादिकाथमासिच्य पालाश्यां द्रोण्यामयोघनं तप्तं निर्वाप्य कृतसंस्कारे कलशेभ्यासिच्य पिप्पल्यादिचूर्णभागं क्षौद्रं गुडमिति च दत्त्वा स्वनुगुप्तं निदध्यादेतां महौषधायस्कृतिं मासमर्द्धमासं वा स्थितां यथाबलमुपयुंजीत एवं न्यग्रोधादावारेवतादिषु च विदध्यात् ॥ १३ ॥

शालसारादिक द्रव्योंका क्वाथ करके ढाकके कठडेमें भरे फिर लोहेको गरम करके उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे २१ वार बुझावे फिर पूर्वोक्त रीतिसे संस्कार किये हुए घडेमें डालकर उसमें पिप्पल्यादिका चूर्ण एक भाग और उतनाही उतना शहद और गुड डालकर मुख बंद करदे फिर एक महीना अथवा पंद्रह दिनमें निकाल कर उसमेंसे बलके अनुसार सेवन करे यह महौषधायस्कृति है इसी भांति न्यग्रोधादिक तथा आरग्वधादिकसे भी बनाई जासकती है ॥ १३ ॥

अतः खदिरविधानमुपदेक्ष्यामः । प्रशस्तदेशजातमनुपहतमध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा मध्यममूलं छित्त्वायोमयं कुंभं तस्मिन्नंतरे निदध्याद्यथा रसग्रहणसमर्थो भवति ततस्तं गोमयमृदावलिप्तमवकीर्येन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेद्यथास्य दह्यमानस्य रसः स्रवत्यधस्ताद्यदा जानीयात्पूर्णं भाजनमित्यथैव समुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन्पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुंजीत जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोभिवृद्धिर्भवति ॥ १४ ॥

यहांसे अगाडी हम खदिरका विधान कहतेहैं अच्छी भूमिमें उत्पन्न हुए न बहुत पुराने न नये और जिसे कीडे आदि जीवोंने न खालिया हो ऐसे खैरके वृक्षके मूलमें चारों तरफसे खोदकर बीचकी मुख्य जडमेंसे काटकर (छेदकर) नीचे लोहेका घडा इस रीतिसे धरे कि उसमें रस टपककर आवे फिर उसके चारों तरफ गोबर और मिट्टी लगा दे और गोबर तथा लकडियोंसे गरम करे जब जल जलकर रस नीचे टपके और पात्र भरजावे तब उसे निकाल ले और रसको छानकर दूसरे पात्रमें भरले और मुँह बंद करके रहने देवे फिर इसमेंसे यथायोग्य मात्रा लेकर आंवलोंके रस, शहद और घृतमें मिलाकर चाटले जब यह पचजावे तब भिलावेंके

विधानमें कहेहुए आहार, विहार करे इसे प्रस्थ भर सेवन करनेसे सौ वर्षकी अवस्था होजाती है तथा जितने प्रस्थ सेवन करे उतने सौ वर्षकी अवस्थामें वृद्धि होजातीहै (और कुष्ठ, प्रमेह नष्ट होजाते हैं) ॥ १४ ॥

खदिरसारतुलामुदकद्रोणे विपाच्य षोडशांशावशिष्टमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात् । तमामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुंजीत एष एव सर्ववृक्षसारेषु कल्पः ॥ १५ ॥ खदिरसारचूर्णतुलां खदिरसारक्काथमात्रां वा प्रातःप्रातरुपसेवेत । खदिरसारक्काथसिद्धमाविकं वा सर्पिः ॥ १६ ॥ अमृतवल्लीस्वरसं क्वाथं वा प्रातःप्रातरुपसेवेत तत्सिद्धं वा सर्पिः ॥१७॥ अपराह्णे ससर्पिष्कमोदनमामलकयूषेण भुंजीतैवं मासमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुच्यत इति ॥ १८ ॥

एक तुला खदिरसारको द्रोणभर जलमें पकावे जब षोडशांश शेष रहे तब उतार ले और (छानकर) मुँह बंद करके रख दे । इसे आंवलोंके रस, शहद और घृतमें मिलाकर सेवन करे यही विधि सब वृक्षोंके सारकल्पकी है ॥ १५ ॥ खैरसारका चूर्ण तुलाभर अथवा खैरसारका क्वाथ अथवा खैरसारके क्वाथमें सिद्ध किया हुआ अवि (भेड) का घृत सबेरे नित्य सेवन करे ॥ १६ ॥ अथवा गिलोयका रस या क्वाथ या इसमें सिद्ध किया घृत नित्य सबेरे २ (यथाबल) सेवन करे ॥ १७ ॥ और अपराह्ण (तीसरे पहर) घृतयुक्त भातको आंवलोंके यूषके संग भोजन करे ऐसे एक महीनेतक करनेसे सब प्रकारके कुष्ठोंसे मनुष्य छूट जाता है ॥ १८ ॥

कृष्णतिलभल्लातकतैलामलकरससर्पिषां द्रोणं शालसारादिकषायस्य च त्रिफलात्रिकटुकपरूषकफलमज्जाविडंगफलसारचित्रार्कावल्गुजहरिद्राद्वयत्रिवृद्दन्तीद्वयवयष्टीमधुकातिविषारसांजनप्रियंगूनां पालिकान्भागांस्तानैकध्यं स्नेहपाकविधानेन पचेत्तत्साधुसिद्धमवतार्य परिस्राव्यानुगुप्तं निदध्यात्तत उपसंस्कृतशरीरः प्रातःप्रातरुत्थाय पाणिशुक्तिमात्रं क्षौद्रेण प्रतिसंसृज्योपयुंजीत जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन सर्पिष्मंतं खदिरोदकसिद्धं मृद्वोदनमश्नीयात्खदिरोदकसेवीत्येकं द्रोणमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुक्तः शुद्धतनुः स्मृतिमान्वर्षशतायुररोगो भवति ॥१९॥ भवति चात्र—

काले तिल, भिलावेंका तेल, आंवलेका रस और घृत इन्हें द्रोण २ लेवे और शालसारादिका काथ भी द्रोण भर लेवे और हरड, बहेडा, आंवला, सोंठ, मिरच, पीपल, फालसेकी गिरी, विडंगका सार, चित्रक, आक, बावची, दोनों हलदी, निशोथ, दंती, इंद्रजौ, मुलेठी, अतीस, रसौत, प्रियंगू इन्हें पल पल भर लेवे इन सबको इकट्ठा करके स्नेहपाककी विधिसे पका लेवे जब ठीक पक जावे तब उतार कर छान ले और ढांककर रखदे फिर रोगीको वमन और रेचनादिसे शरीर-संस्कार करके नित्य सबेरे एक पल इसमेंसे शहदमें मिलाकर खिलावे पचजानेपर अलोने मूँग, आंवलोंके यूषके संग खेरके काथमें पके हुए घृतयुक्त कोमल भातको खिलावे तथा खदिरका सिद्ध जलही पीवे ऐसे यह औषध द्रोण भर खानेसे सब कुष्ठोंसे छूटकर शुद्ध शरीर होकर निरोगी सौ वर्षकी अवस्थावाला होता है ॥१९॥ इस विषयमें श्लोक है–

सुरामंथासवारिष्टाँल्लेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः ॥
सहस्रशोपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥ २० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

सुरा (मद्य), मंथ, आसव, अरिष्ट, अवलेह, चूर्ण और अयस्कृतियाँ इसी रीतिसे बुद्धिमान् वैद्य हजारों और भी बना लेवे ॥ २० ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ११.

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अब हम प्रमेहकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

द्वौ प्रमेहौ सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च भवतः । तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः । अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः ॥ १ ॥ तत्र पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥ ॥ २ ॥ तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत्स्थूलमपकर्षणयुक्ताभिः ॥ ३ ॥

(वा० १) मातृपितृबीजदोषकृत इति–बीजे प्रमेहदोषस्तेनैव कृतः । ननु स्त्रीणा प्रमेहा न भवंतीति केचित्तथाहि "रजःप्रसेकान्नारीणां मासिमासि विशुध्यति । सर्व शरीरं दोषाश्च नप्रमेहंत्यतः स्त्रियः ॥" इति । एतत्तु न युक्त सर्वतंत्राप्रसिद्धेः श्वेतरक्तप्रदरादेः प्रत्यक्षभावाच्च ।(वा०२) कृशमसहजप्रमेहिणं दुर्बलम् ।

प्रमेह दो प्रकारका होता है १ सहज (जन्मका), २ अपथ्यसे इन दोनोंमेंसे जन्मका प्रमेह तो माता पिताके रज, वीर्यके दोष (निर्बल्यादिक) से होता है और अपथ्यकृत प्रमेह अयोग्य आहार (विहार) करनेसे होजाता है ॥ १ ॥ इनमेंसे जन्मके प्रमेहका रोगी दुबला, रूखा, थोडा भोजन करनेवाला और अति तृषावाला तथा फिरनेवाला होता है और दूसरा अपथ्यज प्रमेहका रोगी स्थूल, बहुत खानेवाला, स्निग्ध (चिकना) और सोने, पंड रहने, बैठे रहनेकी वांछावाला विशेषकर होता है (इनके अन्य लक्षण निदानस्थानमें देखो) ॥ २ ॥ इनका मुख्य उपाय यह है कि दुबलेको स्निग्ध (चिकने) खान पानसे संस्कार कीहुई क्रियाओंसे चिकित्सा करे और दूसरे स्थूलको अपकर्षण (लंघन), रूक्ष क्रियायुक्त विधियोंसे यत्न करे ॥ ३ ॥

प्रमेहमें कुपथ्य।

सर्वे एव च परिहरेयुः सौवीरकतुषोदकशुक्तमैरेयसुरासवतोयपयस्तैलघृतेक्षुविकारदधिपिष्टान्नाम्लपानकानि ग्राम्यानूपौदकमांसानि चेति ॥ ४ ॥

सब प्रमेहवाले इन वस्तुओंको त्यागदें-सौवीर और तुषोदक (ये एक प्रकारकी कांजी हैं), शुक्त (सिरका), मैरेय (एक प्रकारका मद्य), सुरा (मद्य), आसव (नशेका आसव), अति जल पीना, दूध, तैल, घृत, ईखके पदार्थ (गुडआदि), दही, पिट्ठीके पदार्थ, खट्टे पन्ने वगैरह तथा ग्राम्य पशु और जलके किनारेके पशु तथा जलजंतु इनका मांस ये सब कुपथ्य हैं ॥ ४ ॥

पथ्य।

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवोद्दालकान्नवान्भुञ्जीत चणकाढकीकुलत्थमुद्गविकल्पेन तिक्तकषायाभ्यां शाकगणाभ्यां निकुम्भेङ्गुदीसर्षपातसीतैलसिद्धाभ्यां बद्धमूत्रैर्वा जाङ्गलैर्मांसैरपहृतमेदोभिरनम्लैरघृतैश्चेति ॥ ५ ॥

प्रमेहका रोगी शालि और षष्टिक (चावल), जौ, गेहूँ, कोदों, उद्दालक (वनकोदों) इन्हें पुराने खावे और चने, तुवर, कुलथी तथा मूँग इनकी दालके संग अथवा चरपरे कसेले शाकोंके संग जो निकुंभ (दतूणीके वृक्ष) तथा इंगुदी और सरसों, अलसी इनके तेलमें बघारे हुए हों अथवा बद्धमूत्र (कम मूतनेवाले)

(वा० ४) तोयं बहु न दद्यादित्यभिप्रायः। पयो घृतं च रूक्षाणां कृशानामल्पं दद्यात्। (वा० ५) विकल्पेन द्विदलीभूतेन। निकुम्भो दन्तीवृक्षः (इति शब्दस्तोमः)

जंगली जीवों (हिरणआदि) के मांसके संग भोजन करे पर मांसमेंसे मेद निकाल देवे और उसमें खटाई और घृत नहीं डाले ॥ ५ ॥

प्रमेहचिकित्सा ।

तत्रोदित एव प्रमेहिणं स्निग्धमन्यतमेन तैलेन प्रियंग्वादिसिद्धेन वा घृतेन वामयेत्प्रगाढं विरेचयेच्च । विरेचनादनंतरं सुरसादिकषायेणास्थापयेन्महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैंधवयुक्तेन दह्यमानं च न्यग्रोधादिकषायेण निःस्नेहेन ॥ ६ ॥

प्रमेहवालेको प्रथम किसी तैलसे अथवा प्रियंग्वादिसे सिद्ध किये घृतसे स्निग्ध करके खूब वमन करावे और विरेचन भी करावे फिर विरेचनके (७ दिन) पीछे सुरसादिके क्वाथमें सोंठ, देवदारु, मोथाका प्रतिवाप (बुरकी) देकर शहत, सेंधा नमक मिलाके आस्थापनवस्ति करावे और दाहयुक्त हो तो अल्पस्नेह युक्त न्यग्रोधादिके क्वाथसे आस्थापन करावे ॥ ६ ॥

प्रमेहनाशक साधारण योग ।

ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत् । त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्तकषायं वा । शालकंपिल्लकमुष्ककककल्कमक्षमात्रं वा मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतम् । कुटजकपित्थरोहितविभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा । निंबारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि । एते पंच प्रयोगाः सर्वमेहानामपहंतारो व्याख्याताः ॥ ७ ॥

जब वमन और विरेचनादिकसे शरीर शुद्ध होजावे तब आंवलेके रसमें हलदीका चूर्ण और शहत मिलाकर पिलावे । अथवा त्रिफला, इंद्रायण, देवदारु, मोथा इनका क्वाथ पिलावे । अथवा शाल, कमेला, मोखा इनका कल्क अक्षमात्र करके आंवलेका रस, हलदी और शहत मिलाकर इसके संग सेवन करे । अथवा कुडा, कैथ, रुहेडा बहेडा और सातला इनके पुष्पोंका कल्क पूर्वोक्त आंवलेके रस, हलदी और शहतके संग लेवे । अथवा नींब, किरमाला, सातला, मूर्वा, कुडा, सोमवृक्ष (खदिर) और ढाक इनकी छाल, पत्ते, जड, फल और फूल इनका क्वाथ पीवे ये पांच प्रयोग सब प्रकारके प्रमेहोंको नाश करनेवाले कहे हैं ॥ ७ ॥

(वा० ६) प्रियंग्वादिसिद्धेन घृतेनोपस्निग्ध वामयेदिति (नि० सं०) । (वा० ७) आमलकरसस्य चत्वारि पलानि हरिद्रा कर्षप्रमाणा मधु चापि कर्षप्रमाणमेव विमथ्य पिबेत् ।

कफप्रमेहोंके यत्न ।

विशेषतश्चात ऊर्द्धम् । तत्रोदकमेहिनं पारिजातकषायं पाययेदिक्षुमेहिनं वैजयंतीकषायं सुरामेहिनं निम्बकषायं सिकतामेहिनं चित्रककषायं शनैर्मेहिनं खदिरकषायं लवणमेहिनं पाठागुरुकषायं पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं सांद्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरंजकसेरुककषायं ककुभचंदनकषायं वा फेनमेहिनं त्रिफलारग्वधमृद्वीकाकषायं मधुरं कफजे तु मधुमधुरमिति ॥ ८ ॥

इसके अगाडी विशेषतासे प्रमेहोंके यत्न लिखते हैं-इनमेंसे १ उदकप्रमेहवालेको पारिजात (देवदारु) का क्काथ (शहत डालकर) पिलावे । २ इक्षुप्रमेहवालेको वैजयंती (अरणी) का क्काथ पिलावे । ३ सुराप्रमेहवालेको नींबका क्काथ पिलावे और ४ सिकताप्रमेहवालेको चित्रकका क्काथ पिलावे । ५ शनैःप्रमेहवालेको खैरका क्काथ दे । ६ लवणप्रमेहवालेको पाठ और अगरका क्काथ दे । ७ पिष्टप्रमेहवालेको हलदी और दारुहलदीका क्काथ पिलावे । ८ सांद्रप्रमेहवालेको सातलाका क्काथ तथा शुक्रप्रमेहवालेको दूब, सिवाल, प्लव (गोपाल दमनक) और हठ (जलकुंभी), करंज, कसेरु इनका क्काथ दे अथवा कुहा और चंदनका क्काथ देवे । १० फेन प्रमेहवालेको त्रिफला, किरमाला और मुनक्काका मीठा क्काथ देवे इन कफके प्रमेहोंमें शहतसे मधुर करके क्काथ पिलावे ॥ ८ ॥

पैत्तिकप्रमेहोंकी चिकित्सा ।

पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेद्धारिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायमम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं मधुमिश्रं क्षारमेहिनं त्रिफलाकषायं मंजिष्ठामेहिनं मंजिष्ठाचंदनकषायं शोणितमेहिनं गुडूचीतिंदुकास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रम् ॥ ९ ॥

पित्तप्रमेहोंमेंसे नील प्रमेहवालेको शालसारादिका क्काथ या पीपलका क्काथ पिलावे । हरिद्राप्रमेहवालेको किरमालेका क्काथ, अम्लप्रमेहवालेको न्यग्रोधादिके क्काथमें शहद मिलाकर पिलावे । क्षारप्रमेहवालेको त्रिफलाका क्काथ और मंजिष्ठप्रमेहवालेको मँजीठ और चंदनका क्काथ पिलावे । शोणितप्रमेहवालेको गिलोय तेंदूकी गिरी, खंभारी और खजूरियाका क्काथ शहदयुक्त पिलावे ॥ ९ ॥

वातिक प्रमेहोंकी चिकित्सा।

अत ऊर्ध्वमसाध्येष्वपि योगान्यापनार्थं वक्ष्यामः। तद्यथा सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिंगुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेद्वसामेहिनमग्निमंथकषायं शिंशपाकषायं वा क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं हस्तिमेहिनं तिंदुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुस्पर्शाकषायं मधुमिश्रं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति। दह्यमानमौदककंदकाथसिद्धां यवागूं क्षीरेक्षुरसमधुरां पाययेत् ॥ १० ॥

इसके अगाडी अब हम असाध्य प्रमेहोंके लियेभी यापनार्थ (दबे रहनेके अर्थ) कुछ योग वर्णन करते हैं जैसे-सर्पिःप्रमेह (घृतप्रमेह) वालेको कूट, कुडा, पाठा, हींग और कुटकीका कल्क, गिलोय और चित्रकके काथसे पिलावे। वसाप्रमेहवालेको अरणीका काथ अथवा शीशमका काथ पिलावे। क्षौद्रप्रमेहवालेको खदिर और सुपारीका काथ देवे। हस्तिप्रमेहवालेको तेंदू, कैथ, सिरस, ढाक, पाठा, मूर्वा और जवासा इनका काथ शहतयुक्त करके पिलावे तथा हाथी, घोडे, शूकर, गधा, ऊंट इनके अस्थियोंका क्षार देवे (फासफोरिस जिसे डाक्टर उपयोग करते हैं उसमें यही माद्दा विशेष होता है) और (प्रमेहवालेके शरीरसे सौम्य धातु ओज आदिका क्षय होजानेसे प्रायः दाहभी होताहै) यदि दाह हो तो उसकी शांतिके लिये जलके कंदोंके काथमें सिद्ध कीहुई यवागू, दूध और ईखके रससे मीठी करके पिलावे ॥ १० ॥

प्रमेहपर अरिष्टादिसाधन।

ततः प्रियंग्वनंतायूथिकापद्मात्रायंतिकालोहितिकाम्बष्ठादाडिमत्वक्छालपर्णीपद्मतुंगकेशरधातकीबकुलशाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवान्कुर्वीत ॥ ११ ॥

प्रियंगु, अनंता, जुही, भारंगी, त्रायमाण, मँजीठ, अंबष्ठा (माचिका), अनारका छिलका, शालपर्णी, पदमाख, तुंग (पुन्नाग), नागकेसर, धायके फूल, मौलसरी (की छाल), शाल्मली (संभलकी मूसली), श्रीवेष्टक (सरलका वृक्ष तारपीन)

(वा० १०) दह्यमानमिति—अत्र प्रमेहजनितदाहस्य ग्रहणं प्रमेहे सौम्यधात्वात्मकस्यौजसः क्षीणे सति दाहः संजायते तेन दह्यमानमित्यर्थः। (वा० ११) "शालपर्णी" इत्यत्र तालपर्णीति वा पाठः। तालपर्णी मुशली। श्रीवेष्टकः नवनीतधूपम् (इति डल्हनः) श्रीवेष्टकः सरलवृक्षः (इति शब्दस्तोमः)

और मोचरस इन सब औषधोंसे अरिष्ट या अयस्कृति या अवलेह या आसव बनावे यह प्रमेहमें हित हैं ॥ ११ ॥

शृंगाटकगिलोड्यबिसमृणालकसेरुकमधुकाम्रजम्बवसनतिनिश-ककुभकट्वंगरोध्रभल्लातकचर्मिवृक्षगिरिकर्णिकाशीतशिवनिचुल-दाडिमाजकर्णहारिवृक्षराजादनगोपघोण्डाविकंकतेषु वा ॥ १२ ॥

सिंघाडे,गिलोट, कमलकी जड, कमलनाल, कसेरू, मुलेठी, आंब, जामुन (की छाल), बिजैसार, तिनिश, कुहा, कटूंग (अरलू),लोध,भिलावाँ, चर्मिवृक्ष (भोजपत्र का वृक्ष), गिरिकर्णी, शीतशिव (शतपुष्पाभेद), निचुल (जलवेतस),अनार, सर्ज, हरिवृक्ष (इंद्रवृक्ष कुडा), खिरनी, गोपघोंटा, विकंकत इनके अरिष्टादि बनावे ॥१२॥

यवान्नविकारांश्च सेवेत । यथोक्तकषायसिद्धां चास्मै यवागूं प्रयच्छेत्कषायाणि वा पातुम् ॥ १३ ॥

यवान्न (जौके पदार्थ करे और पूर्वोक्त कषायोंमें पकाई हुई यवागू अथवा काथोंका पान करावे ॥ १३ ॥

महाधनमहिताहारमौषधद्वेषिणमीश्वरं वा पाठाभयाचित्रकप्रगाढमनल्पमाक्षिकमन्यतममासवं पाययेदंगारशूल्यावदंशं वा माध्वीकमभीक्ष्णम् ॥ १४ ॥ मधुकपित्थमरिचानुविद्धानि चास्मै पानान्युपहरेत् । उष्ट्राश्वतरखरपुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु । हिंगुसैंधवयुक्तैर्यूषैः सार्षपैश्च रागैर्भोजयेत् । अविरुद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेद्रसवंति ॥ १५ ॥ प्रवृद्धमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीडागजतुरगरथपदातिचर्यापरिक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सेवेरन्॥१६॥

अति धनाढ्य जो प्रायः अहित आहार, विहार करते रहते हैं और औषध खानेसे द्वेष रखते हैं (ठीक१औषध नहीं खाते) तथा राजा लोग इनको यह रोग होतेहैं पाठा, हरीतकी, चित्रक इनका गाढा २ आसव बनाकर खूब शहत डालकर पिलावे और ऊपरसे अंगारपक्कमांस (कबाब) खिलावे अथवा माध्वीक (महुयेका मद्य)

(वा०१२) गिलोड्यः वर्षाभवः कंदः गिलोट इति लोके । चर्मिवृक्षः चर्मलोहलकुचाकारो महाद्रुमः (इति डल्हनः)शब्दस्तोमे तु भूर्जपत्रवृक्षः कदलीवृक्षश्च।हरिवृक्षः इंद्रवृक्षः अथवा हरिवृक्षः हरिद्रावृक्षः कुटजः (इतिनि०सं०)(वा०१४) अंगारशूल्यावदंशमिति-अंगारशूल्यम् अंगारोपरि शूलेन पक्कं मांसम् अवदंशं मद्योपरि चर्वणद्रव्यम् । अंगारशूल्यावदंशं यथा भवति तथा आसवं माध्वीकं वा पाययेत् । अवदंशं मद्योपरि चर्वणद्रव्यम् (इति शब्दस्तोमः)

खूब पिलावे ॥ १४ ॥ और शहत, केथ, स्याह मिरच इनके संस्कार युक्त पीनेके पदार्थ (पन्ने वगैरह) बनाकर पिलावे और ऊँट, खच्चर, गधा इनकी लीदको प्रायः भोजन पकानेमें उपयुक्त करे (बहुत लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि, लीदका चूर्ण भोजनमें मिला देवे परंतु यह सर्वथा अयोग्य है विशेष करके अमीरोंको, इस लिये ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये कि उष्ट्रादिकी लीदकी अग्निसे भोजन पकावे) और हींग, सेंधानमक युक्त करके राईका संस्कार देकर यूष बनावे और खिलावे इनके सिवाय जो विरुद्ध नहीं हों ऐसे उत्तम २ रसीले भोजन और पीनेके पदार्थ बनाकर देवे ॥ १५ ॥ जिनका (मुटापेसे) प्रमेह बढगया हो उन्हें व्यायाम (कसरत परिश्रम) करावे, कुश्ती करावे, (भागने दौडनेका) खेल खिलावे, हाथी, घोडे, रथकी सवारी करावे, पैदल भी फिरावे, अस्त्रादि (मुद्गरादि) फिरानेका अभ्यास करावे ॥ १६ ॥

अधनस्त्वबांधवो वा पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्याशी ग्रामैकरात्रानुवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिकं वा गच्छेत्॥ ॥ १७ ॥ महाधनो वा श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्तन्मूत्रशकृद्भक्षी सततमनुव्रजेद्गां ब्राह्मणो वा शिलोंच्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुपधारयेत्पठेत् सततमितरः खनेद्वा कूपं कृशं तु सततं रक्षेत् ॥१८॥ भवति चात्र—

जो निर्धन हो और भाई, बंधु, कुटुंब भी न हों तो वह नंगे पैरों, विना छतरी, भीख मांगकर खाता हुआ, गांव गांव एक एक रात ठहरता हुआ, मुनियोंकी तरह संयम रखता हुआ सौ योजन या इससे भी अधिक गमन करे (इससे प्रमेह नष्ट होजाता है) ॥ १७ ॥ अथवा धनाढ्य हो तो भी श्यामाक, नीवार खा खा कर अथवा आंवले, कैथ, तेंदू, अश्मंतकफल इनका आहार करता हुआ मृगोंके साथ घूमें और उनका मूत्र और मेंगनीका भी सेवन करता रहे अथवा निरंतर गौके संग वनमें फिरे, और ब्राह्मण रोगी हो तो शिला और उंच्छवृत्ति करके ब्रह्मरथ अर्थात् ब्राह्मणोंके गाडेको खींचे अथवा ब्रह्मरथ (वेद) का अध्ययन करे और निरंतर पाठ करे इतर (शूद्र) के रोग हो तो कूवा खोदे परंतु जो रोगी कृश होवे तो उसकी रक्षा करे (उससे परिश्रम न करावे) ॥ १८ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं—

(वा० १८) महाधनः क्षत्रियः मृगैः सह वसेत् । वैश्यः सततं गामनुव्रजेत् । ब्राह्मणो ब्रह्मरथं वेदमुपधारयेत्सततं पठेद्वा । इतरः शूद्रः कूपं खनेत् ।

अधनो वैद्यसंदेशाद्देवं कुर्वन्नतंद्रितः ॥
संवत्सराद्दंतराद्वा प्रमेहात्प्रतिमुच्यते ॥ १९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थान एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

निर्धन मनुष्य भी जो वैद्यकी आज्ञानुसार सावधान होकर ऐसे आचरण करेगा वह वर्ष दिनमें या इससे पहले प्रमेहके रोगसे छूट जावेगा ॥ १९ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मकृत० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थान एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः १२.

अथातः प्रमेहपिडिकाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

यहांसे अगाडी अब प्रमेह पिडिका (प्रमेहजनित फुन्सी) की चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

सराविकाद्या नव पिडिकाः प्रागुक्तास्ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ता मृद्व्योऽल्परुजः क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः ॥ १ ॥

सराविकाको आदि ले नव ९ पिडका पहले निदानस्थानमें कही गई हैं ये बलवानके छोटी हों और त्वचा तथा मांसहीमें हों, कोमल हों, जिनमें स्वल्प पीडा हो, शीघ्र पककर फूट जावें ऐसी पिडिका साध्य होती हैं (ये कभी विना प्रमेह तथा प्रमेहके आद्य अंतमें दुष्ट मेदसे भी होजाती हैं) ॥ १ ॥

प्रमेहपिडिकाकी उत्पत्ति और चिकित्साक्रम।

ताभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं कषायं वस्तमूत्रं चोपदिशेत् ॥ २ ॥ एवमकुर्वतस्तस्य मधुराहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तो भवति तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत ॥ ३ ॥ एवमकुर्वतस्तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणितं प्रदूष्य शोफं जनयंत्युपद्रवांन्वा कांश्चित्तत्रोक्तः प्रतीकारः शिरामोक्षश्च ॥ ४ ॥ एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्ररुजो विदाहमापद्यते तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च ॥५॥ एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यंतरमवदार्योत्संगं महांतमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः । तस्मादादित एव प्रमेहिणमुपक्रमेत् ॥ ६ ॥

(वा० १) एताः सराविकाद्या नव पिडिकाः प्रमेहं विनापि भवंति । उक्तं च 'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः (इति डल्हनः) (वा० ४) तत्रोक्तः शोफोक्तः प्रतीकारः ।

प्रमेहपिडकावाले रोगीकी चिकित्साका यह क्रम है कि पहले प्रमेहके पूर्वरूपमें लंघन, प्रमेहनाशक क्काथ तथा बकरेका मूत्र सेवन करावे ॥२॥ जो ऐसा नहीं करते (पूर्वरूपमें यत्न नहीं करते) उनके मीठे पदार्थ खाते रहनेसे मूत्र, पसीना और कफ मीठा होजाता है और प्रमेह प्रगट हो जाता है इस अवस्थामें (वमन, रेचन द्वारा) दोनों तरफ शोधन करना चाहिये ॥ ३ ॥ जो ऐसा नहीं करते उनके दोष बढकर मांस और रुधिरको दूषित करके (किसी अंगमें) सोजा उत्पन्न करते हैं और दाह, वेदनादि उपद्रव पैदा कर देते हैं इस अवस्थामें शोथमें कहे हुए यत्न करे और सिरामोक्ष (फस्त) करावे ॥ ४ ॥ और अब भी जो ऐसा नहीं करते उनके सोजा बढकर (पककर) बहुत पीडा और जलन पैदा करता है इस अवस्थामें शस्त्रसे चीरा लगाना और व्रणकी क्रियाओंका उपयोग करे ॥ ५ ॥ अब भी जो ऐसा यत्न नहीं करते उनके पीब भीतरको प्रविष्ट होकर भीतरको विदीर्ण करता जाता है और अंदर खूब गहरा घाव करदेता है और बढकर असाध्य होजाता है इस कारण प्रमेहरोगकी आरंभसेही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

धान्वंतरघृत ।

भल्लातकबिल्वाम्बुपिप्पलीमूलोदकीर्यावर्षाभूपुनर्नवाचित्रकशठी-स्नुहीवरुणकपुष्करदंतीपथ्यादशपलोन्मितान्यवकोलकुलत्थांश्च प्रास्थिकान्सलिलद्रोणे निःक्काथ्य चतुर्भागावशिष्टेऽवतार्य वचात्रि-वृत्कंपिल्लकभार्गीनिचुलशुंठीगजपिप्पलीविडंगशिरीषाणां भागै-रर्द्धपलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेन्मेहश्वयथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्र-धिपिडिकानां नाशनं नाम्ना धान्वंतरम् ॥ ७ ॥

भिलावाँ, बेलगिरी, जलपीपल, पीपलीमूल, उदकीर्या (एक भांतिका करंज) वर्षाभू (विसखपरा), साठी, चित्रक, कचूर, थोहर, वरण, पुष्करमूल, दंती, हरीतकी इन्हें दशदश पल लेवे और जौ, बेर, कुलथी इन्हें प्रस्थ प्रस्थ लेवे इन सबका द्रोणभर जलमें क्काथ करे जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतार ले (छान ले) फिर इस क्काथमें वच, निसोथ, कमेला, भारंगी, निचुल (जलवेतस), सोंठ, गजपीपल, विडंग, सिरस इन्हें आधे आधे पल उस क्काथमें डाले (कई वचकी जगह चव्य और सिरसकी जगह रोहिष ऐसा कहते हैं) और एक प्रस्थभर घृत इसी क्काथमें डाले और पकावे यह धान्वंतर नामक घृत प्रमेह, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, बवासीर प्लीहावृद्धि, विद्रधि और प्रमेहपिडिका इनका नाश करता है ॥ ७ ॥

दुर्विरेच्या हि मधुमेहिना भवंति मेदोऽभिव्याप्तशरीरत्वात्तस्मा-

त्तीक्ष्णमेतेषां शोधनं कुर्वीत ॥ ८ ॥ पिडिकापीडिताः सोपद्रवाः सर्वे एव प्रमेहा मूत्रादिमाधुर्ये मधुगंधसामान्यात्पारिभाषिकीं मधुमेहतां लभंते ॥ ९ ॥ नचैतान् कथंचिदपि स्वेदयेत् मेदोबहुत्वादेषां विशीर्यते देहः स्वेदनैः रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्द्धमुत्तिष्ठंति प्रमेहिणां दोषाः ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडिकाः प्रादुर्भवंति ॥ १० ॥

मधुप्रमेहवालोंको विरेचन ठीक २ नहीं होता क्योंकि उनका शरीर मेदसे व्याप्त होता है इस लिये इनका तीक्ष्ण शोधन कराना चाहिये ॥ ८ ॥ जिनके उपद्रवयुक्त प्रमेहपिडिका होती हैं वे सबही प्रमेहवाले मूत्रादिके मीठेपनसे तथा मधुकेसी गंध आनेसे परिभाषा (बोल चाल) में मधुमेहताको प्राप्त होते हैं (अर्थात् परिभाषामें मधुप्रमेही ऐसे कहे जाते हैं) ॥ ९ ॥ इन्हें कभी स्वेद दिलाना नहीं चाहिये क्योंकि इनके शरीरमें मेदा विशेष होनेसे शरीर जीर्ण होजाता है स्वेदनसे रसरक्तादिको बहानेवाली नाडियां दुर्बल होजाती हैं इस कारणसे प्रमेहवालेके दोष ऊपर उठने नहीं पाते इसीवास्ते मधुमेहवालोंके नीचेके अंगोंमें प्रायः पिडिका उत्पन्न होती हैं ॥ १० ॥

अपक्वानां पिडिकानां शोफवत्प्रतीकारः पक्वानां व्रणवदिति तैलं तु व्रणरोपणादौ कुर्वीत । आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे शालसारादिकषायं परिषेचने पिप्पल्यादिकषायं पानभोजनेषु पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टाक्षुद्रबृहतीसारिवासोमवल्कसप्तपर्णारग्वधकुटजमलचूर्णानि मधुमिश्राणि प्राश्नीयात् ॥ ११ ॥

कच्ची प्रमेहपिडिकाका प्रतीकार शोथकी तरह करना और पककर फूटने पर व्रणकी तरहसे करना चाहिये । व्रणके भरनके वास्ते तैल बनाना चाहिये और उत्सादन (उभारने) के लिये आरग्वधादिकका क्वाथ उपयोग करे । परिषेचनके लिये शालसारादिका क्वाथ चाहिये । पीने और भोजनमें डालनेको पिप्पल्यादिकका क्वाथ चाहिये । तथा पाठा, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता), छोटी कटेली, सारिवा, सोमवल्क (श्वेत खदिर), सातला, किरमाला, कुडाकी जड इनका चूर्ण शहतके संग चाटे ॥ ११ ॥

शालसारादिवर्गकषायं चतुर्भागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुन-

रुपनीय साधयेत्सिध्यति चामलकलोध्रप्रियंगुदंतीकृष्णायस्ता-म्रचूर्णान्यावपेदेतदनुपदग्धलेहीभूतमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्ततो यथायोगमुपयुंजीत एष लेहः सर्वमेहानां हंता ॥ १२ ॥

शालसारादि गणका क्वाथ करे जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतारकर छान ले फिर उसे अग्निपर चढाके पकावे, पकते समय आंवले, लोध, प्रियंगू, दंती, कृष्णायः (पोलाद) और ताम्र इन सबका चूर्ण डाले (कई 'कृष्णा' शब्दसे पिप्पली और 'अयः' शब्दसे लोहका ग्रहण करते हैं और कई पोलाद तथा ताम्रकी भस्म लेना ऐसा कहते हैं) और जब पककर अवलेह (चाटने योग्य) होजावे तब उतारकर मुँह बांधकर रखदेवे और यथाबल उपयोग करे यह अवलेह सब प्रमेहोंका नाश करनेवाला है ॥ १२ ॥

नवायसलोह ।

त्रिफलाचित्रकत्रिकटुविडंगमुस्तानां नवभागास्तावंत एव कृष्णायश्चूर्णस्य तत्सर्वमैकध्यं कृत्वा यथायोगं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुंजीत । एतन्नवायसमेतेन जाठर्यं न भवति सन्नोग्निराप्यायते दुर्नामशोफपांडुकुष्ठरोगाविपाककासश्वासप्रमेहाश्च न भवंति ॥ १३ ॥

हरडेकी छाल, बहेडेकी छाल, आंवले, चित्रक, विडंग, सोंठ, मिरच, पीपल, नागरमोथा इन सबको एक २ भाग लेवे और नव ९ भागोंके समान कृष्णलोह (पोलाद) का चूर्ण ले सबको मिलादेवे फिर उसमेंसे यथाबल मात्रा लेकर घृत और शहदमें मिलाकर उपयोग करे, यह नवायसलोह है इसके सेवनसे जठररोग नहीं होते, जठराग्नि मंद हो तो ठीक होजावे और बवासीर, शोथ, पांडुरोग, कुष्ठ, भोजन न पचना, खांसी, श्वास और प्रमेह नहीं होते और हों तो अच्छे हो जाते हैं ॥ १३ ॥

लोह आसवकी विधि ।

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्थांशावशेषिते ॥ परिस्रुते ततः शीते मधुमाक्षिकमावपेत् ॥ १४ ॥ फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च ॥ श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च ॥१५॥ ऐकध्यमावपेत्कुंभे संस्कृते घृतभाविते ॥ पिप्पलीचूर्णमधुभिः

प्रलिप्तेऽन्तः शुचौ दृढे ॥ १६ ॥ श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान् ॥ खदिरांगारतप्तानि बहुशः संनिपातयेत् ॥ ॥ १७ ॥ सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत् ॥ मासांस्त्रीं-श्चतुरो वापि यावद्वालोहसंक्षयात् ॥ १८ ॥ ततो जातरसं तं तु प्रातःप्रातर्यथाबलम् ॥ निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्प-येत् ॥ १९ ॥ कार्श्यकृद्वलिनामेष सर्वस्याग्नेः प्रसाधकः ॥ शो-फनुद्गुल्महृत्कुष्टमेहपाण्ड्वामयापहः ॥ २० ॥ प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः ॥ अभिष्यंदापहरणो लोहारिष्टो महागुणः ॥ २१ ॥

शालसारादि गणका काथ बनावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतारकर छानले फिर जब ठंढा होजावे तब उसमें मधु माक्षिक (शहत) डालदे ॥ १४ ॥ और शुद्ध-गुडकी राब डाले और पिप्पल्यादि गणका चूर्ण भी डाले ॥ १५ ॥ इन सबको इकट्ठा मिलाकर घृतके चिकने घडेमें पीपल- शहत भीतर लेपन करके उसमें डालदे ॥ १६ ॥ और पोलादके पतले पत्र कराकर बुद्धिमान् वैद्य उन्हें खदिरके अंगारोंमें तपा २ कर बहुतसे डालदे ॥ १७ ॥ फिर मुख बंदकरके तीन या चार महीनेतक जौंकी राशिमें (या जौंके कोठेमें) दबाया रक्खे जबतक वे लोहके पत्र गलकर मिल न जावें तबतक रहनेदे ॥ १८ ॥ फिर रस उत्पन्न हुए इस लोहआसवको बलके अनुसार नित्य प्रातःकाल (१ पल) पीवे और इस पर उचित आहार कल्पना करे ॥ १९ ॥ यह मोटेको ठीक पतला करताहै और मंद जठराग्निको तेज करता है,शोथनाशक और गुल्मको हरनेवाला है तथा कुष्ठ, प्रमेह, पांडुरोग इन्हेंभी नष्ट करता है ॥ २० ॥ प्लीह, उदररोग और विषमज्वरको शीघ्र नाश करता है और अभिष्यंद (गुरुता) को भी हरता है, यह लोहासव अति गुणकारक है ॥ २१ ॥

प्रमेहमुक्तके लक्षण ।

प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम् ॥
विशदं तिक्तकटुकं तदाऽरोग्यं प्रचक्षते ॥ २२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

प्रमेहरोगवालेका मूत्र जब पतला और तंतु(तार)रहित साफ हो और चरपरा कडुवा हो तब आरोग्य (आराम) हुआ जानना चाहिये ॥ २२ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः १३.

अथातो मधुमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अब यहांसे अगाडी हम मधुप्रमेहकी चिकित्साका व्याख्यान करतेहैं ॥

मधुमेहकी चिकित्सा और शिलाजीतकी प्रधानता।

मधुमेहित्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम् ॥ योगेनानेन मतिमान्प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥ १ ॥ मासे शुक्रे शुचौ चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः ॥ जतुप्रकाशं द्रवरसं शिलाभ्यः प्रस्रवंति हि ॥ २ ॥ शिलाजतिर्विति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ त्र्प्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम् ॥ ३ ॥ ज्ञेयं स्वगंधतश्चापि षड्योनिप्रथितं क्षितौ ॥ लोहाद्द्रवति यद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥ ॥ ४ ॥ तस्य लोहस्य यद्वीर्यं रसं चापि बिभर्ति तत् ॥ त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम् ॥ तथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठश्रेष्ठगुणाः स्मृताः ॥ ५ ॥

जिसको मधुप्रमेह हो और वैद्योंने जिसे त्याग दिया हो उस मधुप्रमेहवालेकी इस (आगे लिखे शिलाजीतके) प्रयोगसे बुद्धिमान्को चिकित्सा करनी चाहिये॥१॥ जेट और आषाढके महीनेमें जब पर्वत सूर्यकी प्रचंड किरणोंसे तपायमान होते हैं तब उनमें पत्थरोंमेंसे लाख जैसा रस चुवता है ॥२॥ वही शिलाजतु (शिलाजीत) इस नामसे विख्यात है और सब रोगोंका नाश करनेवाला है और रॉंगेसे लेके लोहपर्यंत छहों धातुओंमेंसे किसी न किसीके अंशांश इसमें होतेहैं ॥ ३ ॥ यह छहों धातुओं (सीसा, रांगा, तांबा, चांदी, सुवर्ण और लोह) से उत्पन्न होता है इससे जिस २ धातुका यह होता है उसी २ की सुगंधसे जाना जाता है और लाखके सदृश होता है॥४॥जिस धातुका जैसा वीर्य और रस होता है इसमेंभी उसीकासा वीर्य(पराक्रम) और रस होता है जैसे रांगा, सीसा आदि धातु लोहपर्यंत उत्तरोत्तर प्रधान हैं तैसेही तैसे प्रयोगमें ये शिलाजतुभी जिस २ धातुका हो उसी २ के अनुसार गुणोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होताहै ॥ ५ ॥

(श्लो० २) शुक्रो ज्येष्ठमासः शुचिः आषाढः ग्रीष्मर्तुश्च । जतुप्रकाशं लाक्षासदृशम् । (श्लो० ३) त्र्प्वादीनां त्रपुसीसताम्ररूप्यस्वर्णलोहानां षण्णामिति (नि० स०) । (श्लो० ५) लोहः कृष्णलोहः तथा च सर्वे धातवो लोहनाम्ना बोध्यंते । चतुर्थश्लोकस्योत्तरार्द्धः अग्रिमश्लोकस्यार्द्धेनान्वेतव्यः ।

उत्तम शिलाजीतके लक्षण ।

यत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम्॥कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा ॥ ६ ॥ तेषु यत्कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं च यत् ॥ गोमूत्रगंधि यच्चापि तत्प्रधानं प्रचक्षते ॥ ७ ॥

ये समस्त ही तिक्त (कडवी) और कटु (चरपरी) हो और कुछ २ कसेलापन भी हो, विपाकमें चरकी होती है तथा वीर्यमें गरम, शोषण करनेवाली और छेदन (दोषोंको उच्छेदन) करनेवाली होती है ॥ ६ ॥ इसमें जो काली और भारी हो, चिकनी और जिसमें छिन (पथरियां) न हों तथा गोमूत्रकेसी गंध आवे प्रधान है ॥ ७ ॥

(वक्तव्य) इन पूर्वोक्त लक्षणोंके सिवाय जो शिलाजतु अग्निपर रखनेसे लिंगाकृति ऊपरको द्रव होकर उठे तथा निर्धूम हो उसको जानो कि श्रेष्ठ और उत्तम है ॥

सेवनाविधि ।

तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषो दिनोदये॥ पिबेत्सारोदकेनैवं श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम् ॥ ८ ॥ जांगलेन रसेनान्नं तस्मिञ्जीर्णे तु भोजयेत् ॥ उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात् ॥ ९ ॥ आयुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवार्जितः ॥ जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः॥ ॥ १० ॥ शतं शतं तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके ॥ भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः ॥ ११ ॥

उस शिलाजीतको शुद्ध करके शालसारादि गणके क्वाथकी भावना देकर वमन, रेचनादिसे शुद्ध हुआ रोगी नित्य प्रातःकाल उसे शालसारादिके जलसे पीसकर (घोलकर) बलके अनुसार पीवे॥८॥ (और जब वह पच जावे तब जांगल जीवोंके मांसरसके संग उचित अन्न भोजन करे इसप्रकार पर्वतसे उपजे अमृतके समान शिलाजीतको तुलाभर (सौ पल) सेवन करनेसे मनुष्य शरीर, रूप और बलयुक्त होजाता है और मधुप्रमेहसे छूट जाता है तथा वृद्धपनकी झांई शरीरमें नहीं पडती, देवताओंकी भांति पूर्ण सौ वर्षकी अवस्था होती है ॥ ९ ॥ १० ॥ इसी भांति एक २ तुला सेवन करनेसे सौ सौ वर्षकी और आयु बढजातीहै, दश तुलाके सेवनसे हजार वर्षकी अवस्था होजाती है और भिलावेंके विधानके अनुसार ही इसमें आहार, विहारकी विधि समझिये ॥ ११ ॥

शिलाजीतके गुण ।

मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम् ॥ शोषं शोफार्शसी गुल्मं पांडुतां विषमज्वरम् ॥ १२ ॥ अपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम् ॥ न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यान्न शिलाजतु ॥ १३ ॥ शर्करां चिरसंभूतां भिनत्ति च तथाश्मरीम् ॥ भावनालोडने चास्य कर्तव्यं भेषजैर्हितैः ॥ १४ ॥

यह शिलाजीत प्रमेह, कुष्ठ, मृगी, उन्माद, श्लीपद, विष, क्षयी, शोथ, बवासीर, गुल्म, पांडु और विषमज्वरको थोडेही समयमें सेवन करनेसे नष्ट करता है ऐसा कोई भी रोग नहीं है जिसे शिलाजीत नष्ट नहीं कर सके ॥ १२ ॥ १३ ॥ बहुत समयकी हुई शर्कराको तथा पथरीको भेदन करके नष्ट कर देता है, जिस रोगपर इसे देवे उसी रोगको नाश करनेवाली औषधोंकी इसमें भावना देनी चाहिये और उन्हींके संग घोटकर या घोलकर सेवन करना चाहिये ॥ १४ ॥

एवं च माक्षिकं धातुं तापीजममृतोपमम् ॥ मधुरं कांचनाभासमम्लं वा रजतप्रभम् ॥ १५ ॥ पिबन्हंति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान् ॥ तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थांश्च विवर्जयेत् ॥ १६ ॥

शिलाजीतकी विधिके अनुसार माक्षिक धातु जो तापी नदीमें उत्पन्न हो और अमृतके समान होती है उसका सेवन करे, कंचनके सदृश, मधुर (सुवर्णमाक्षिक) अथवा रजतकीसी कांतिवाली सुपेद अम्लरसवाली (रूप्यमाक्षिक) होती है इन्हें पीनेसे बुढापेके रोग, कुष्ठ, प्रमेह, पांडुरोग और क्षय नष्ट होजाते हैं तथा शिलाजीत और माक्षिकको खानेवाला मनुष्य (जीवनपर्यंत) कपोत और कुलथी न खावे ॥ १५ ॥ १६ ॥

तुवरककल्प ।

पंचकर्मगुणातीतं श्रद्धावंतं जिजीविषुम् ॥ योगेनानेन मतिमान्साधयेत्कुष्ठिनं नरम् ॥ १७ ॥ वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्ण-

---

(श्लो० १४) भावनालोडने इत्यत्र व्याधिहितैर्भेषजैः कर्तव्ये । (श्लो० १६) तद्भावितः शिलाजतुमाक्षिकधातुभ्यां भावितो व्याप्तदेहः कुलत्थकपोतौ यावज्जीवं विवर्जयेत् (इति निबंधसंग्रहः) ।
(श्लो० १७) पंचकर्मगुणातीतमिति—वमनादीनां पंचकर्मणां गुणा नष्टीभूताः यस्मिन् तम् । डल्हनस्तु अत्रेदमाह—पंचमधात्वस्थिगतं कुष्ठं तत्र पूर्वरूपेण सह रसादिधातूनां चतुर्णां क्रियासमूहो अतीतः नष्टोभूतः प्रमेहस्य तु पंचकर्मगुणाः गताध्याये कथिताः । जिजीविषुं प्रमेहिणम् (इति नि. सं.)

वेभूमिषु ॥ वीचीतरंगविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः ॥ १८ ॥ तेषां फलानि गृह्णीयात्सुपक्कान्यंबुदागमे ॥ मज्जास्तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च ॥ १९ ॥ तिलवत्पीडयेद्द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुंभवत् ॥ तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात् ॥ २० ॥ अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ॥ स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान् ॥ २१ ॥ चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे ॥ मंत्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम् ॥ २२ ॥ तत्र मंत्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमंत्र्यते ॥ २३ ॥

जिस रोगीके पंचकर्म (वमनादि) के गुण जाते रहे हों अथवा जिस कुष्ठीके पंचकर्म गुण नष्ट होगये हों, १ पूर्वरूपकृत उपायके गुण, २ त्वग्गत कर्मके गुण, ३ रक्तगत कर्मके गुण, ४ मांसगत क्रियाके गुण, ५ मेदोगत कुष्ठके उपाय करने पर भी कुछ गुण नहीं हुआ हो ऐसा पंचकर्मगुणातीत जो अस्थिगत कुष्ठका रोगी श्रद्धायुक्त जीनेकी इच्छा करता हो तथा प्रमेहवाला हो उन्हें इस योगसे साधन करे ॥ १७ ॥ पश्चिम समुद्रके किनारेकी पृथ्वीमें जो तुवरकके वृक्ष हैं जिनके पत्र समुद्रकी लहरोंके पवनसे कंपित रहते हैं ॥ १८ ॥ उनके पकेहुए फल प्रावृट् ऋतुमें (आषाढके महीनेमें) ग्रहण करे और उनकी गिरी निकालकर सुखा ले और टुकडे टुकडे कर ले ॥ १९ ॥ फिर उसे तिलोंकी तरह द्रोणीमें पेर डाले या पिट्ठीकी तरह पीसकर कसूमकी रैनाकी तरह चुवा ले और उसमेंसे जो तेल निकले उसे आगपर तबतक पकावे जबतक उसमेंका जल नहीं जलजावे ॥२०॥ फिर उसे उतारकर मुँह बंदकरके खातमें पंद्रह दिन तक दबाया रक्खे और रोगीको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचनादिसे मलरहित करके एक पक्ष (१५ दिन) पीछे यत्नपूर्वक ॥ २१ ॥ चतुर्थभक्त (रेचनादिसे १५ दिन बाद सोलहवें दिन तो दोनों समय प्रकृतिके अनुसार भोजन किया हो, दूसरे दिन एकवार भोजन किया हो फिर तीसरे दिन उस लघुकोष्ठवाले)को बलके अनुसार मंत्रसे पवित्र किये हुए उस तैलकी मात्रा देवे और शुक्लपक्ष और शुभ दिन भी देख ले ॥२२॥ जिस मंत्रसे इस तैलको अभिमंत्रित करे उस मंत्रको अब वर्णन करते हैं ॥ २३ ॥

(श्लो० २२) चतुर्थभक्तांतरितः इति–पक्षादूर्ध्वं प्रथमेऽह्नि सायंप्रातः प्रकृतिभोजनद्वयं द्वितीयेऽह्नि प्रातर्भुक्त्वा सायं भोजनं न कार्यं ततस्तृतीयेऽहनि लघुकोष्ठाय प्रातः स्नेहं दद्यादेवं चतुर्थभक्तांतरितो भवतीत्यर्थः (इति निबंधस०) । तैलमात्रां पाणितलप्रमाणां कर्षप्रमाणामित्यर्थः ।

मंत्र ।

मज्जसार महावीर्य सर्वान्धातून्विशोधय ॥

शंखचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः ॥ २४ ॥

हे मज्जसार महावीर्य तुवरकतैल ! तुम सब धातुओं रसरक्तादिको शुद्ध करो शंख, चक्र, गदाको हाथोंमें धारण करनेवाले विष्णु भगवान् अच्युतरूप तुमको आज्ञा देतेहैं ॥ २४ ॥

तेनास्योर्द्ध्वमधश्चापि दोषा यांत्यसकृत्ततः ॥ अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत् ॥ २५ ॥ पंचाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः ॥ पक्षे परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः ॥ २६ ॥ पंचभिर्दिवसैरेवं सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते ॥ तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधुसाधितम् ॥ २७ ॥ निहंति पूर्ववत्पक्वं पिबेन्मासमतंद्रितः ॥ तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ॥२८॥ भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं क्रिमिभर्भक्षितम् ॥ अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत्कुष्ठिनं नरम् ॥२९ ॥

इस तुवरकतैलसे रोगीके दोष दोनों तरफसे वारंवार निकलकर शांत हो जातेहैं फिर सायंकाल विना चिकनाई और विना लवणके ठंढी यवागू पिलावे ॥२५॥ इसी विधिसे इस तेलको पांच दिन तक निरंतर पिलावे और एक पक्ष तक पथ्यसे रहे, क्रोधादि सब त्याग दे, मूंगका यूष और भात पंद्रह दिन पीछेतक खाता रहे॥२६॥ इस विधिसे पांचही दिनमें सब प्रकारके कुष्ठोंसे मनुष्य छूट जाता है। इसी तैलका तिगुने खदिरके क्वाथसे सिद्ध करके पूर्वोक्त विधिसे पकाले और सावधान होकर एक महीनेतक नित्य पीवे और शरीरपरभी इसीका मर्दन करे और भिलावके विधानमें कहेहुए आहारका सेवन करे ॥ २७ ॥ २८ ॥ जो भिन्नस्वरवाला हो (जिसका गला बैठा पडगया हो) तथा जिसके नेत्र लाल होगये हों, शरीर फट गया हो, कीडोंने खालिया हो वह कुष्ठी भी इस प्रयोगके सेवन करनेसे शीघ्र ही कुष्ठरोगसे छूट जातेहैं ॥ २९ ॥

सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना ॥ पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ॥ ३० ॥ तदेव नस्ये पंचाशद्दिवसानुपयोजितम् ॥ वपुष्मंतं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम् ॥ ३१ ॥

(श्लो० २८) निहंति कुष्ठ-प्रमेहं वा इति शेषेणान्वयः ।

वही पूर्वोक्त तुवरकका तैल शहत, घृत और खदिरके काथके संग (एकमास) पीवे और पक्षियोंके मांसका रस भोजन करे तो दोसौ वर्षकी अवस्था होजाती है ॥ ॥ ३० ॥ और इसी तैलका नस्य पचास दिन तक लेवे तो पुष्ट शरीरवाला और पूर्ण धारणा शक्तिवाला होकर तीनसौ वर्षकी अवस्थातक जीनेवाला होजाताहै ॥ ३१ ॥

शोधयंति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया ॥ महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥ ३२ ॥ सांतर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैंधवं चांजनं च ॥ ऐर्म्यं हन्यादर्मनक्तांध्यकाचान्नीलीरोगांस्तैमिरं चांजनेन ॥ ३३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३ ॥

इसकी गिरीको मात्रा (प्रमाण) से मनुष्य पीवे तो देहको शुद्ध करदेता है यह महापराक्रमवाला तुवरक कुष्ठ और प्रमेहको नाश करनेमें परम उत्कृष्ट है ॥ ३२ ॥ और इसकी गिरीको इस विधिसे भस्म करे कि धुवां बाहर नहीं निकले फिर उस भस्मको तैलमें मिलावे और सैंधा नमक तथा सुरमाभी मिलावे और आँखोंमें इसका अंजन करे तो ऐर्म्य (शुक्लगतनेत्ररोग) और रतोंधी तथा काचक रोग और नीली रोग (कृष्णगतरोग) तथा तिमिरको नष्ट करता है ॥ ३३ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्म वि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः १४.

अथात उदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम उदररोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि चावशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि सर्वाण्येव च प्रत्याख्यायोपक्रमेत । तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः कालप्रकर्षात्सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि वा ॥ १ ॥

पहले निदानस्थानमें आठ प्रकारके उदररोगोंके लक्षणादि कहगये हैं उनमेंसे बद्धगुदोदर और परिस्रावी असाध्य हैं शेष छः कृच्छ्रसाध्य हैं सबही उदररोगोंको 'प्रत्याख्याय' (कष्टसाध्य हैं आराम हों भी और न भी हों ऐसा कहकर) चिकित्सा करे इनमेंसे आदिके चार प्रकारके उदररोग (वातोदर, पित्तोदर, कफोदर और

(पा० १) उदरशब्देन चोदररोगाणां ग्रहणम् ।

दूष्योदर) औषधसे साध्य होसकते हैं और पुराने पडकर तो सभी शस्त्रसाध्य होजाते हैं या असाध्य होकर त्यागने योग्य होजाते हैं ॥ १ ॥

उदररोगमें पथ्यापथ्य ।

उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान्परिहरेच्छालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान्नित्यमश्नीयात् ॥ २ ॥

उदररोगवाला मनुष्य भारी, अभिष्यंदी, रूखा, विदाही (जलन पैदा करने वाला), स्निग्ध (अति चिकना) पदार्थ और मांस इन्हें भोजन न करे तथा परिषेक और स्नानको (जो जलमें गोते मारकर किया जावे) त्यागदे तथा शालि चावल और षष्टिक चावल जौ, गेहूं और नीवार (तृणधान्य) इन्हें नित्य भोजन किया करे ॥ २ ॥

वातोदरचिकित्सा ।

तत्र वातोदरिणं विदारिगंधादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगंधाकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च शाल्वणेन चोपनाहयेदुदरं भोजयेच्चैनं विदारिगंधादिसिद्धेन क्षीरेण जांगलरसेन चाभीक्ष्णं स्वेदयेत् ॥ ३ ॥

वातोदर रोगवालेको विदारिगंधादिगणसे सिद्ध कियेहुए घृतसे स्नेहन करावे और तिल्वक (लोध) से पके हुए घृतसे अनुलोमन करे और चित्राफल (दंतीके फल) के तैलसे युक्त विदारिगंधा (शालपर्णी) के क्वाथसे आस्थापन और अनुवासन वस्ति करे तथा शाल्वणसे उदरको उपनाहन (स्वेद) करावे और विदारिगंधादिगणसे सिद्ध किये हुए दुग्धसे अथवा जंगली जीवोंके मांसरससे भोजन करावे और वारंवार खूब स्वेद करावे ॥ ३ ॥

पित्तोदरचिकित्सा ।

पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा श्यामात्रिफलात्रिवृद्विपक्वेनानुलोम्य शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च पायसेनोपनाहयेदुदरं भोजयेच्चैनं विदारिगंधादिसिद्धेन पयसा ॥ ४ ॥

(वा० ३) तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य इत्यत्र सर्पिषा इति पूर्वोक्तेनान्वयः, तिल्वकघृतेन बहुशोनुलोमयेदिति वाग्भटोक्तेः ।

पित्तोदरवालेको काकोल्यादिक मधुर द्रव्योंसे पकेहुए घृतसे स्नेहन करावे और काला निसोथ, त्रिफला, सुपेद निसोथ इनसे पकेहुए घृतसे अनुलोमन करावे तथा न्यग्रोधादिगणके काथमें शक्कर, शहत, घृत मिलाकर आस्थापन और अनुवासन करे और उदरमें खीरसे पसीना दिलावे तथा विदारिगंधादिगणसे सिद्ध कियेहुए दूधसे भोजन करावे ॥ ४ ॥

कफोदरचिकित्सा ।

श्लेष्मोदरिणं पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्निह्य स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्कादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलकबीजकल्कैश्चोपनाहयेदुदरं भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥ ५ ॥

कफोदरीको पिप्पल्यादिके काथसे सिद्ध कियेहुए घृतसे स्नेहन करावे और थोहरके दुग्धसे सिद्ध किये घृतसे अनुलोमन करावे और मुष्कक आदिके कषायमें त्रिकटु, गोमूत्र, यवक्षार और तैल मिलाकर आस्थापन और अनुवासनवस्ति करावे तथा शण (बीज) अलसी, धायके फूल, किण्व (सुराबीज), सरसों और मूलीके बीज इन्हें पीस गरम करके उदरपर पसीना दिलावे (बांधदे) और कुलथीका यूष बनाकर उसमें, त्रिकटु मिलाकर भोजन करावे अथवा खीरमें त्रिकटु मिलाकर खिलावे और वारंवार खूब पसीना दिलावे ॥ ५ ॥

दूष्योदरका यत्न ।

दूष्योदरिणं तु प्रत्याख्याय सप्तलाशंखिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्द्धमासं वा महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा शुद्धकोष्ठं तु मद्येनाश्वमारकगुंजाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत् । इक्षुकांडानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेद्वल्लीफलानि वा मूलजं कंदं वा विषमासेवयेत्तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ॥ ॥ ६ ॥ भवति चात्र—

(वा० ६) यथा मदात्यये मद्यपानं छर्द्यां वमनं सर्पविषे विषभक्षणं तद्वत् विषाद्युत्पन्नोदरे कृष्णसर्पदष्टेक्षुभक्षणं विषभक्षणं वा तेन नीरुजत्वमापद्यतेऽन्यभावं मरण वा कर्मेद दारुणम् (इति डल्हन.) चरके तु सनिपातोदरचिकित्सित वातोदरविधिना कार्यमिति वर्णित यथा—"सन्निपातोदरे सर्वास्तथोक्ताः कार्येत्क्रियाः॥" वृद्धवाग्भटे तु एवमेव विषभक्षणं लिखितम् ।

दूष्योदर (संनिपातोदर) वालेको पहिले ऐसा कहकर कि आराम हो या न हो फिर चिकित्सा करे। इसे सातला, शंखिनी (थोहर विशेष) के स्वरससे सिद्ध कियेहुए घृतसे एक महीना या पंद्रह दिन तक विरेचन करावे अथवा सेहुँड (थोहर) के दूध, सुरा, गोमूत्र इनसे सिद्ध कियेहुए घृतसे विरेचन करावे और जब कोठा शुद्ध होजावे तब कनेर, चिरमिठी और काकादनीकी जड मद्यमें पीसकर पिलावे तथा ईखके गन्नेको काले सर्पसे कटाकर वह चुसावे और वल्लीफल तथा जडके कंद खिलावे अथवा विषका सेवन करावे इन पूर्वोक्त उपायोंसे वह सन्निपातोदरवाला अच्छा होजावे या अन्यभाव (मृत्यु) को प्राप्त होजावे॥६॥ इस विषयमें श्लोक है—

(वक्तव्य) यह दूष्योदर विषादिकोंके भोजनसे होताहै और "विषस्य विषमौषधम्" यह प्रसिद्ध है इसवास्ते इसमें पूर्वोक्त तीक्ष्णप्रयोग लिखे, इनसे अच्छा होजावे या मरजावे परंतु ऐसे तीक्ष्णप्रयोग करने उचित नहीं ॥

कुपितानिलमूलत्वात्संचयित्वान्मलस्य च ॥
सर्वोदरेषु शंसंति बहुशस्त्वनुलोमनम् ॥ ७ ॥

सब प्रकारके उदररोगोंमें मूल कारण वायुका कोप है तथा सबमें मलका संचय होता है इस हेतुसे सब उदररोगोंमें बहुत करके अनुलोमन करानेका (रेचन करानेका) ही उपदेश करते हैं और इसेही अच्छा जानते हैं॥ ७ ॥

उदररोगोंके सामान्य प्रयोग।

अत ऊर्ध्वं सामान्ययोगान्वक्ष्यामः । तद्यथा एरंडतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलमूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम् ॥ ८ ॥ उष्ट्रीक्षीराहारो वान्नवारिवर्जी, पिप्पलीं वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनासेवेत सैंधवाजमोदयुक्तं वा निकुंभतैलम् ॥ ९ ॥ आर्द्रकशृंगवेररसपात्रशतसिद्धं वा वातशूलेऽपचार्यं श्रृंगवेररसविपक्कं क्षीरमासेवेत चव्यश्रृंगवेरकल्कं वा पयसा सरलदेवदारुचित्रकमेव वा मुरंगीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं वा ॥ १० ॥

(वा० ८) उदकवर्जी इति बहूदकवर्जी। डल्हनेन माहिषमूत्रप्रयोगे उदकवर्जी सयोजितः। (वा० ९) पूर्वोक्तेन वातरक्तोक्तेन (इति नि. सं.) निकुम्भो दन्तिवृक्षः। वृद्धवाग्भटे तु सैंधवाजमोदयुक्तं निवृतैलं श्लाघितम् ॥ (वा० १०) पात्रशतसिद्धं तदेव तैलमार्द्रकशृंगवेररसाढकशतपक्कम् (इति डल्हनः) ॥

यहांसे अगाडी हम उदररोगोंके लिये सामान्य प्रयोग कहते हैं वे इस प्रकारके हैं कि, अरंडका तेल केवल गोमूत्र युक्त या दुग्ध युक्त कर एक महीने या दो महीनेतक नित्य पिलावे और जल न पिलावे (अर्थात् बहुतही अल्प पिलावे) अथवा सात दिन तक निराहार रहकर भैंसका मूत्र दुग्धके संग पिलावे ॥ ८ ॥ अथवा सात दिन तक अन्न जल छोडकर केवल ऊँटनीका दूध पिलावे अथवा पूर्वोक्त(वातरक्तोक्त) विधानसे एक महीनेतक पिप्पलीका सेवन करावे अथवा सैंधा नमक और अजमोद मिलाकर दंतीका तेल देवे ॥९॥ वायुशूल युक्त उदररोगमें अदरख और सोंठके सौ आढकमें (एक आढक)सिद्ध किया हुआ यह तैल योजन करे अथवा अदरखके रसमें पकायाहुआ दुग्ध सेवन करे अथवा चव्य और अदरखका कल्क सेवन करे अथवा दूधके साथ सरल, देवदारु और चित्रक सेवन करे अथवा सुरंगी (सोहँजना), शालपर्णी, काला निशोथ और सोंठी इनका कल्क सेवन करे ॥१०॥

ज्योतिष्कतैलं वा क्षीरेण स्वर्जिकाहिंगुमिश्रं पिबेत् । गुडद्वितीयां वा हरीतकीं भक्षयेत् ॥ ११ ॥ सुहीक्षीरभावितानां वा पिप्पलीनां सहस्रं कालेन पथ्याकृष्णाचूर्णं वा सुहीभावितामुत्कारिकां पक्वां दापयेत् ॥ १२ ॥

मालकाँगनीका तैल अथवा दुग्धके संग सज्जी और हींग मिलाके पीवे अथवा गुडमें हरीतकी मिलाकर खावे ॥११॥ अथवा एक हजार पीपलोंको थोहरके दूधकी भावना देकर सेवन करे अथवा बहुत दिन तक हरीतकी और पिप्पलीका चूर्ण खावे अथवा थोहरके दूधसे भावना दीहुई लपसी खिलावे ॥ १२ ॥

हरीतकीचूर्णप्रस्थमाढके घृतस्याङ्गारेष्वभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वार्द्धमासं यवपल्ले वासयेत्ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीकाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत्तद्यथायोगं मासमर्द्धमासं वा पाययेत् ॥ १३ ॥ गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेद्विपक्वं चावतार्य शीतीभूतं मंथानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्तद्यथायोगं मासं मासार्द्धं वा पाययेत् ॥ १४ ॥

हरीतकी (बडी हरड) का चूर्ण एक प्रस्थ लेकर एक आढक घृत अंगारोंपर तपाकर मिलाले और रईसे मथे फिर मुँह बंद करके आधे महीनेतक जौके ढेर

(वा० ११) ज्योतिष्कः काकमर्दनिका (इति डल्हनः)। चन्द्रतोमे तु ज्योतिष्मतीलतायां चिनन्दृक्षे गणकारीवृक्षे मेथिकायां चास्य प्रवृत्तिः। (वा० १३) खजो मंथानदण्डः रई इति लोके ॥

(या खत्ते) में दबा दे फिर निकालकर छान ले और हरीतकीका क्वाथ, खट्टा दही उसमें और मिलाकर पकालेवे फिर इसे यथायोगसे एक महीना या पंद्रह दिन तक पिलावे॥१३॥ अथवा गौके दुग्धमें थोहरका दुग्ध (चतुर्थांश) मिलाकर पकावे पक जानेपर उतारकर ठंढा करले और रईसे मथकर घृत निकाल लेवे फिर उस घृतको थोहरके दूधमें(चतुर्थांशमें) मिलाकर पकाले फिर उसे यथायोगसे एक महीना या पंद्रह दिन तक पिलावे इससे सब प्रकारके उदररोग अच्छे होजाते हैं ॥१४॥

चव्यचित्रकदंत्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदहरिद्राशंखिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्द्धकर्षिका भागा राजवृक्षफलमज्जानामष्टौ कर्षा महावृक्षक्षीरपले द्वे गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि एतत्सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्तद्यथायोगं मासमर्द्धमासं वा पाययेत्॥ ॥ १५ ॥ एतानि तिल्वकघृतचतुर्थानि सर्पींष्युदरगुल्मविद्रध्यष्ठीलानाहकुष्ठोन्मादापस्मारेषूपयोज्यानि विरेचनार्थम् ॥ १६ ॥

चव्य, चित्रक, दंती, अतीस, कूट, सारिवा, त्रिफला, अजमोद, हलदी, शंखिनी (यवतिक्ता), निसोथ, सोंठ, मिरच, पीपल इन सबको आधा २ कर्ष लेवे और किरमालेकी फलीके गूदेको आठ कर्ष (दो पल) ले और थोहरका दूध भी दो पल ले और गौका दूध आठ पल और गोमूत्र भी आठ पल लेवे इन सबको एक प्रस्थ भर घृतमें पकावे इसे यथायोगसे एक महीना या पंद्रह दिन तक पिलावे॥ ॥ १५ ॥ ये तीनों घृत (जो १३ वें वाक्य से १५ वें तक वर्णन किये गए और चौथा तिल्वकघृत (वातव्याधिवर्णित) ये चारों घृत विरेचनके लिये उदररोग, गुल्म, विद्रधि, अष्ठीला, आनाह (अफरा), कुष्ठ, उन्माद, मृगी इतने रोगोंपर योजना करने चाहिये ॥ १६ ॥

मूत्रासवारिष्टसुराश्चाभीक्ष्णं महावृक्षक्षीरसंभृताः सेवेत विरेचनद्रव्यकषायं वा शृंगवेरदेवदारुं प्रगाढम् ॥ १७ ॥

अथवा गौ आदिक मूत्र, आसव, अरिष्ट, सुरा इनमें थोहरका दूध मिलाकर सेवन किया करे अथवा विरेचन द्रव्योंके क्वाथमें अदरख और देवदारु मिलाकर सेवन करे ॥ १७ ॥

आनाहवर्त्ति ।

वमनविरेचनद्रव्याणां पालिका भागाः पिप्पल्यादिवचादिहरिद्रादिपरिपठितानां च द्रव्याणां श्लक्ष्णपिष्टानां यथोक्तानां च लव-

णानां तत्सर्वं मूत्रगणे प्रक्षिप्य महावृक्षक्षीरप्रस्थं च मृद्वग्निना घट्टयन्विपचेदप्रदग्धकल्कं तत्साधुसिद्धमवतार्य शीतीभूतमक्षमात्रां गुटिकां वर्त्तयेत्तासामेकां द्वे तिस्रो वा गुटिका बलापेक्षया मासांस्त्रींश्चतुरो वा सेवेत ॥ १८ ॥ एषा आनाहवर्तिक्रिया विशेषेण महाव्याधिषूपयुज्यते कोष्ठजांश्च क्रिमीनपहंति कासश्वासक्रिमिकुष्ठप्रतिश्यायारोचकाविपाकोदावर्तांश्च नाशयति ॥ १९ ॥

वमन और विरेचनके द्रव्योंका एक एक पल भाग लेवे और पिप्पल्यादिक, वचादिक और हरिद्रादिक गणोंके द्रव्योंको महीन पीस ले और सब नमक पल २ लेवे इन सबको गोमूत्रआदिक मूत्रगणमें डालकर थोहरका दूध एक प्रस्थ डाले फिर सबको मिलाकर मंदी अग्निसे पकावे और पकते समय घोटता जावे जब वह कल्क जले नहीं और ठीक २ पकजावे तब उसे उतारकर ठंढा करलेवे और अक्षप्रमाणकी गोलियां बनालेवे इनमेंसे बलके अनुसार एक या दो या तीन गोली नित्य सेवन करे ऐसे तीन या चार महीनेतक सेवन करे ॥ १८ ॥ यह आनाहवर्तीकी क्रिया है विशेष करके यह महाव्याधियोंमें उपयोग कीजाती है यह कोठेके क्रमियोंको नष्ट करती है तथा खांसी, श्वास, क्रमि (बाह्यक्रमि), कुष्ठ, प्रतिश्याय, अरुचि और भोजन न पचना तथा उदावर्त इतने रोगोंको नाश करती है ॥ १९ ॥

फलवर्त्ति ।

मदनफलमज्जकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवत्रिवृत्त्रिकटुसर्षपलवणानि महावृक्षक्षीरमूत्रयोरन्यतरेण पिष्ट्वांगुष्ठमात्रां वर्तिं कृत्वोदरिणे आनाहे तैललवणाभ्यक्तगुदस्यैकां द्वे वा पायौ निदध्यादेषानाहवर्तिक्रिया वातमूत्रपुरीषोदावर्त्ताध्मानानाहेषु विधेया ॥२०॥

मैनफलकी गिरी, इंद्रजौ, देवदाली, कडुतुंबी, धामार्गव (घिया तुरई), निसोथ, सोंठ, मिरच, पीपल, सरसों और लवण इन्हें थोहरके दूधमें या गोमत्रमे पीसकर एक अंगुष्ठ बराबर बत्तीसी लंबी गुटी बनावे और यदि उदररोगवालेका पेट फूल जावे (अफरा होजावे) तो उसकी गुदामे तैल और लवण लगाकर उसमें एक या

(वा० १८) पिप्पल्यादिद्रव्याणामपि पालिका भागाः बलापेक्षया भक्षयितव्याः गवादिमूत्रानुपानम् (इति डल्हनः) (वा० १९) महाव्याधिषु उदरादिषु । क्रिमिशब्दस्य पुनःपाठो बाह्याभ्यंतरक्रिमिग्रहणार्थम् । (वा० २०) जीमूतकः देवदाली । इक्ष्वाकुः कडुतुंबी । धामार्गवः महाकोशातकी ।

दो वे लंबी गुटी रखदे यह आनाहवर्तिक्रिया वायु, मूत्र और मलके रुकजानेमें उदावर्तमें, आध्मान (मलबद्धता) में और पेट फूलजानेमें उपयोग करनी चाहिये ॥२०॥

प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतां वामबाहौ कूर्पराभ्यंतरतः शिरां विध्येद्विमर्दयेत्पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यंदनार्थम् ॥२१॥

प्लीहोदरवालेको (जिसके पेटमें तिल्ली बहुत ही बढ़गई हो उसे) स्नेहन कराकर स्वेद दिलाकर, दहीका भोजन कराकर बायें हाथकी कोहनीके बीचकी नस (रगें शलाकासे) वेधे (फरत खोले) और रक्त निकलनेके लिये तिल्लीको हाथसे मलते जावे ॥ २१ ॥

ततः संशुद्धदेहं समुद्रशुक्तिकाक्षारं पयसा पाययेद्धिङ्गुसौवर्चिकाक्षारेण स्नुतेन पलाशक्षारेण वा यवक्षारं पारिजातकेक्षुरकापामार्गक्षारं वा तैलसंसृष्टं शोभांजनकषायं वा पिप्पलीसैंधवचित्रकयुक्तं पूतिकरंजक्षारं वाम्लस्नुतं विडलवणपिप्पलीप्रगाढम्॥२२॥

फिर शुद्ध शरीर होजानेपर समुद्रकी सीपकी भस्म दुग्धके संग पिलावे अथवा हींग और सज्जीखारको टपकाकर या ढाकके खारको टपकाकर उसके संग जवाखार खावे अथवा नींब, तालमखाने और ओंगा इनका क्षार तैलमें मिलाकर चाटे अथवा सोहँजनेका क्वाथ करके उसे पीपल, सेंधा नमक चित्रकके संग पीवे अथवा पूतिकरंजका क्षार खटाईसे टपकाकर विडलवण और पीपल मिलाकर पीवे ॥ २२ ॥

षट्पलकघृत ।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकशृंगवेरयवक्षारसैंधवानां पालिका भागा घृतप्रस्थं तत्तुल्यं क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेदेतत्षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसंगगुल्मोदरोदावर्तश्वयथुपांडुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्द्ध्ववातविषमज्वरानपहंति ॥ २३ ॥ मंदाग्निर्वा हिंग्वादिकं चूर्णमुपयुंजीत ॥ २४ ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, सोंठ, जवाखार, सेंधा नमक इन छः वस्तुओंको पल पल भर लेवे और घृत एक प्रस्थ लेवे और घृतके समान दूध लेवे इन सबको इकट्ठा करके पका लेवे यह षट्पलनामक घृत है यह प्लीहा, अग्निसाद (मंदाग्नि), गुल्म, उदावर्त, शोथ, पांडुरोग, खांसी, श्वास, प्रतिश्याय, ऊर्ध्ववात, विषमज्वर

(वा० २१) दधिभोजनेन रक्तक्लेशनाशकरणं यथा कफव्याधिप्रयुक्तवमनकर्मादौ कफकारकभोजन तद्वत्

इतने रोगोंको नाश करता है ॥ २३ ॥ और जो रोगी मंदाग्निवाला हो तो उसे हिंग्वादि चूर्ण खिलावे ॥ २४ ॥

यकृद्वृद्धिका यत्न।

यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ शिराव्यधः ॥ २५ ॥

यकृदुदरी (जिसके पेटमें जिगर अति बढ गया हो) उसको भी यही प्लीहोक्त औषधोंका उपयोग करे परन्तु इतनी बात विशेष है कि यकृत् वृद्धिवालेके दाहिने हाथकी फस्त खोले ॥ २५ ॥

मणिबंधं समुन्नाम्य वामांगुष्ठसमीरिताम् ॥
दहेच्छिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशांतये ॥ २६ ॥

बायें मणिबंध (पहुँचे) को थोडा नवाकर बायें अंगूठेको दबानेसे जो शिरा (ऊपरको उठती) है उसको शर (बाण) की नोक गरम लाल करके उससे दाग देवे ऐसा करनेसे प्लीहावृद्धि नष्ट होजातीहै ॥ २६ ॥

बद्धगुदोदर और परिस्राव्युदरकी चिकित्सा।

बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याऽधो नाभेर्वामतश्चतुरंगुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरंगुलप्रमाणान्यन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यांत्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वापोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यांत्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत् ॥ २७ ॥ परिस्राविणि चाप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान्संशोध्य तच्छिद्रमन्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेद्दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि ततः पूर्ववत्सीव्येत्संधानं च यथोक्तं कारयेत् ॥ २८ ॥ यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदावलिप्य बंधेनोपचरेत्ततो निवातमगारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेद्वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति ॥ २९ ॥

बद्धगुदोदर और परिस्राव्युदरवालोंको स्नेहन, स्वेदन, कराके ऊपर तैलाभ्यंग करके नाभिसे नीचे बायें तरफ चार अंगुल पेटकी रोमावलीसे छोडकर पेटमें चीरा लगावे और चार अंगुल प्रमाण आंतोंको बाहर निकालकर देखे जो बद्धगुद हो तो

उसकी आंतडीके रोकनेवाले पत्थर, बाल या मलकी गांठको निकालकर फिर आंतोंके शहत और घृत चुपडकर अपनी जगहपर स्थापन करदे और पेटका बाहरी जखम सीम देवे ॥ २७ ॥ इसी भांति परिस्राव्युदरवालेकी आंत बाहर निकालकर उनमें जहां शल्य हो उसे निकालकर आंत जहांसे झिरती हो वहांसे शुद्ध करके आंतके छिद्रको ठीक करके उसपर काली चेंटियोंसे कटावे जब वे काटें तब उनका धड चोंट चोंटकर फेंकदे, शिर वहांही रहनेदे फिर पहलेकी भांति सीम दे और जखमका मुँह मिलादे ॥ २८ ॥ फिर मुलेठी और काली मिट्टी मिलाकर व्रणपर लेप करके बांध दे और निर्वातस्थानमें प्रवेश करके परिचारकको सब विधि समझा दे अथवा तैल या घृतकी द्रोणीमें रक्खे और केवल दूध पिलावे ॥ २९ ॥

उदकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थित-स्यासुपरिगृहीतस्याकक्षात्परिवेष्टितस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरंगु-लमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनांगुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं वि-ध्येत् । तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिंचेत्ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणबंधेनोपचरेत् ॥ ३० ॥ नचैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदक-मपहरेत् । सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वरांगमर्दातीसारश्वासपाद-दाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भूशतरमुदरमसंजातप्राणस्य । तस्मात्तृ-तीयचतुर्थपंचमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतरमंतरी-कृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिंचेत् ॥ ३१ ॥ निःस्रुते निःस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं यथा नाध्मापयति वायुः ॥ षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जांगलरसेन वा तत्र त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जांगलरसेन चावशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेतैवं संवत्सरेणागदी भ-वति ॥ ३२ ॥ भवति चात्र—

जलोदरवालेको यदि अन्य उपायोंसे आराम न हो तो वायुनाशक तैल लगाकर गरम जलसे स्वेदन कराके बिठावे और प्रामाणिक मनुष्य उसे पकडे रहे और कांखतक पेटपर कपडा बंधवा दे और नाभिके नीचे चार अंगुलपर रोमावली छोडकर बांयें

तरफको ब्रीहिमुख शस्त्रसे अंगूठेकी मुटाईके समान गहरा वेध करदे और उस छिद्रमें रांग आदिकी अथवा थोथी पांखकी दोनों तरफसे खुली नली लगाकर दूषित जलको पेटसे निकाले फिर नली निकालकर छिद्रके मुखपर तेल और सेंधा नमक मल दे और बांध दे॥ ३०॥ एकही दिनमें सब दूषित जल नहीं निकाले एक-वार निकाल देनेसे तृषा, ज्वर, अंगडाई, अतिसार, श्वास, पैरोंमें जलन आदि रोग पैदा होजाते हैं और उस निर्बल रोगीका पेट फूल जाता है इसलिये तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, आठवें, दशवें, बारहवें तथा सोलहवें दिन अंतर दे दे कर दूषित जल थोडा थोडा निकालते रहे॥ ३१॥ ज्यों ज्यों दूषित जल निकले तभी ऊनका तथा रेशमी गाढा कपडा या चर्म पेटपर खूब बांध देवे जिससे वायु पेटको फुला न देवे और छः महीने दूध अथवा जंगली जीवोंके मांसके रसका आहार करे फिर तीन महीने अर्द्धोदक दूध और फलोंकी खटाई सहित जंगली जीवोंका मांसरस तथा शेष तीन महीने हितकारक हलका अन्न भोजन करे इसप्रकार एक वर्षमें रोग-रहित होसकता है ॥ ३२ ॥ इस विषयमें श्लोक है-

आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाहारविधिक्रियासु ॥ सर्वो-दरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जांगलजो रसो वा ॥ ३३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

सब उदररोगवालोंका आस्थापनमें विरेचनमें पिलानेमें आहारमें कुशल वैद्योंको चाहिये कि औटाया हुआ दूध अथवा जंगली जीवोंके मांसका रस उपयोग करें॥ ३३॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पंचदशोऽध्यायः १५.

अथातो मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम मूढगर्भकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

मूढगर्भकी कठिनता ।

नातः कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणमत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन उत्कर्षणाऽपकर्षणस्थानाऽपवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जुकरणदारणानि चैकहस्तेन । गर्भं गर्भिणीं वा हिंसता तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत ॥ १॥

(वा० १) उत्कर्षणमधोगतस्योर्ध्वीकरणम् । 'उत्कर्तनम्' इत्यत्र उद्वर्तनमिति वा पाठान्तरम् । उद्वर्तनं अवाङ्मुखस्योत्तानीकरणमिति ।

जैसा मूढगर्भके शल्य निकालनेका कठिन काम है ऐसा और नहीं है क्योंकि इसनें योनि, यकृत्, प्लीहा, आंतोंके विवर और गर्भाशय इन स्थानोंमें स्पर्श करके (टोह २ करके जाँचकर) काम करना पडता है और काम भी कैसा कि भीतरही गर्भके ऊपरको उकसाना, नीचे सरकाना, एक जगहसे दूसरी जगह करना, उखाड़ना, भेदन करना, काटना, दबाना, सीधा करना और विदारण करना सब एकही हाथसे करना होता है इसमें गर्भगत बालककी तथा गर्भिणीकी मृत्यु होजावे तो हिंसा होती है इससे राजा अथवा उसके स्वामीसे पूछकर बहुत धीरतासे यत्न करना आरम्भ करे ॥ १ ॥

तत्र समासेनाष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा स्वभावगता अपि त्रयः संगा भवंति शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा ॥ २ ॥

इस मूढगर्भमें इसकी आठ प्रकारकी गति पहले निदानस्थानमें वर्णन करी गई है इनमें तीन स्वभावहीसे होनेवाले भी रुकजाते हैं १ शिरकी विगुणतासे, २ हाथों कंधोंकी विगुणतासे, ३ जंघाकी विगुणतासे ॥ २ ॥

जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत निर्हर्तुमशक्ये च्यवनान्मंत्रानुपश्रृणुयात्तान्वक्ष्यामः ॥ ३ ॥

गर्भगतबालक जीवता हो तो उसे (जीताही) निकालनेका यत्न करना चाहिये और जब नहीं निकल सके तो गर्भमोक्षणके मंत्रोंको सुनो हम कहते हैं (इनसे रुका गर्भ निकल आता है) ॥ ३ ॥

मंत्र ।

इहामृतं च सोमं च चित्रभानुश्च भामिनि ॥ उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मंदिरे निवसंतु ते ॥ ४ ॥ इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुंचतु स्त्री ॥ तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशंतु शांतिम् ॥ ५ ॥ मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः ॥ मुक्तः सर्वभयाद्गर्भ एह्येहि माचिरं स्वाहा ॥ ६ ॥

इन मंत्रोको आगे लिखेहुए अर्थके सहित याद करना चाहिये और समयपर इनसे जलको अभिमंत्रित करके एक घूंट स्त्रीको पिलादे और जरासा छींटा उदर और कमरपर लगादे इनका अर्थ यह है कि हे भामिनी ! तेरे स्थानमें अमृत और चंद्रमा या सोम औषध तथा चित्रभानु और उच्चैःश्रवा घोडा निवास करे ॥ ४ जलसे निकाला हुआ अमृत इस तेरे हलकेसे गर्भको छुडावे और हे स्त्रि ! अग्नि, वायु

सूर्य, इंद्र लवणके समुद्र सहित तेरेको शांति प्रदान करे ॥ ५ ॥ पशु बंधसे छूटे, सूर्यने किरणें छोडदीं, गर्भ भी सब भयोंसे छूटा, हे गर्भ! तू आ आ, विलंब मतकर॥ ६॥

गर्भसंधमें औषध।

औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि ॥ ७॥

और औषधें भी जैसे शारीरकस्थानमें वर्णन हुई हैं समयानुसार उन्हें करे (देखो शारीरकस्थानका १० वाँ अध्याय) ॥ ७ ॥

जीवित व मृतबालकके निकालनेकी विधि।

मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वननगवृत्तिकाशाल्मलीमृल्लाघृताभ्यां भ्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत् ॥ ८ ॥ तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममवाञ्छेत्। एकसक्थिप्रपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्यापहरेत् । स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्योर्द्धमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्यापहरेत् । तिर्यगागतस्य परिघस्यैव तिरश्चीनस्य पश्चादर्द्धमुत्क्षिप्य पूर्वार्द्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्। पार्श्वापवृत्तशिरसमंसं प्रपीड्योर्द्धमुत्क्षिप्य शिरोपत्यपथमानीयापहरेत्। बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोनुलोममानीयापहरेत्। द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत् ॥ ९ ॥

यदि गर्भमें बालक मर गया हो तथा चकारशब्दसे जीवता हो और रुक गया हो तो स्त्रीको सीधा लिटाकर दोनों साथलें चौडी कराकर कमरके नीचे कुछ वस्त्र रखकर कमर ऊंची कराकर (चतुर वैद्य या दाई) हाथमें धन्वन, नग वृत्तिका और संभल इनकी मिट्टी और घृत भली भांति चुपडकर योनिमें हाथ डालकर गर्भको निकाल लेवे ॥ ८ ॥ और यदि दोनों साथलें निकली हों तो उसे सीधाही खींचले यदि एक पाँव बाहर आया हो तो दूसरे भी पाँवको सीधा बाहर लाकर खींचले। यदि चूतड बाहर दीखते हों तो चूतडोंको ऊपरसे हटा दे और दोनों पाँव सीधे निकालकर खींचले और जो तिरछा वज्रकी भांति हो तो उसके पिछले धडको ऊपरको ठकसादे और फिर पूर्वार्द्धको योनिकी तरफ लाकर खींचले और यदि पसवाडेकी तरफसे आयाहुआ हो तो उसके कंधे ऊपरको ठकसाकर योनिद्वारपर शिर लाके खींचले और जो दोनों हाथ बाहर आगये हों तो दोनों हाथोंको ऊपरको धकेलकर

शिरको द्वारपर लाकर खींचले। इनके सिवाय पिछले दो मूढगर्भ असाध्य हैं लाचार इनमें कोई यत्न न चलसके तब शस्त्रकर्म करे॥ ९॥

जीवितगर्भमें शस्त्रका निषेध।

सचेतनं च शस्त्रेण न कथंचन दारयेत्॥

दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत्॥ १०॥

यदि जीवता बालक गर्भमें रुकाहुआ हो तो उसे कदाचित् भी शस्त्रसे नहीं छेदन करना चाहिये क्योंकि उसके छेदन करनेसे गर्भवती और बालक दोनों मरजाते हैं॥ १०॥

मृतगर्भका छेदन प्रकार।

तत्र स्त्रियमाश्वास्य मंडलाग्रेणांगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरःकपालान्यपहृत्य शंकुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वापहरेद्-भिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गंडे वा। अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहुं छित्त्वा दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यांत्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्। जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति॥ ११॥

गर्भमें बालक मर गया हो तो स्त्रीको खूब हितकारक वचनोंसे समझाकर मंडलाग्र शस्त्रसे अथवा अंगुली शस्त्रसे बालकका शिर विदारण करके शिरके कपालों (खोपरी) को शंकुसे पकडकर अथवा पेटको पकडकर या कांखमेंसे पकडकर बाहर खींच लेवे और जो शिरछेदनकी आवश्यकता न हो (मृतगर्भका शिर योनिद्वारपरही हो तो उसकी कनपटी या गंडस्थलमेंसे पकडकरही खींच ले और जो कंधे रुकें तो कंधोंके पाससे हाथोंको काटकर निकाल देवे और यदि मशककी तरह आडा हो या पेट हवासे फूला हो तो पेटको चीरकर आंतें निकालकर शिथिलीभूत गर्भको बाहर खींच ले और जो कूले साथल अटकते हों तो कूलोंको काट ले॥ ११॥

स्त्रीकी रक्षा।

यद्यदंगं हि गर्भस्य तस्याः खर्जति सद्भिषक्॥

सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ १२॥

गर्भवतीके मृत गर्भके जिस जिस अंगको वैद्य मथन या भेदन करे उसे अच्छे प्रकार काट काट कर बाहर निकाल लेवे (कुछभी अंश भीतर नहीं रहने देवे) और (काटते और निकालते समय तथा पीछे भी) यत्नपूर्वक स्त्रीकी रक्षा करे॥ १२॥

(वा० ११) दृतिः चर्मनिर्मितोदकपात्रं मशक इति प्रसिद्धम् (इति श० स्तो०)

(श्लो० १२) खर्जति 'खर्ज—विलोडने' इत्यस्य धातोः। 'सद्भिषक्' इत्यत्र तद्भिषक् इति वा पाठांतरम्॥

गर्भस्य गतयश्चित्रा जायंतेऽनिलकोपतः ॥
तत्रानल्पमतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम् ॥ १३ ॥

वायुके कोपसे गर्भकी विचित्र अनेक गति होजाती हैं इसमें अतिबुद्धिमान् वैद्य समयके अनुसार विधिवत् बर्ताव करे ॥ १३ ॥

मृतगर्भमें विलंबका दोष ।

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पंडितः ॥ स ह्याशु जननीं हंति निरुच्छ्वासं पशुं यथा ॥१४॥ मंडलाग्रेण कर्त्तव्यं छेद्यमंतर्विजानता ॥ वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात्कदाचन ॥ १५ ॥

यदि बालक गर्भमें मरजावे तो उसे बहुत ही शीघ्र जैसे होसके साबत या काटकर निकालही डाले विद्वान् वैद्यको इसमें दो घडी भी विलंब करना उचित नही क्योंकि गर्भमें मरा हुआ बालक शीघ्रही माताको मृत्युकारक होताहै जैसे श्वास रुकनेपर पशु भी शीघ्र मरजाताहै ॥ १४ ॥ भीतरी शारीरक अंत्र आदिका जाननेवाला वैद्य मंडलाग्रनामक शस्त्रसे मृतगर्भका छेदन करे क्योंकि वृद्धिपत्र (छुरी-की नोक तीक्ष्ण होती है इससे गर्भवतीकी आंतें आदि कटकर मरजानेकी शंका है (मंडलाग्रकी नोक अगाडीसे तीक्ष्ण नहीं होती है) ॥ १५ ॥

अपराके निकालनेका यत्न ।

अथापतंतीमपरां पातयेत्पूर्ववद्भिषक् ॥ हस्तेनापहरेद्वापि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा ॥ १६ ॥ धुनुयाद्वा मुहुर्नारीं पीडयेद्वांसपिंडिकाम् ॥ तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ॥ १७ ॥

यदि अपरा (जरायु ओल नाल) नहीं निकली हो तो उसे पूर्वोक्त (शारीरकस्थानके १० वें अध्यायमें कही हुई) विधिसे निकाले अथवा तैल लगाकर हाथसे निकाल ले या पसवाडोंको मले ॥ १६ ॥ और स्त्रीको हिलावे अथवा कंधोंको और पिंडलियोंको मले तथा योनिमें तैल लगा देवे इन क्रियाओंसे वैद्य जरायु निकाल ले ॥ १७ ॥

गर्भ निकालनेके उत्तर क्रिया ।

एवं निर्हृतशल्यां तु सिंचेदुष्णेन वारिणा ॥ ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ॥ एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब मृतगर्भ और अपरा निकल जावें तब गरम जलका सेचन करना और शरीरपर तैल मर्दन करना और योनिको भी तैलसे चुपड़ना चाहिये

ऐसा करनेसे योनि कोमल (नरम) हो जाती है और शूल भी शांत हो जाता है ॥ १८ ॥

कृष्णातन्मूलशुंठ्येला हिंगुभार्ङ्गीसदीप्यकाः ॥ वचातिविषा रास्नां चव्यं संचूर्ण्य पाययेत् ॥ १९ ॥ स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥ क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम् ॥ ॥ २० ॥ शाकत्वग्घिंग्वतिविषापाठाकटुकरोहिणीः ॥ तथा तेजोवतीं चापि पाययेत्पूर्ववद्भिषक् ॥ २१ ॥ त्रिरात्रं पंचसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत् ॥ पाययेद्वासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम् ॥ ॥२२॥ शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम् ॥ उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान्यथास्वमुपाचरेत् ॥२३॥ सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना ॥ स्नेहाभ्यंगपरा नित्यं भवेत्क्रोधविवर्जिता ॥२४॥ पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ॥ रसं दशाहं शेषे तु यथायोगमुपाचरेत् ॥ २५ ॥

पीपल, पीपलामूल, सोंठ, बडी इलायची, हींग, भारंगी और अजमोद, वच, अतीस, रास्ना और चव्य इन्हें चूर्ण करके (उष्णोदकमें) पिलावे ॥ १९ ॥ तथा दोषोंके निकलनेके लिये और पीडाकी शान्ति होनेके लिये इन्हीं पूर्वोक्त पिप्पल्यादि द्रव्योंका क्वाथ स्नेह युक्त पिलावे और इन्हीका कल्क करके देवे अथवा इन्हींका चूर्ण विना स्नेहके देवे ॥ २० ॥ अथवा सागोनकी छाल, हिंगु, अतीस, पाठा, कुटकी और तेजवल इन्हें पूर्वोक्त रीतिसे पिलावे ॥ २१ ॥ पूर्वोक्त औषधें तीन दिन या पांच दिन या सात दिन तक पीवे फिर स्नेह (घृत) पान करे अथवा रात्रिको उचित आसव या संस्कार किया हुआ अरिष्ट पिलावे ॥ २२ ॥ तथा शिरष और कुहाका क्वाथ भी पीना हित है। यदि किसी प्रकारका उपद्रव (अतिसार, शूल, ज्वर आदि) हो तो उसकी यथायोग्य चिकित्सा करे ॥ २३ ॥ जब सब भांति शुद्ध होजावे तब स्निग्ध पथ्य और अल्प अन्न भोजन करे और नित्य शरीरपर तैल मर्दन करे तथा क्रोधसे रहित रहे ॥ २४ ॥ तथा वातनाशक द्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ दुग्ध दश दिन तक भोजन करना उचित है और फिर दश दिन यथोचित मांसरसका उपयोग करे ॥ २५ ॥

(श्लो० २१) अग्रिमश्लोकस्याद्यपदेन सहास्यान्वयः ।

शुद्ध होनेपर यथेष्ट आहारादिकी आज्ञा ।

व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च बलवर्णिनीम् ॥
ऊर्द्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः विसृजेत्परिहारतः ॥ २६ ॥

जब उपद्रवरहित शुद्ध हुई जानी जावे और स्वस्थकासा बल और रूप हो और गर्भ निकालेको चार माससे ऊपर होजावे तब यथेष्ट आहार विहार करने देवे ॥ २६ ॥

बलातैल ।

योनिसंतर्पणेऽभ्यंगे पाने वस्तिषु भोजने ॥ बलातैलमिदं वास्यै दद्यादनिलवारणम् ॥ २७ ॥ बलामूलकषायस्य दशमूलीकृतस्य च ॥ यवकोलकुलत्थानां क्काथस्य पयसस्तथा ॥ २८ ॥ अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदैकतः ॥ पचेदावाप्य मधुरं गणं सैंधवसंयुतम् ॥ २९ ॥ तथागुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च ॥ मंजिष्ठां चंदनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम् ॥ ३० ॥ मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम् ॥ शतावरीमश्वगंधां शतपुष्पां पुनर्नवाम् ॥ ३१ ॥ तत्साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृण्मयेपि वा ॥ प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥ ३२ ॥ बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत् ॥ यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत् ॥ ३३ ॥

योनिके संतर्पण और शरीरपर मलने, पान करने तथा वस्तिकर्म और भोजनमें यह नीचे लिखा हुआ वायुनाशक बलातैल उक्त प्रसूता स्त्रीको उपयोग करना चाहिये ॥ २७ ॥ इसे इस भांति बनावे कि बला (खरेंटी) की जडका क्काथ और दशमूलका क्काथ तथा जौ, बेर और कुलथीका क्काथ तथा दूध ॥ २८ ॥ इन सबके आठ आठ भाग ले और एक भाग तिलका तेल लेवे और अग्निपर चढाकर पकावे इसमें मधुरगण (काकोल्यादिको) और सैंधा नमक मिलावे ॥ २९ ॥ तथा अगर, राल, सरलनिर्यास, देवदारु, मंजीठ, चंदन, कूट, इलायची, तगरभेद ॥ ३० ॥ जटामांसी, शैलेय (शिलारस) पत्रज, तगर, सारिवा, वच, शतावरी, असगंध, शतपुष्प (सोवा), और सांठी ॥ ३१ ॥ इन सबको तैलसे चतुर्थांश लेकर पीसकर पकते समय डाल दे जब ठीक पकके तैल मात्र शेष रह जावे तब उसे सुवर्ण या चांदीके पात्रमें या चिकने मिट्टीके घडेमें भर कर अच्छे प्रकार

(श्लो० ३०) "कालानुसारिवा" इत्यत्र केचिदाचार्याः अस्मिन्तैले 'क्षीरशुक्लकम्' इति पठंति। क्षीरशुल्ककं क्षीरविदारी (इति निघंटसंग्रहः) ।

मुँह बांधकर रख दे ॥ ३२ ॥ यह सब वातव्याधियोंका नाश करनेवाला तैल है इसे बलके अनुसार प्रसूता स्त्रीको देवे तो सब प्रसूतकी उपाधियां दूर होवें ॥ ३३ ॥

बलातैलके गुण ।

या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान् ॥ वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा ॥ ३४ ॥ भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते ॥ एतदाक्षेपकादीन्वै वातव्याधीनपोहति ॥ ३५ ॥ हिक्कां कासमधीमंथं गुल्मं श्वासञ्च दुस्तरम् ॥ षण्मासानुपयुज्यैतदंत्रवृद्धिमपोहति ॥ ३६ ॥ प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः ॥ राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः ॥ सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः ॥३७॥

जो स्त्री गर्भ धारण करनेकी इच्छा करे तथा जो क्षीणवीर्य पुरुष हो, जो वायुसे क्षीण होगया हो, जिसका मर्म घातित या मथित होगया हो या अन्यत्र चोट लगी हो इन सबको यह हितकारक है ॥ ३४ ॥ तथा भग्न और श्रमसे थके हुएको भी यह हितकारक है तथा आक्षेपकादिक वातव्याधियोंको भी यह नाश करता है ॥ ३५ ॥ हिक्का, खांसी, अधिमंथ, गुल्म, श्वासकी दुस्तर व्याधिको नष्ट करता है और छः महीने इसका उपयोग करनेसे अंत्रवृद्धि रोग नष्ट होजाता है ॥ ॥ ३६ ॥ इसके सेवनसे पुरुष धातु पुष्ट और स्थिर यौवनवाला होजाता है । यह राजोंको करना चाहिये तथा जो राजमात्र (दीवान वगैरह हैं उन्हें) सुखिया मनुष्योंको तथा सुकुमार (कोमल नाजुक) आदमियोंको और धनवानोंको भी करने योग्य है ॥ ३७ ॥

बलाकषायेपीतेभ्यस्तिलेभ्यो वाप्यनेकशः ॥ तैलमुत्पाद्य तत्क्वाथशतपाककृतं शुभम् ॥ ३८ ॥ निवाते निभृतागारे प्रयुंजीत यथाबलम् ॥ जीर्णेऽस्मिन् पयसा स्निग्धमश्नीयात्पिष्टकौदनम् ॥ ॥ ३९ ॥ अनेन विधिना द्रोणमुपयुज्यान्नमीरितम् ॥ भुंजीत द्विगुणं कालं बलवर्णान्वितस्ततः ॥ ४० ॥ सर्वैः पापैर्विनिर्मुक्तैः शतायुः पुरुषो भवेत् ॥ शतं शतं तथोत्कर्षो द्रोणे द्रोणे प्रकीर्तितः॥४१॥

तिलोंको खरेंटीके काथकी कई (सात) भावना देकर तैल निकलवा ले फिर उस तैलको खरेंटीके काथमें सौवार पकावे ॥ ३८ ॥ इस तैलको निवात स्थानमें

(श्लो० ४०) द्विगुणं कालं षण्मासतो द्विगुणं कालमिति । पूर्वोक्तषण्मासकालापेक्षया द्विगुणमिति भावः ।

बलके अनुसार नित्य पान करे और जब तेल पक जावे तब स्निग्ध भातको दूधके संग खावे ॥ ३९ ॥ इस विधिसे द्रोणभर तेल पीवे और यथोक्त भोजन करता रहे और यदि पूर्वोक्त ६ माससे द्विगुण काल अर्थात् एक वर्षतक सेवन करे तो बल और रूपसे युक्त होजावे ॥ ४० ॥ सब दोष दूर होकर मनुष्य सौ वर्षकी अवस्थावाला होजाता है और एक एक द्रोण बढनेसे एक एक सौ वर्षकी आयु बढ जाती है ॥ ४१ ॥

बलाकल्पेनातिबलागुडूच्यादित्यपर्णिषु ॥ सैरेयके वीरतरौ शतावर्यां त्रिकंटके ॥ ४२ ॥ तैलानि मधुके कुर्यात्प्रसारिण्यां च बुद्धिमान् ॥ नीलोत्पलं वरीमूलं गव्ये क्षीरे विपाचयेत् ॥ ४३ ॥ शतपाकं ततस्तेन तिलतैलं पचेद्भिषक् ॥ बलातैलस्य कल्कांस्तु सुपिष्टांस्तत्र दापयेत् ॥ ४४ ॥ सर्वेषामेव जानीयादुपयोगं चिकित्सकः ॥ बलातैलवदेतेषां गुणांश्चैव विशेषतः ॥ ४५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त बलातैलकीही विधिसे अतिबला, गिलोय, आदित्यपर्णी, सैरेयक (कुरंट), वीरतरु (वेल्लतर), शतावरी और त्रिकंटक (गोखरू) ॥ ४२ ॥ मुलेठी और प्रसारणी इनके तैल भी बुद्धिमान् वैद्य बनावे (इनके गुण बलातैलके समान नहीं हैं) तथा नीलकमल और शतावरीको गौके दूधमें पकालेवे फिर इस दुग्धमें सौवार तिलतैल सिद्ध करे और बलातैलमें जो पीसकर डालनेकी औषधें कहीं उन्हें पीसकर पकते समय डालदे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ इन सबके उपयोगों तथा गुणोंकोभी विशेष करके वैद्य बलातैलके समान जाने ॥ ४५ ॥

इति पण्डितमुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः १६.

अथातो विद्रधीनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम विद्रधियोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

वातविद्रधिमें आरंभिक यत्न ।

उक्ता विद्रधयः षड्ये तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ॥ शेषेष्वामेषु कर्तव्या त्वरितं शोफवत्क्रिया ॥ १ ॥ मुरंगीमूलकल्कैस्तु घृततैलवसायुतैः ॥ सुखोष्णो बहुलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ॥ २ ॥ सानू-

(श्लो० २) मुरंगी शोभांजनः । बहुलो लेपः गाढः प्रलेपः ।

पौदकमांसस्तु काकोल्यादिः सतर्पणः ॥ स्नेहाम्लसिद्धो लवणः प्रयोज्यश्चोपनाहने ॥ ३ ॥ वेसवारैः सकृशरैः पयोभिः पायसैस्तथा ॥ स्वेदयेत्सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम् ॥ ४ ॥

जो छः प्रकारकी विद्रधि (फोडा या फुन्सी) पहले (निदानस्थानके नवम अध्यायमें लक्षण सहित) वर्णन किये गये हैं उनमेंसे सर्वदोषजनित विद्रधि असाध्य होता है शेष जितने हैं उनमें उठतेही कच्ची अवस्थामें शोथकी भांति क्रिया करे ॥ १ ॥ मुरंगी (सोहँजने) की जडको पीस उसमें घृत, तैल, चरबी मिला कर गरम करके वातविद्रधिके आरम्भमें गाढा लेप करे ॥२॥ जलके किनारे तथा जलके जीवोंके मांस और काकोल्यादिगणमें तर्पण द्रव्य मिलाकर तथा चिकनाई और अम्लसे सिद्ध किया हुआ लवण उपनाहन करना (बांध देना) ॥ ३ ॥ तथा वेसवार और खिचडीसे तथा दूध और खीरसे (गरम२ सेककर) पसीना दिलावे (अर्थात् सेंके) तथा जलौका शृंगादिसे यथोचित रुधिर भी निकलवावे ॥ ४ ॥

स चेदेवमुपक्रांतः पाकायाभिमुखो यदि ॥ तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिंद्याद्भिन्नं च शोधयेत् ॥ ५ ॥ पंचमूलकषायेण प्रक्षाल्य लवणोत्तरैः ॥ तैलैर्भद्रादिमधुकसंयुक्तैः प्रतिपूरयेत् ॥६॥ वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च ॥ पृथक्पर्ण्यादिसिद्धेन त्रैवृतेन च रोपयेत् ॥७॥

यदि पूर्वोक्त सब यत्न करने पर शांत न हो और पकाव पर आजावे तो फिर उसे पकाकर ही शस्त्रसे चीर दे (और यदि आपही फूट जावे तो शस्त्रकी आवश्यकता ही क्या) भिन्न हुएको शोधन करना चाहिये ॥५॥ पंचमूलके काथसे धोकर भद्रदारु आदिसे मिश्रित लवणप्रधान ऐसे सिद्ध किये तैलसे व्रणको पूरण करना चाहिये ॥ ६ ॥ विरेचन द्रव्योंसे युक्त ऐसे त्रिवृता (निशोथ) के तैलसे शोधन करके पृथक्पर्णी आदिकसे सिद्ध किये हुए त्रैवृत (घृत, तैल, वसा, मज्जा इनसे मिश्रित) तैलसे रोपण करना चाहिये (त्रैवृत शब्दका अर्थ देखो पहले टिप्पणीमें वर्णन हो चुका है) ॥ ७ ॥

पित्तविद्रधिका यत्न ।

पैत्तिकं शर्करालाजामधुकैः सारिवायुतैः ॥ प्रदिह्यात्क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचंदनैः ॥८॥ पाक्यैः शीतकषायैर्वा क्षीरैरिक्षुरसैस्तथा ॥ जीवनीयघृतैर्वापि सेचयेच्छर्करायुतैः ॥ ९ ॥

(श्लो० ३) सतर्पणः तर्पणद्रव्ययुतः । (श्लो० ९) पाक्यैरिति–पाक्यं बिडलवणं पाशुलवणं यवक्षारश्च (इति शब्दस्तोमः) अन्ये तु पाक्यः क्वाथः इत्याहुः ॥

पित्तविद्रधि हो तो शर्करा, मुलेठी, धानकी खील और सारिवा इन्हें दूधमें पीस कर लेप करे अथवा क्षीरकाकोली, खस और चंदन इनको दूधमें पीस कर लेप करे ॥ ८ ॥ पाक्य (काथों) से या शीतकषायोंसे अथवा दूधसे, ईखके रससे अथवा जीवनीय द्रव्योंसे सिद्ध किये घृतसे शर्करा मिला मिलाकर पित्तविद्रधिके शोथको सेचन करे ॥ ९ ॥

त्रिवृद्धरीतकीनां च चूर्णं लिह्यान्मधुद्रवम् ॥ जलौकोभिर्हरेच्चासृक् पक्वं चापाद्य बुद्धिमान् ॥ १० ॥ क्षीरवृक्षकषायेण प्रक्षाल्योदकजेन वा ॥ तिलैः सयष्टिमधुकैः सक्षौद्रैः सर्पिषा युतैः ॥ उपदिह्य प्रतनुना वाससा वेष्टयेद्व्रणम् ॥ ११ ॥ प्रपौंडरीकमंजिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः ॥ सहरिद्रैः कृतं सर्पिः सक्षीरं व्रणरोपणम् ॥ १२ ॥ क्षीरशुक्लापृथक्पर्णीसमंगालोध्रचंदनैः ॥ न्यग्रोधादिप्रवालेषु तेषां त्वक्ष्वथ वा कृतम् ॥ १३ ॥

निसोथ और हरीतकी इनका चूर्ण शहतमें मिलाकर चाटे तथा जलौका लगाकर रुधिर निकलवा देवे और इतना करनेपरभी जो पकजावे तो उसे फोडकर ॥ ॥ १० ॥ क्षीर वृक्षोंके क्काथसे अथवा कमलके काथसे धोकर तिल, मुलेठी, शहत और घृत सबको पीसकर लेप करदे (या लगादे) और बारीक कपडेसे व्रणको बांधदेवे ॥ ११ ॥ प्रपौंडरीक, मंजीठ, मुलेठी, खस, पद्माख, हरिद्रा और दुग्ध इनसे सिद्ध किये हुए घृतसे व्रणका रोपण करे ॥ १२ ॥ अथवा क्षीरविदारी, पृथक्पर्णी, लज्जालू, लोध और चंदन इन्हें लेकर वट आदिके पत्र तथा इन्हींकी त्वचासे सिद्ध किये घृतका उपयोग करे ॥ १३ ॥

करंजाद्यघृत ।

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च ॥ सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा ॥ १४ ॥ द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी ॥ प्रियंगुः कुशमूलं च निचुलस्य त्वगेव च ॥ १५ ॥ मंजिष्ठा चंदनोशीरमुत्पलं सारिवा त्रिवृत् ॥ एतेषां कार्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १६ ॥

करंजके पत्ते और कच्चेफल तथा चमेलीके पत्ते और परवल और नीमके पत्ते ॥ १४ ॥ दोनों हलदी, मोम, मुलेठी, कुटकी, प्रियंगु, कुशाकी जड, जलवेतसकी

(श्लो० १०) अस्य श्लोकस्य चतुर्थपदमग्रिमेण मेलयित्वान्वयः कार्यः ॥

छाल ॥ १५ ॥ मँजीठ, चंदन, खस, कमल, सारिवा, निसोथ इन सबको एक एक कर्ष लेवे और एक प्रस्थ घृत सिद्धकर लेवे ॥ १६ ॥

करञ्जादिघृतके गुण ।

दुष्टव्रणप्रशमनं नाडीव्रणविशोधनम् ॥ सद्यश्छिन्नव्रणानां च करंजाद्यमिदं शुभम् ॥ १७ ॥ दुष्टव्रणाश्च ये केचिद्ये चोत्सृष्टक्रिया व्रणाः ॥ नाड्यो गंभीरिका याश्च सद्यश्छिन्नास्तथैव च ॥ १८ ॥ अग्निक्षारकृताश्चैव ये व्रणा दारुणा अपि ॥ करंजाद्येन हविषा प्रशाम्यंति न संशयः ॥ १९ ॥

यह पूर्वोक्त करंजाद्य घृत दुष्टव्रणको शांत करता है, नाडीव्रण (नासूर) को शुद्ध करता है और तत्कालमें कटे हुए घावोंको भी ठीक करता है (पकने नहीं देता) ॥ १७ ॥ जो कोई विगडे हुए व्रण हों, जिन्हें (जर्राहोंने) क्रिया कर २ के त्याग दिया हो, जो गंभीरनाडी (नासूर पडे) हों तथा ताजे कटे घाव हों ॥ ॥ १८ ॥ अथवा अग्निसे जलकर या तेजाबसे घाव पडगये हों या अन्य प्रकारके दारुण व्रण हों तो सब इस करंजाद्य घृतसे निःसंदेह अच्छे होजाते हैं ॥ १९ ॥

कफविद्रधिका यत्न ।

इष्टकासिकतालोहगोशकृत्तुषपांशुभिः॥ मूत्रैरुष्णैश्च सततं स्वेदयेत्कफविद्रधिम् ॥ २० ॥ कषायपानैर्वमनैरालेपैरुपनाहनैः ॥ हरेद्दोषानभीक्ष्णं चाप्यलाब्वासृक्तथैव च ॥ २१ ॥ आरग्वधकषायेण पक्वं चोपाद्य धावयेत् ॥ हरिद्रात्रिवृतासक्तुतिलैर्मधुसमायुतैः ॥ पूरयित्वा व्रणं सम्यग्बध्नीयात् कीर्तितं यथा ॥ २२ ॥ ततः कुलत्थिकादंतीत्रिवृच्छ्यामार्कतिल्वकैः ॥ कुर्यात्तैलं सगोमूत्रं हितं तत्र ससैंधवम् ॥ २३ ॥

यदि कफका विद्रधि हो तो उसे आरम्भमें ईंट, वालू(रेता), लोहा, गोबर, तुष और धूल तथा गोमूत्र इन्हें गरम कर करके स्वेद करावे ॥ २० ॥ तथा कफनाशक क्वाथ पीवे, वमन करे, कफघ्न लेप करे, उपनाहन करे (गरम २ बांधे) इत्यादिसे शांत करे तथा तोमडीसे रुधिर भी निकलवावे ॥ २१ ॥ (यदि इन यत्नोंसे शांत न हो और पकावपर हो तो पकाकर फोड देना या छेदन करना चाहिये) फिर उसे आरग्वध (किरमाले) के क्वाथसे धोना चाहिये फिर हलदी, निशोथ,

सत्तू, तिल और शहत इन्हें मिला इनसे व्रणपूरण करके पूर्वोक्त रीतिसे व्रण-पर पट्टी बांध दे ॥ २२ ॥ फिर कुलथी, दन्ती (एरंड), निशोथ, श्यामा-निशोथ, आक, लोध, गोमूत्र और सेंधा नमक इनसे तेल सिद्ध करे यह कफ-विद्रधियोंमें हित है ॥ २३ ॥

रक्तविद्रधि और आगंतुक विद्रधि ।

पित्तविद्रधिवत्सर्वाः क्रिया निरवशेषतः ॥
विद्रध्योः कुशलः कुर्याद्रक्तागंतुनिमित्तयोः ॥ २४ ॥

रुधिरकी विद्रधि तथा आगंतुक (क्षतकी विद्रधि)में संपूर्ण क्रिया कुशल वैद्यको पित्तकी विद्रधिके समान करनी चाहिये ॥ २४ ॥

अंतर्विद्रधिका यत्न ।

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यंतरोत्थिते ॥ ऊषकादिप्रतीवापं पिबे-द्विद्रधिशांतये ॥ २५ अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्वैरेचनेन च ॥ अचिराद्विद्रधिं हंति प्रातःप्रातर्निषेवितम् ॥ २६ ॥ एभिरेव गणैश्चापि संसिद्धं स्नेहसंयुतम् ॥ कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथैवा-प्यनुवासनम् ॥ २७ ॥ पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा ॥ दत्तोवापो यथादोषमपक्वं हंति विद्रधिम् ॥ २८ ॥ तोय-धान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वापि सुरादिभिः ॥ यथादोषगणक्वाथैः पिबेद्वापि शिलाजतु ॥ २९ ॥ प्रधानं गुग्गुलुं चापि शुंठीं च सुरदारु च ॥ स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम् ॥ ३० ॥

यदि अन्तर्विद्रधि अपक्व हो तो वरुणादिगणके क्वाथमें ऊषकादिकका प्रतीवाप देकर पीवे इससे विद्रधि शांत होजाती है ॥ २५ ॥ अथवा इन्हीं दोनों गणोंसे तथा विरेचन द्रव्योंसे सिद्ध किया घृत प्रभात नित्य सेवन करनेसे शीघ्रही विद्र-धिको नाश करदेता है ॥ २६ ॥ इन्हीं गणोंसे स्नेहयुक्त करके आस्थापन और अनुवासन वस्ति करना चाहिये ॥ २७ ॥ अथवा पान, लेपन और भोजनमें मीठा सोहँजना भी दोषोंके अनुसार औषधें मिलाकर सेवन करना अपक्व विद्रधिको शांत कर देता है ॥ २८ ॥ अथवा इसी मीठे सोहँजनेको जल, धान्याम्ल, गोमूत्र तथा मद्य

(श्लो० २९) अस्य पूर्वार्द्धम्–"तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वापि सुरादिभिः" पूर्वोक्तेन सहान्वेतव्यम् । पूर्वोक्तमधुशिग्रुद्रुमः तोयादिभिः पेय इत्यर्थः (इति नि० सं०) । (श्लो० ३०) प्रधानं गुग्गुलुं महि-षाख्यमिति ।

आदिके संग पीना चाहिये अथवा दोषके अनुसार औषधोंके क्राथके संग शिलाजीत पीना चाहिये ॥ २९ ॥ अथवा प्रधान गुग्गुल (भैंसा गूगल), सोंठ, देवदारु इन्हें सेवन करे तथा स्नेह और उपनाह करे और सदा अनुलोमन करते रहे ॥ ३० ॥

यथोद्दिष्टां शिरां विध्येत्कफजे विद्रधौ भिषक् ॥ रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्धाहौ वदंति तु ॥ ३१ ॥ पक्कं वा बहिरुन्नद्धं भित्त्वा व्रणवदाचरेत् ॥ स्रुतेषूर्द्धमधश्चापि मैरेयाम्लसुरासवैः ॥ ३२ ॥ पेयो वरुणकादिस्तु मधुशिग्रुद्रुमोपि वा ॥ शिग्रुमूलजले सिद्धं ससिद्धार्थकमोदनम् ॥ ३३ ॥ यवकोलकुलत्थानां यूषैर्भुञ्जीत मानवः ॥ प्रातःप्रातश्च सेवेत मात्रया तैल्वकं घृतम् ॥ ३४ ॥ त्रिवृतादिगणक्काथसिद्धं वाप्युपशांतये ॥ ३५ ॥ नोपगच्छेद्यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥ पक्ष्यगते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकांतिकी स्मृता ॥ ३६ ॥

यदि कफकृत (अंतर्विद्रधि हो या बहिर्विद्रधि) हो तो यथोक्त शिरा वेधन करनी चाहिये और रक्त, पित्त और वायुके विद्रधिमें भी हाथमें फस्त खोलना चाहिये ऐसा कइयोंका मत है ॥ ३१ ॥ जो अंतर्विद्रधि पकगया हो या बाहरको उभर आया हो तो उसे भेदन करके (भीतर हो तो औषधादिसे भेदन करना तथा बाहर उभरे हुएको शस्त्रसे भी भेदन कर सकते हैं) फिर व्रणके समान उपचार करे और ऊपरको मुखकी राह तथा नीचेको गुद, लिंगकी राह रक्त, पीव निकलता हो तो (यद्यपि ऊर्ध्वमार्गोंसे स्रवनेवाला अंतर्विद्रधि असाध्य होता है तोभी) मैरेयनामक मद्य और धान्याम्ल तथा सुरा और आसवोंके संग ॥ ॥ ३२ ॥ वरुणादि गणका चूर्ण पीना चाहिये अथवा मीठे सोहँजनेका सेवन पूर्वोक्त मैरेयादिकोंके संग करना चाहिये अथवा सोहँजनेकी जडके जलमें पकाये हुए भातमें सुपेद सरसों मिलाकर ॥ ३३ ॥ उन्हें जौ, बेर तथा कुलथीके यूषके संग भोजन करे अथवा नित्य सबेरे मात्राके अनुसार तिल्वकघृत (जो वातव्याधिमें कहा गया है) सेवन करे ॥ ३४ ॥ अथवा त्रिवृतादिगणके क्राथसे सिद्ध किया घृत विद्रधि शांत होनेके लिये सेवन करे ॥ ३५ ॥ वैद्यको जहांतक बने ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे अंतर्विद्रधि पके नहीं और जो अंतर्विद्रधि पक जावे तो उसके अच्छे होनेमें संशय होताहै ॥ ३६ ॥

(श्लो० ३२) स्रुतेषूर्ध्वमधश्चापीति—निदाने "स्रुतेपूर्ध्वं न जीवतीति" कथनेप्यत्र चिकित्सामाह—'मैरेयाम्लसुरासवैः' इत्यादिना ।

मज्जाके विद्रधिका यत्न ।

प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजातं तु विद्रधिम् ॥ स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम् ॥३७॥ विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात्पक्के वास्थि तु भेदयेत् ॥ निःशल्यमथ विज्ञाय कर्तव्यं व्रणशोधनम् ॥३८॥ धावे-त्तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तथा हितम् ॥ ३९ ॥ यदि मज्जपरि-स्रावो न निवर्त्तेत देहिनः ॥ कुर्यात्संशोधनीयानि कषायादीनि बुद्धिमान् ॥ ४० ॥ प्रियंगुधातकीलोध्रं कट्फलं तिनिसैंधवम् ॥ एतैस्तैलं विपक्तव्यं विद्रधिव्रणरोपणम् ॥ ४१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

यदि मज्जासे उत्पन्न हुआ विद्रधि होवे तो ऐसा कहकर (कि आराम हो भी और न भी हो) चिकित्सा करे, उसे स्नेहन कराकर, स्वेद दिलाकर रुधिर निकल-वादे ॥ ३७ ॥ फिर विद्रधिमें जो क्रिया कही है वही क्रिया करे और पक्क हो जावे तब अस्थिको भी वेधन कर देना चाहिये जब जाने कि अस्थिके भीतर तकका दोष निकल गया तब उस व्रणका शोधन करे ॥ ३८ ॥ तिक्त (निंबादिक) द्रव्योंके क्काथसे धोते रहे और तिक्तही घृतका उपयोग करना हित जाने ॥ ३९ ॥ और यदि मनुष्यके मज्जाका स्राव बंद न हो तो शोधन करनेवाले क्काथ आदि बुद्धिमान् वैद्यको बनाकर उपयोग करने चाहिये ॥ ४० ॥ प्रियंगु, धायके फूल लोध, कायफल, तिनिश और सैंधानमक इनसे तैल पकावे यह तैल विद्रधिके व्रणके रोपण (घावभरने) के लिये (अच्छा है) ॥ ४१ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः १७.

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी विसर्पनाडी (नासूर) और स्तनके रोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

साध्या विसर्पास्त्रय आदितो ये न सन्निपातक्षतजौ हि साध्यौ साध्येषु तत्पथ्यगणैर्विदध्याद्धृतानि सेकांश्च तथोपदेहान् ॥ १ ॥

विसर्परोगके लक्षण भेद आदि सब पहले निदानस्थानमें वर्णन होचुके हैं उनमेंसे आदिके तीन वातविसर्प पित्तविसर्प कफविसर्प ये साध्य हैं और सन्निपातका

विसर्प तथा क्षतका विसर्प ये दो असाध्य हैं जिसमें साध्य विसर्पोंमें इनही दोषोंके अनुसार पथ्यगणोंसे घृत बनावे तथा सेचन करे और उपदेह (लेप) करे ॥ १ ॥

वातविसर्पका यत्न ।

मुस्ताशताह्वासुरदारुकुष्ठं वाराहिकुस्तुंबुरुकृष्णगन्धाः ॥ वातात्मके चोष्णगणाः प्रयोज्याः सेकेषु लेपेषु तथा घृतेषु ॥ २ ॥ यत्पंचमूलं खलु कंटकाख्यमल्पं महच्चाप्यथ वल्लिजञ्च ॥ तच्चोपयोज्यं भिषजा प्रदेहे सेके घृते चापि तथैव तैले ॥ ३ ॥

नागरमोथा, सोवा, देवदारु, कूट, वाराहीकंद, धनियाँ, कृष्णगंधा (सोहँजना) तथा उष्णगण (भद्रदार्व्वादिक तथा पिप्पल्यादि) ये वातविसर्पमें सेचन करने, लेप करने तथा घृत साधन करनेमें उपयुक्त करने चाहिये ॥ २ ॥ अथवा कंटकपंचमूल, लघुपंचमूल, बृहत्पंचमूल तथा वल्लिपंचमूल इन्हें वैद्य वातविसर्पीके प्रदेह (लेप), सेचन (धोने) तथा घृत या तैल बनानेमें उपयुक्त करे (ये चारों पंचमूल सूत्रस्थानके ३८ वें अध्यायमें देखो) ॥ ३ ॥

पित्तविसर्पका यत्न ।

कशेरुशृंगाटकपद्मगुन्द्राः सशैवलाः सोत्पलकर्दमाश्च॥वस्त्रांतराः पित्तकृते विसर्पे लेपा विधेयाः सघृताः सुशीताः ॥४॥ ह्रीवेरलामज्जकचंदनानि स्रोतोजमुक्तामणिगैरिकाश्च ॥ क्षीरेण पिष्टाः सघृताः सुशीता लेपाः प्रयोज्यास्तनवः सुखाय ॥ ५ ॥ प्रपौंडरीकं मधुकं पयस्या मंजिष्ठिका पद्मकचंदने च ॥ सुगंधिका चेति सुखाय लेपाः पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्याः॥६॥न्यग्रोधवर्गैः परिषेचनं च घृतं च कुर्यात्स्वरसेन तस्य ॥ शीतैः पयोभिश्च मधूदकैश्च सशर्करैरिक्षुरसैश्च सेकान् ॥ ७ ॥

कसेरू, सिंघाडे, कमलगट्टा, सिवाल और कमलके जडकी कीचडको पित्तके विसर्पपर पहले महीन कपडा रखकर ऊपरसे ये पूर्वोक्त औषधें घृतमें मिलाकर ठंढा २ लेप करे ॥ ४ ॥ अथवा नेत्रवाला, खस और चंदन तथा स्रोतोज (स्रोतो-

(श्लो० ४) गुद्रा इति-गुंद्रा गुंद्रफला श्यामा इत्युक्ता गोदीति प्रसिद्धा । डल्लनस्तु भद्रमुस्ता इत्याह ॥
(श्लो० ५) लामज्जकम् उशीरमूलम् (इति डल्लनः) स्रोतोजं सौवीरांजनम् । तनवः सुखायेति—तनुत्वान्नोष्माणमंतः प्रविशतीत्यर्थः । तथाचोक्तं श्रीवाग्भटेन—"श्लक्ष्णमुष्णघनो लेपश्चंदनस्यापि दाहकृत्" इति । (श्लो० ६) पयस्या क्षीरविदारी । जैजटाचार्यस्तु अर्कपुष्पीमाह ॥

जन), मोती और मणि तथा गेरू इनको दूधमें पीस घृत मिलाकर ठंढा पतला लेप करे तो पित्तविसर्पमें सुख होवे ॥ ५ ॥ अथवा प्रपौंडरीक, मुलेठी, क्षीरविदारी, मंजीठ, पद्माख और चंदन, सुगंधिका (उत्पलसारिवा) इनका लेप पित्तविसर्पमें सुखके लिये वैद्यको करना चाहिये ॥ ६ ॥ पित्तविसर्पमें न्यग्रोधादिगणसे परिसेचन करे और उसीके स्वरससे घृत सिद्ध करे और शीतल जलसे या मधुयुक्त जलसे या ईखके रसमें शर्करा मिलाकर परिषेक करे (कई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि ठंडे दुग्धमें या मधूदकमें शर्करा मिलाकर परिषेक करे) ॥ ७ ॥

गौर्यादिघृत ।

घृतस्य गौरीमधुकारविंदलोध्राम्बुराजादनगैरिकेषु ॥ तथार्षभे पद्मकसारिवासु काकोलिमेदाकुमुदोत्पलेषु ॥८॥ सचंदनायां मधुशर्करायां द्राक्षास्थिरापृश्निशताह्वयासु ॥ कल्कीकृतासूदकमत्र दत्त्वा न्यग्रोधवर्गस्य तथा स्थिरादेः ॥ ९ ॥ गणस्य विल्वादिकपंचमूल्याश्चतुर्गुणा क्षीरमथापि तद्वत् ॥ प्रस्थं विपक्कं परिषेचनेन पैत्तीर्निहन्याच्चु विसर्पनाडीः ॥ १० ॥

गौरी (हलदी या गोरोचन), मुलेठी, कमल, लोध, अंबु (नेत्रवाला), राजादन (खिरनी), गेरू, ऋषभक, कमलसारिवा, काकोली, मेदा, कमोदनी, कमल गट्टे ॥ ८ ॥ चंदन, मधुशर्करा, दाख, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, शतावर इन सबका कल्क बनाकर और न्यग्रोधादि गणका क्काथ तथा सालपर्णी आदिकका क्काथ तथा विल्वादिक पंचमूलका क्काथ चौगुना डालकर और चौगुना दूध डालकर प्रस्थभर घृत सिद्ध करे इसके परिषेचनसे पित्तका विसर्प तथा नाडी (नासूर) नष्ट होजाते हैं ॥ ९ ॥ १० ॥

गौर्यादिघृतके गुण ।

विसर्पदुष्टव्रणशीर्षरोगान्पाकं तथास्यस्य निहंति पानात् ॥ ग्रहार्दिते शोषिणि चापि बाले घृतं हि गौर्यादिकमेतदिष्टम् ॥११ ॥

विसर्प, दुष्ट व्रण, शिरके रोग (गंजआदि तथा), मुखपाक तथा बालग्रहोंसे पीडित शुष्कबालकके रोग इनमें गौर्यादिक घृत पीना श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

(श्लो० ८) गौरीशब्देन हरिद्रा बोध्या गोरोचना वा । निबन्धसंग्रहेपि 'गौरी हरिद्रा गोरोचनेत्यन्ये' इत्युक्तम् । अंबु रास्ना इत्याह डल्हनः तत्तु न युक्तम्, अबु नेत्रवाला तस्याः पित्तघ्नत्वात् ।

(श्लो० १०) प्रस्थं विपक्कमिति—प्रस्थं घृतस्य योज्यमिति (नि० सं०)।

कफजविसर्पका यत्न ।

अजाश्वगंधा सरला सकाला सकेशिका चाप्यथ वाजशृंगी ॥
गोमूत्रपिष्टो विहितः प्रदेहो हन्याद्विसर्पं कफजं च शीघ्रम् ॥१२॥
कालानुसार्यागुरुचोचगुंजाराखावचाशीतशिवेन्द्रपर्ण्यः ॥ पालिं-
दिसुंजातमहीकदम्बा हिता विसर्पेषु कफात्मकेषु ॥ १३ ॥

अजगंधा, अश्वगंधा, निशोथ, काला (पवाँड), केशिका (शतावर, अजशृंगी, काकडासिंगी) इनको गोमूत्रमें पीसकर लेप करनेसे कफका विसर्प शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ १२ ॥ तगर, अगर, तज, चिरमठी, रास्ना, वच, शीतशिव (सोवा), इंद्रपर्णी (इंद्रायण), पालिंदी (कालवल्ली अथवा कुँदुरू), सुंजात (उत्तराद्रुम) और भूमिकदंब इनका उपयोग कफके विसर्पमें करना चाहिये ॥ १३ ॥

विसर्पकी सामान्य क्रिया ।

गणस्तु योज्यो वरुणप्रवृत्तः क्रियासु सर्वासु विचक्षणेन ॥
संशोधनं शोणितमोक्षणं च श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि ॥
सर्वांश्च पक्वान् परिशोध्य धीमान् व्रणक्रमेणोपचरेद्यथोक्तम् ॥ १४ ॥

विसर्परोगमें बुद्धिमान् वैद्यको चाहिये कि आरम्भमें सब क्रियाओंमें वरुणादि-गणकी योजना करे और शोधन द्रव्योंसे शोधन (वमन, विरेचनादिक) करे और शिरामोक्ष आदिसे रुधिर निकलवादे। सामान्यतासे सब विसर्पोंमें यह चिकित्सा श्रेष्ठ है और पकजानेपर बुद्धिमान् व्रणोंको शोधन करे और व्रणके क्रमसेही यथोक्त उपचार करे ॥ १४ ॥

नाडीव्रणचिकित्सा ।

वातनाडीव्रण ।

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येच्छेषाश्चतस्रः प्रतियत्नसाध्याः ॥
॥ १५ ॥ तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्वमशेषतः पूयगतिं विदार्य ॥
तिलैरपामार्गफलैश्च पिष्ट्वा ससैंधवैर्बंधनमत्र कुर्यात् ॥ १६ ॥

(श्लो० १२) अजा अजगंधा, काला कासमर्दः । केशिका कैशिका वा शतावरी केशी जटावान् केशिन इव कायति प्रकाशते इति केशिका शतावरी (इति शब्दस्तोमः) केषुचित्पुस्तकेषु मूर्द्धन्यषकारेण केषिका इति लिखितं तदयोग्यम् ।(श्लो० १३) कालानुसार्यो तगर, चोचः त्वक्,शीतशिवं शतपुष्पाभेदः। इन्द्रपर्णी इंद्रवारुणी, गयदासेन तु इंद्रपुष्पी पाटिता, इद्रपुष्पी लांगलकी । पालिंदी कालवल्ली (इति डल्लनः) शब्दस्तोमे तु पालिंदी कुदुरुवृक्ष इति । मुञ्जात उत्तराद्रुमः स्वल्पकण्टकः (इति नि० सं०)

प्रक्षालने चापि सदा व्रणस्य योज्यं महद्यत्खलु पंचमूलम् ॥ हिंस्रां हरिद्रां कटुकां बलां च गोजिह्विकां चापि सबिल्वमूलाम् ॥ संहृत्य तैलं विपचेद्व्रणस्य संशोधनं पूरणरोपणं च ॥ १७ ॥

नाडीव्रण (नासूर) जो त्रिदोषसे उत्पन्न हो वह असाध्य है बाकी चार प्रकारका नाडीव्रण यत्न करनेसे सिद्ध होसकता है ॥ १५ ॥ इनमें वातज नाड़ी (नाडीव्रण) को प्रथम उपनाहन कराकर पीब आनेके मार्गको चीरकर तिल, चिरचिटेके बीज और किंचित् सैंधा नमक इन्हें पीसकर (ऊपर लगाकर) पट्टी बांध देनी चाहिये ॥ १६ ॥ और व्रणके धोनेके लिये बृहत्पंच मूलका काथ उपयोग करना चाहिये और बालछड, हलदी, कुटकी, खरेंटी, गोजिह्वा (गोभी-गाजुवाँ) तथा बिल्वकी जड इन सबको इकट्ठा करके इनसे तैल सिद्ध करे, यह तैल नाडीव्रणके शोधन करने और पूरण करने (भरने) तथा रोपण (अंकुर लाने) में उपकारक है ॥ १७ ॥

पैत्तिक नाडीव्रण ।

पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमानुत्कारिकाभिः सपयोघृताभिः ॥ निपात्य शस्त्रं तिलनागदन्तीयष्ट्याह्वकल्कैः परिपूरयेत्ताम् ॥१८॥ प्रक्षालने चापि ससोमनिम्बां निशां प्रयोज्यां कुशलेन नित्यम् ॥ १९ ॥ श्यामात्रिभंडीत्रिफलासु सिद्धं हरिद्रयो रोध्रकवृक्षयोश्च ॥ घृतं सदुग्धं व्रणतर्पणेन हन्याद्गतिं कोष्ठगतापि या स्यात् ॥ २० ॥

पित्तजनित नाडीव्रणको प्रथम बुद्धिमान् वैद्य दूध और घृतसे मिली हुई उत्कारिका (पुलटस) बांध बांधके उपनाहन करे फिर शस्त्रसे चीरकर तिल, नागदंती और मुलेठी इनका कल्क बनाकर उससे परिपूरण करे ॥ १८ ॥ तथा नित्य सोमलता, निंब और हलदीके काथसे धोते रहे ॥ १९ ॥ और काला निशोथ, सपेद निशोथ, त्रिफला और दोनों हलदी, लोध और कुडा इनसे घृत सिद्ध करे तथा सिद्ध होते समय दुग्ध भी मिलावे यह घृत व्रणको तृप्त करके गति (नासूरकी पीब) को नष्ट कर देता है यहांतक कि कोष्ठगत नासूरको भी अच्छा करदेता है ॥ २० ॥

श्लैष्मिक नाडीव्रण ।

नाडीं कफोत्थामुपनाह्य सम्यक्कुलत्थसिद्धार्थकसक्तुकिण्वैः ॥ मृदूकृतामेष्य गतिं विदित्वा निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी ॥ २१ ॥ दर्वी-

---

(श्लो० २१) अशेषकारी निःशेषकार्यकर्ता वैद्यः ।

द्व्रणे निंबतिलान्सुपिष्टान्सुराष्ट्रजासैंधवसंप्रयुक्ताम् ॥ प्रक्षालने चापि करंजनिंबजात्यक्षपीलूस्वरसाः प्रयोज्याः ॥ २२ ॥ सुवर्चिकासैंधवचित्रकेषु निकुंभतालीतलरूपिकासु ॥ फलेष्वपामार्गभवेषु चैव कुर्यात्समूत्रेषु हितार्थं तैलम् ॥ २३ ॥

कफज नाडीमें कुलथी, सुपेद सरसों, सत्तू और किण्वसे उपनाहन करके–नरम करके गतिको देखकर सब जगह शस्त्रसे चीर दे ॥ २१ ॥ फिर व्रणपर निंब और तिल पीसकर फटकडी और थोडा सैंधा नमक मिलाकर लगा दे और करंज, निंब, चमेली, बहेडा और पीलू इनके स्वरस (या क्वाथ) से धोते रहे ॥ २२ ॥ और सज्जी, सैंधा नमक, चित्रक, दंती, तालीतल (भूआंवलाकी जड), सुपेद आक और चिरचिटेके बीज इनमें गोमूत्र मिलाकर तैल सिद्ध करे यह तैल कफज नाडीव्रणमें हित है ॥ २३ ॥

शल्यदूषित नाडीव्रण ।

नाडीं तु शल्यप्रभवां विदार्य निर्हृत्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम् ॥ संशोधयेत्क्षौद्रघृतप्रगाढैस्तिलैस्ततो रोपणमस्य कुर्यात् ॥ २४ ॥ कुंभीकखर्जूरकपित्थबिल्ववनस्पतीनां च शलाटुवर्गे ॥ कृत्वा कषायं विपचेत्तु तैलमवाप्य मुस्तासरलाप्रियंगूः ॥ २५ ॥ सुगंधिकामोचरसाहिपुष्पं रोध्रं विदध्यादपि धातकीं च ॥ एतेन शल्यप्रभवा च नाडी रोहेद्व्रणो वा सुखमाशु चैव ॥ २६ ॥

यदि शल्यदोषसे नाडीव्रण हो तो उसे चीरकर शल्य जहां हो वहांसे निकालकर मार्गको शुद्ध करके और शहत तथा घृतसे मिले हुए तिल पीसकर उसपर लगावे जिससे व्रणभी शुद्ध होजावे फिर उसे रोपण करे ॥ २४ ॥ कुंभीक (पुन्नाग), खजूर, कैथ, बिल्व तथा वनस्पति (पुष्पोंके विनाही फलनेवाले पिप्पलादि वृक्ष) इनके कच्चे फलोंका क्वाथ करके तैल पकावे और उसमें नागरमोथा, निसोथ, प्रियंगु, सुगंधिका (उत्पल सारिवा), मोचरस, नागकेसर, लोध पीसकर डालदे और धायके फूलभी डालदे इस तैलसे शल्यकृत नाडीव्रण शीघ्रही अंकुरित होजाते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥

(श्लो० २३) तालीतलं भूम्यामलकमूलम् (इति डल्हनः) तालीनल इति वा पाठांतरम् । तत्र ताली भूम्यामलकी नलस्तु नरसलनाम्ना लोके प्रसिद्धः । रूपिका श्वेतार्कः ।

(श्लो० २५) वनस्पतीनामिति–वनस्पतयः पुष्पेन विना जायमानफला अश्वत्थादयः (इति श० स्तो०)

कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या ॥ क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥ २७ ॥ एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम् ॥ सूचीं निदध्याद्गत्यंते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ॥ २८ ॥ सूत्रस्यांतं समानीय गाढं बंधं समाचरेत् ॥ ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रवेशयेत् ॥ २९ ॥ क्षाराक्तं मतिमान्वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः ॥ भगंदरेप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥ ३० ॥

कृश, दुर्बल और डरपोक मनुष्योंके नाडीव्रण हो तथा मर्मस्थानमें नाडीव्रण हो तो उसे डोरेमें तेजाब लगाकर उससे छेदन करे बुद्धिमान् वैद्य शस्त्रसे नहीं चीरे ॥ २७ ॥ सलाईसे उसकी गति देखकर तेजाब लगा डोरा सूईमें पिरोकर उस गतिके अनुसार सूई प्रवेश करे फिर गतिके अंतमेंसे सूईको उभारकर निकाल ले ॥ २८ ॥ और डोरेके दोनों सिरे बांध दे यदि एकवार दिये डोरेसे चीरा न लगे तो दूसरा डोरा क्षार (तेजाब) में भिगोकर उसे फिर प्रवेश करे जबतक नाडीव्रणकी गति चीर न जावे तबतक क्षारका डोरा प्रविष्ट करते रहे और भगंदरमें भी जानकार वैद्यको ऐसाही करना चाहिये ॥ २९ ॥ ३० ॥

अर्बुदादिमें क्षारसूत्रबंधन ।

अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत् ॥ सूचीभिर्यवक्राभिराचितं वा समंततः ॥ मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद्व्रणम् ॥ ३१ ॥

यदि अर्बुदादिक (रसोली, मसा इत्यादिक) हों तो उन्हें ऊपरको उठाकर उनकी जड उसी क्षार (तेजाब) के सूत्रसे बांधदेवे अथवा जौकेसमान मुखवाली सूईसे चारों तरफ थोडा २ गोदकर जडमें क्षारसूत्र बांधदे और जब वह इस सूत्रसे कट जावे तब व्रणके समान उपचार करे ॥ ३१ ॥

(वक्तव्य) यहाँ क्षारसे कई यवक्षारका ग्रहण करते हैं और डल्लनमिश्रने भी यवक्षारही लिखा है पर क्षारपाकविधि (सूत्रस्थानके ११ वें अध्यायमें) देखो वहाँ क्षारके बनानेका विधान लिखा है ॥

वर्तिविधान

या द्विव्रणीयेऽभिहितास्तु वर्त्यस्ताः सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात् ॥ घोंटाफलत्वग्लवणानि लाक्षा पूगीफलं चालवणं च पत्रम् ॥ ३२ ॥ स्नुह्यर्कदुग्धेन तु कल्क एष वर्तीकृतो हंत्यचिरेण नाडीः ॥ बिभीत-

---

(श्लो० ३२) अलवणा काकमर्दनिका तस्याः पत्रम् अलवणम् (इति नि.स.) ।

काम्रास्थिवटप्रवाला हरेणुकाशंखिनिर्बीजमिश्राः॥ वाराहिकंदश्च तथा प्रदेयो नाडीषु तैलेन च मिश्रयित्वा॥ ३३॥

जो जो द्विव्रणीय चिकित्साध्यायमें वर्ति (बत्ती) लिखी हैं उन सबको वैद्य नाडीव्रणके काममें भी ला सकता है तथा घोंटाफल (बेरी) की छाल, नमक, लाख, सुपारी, अलवण (काकमर्दनिका), पत्रज ॥ ३२ ॥ इन सबको थोहर और आकके दूधमें पीसकर बत्ती बनावे यह बत्ती शीघ्रही नाडीव्रणको नष्ट कर देती है अथवा बहेडा, आम्रकी गुठली, बडके नये पत्र, हरेणु, शंखिनी (यवतिक्ता) के बीज मिला तथा वाराहकिंद इन्हें जलाकर तैल मिलाकर नाडीव्रणमें उपयोग करे (कई "वाराहकन्द" इत्यादि स्थानमें 'वाराहविट्सूक्ष्ममसी' ऐसा पाठ मानकर वराहविट्की भस्मको ग्रहण करते हैं ॥ ३३ ॥

नाडीव्रणके अन्य यत्न ।

धत्तूरजं मदनकोद्रवजं च बीजं कोशातकी शुकनसा मृगभोजनी च ॥ अंकोठबीजकुसुमं गतिषु प्रयोज्यं लाक्षोदकाहतमलासु विकृत्य चूर्णम्॥३४॥चूर्णीकृतैरथ विमिश्रितमेभिरेव तैलंप्रयुक्तमचिरेण गतिं निहन्ति॥ एष्वेव मूत्रसहितेषु विधाय तैलं तत्साधितं गतिमपोहति सप्तरात्रात् ॥ ३५ ॥

धतूरेके बीज, मैनफल, कोदोंके बीज, कटु तोरई, अरलू, इंद्रायण, अंकोठके बीज, कुसुम इन सबका चूर्ण करके इनमें तैल मिलाकर गति (नासूर) में लगावे पर पहले लाखके जलसे व्रणकी गतिको शुद्ध कर ले यह शीघ्रही गति अर्थात् नासूरको नष्ट करदेता है ॥ तथा इन्हीं पूर्वोक्त धतूरबीजादिकको गोमूत्रसे युक्त करके तैल सिद्ध कर ले यह तैल साधन किया हुआ सातही दिनमें नासूरको अच्छा करदेता है ३४॥ ३५

पिंडीतकस्य तु वराहविभावितस्य मूलेषु कंदशकलेषु च सौवहेषु ॥ तैलं कृतं गतिमपोहति शीघ्रमेतत्कंदेषु चामरवरायुधसाह्वयेषु ॥ ३६ ॥ भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन सिद्धं विडंगर-

---

(श्लो० ३३) "वाराहकंद" इत्यत्र 'वाराहविट्सूक्ष्ममसी प्रदेया' इति पाठांतर वाग्भटेन भावमिश्रेणापि चांगीकृतम् । तदुक्तं भावप्रकाशे-"विभीतकाम्रास्थिवटप्रवालहरेणुकाशंखिनिर्बीजमिश्रा ॥ वाराहविट्सूक्ष्ममसी प्रदेया नाडीषु तैलेन विमिश्रयित्वा ॥ १ ॥"

(श्लो० ३४ । ३५) धत्तूरजं धत्तूरबीजम् । ... विकृत्य चूर्णीकृतैः एभिः प्रयुक्तं तैल गतिं निहंतीत्यर्थः । तथा च एष्वेव मूत्रसहितेषु तैलं विधाय त ... धितं तैलं गतिमप ... हतीति । (श्लो० ३६) -वराहविभावितस्य पिंडीतकस्य कृष्णमदनकस्य । वाराहविभावितस्य इत्यत्र वराहविभाषितस्य इति वा-

जैनीद्वयचित्रकेन ॥ स्यान्मार्कवस्य च रसेन निहंति तैलं नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ॥ ३७ ॥

वराह (वाराही कंद) विभावित पिंडीतक (काले मैनफल) की जड तथा सौवह (गंधना) कंदके टुकडे तथा अमरवर इंद्र उसका आयुध वज्र वही है नाम जिसका अर्थात् वज्रकंद इनसे सिद्ध किया हुआ तैल शीघ्रही नासूरकी गतिको अच्छा कर देता है ॥ ३६ ॥ भिलावाँ, आक, स्याह मिरच, सैंधा नमक, विडंग, दोनों हलदी, चित्रक इन्हें भृंगराजके रसंस युक्तकरके उसमें तैल सिद्ध करे यह तैल नाडीव्रण तथा कफ और वायुकी अपची तथा व्रणोंको नष्ट कर देता है ॥ ३७ ॥

स्तनरोगचिकित्सा ।

स्तन्ये गते विकृतिमाशु भिषक् तु धात्रीं पीतां घृतं परिणतेऽहनि वामयेत्तु ॥ निंबोदकेन मधुमागधिकायुतेन वांतागतेऽहनि च मुद्गरसाशना स्यात् ॥ ३८ ॥ एवं त्र्यहं चतुरहं षडहं वमेद्वा सर्पिः पिबेत्त्रिफलया सह संयुतं वा ॥ भार्ङ्गी वचामतिविषां सुरदारु पाठां मुस्तादिकं मधुरसां कटुरोहिणीं च ॥ ३९ ॥ धात्रीं पिबेत्तु पयसः परिशोधनार्थमारग्वधादिषु वरं मधुना कषायम् ॥ सामान्यमेतदुपदिष्टमतो विशेषाद्दोषान्पयोनिपतितान्छमयेद्यथास्वम् ॥ ४० ॥

यदि स्त्रीके दूधमें विकार हो तो वैद्य उस धात्री (स्त्री) को घृत पिलाकर दिन समाप्त होनेपर नींबके क्वाथमें शहत और पीपल मिलाकर इससे वमन करावे. और वमनके पीछेदिन केवल मूँगका रस खानेको दे ॥ ३८ ॥ इस भाँति तीन दिन, चार दिन या छः दिन वमन करावे फिर त्रिफला संयुक्त घृतका पान करावे अथवा भारंगी, वच, अतीस, देवदारु, पाठ और मुस्तादिकगणके द्रव तथा मधुरसा (मूर्वा) और कुटकी इन्हें पीवे ॥ ३९ ॥ अथवा दूधकी शुद्धिके लिये आरग्वधादिगणका क्वाथ शहद मिलाकर धात्री पीवे तो श्रेष्ठ है यह सामान्यतासे

पाठांतर मन्यते तदपि समीचीन वराहनाम्ना भावितः पिंडीतकः कृष्णपिंडीतकः तस्य मूलेषु । सौवहेषु कंदशकलेषु इति । सुवहा गंधना (इति डल्लनः) अन्ये तु रास्नामाहुः । तस्याः कदखंडेषु अमरवरायुधसाह्वयेषु कंदेषु इति–अमरवरः इंद्रः तस्य आयुधं वज्रः तस्य साह्वयः वज्रकंदः(श्लो० ३७) मार्कवः भृंगराजः। (श्लो० ३८) परिणतेऽहनि इत्यत्र डल्लनमते तु सायकाले तद्दिने एव परंतु तन्नेच्छति मयी, स्निग्धाय वमननिषेधात् तस्मात्परिणतेऽहनि घृतपानस्य परिपाकातेऽहनीति तात्पर्यार्थः । वांतागतेऽहनि वमनदिवसे ।

दूषित दुग्धकी शुद्धिके लिये कहा है विशेषतासे दूधमें जो विकार हो या स्तनमें कोई रोग हो तो उनका यथायोग्य प्रतीकार करे ॥ ४० ॥

रोगं स्तनोत्थिमवेक्ष्य भिषग्विदध्याद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् ॥ संपच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः संभोजनेन खलु पाचयितुं यतेत ॥ शीघ्रं स्तनो हि मृदुमांसतयोपनद्धः सर्वं प्रकोपमुपयात्यवदीर्यते च ॥ ४१ ॥

यदि स्तन (कुचों) में कोई रोग फोडा आदि हो तो उसके उठतेही वैद्य विचार कर जो विद्रधिके विधानमें बहुतसे यत्न लिखे हैं उनमेंसे जो जो उचित हों सो २ करे और जो पकावपर आते देखे तो उसे उपनाहन नहीं करे (गरम तीक्ष्ण वस्तु बांधकर पसीना नहीं दिलावे), केवल खानेके साधारण योगोंहीसे पकावे क्योंकि स्तनोंका मांस कोमल होता है वह उपनाहन करनेसे सबका सब उबलकर पक जाता है और फट जाता है ॥ ४१ ॥

पक्के च दुग्धहारिणीः परिहृत्य नाडीः कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम् ॥ आमे विदाहिनि तथैव गते च पाकं धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दहीत ॥ ४२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

जब स्तनके विद्रधि आदि पकजावें तब दुग्धवाहिनी नाडियों तथा कृष्णमंडलोंको छोडकर शस्त्रपात करना चाहिये और कच्चेपनमें यदि दाह हो तथा पकगये हों तो धात्रीके स्तनों को (दुग्ध निकालकर आवश्यकता पडे तो) अग्निसे दाग लगादे अथवा 'निर्दिहीत' ऐसा पाठ मानकर यह अर्थ करे कि लेप करदे सोई युक्त है ॥ ४२ ॥

अथ परिशिष्टम् ।

भावमिश्रने स्तनरोग (शोथ, फोडा आदि) में यह लिखाहै ।

श्लोक-पित्तघ्नानि तु शीतानि द्रव्याण्यत्र प्रयोजयेत् ॥ जलौकोभिर्हरेद्रक्तं नस्तनावुपनाहयेत ॥ १ ॥ लेपो विशालामूलेन हंति पीडां स्तनोत्थिताम् ॥ निशाकनक-

---

(श्लो० ४१) "प्रकोपमुपयाति" इत्यत्र प्रकोथम् उपयातीति वा पाठांतरम् । प्रकोथं कुथितभावम् ।

(श्लो० ४२) 'निर्दहीत' इत्यत्र निर्दिहीत इति वा पाठांतरम् । निर्दिहीत लेपनं कुर्यादित्यर्थः । तत्तु युक्तमेव 'दिह-लेपने' इत्यस्य धातोः ।

रुकाश्यां लेपः प्रोक्तः स्तनार्तिहा ॥ २ ॥ लेपो निहंति मूलं वंध्याकर्कोटिकाभवं शीघ्रम् ॥ निर्वाप्य तप्तलोहं सलिले तद्वा पिबेत्तत्र ॥ ३ ॥

अर्थ–स्तनोंमें फोडा आदि उठें तो उसपर पित्तनाशक शीतल द्रव्योंका उपयोग करे और रुधिर निकालनेकी आवश्यकता हो तो जलौका लगाकर रक्त निकलवावे परंतु स्तनोंको उपनाहन (स्वेद) नहीं करे ॥ १ ॥ और इंद्रायणकी जड पीसकर लेप करनेसे स्तनकी पीडा शांत होजाती है अथवा हलदी, धतूरेके पत्ते इन्हें पीसकर लेप करनेसे भी स्तनकी पीडा नष्ट होजाती है ॥ २ ॥ अथवा वंध्यककोडीकी जडका लेपभी स्तनपीडाको नाश करताहै और लोहेको गरम लाल करके जलमें बुझाकर पीवे यहभी स्तनरोगमें हितकारक है ॥ ३ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः १८.

अथातो ग्रंथ्यपच्यर्बुदगलगंडचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी ग्रंथी, अपची, अर्बुद और गलगंडकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

ग्रन्थि रोगमें आरंभिक यत्न ।

ग्रंथिष्वथामेषु भिषग्विदध्याच्छोफक्रियायां विहितं विधिज्ञः ॥ रक्षेद्बलं चापि नरस्य नित्यं तद्रक्षितं व्याधिबलं निहंति ॥ १ ॥ तैलं पिबेत्सर्पिरथो द्वयं वा दत्त्वा वसां वा त्रिवृतं विदध्यात् ॥ अपेहिवातादशमूलसिद्धं वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा ॥ २ ॥

ग्रंथीरोग जबतक पकाव पर नहीं आवे. तबतक वैद्यको उसपर शोथकी क्रिया करनी चाहिये तथा रोगीके बलकी भी नित्य रक्षा रखनी चाहिये ऐसा न हो कि रोगी निर्बल हो जावे क्योंकि रोगीके बलकी रक्षा रहनेसे व्याधिका बल नष्ट होता-है ॥ १ ॥ ग्रंथियां उत्पन्न होने लगें तब दोषके अनुसार तैल या घृत पान करना चाहिये अथवा दोनों पीने चाहिये अथवा चरबी मिलाकर त्रिवृत बना ले अथवा अपेहिवाता (प्रसारणी) और दशमूलसे सिद्ध किये हुए चतुःस्नेह अर्थात् तैल, घृत, वसा, मज्जा इन चारोंको मिलाकर पीवे अथवा कोईसे दो सिद्ध करके पीवे ॥ २ ॥

(श्लो० २) त्रिवृतं त्रिभिस्तैलसर्पिर्वसाभिर्वृतः व्याप्तः त्रिवृत्तः त त्रिवृतम् (इति नि. सं.) अपेहिवाता प्रसारिणी (इति डल्हनः)

वातग्रंथिकी चिकित्सा ।

हिंस्राथ रोहिण्यमृताथ भार्ङ्गी श्योनाकबिल्वागुरुकृष्णगंधाः ॥ गोजी च पिष्टा सह तालपत्र्या ग्रंथौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः ॥ ॥ ३ ॥ स्वेदोपनाहान्विविधांश्च कुर्य्यात्तथा प्रसिद्धानपरांश्च लेपान् ॥ विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं प्रक्षाल्य बिल्वार्कनरेन्द्रतोयैः ॥ ४ ॥ तिलैः सपंचांगुलपत्रमिश्रैः संशोधयेत्सैंधवसंप्रयुक्तैः॥शुद्धं व्रणं वाप्युपरोपयेयुस्तैलेन रास्नासरलान्वितेन ॥ विडंगयष्टीमधुकामृताभिः सिद्धेन वा क्षीरसमन्वितेन ॥ ५ ॥

वालछड, हरीतकी,गिलोय, भारंगी,अरलू,बिल्व, अगर, कृष्णगंधा (सोहँजना), गोजी (गोजिह्वा अर्थात् गाऊवां) इनमें तालपत्री मिलाकर पीस ले और वायुजनित ग्रंथिपर लेप करे ॥३॥ तथा स्वेद और उपनाह जो प्रसिद्ध हैं वे भी करे और दूसरेभी करे इसी भांति लेपभी करे यदि वह ग्रंथि पकजावे तो उसे चीरकर उसका पीव निकालकर बिल्व, आक और किरमालाके काथसे धोवे ॥४॥ फिर तिल और अरंडको पीस नमक मिला व्रणपर बांध दे इससे व्रण शुद्ध होजाताहै फिर शुद्ध होजानेपर रास्ना और निसोथके सिद्ध तैलसे व्रणका रोपण करे अथवा विडंग, मुलेठी, गिलोय और दूध इनमें सिद्ध किये हुए तैलसे रोपण करे ॥ ५ ॥

पित्तजग्रंथिका यत्न ।

जलौकसः पित्तकृते हितास्तु क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च ॥ काकोलिवर्गस्य च शीतलानि पिवेत्कषायाणि सशर्कराणि ॥ ६ ॥ द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वापि चूर्णं पिवेच्चापि हरीतकीनाम् ॥ मधूकजंब्वर्जुनवेतसानां त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेत ॥ ७॥ सशर्करैर्वातृणशून्यकंदैर्दिह्यादभीक्ष्णं मुचुकुंदजैर्वा ॥ विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं धावेत्कषायेण वनस्पतीनाम् ॥८॥ तिलैः सयष्टीमधुकैर्विशोध्य सर्पिः प्रयोज्यं मधुरैर्विपक्वम् ॥ ९ ॥

(श्लो० ३) हिंस्रा जटामासी वालछड इति लोके । कृष्णगंधा शोभांजनः (इति निघं० रत्नाकरः) ।

(श्लो० ८) तृणशून्यकन्दैः केतकीमूलैः (इति डल्हनः) वनस्पतीनां वटप्लक्षपिप्पलोदुंबराणाम् । वनस्पतयः पुष्पं विना जायमानफलाः अश्वत्थादयः (इति शब्दस्तोमः) । (श्लो० ९) मधुरैः काकोल्यादिभिः ।

पित्तकी ग्रंथिमें जलौका लगाकर रुधिर निकलवाना हित है तथा दूध और पानी मिलाकर (ल्हस्सीसे) परिषेचन करना और काकोल्यादिगणका शीतल काथ शर्करा युक्त करके पीना ॥ ६ ॥ अथवा बडी हरडेका चूर्ण दाखके रस या ईखके रसके संग पीवे तथा महुवा, जामुन, कुहा और जलवेतस इनकी अंतरछाल पीसकर लेप करे ॥ ७ ॥ अथवा तृणशून्य (केतकी) का कंद और शर्करा मिलाकर लेप करे या मुचुकुंदके फूल पीसकर लेप करे और जो पकजावे तो चीरा लगाकर पीब निकालदे और वनस्पति (वट, पाखर, पीपल, गूलर) के काथसे धोवे ॥८॥ और तिल, मुलेठी पीसकर व्रणपर लगाकर शुद्धकरे फिर मधुरगण (काकोल्यादि) से सिद्ध किया हुआ घृत उपयोग करे इस घृतसे पित्तग्रंथिका व्रण भरकर अंकुरित होजाताहै ॥ ९ ॥

कफग्रंथिका यत्न ।

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या ग्रंथौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु ॥ स्विन्नस्य विम्लापनमेव कुर्यादंगुष्ठलोहोपलवेणुदंडैः ॥ १० ॥ विकंकतारग्वधकाकणंतीकाकादनीतापसवृक्षमूलैः ॥ आलेपयेत्पिंडफलार्कभार्ङ्गीकरंजकालामदनैश्च विद्वान् ॥ ११ ॥

यदि कफकी ग्रंथि हो तो यथायोग्य वमनादिकसे दोष हरण करके स्वेद दिलाके (ग्रंथिको) चतुर वैद्य अंगूठेसे या लोहकी वस्तुसे या पत्थरसे या बांसकी पोरीसे दबा दबा मसल मसल कर विम्लापन करदे (जिससे ग्रंथी बैठजावे) ॥ १० ॥ विकंकत (बइंची), किरमाला, काकपंती (चिरमठी), काकादनी (काकशिंबी), तापस (हिंगोट) की जड, पिंडफला (कडवी घीया), आक, भारंगी, करंज, काला (काला निशोथ) और मैनफल इनका लेप करे ॥ ११ ॥

असम्यजातं शमप्रयातमपक्वमेवापहरेद्विदार्य ॥ देहास्थिते वासृजि सिद्धकर्मा सद्यःक्षतोक्तं च विधिं विदध्यात् ॥ १२ ॥ ये मांसकंदाः कठिना बृहन्तस्तेष्वेव योज्यश्च विधिर्विधिज्ञैः ॥ शस्त्रेण वापाद्य सुपक्वमाशु प्रक्षालयेत्पथ्यतमैः कषायैः ॥१३॥ संशोधनैस्तं च विशोधयेयुः क्षारोत्तरैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः ॥ शुद्धं च तैलं त्वचचारणीयं विडंगपाठारजनीविपक्वम् ॥ १४ ॥

(श्लो० ११) विकंकतः डल्हनमते कटकारिका । वाचस्पत्ये तु विकंकतः बइंचीवृक्षः अग्निचला च इति । पिंडफला तिक्तालाबु ।

जो ग्रंथि मर्मस्थानोंके सिवाय अन्यत्र हो और शांत न हो अर्थात् ठहरगई हो, पकती नहो तो उसे विना पकीहीको चीरकर साफ करदे और जो रुधिरमें स्थित हो तो उसे अग्निसे सिद्धकर्मा वैद्य जला देवे और सद्योव्रणविधानमें कहीहुई क्रिया करे ॥ १२ ॥ जो मांसके बडे गठूले हों तोभी उनमें विधिज्ञ वैद्यही क्रिया करे अर्थात् अग्निसे जलादे अथवा उसे पकाकर शस्त्रसे चीरदे और पथ्य द्रव्योंके काथसे धोवे ॥ १३ ॥ और जिनमें क्षार मिला हो तथा शहद घृतयुक्त हो उन शोधनद्रव्योंसे शोधन करे और जब शुद्ध होजावे तब विडंग, पाठा और हलदीसे पकायाहुआ तैल उपयुक्त करे (इस तैलसे व्रणरोपण होता है) ॥ १४ ॥

मेदोज ग्रंथिका यत्न ।

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं दत्त्वोपरिष्टाद्द्विगुणं पटांतम् ॥ हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्याल्लोहेन धीमान्दहनं हिताय ॥१५॥ प्रलिप्य दार्वीसमर्थं लाक्षया वा प्रतप्तया स्वेदनमस्य कार्यम् ॥ निपात्य वा शस्त्रमपोह्य मेदो दहेत्सुपक्वं त्वथवा विदार्यम् ॥ १६ ॥ प्रक्षाल्य मूत्रेण तिलैः सुपिष्टैः सुवर्चिकाद्यैर्हरितालमिश्रैः ॥ ससैंधवैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः क्षारोत्तरैरेनमभिप्रशोध्य ॥ १७ ॥ तैलं विडंगाद्विकरंजगुंजावंशावलेखङ्गुदमूत्रसिद्धम् ॥ १८ ॥

मेदकी ग्रंथि हो तो उसपर तिल पीसकर लेप कर दे और ऊपरसे दोहरे कपडेकी पट्टी बांध दे फिर लोहा गरम करके बुद्धिमान् वैद्य उसपर फेरे और दग्ध कर दे ॥ १५ ॥ अथवा लकडीमें गरम लाख लगाकर उससे सेके (दग्ध करे) अथवा शस्त्रसे चीरा लगाकर मेदको निकालकर दग्ध करदे अथवा पकावपर आजावे तो उसे पकाकर शस्त्रसे चीरदे ॥ १६ ॥ और व्रणको गोमूत्रसे धोवे फिर तिलोंको पीसकर उनमें सज्जीखार, हरताल, सैंधा नमक, शहत और घृत मिलावे और जवाखार, कुछ अधिक मिलावे और इनसे शोधन करे ॥ १७ ॥ और जब शुद्ध होजावे तब दोनों करंज, चिरमठी, बाँसकी छाल, हिंगोट और गोमूत्र इनमें सिद्ध किये हुए तैलका उपयोग (रोपणार्थ) करे ॥ १८ ॥

अपचीचिकित्सा ।

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव ॥ सर्पिः कृतं हन्त्यपचीं प्रवृद्धां द्विधाप्रवृत्तं तदुदारवीर्यम् ॥ १९ ॥ निर्गु-

(श्लो० १५ । १६) अत्र वृद्धवाग्भटोप्याह—मेदोग्रंथितिलकल्कादिग्ध द्विगुणपटांतरितं तप्तेन फालेन दार्व्या वा जतुप्रलिप्तया बहुशः प्रमृज्यते इति । (श्लो० १८) वंशावलेखः वंशत्वक् । (श्लो० १९) जीमूतकः देवदाली । कोशातकी कटुकोशातकी । द्विधाप्रवृत्तं वमनरेचनकारकम् ।

द्विजातीवरिहिष्टयुक्तं जीमूतकं माक्षिकसैंधवाढ्यम् ॥ अभिप्रतप्तं वमनं प्रगाढं दुष्टापचीषूत्तममादिशन्ति ॥ २० ॥

जीमूतक (बंदाल), कोशातकी (कडवी तोरई), दंती और द्रवंती तथा निसोथ इनमें पकाया हुआ घृत बढी हुई अपचीको नष्ट कर देता है यह उदार पराक्रमवाला घृत वमन और विरेचन दोनोंको खूब कराता है ॥ १९ ॥ तथा निर्गुंडी (संभालू), चमेली, वरिहिष्ट (नेत्रवाला), बंदाल इन्हें गरमकर शहत और सैंधा नमक मिलाकर पीनेसे खूब वमन होके दुष्ट अपची शांत होजाती है ॥ २० ॥

नस्यविधि ।

कैटर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं तैलं हितं मूर्द्धविरेचनं च ॥ शाखोटकस्य स्वरसेन सिद्धं तैलं हितं नस्यविरेचनेषु ॥ मधूकसारश्च हितोवपीडे फलानि शिग्रोः खरमंजरेर्वा ॥ २१ ॥

कैटर्य (पहाडी नीम), कन्दूरी, कनेर इनसे सिद्ध किया हुआ तैल नास लेनेसे मूर्द्धाके मलको रेचन करता है तथा शाखोटक (शाँखोड) के स्वरससे सिद्ध किया हुआ तैल भी शिरोविरेचनमें हित है तथा मधूकसार, सोहँजनेके फल और ओंगेके फल ये अवपीडन (तीक्ष्णनस्यकर्म) में हित हैं ॥ २१ ॥

ग्रंथीनमर्मप्रभवानपक्वानुद्धृत्य चाग्निं विदधीत पश्चात् ॥ क्षारेण वापि प्रतिसारयेत्तु संलिख्य शस्त्रेण यथोपदेशम् ॥ २२ ॥ पार्ष्णिं प्रति द्वादश चांगुलानि मित्वेन्द्रवस्तिं परिवर्ज्य धीमान् ॥ विदार्य मत्स्यांडनिभानि वैद्यो निष्कृष्य जालान्यनलं निदध्यात् ॥ २३ ॥ आगुल्फकर्णात्सुस्थितस्य जंतोस्तस्याष्टभागं खुलकाद्विभज्य ॥ घोणार्जुवेधः सुरराजवस्तेर्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदंति ॥ २४ ॥

(श्लो० २०) वरिष्ठ वालकम् (इति नि० सं०) (श्लो० २१) कैटर्यः पर्वतनिंबः (इति डल्हनः) शब्दस्तोमे तु कैटर्य्यः निम्बे भूनिम्बे कट्फले पूतिकरंजे मदनवृक्षे च। वस्तुतोऽत्र कट्फल एव ग्राह्यः । शाखोटकस्य खरमंजरेरर्थः डल्हनाचार्येण न लिखितः । शब्दस्तोमे तु शाखोटः शौआड इति वृक्षः । खरमंजरिः अपामार्गः इति । (श्लो० २२) अन्ये तु प्राति इति प्रतिशब्द विपरीतार्थकमाहुः पार्ष्णेः विपरीतमित्यर्थः (इति नि. संग्रहे) तथा चोक्तं वृद्धवाग्भटे-एवमनुपशमे वामपार्श्वजायां दक्षिणजंघापृष्ठमध्यादिद्रवस्तेरधस्तादूर्ध्वं वा शस्त्रेणाक्षिमात्रं व्रणं कृत्वा मत्स्यांडजालनिभं मेदोपनीयाग्निना दहेत् । अनेनेतरपार्श्वजा व्याख्याता एवमुभयपार्श्वजायामुभयत इति ।

जो ग्रंथि मर्मस्थानपर नहीं हो और वह पके नहीं तो उसे छेदन करके (निकालके) फिर अग्निसे दग्ध करदेना चाहिये अथवा उसे शस्त्रसे छीलकर फिर क्षारसे (तेजाबसे) उपदेशके अनुसार जला दे ॥ २२ ॥ पार्ष्णि (पिंडलीके टखने) से १२ अंगुलपर इंद्रवस्तिस्थानको छोडके चीरा लगावे और वहांपर जो मच्छीके अंडों सरीखा जलसा होवे उसे निकालकर अग्निसे दग्ध करदेना चाहिये ॥ २३ ॥ गुल्फसे लेकर कान तक जो प्रमाण है उसके आठवें भागपर खुलक स्थानसे विभाग करके उस स्थानपर विदारण करे और नासिका ऋजुवेधन करे (और कई ऐसा कहते हैं कि) इंद्रवस्तिको छोडकर नेत्रके बराबर चीरा लगावे (और जाल निकाल डाले) ॥ २४ ॥

(वक्तव्य) इसमें यह है कि यदि दाहिनी तरफ अपची हो तो बायें पावँमें चीरा लगावे और बाई तरफ हो तो दाहिनी तरफ और जो दोनों तरफ हो तो दोनों पावोंमें चीरा लगावे इसमें 'प्रति' शब्दसे कई जो अर्थ निकालते हैं वह और वृद्धवाग्भटका मत टिप्पणीमें देखो ॥

मणिबंधोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक् ॥
अंगुल्यंतरितं सम्यगपचीनां निवृत्तये ॥ २५ ॥

मणिबंध (पहुँचे) से ऊपर एक एक अंगुलके अंतरसे तीन रेखा (सलाई अग्निमें गरम करके) अपचीकी निवृत्तिके लिये वैद्य करे (कई ऐसा कहते-हैं कि शस्त्रसे तीन रेखा करे परंतु यह ठीक नहीं, अग्निसे करना ठीक है पश्चिमीय मालवमें भी प्रायः अग्निहीसे करते हैं और लाभ होता है) ॥ २५ ॥

चूर्णस्थं काले प्रचलाककाकगोधाहिकूर्मप्रभवां मसीं तु ॥ दद्याच्च तैलेन सहेंगुदीनां यद्वक्ष्यते श्लीपदिनां च तैलम् ॥ विरेचनं धूममुपाददीत सवेच्च नित्यं यवमुद्गभोजी ॥ २६ ॥

प्रचलाक (मोर), काक, गोह, सर्प, कछवा इन्हें जलाकर काली राख बना लेवे फिर उसका चूर्ण करके हिंगोटके तैलमें मिलाकर अपची और गंडमाला पर लगावे अथवा जो श्लीपदरोगमें तैल कहा जावेगा उसे लगावे तथा विरेचनीय धूमपान करावे और रोगी नित्य जौ और मूँगहीका भोजन करे ॥ २६ ॥

अर्बुदकी चिकित्सा।

वातार्बुद।

कर्कारुकैर्वारुकनालिकेरप्रियालपंचांगुलबीजचूर्णैः ॥ वातार्बुदं-

(श्लो० २६) प्रचलाकः मयूरः 'प्रचलाक' इत्यत्र कृकलास इति वा पाठांतरं तच्च वृद्धवाग्भटेऽप्यंगीकृतमिति।

क्षीरघृतांबुसिद्धैरुष्णैः सतैलैरुपनाहयेत्तु ॥ २७ ॥ कुर्याच्च मुख्यान्युपनाहनानि सिद्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः ॥ स्वेदं विदध्यात्कुशलस्तु नाड्यां शृंगेन रक्तं बहुशो हरेच्च ॥ २८ ॥ वातघ्ननिर्यूहपयोम्लभागैः सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा ॥ २९ ॥

ककडी, खीरा, नारियल, चिरोंजी, अरंडके बीज इन सबको दूध, घृत, पानी और तैलमें पकाकर गरम गरमसे वातार्बुदको उपनाहन करे (सेके) ॥ २७ ॥ इसके सिवाय मुख्य २ उपनाहन करे। मांसको पकाकर उससे तथा वेसवारसे चतुर वैद्य स्वेद करावे और नाडी अथवा सींगी लगाकर बहुत वार रुधिर निलवावे ॥ २८ ॥ और वायुनाशक काथ तथा दुग्ध और अम्ल द्रव्योंसे सिद्ध किया शतपाक स्नेहका पान करे अथवा त्रिवृत (तैल, वसा, मज्जा इन तीनोंसे मिला) घृत पीवे ॥ २९ ॥

पित्तार्बुद।

स्वेदोपनाहा मृदुवस्तुपथ्या पित्तार्बुदे कायविरेचनं च ॥ विघृष्य चोदुंबरशाकगोजीपत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिंपेत् ॥ ३० ॥ श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियंगुपतंगरोध्रांजनयष्टिकाह्वैः ॥ विस्राव्य चारग्वधगोजिसोमाः श्यामा च योज्याः कुशलेन लेपे ॥ ३१ ॥ श्यामागिरिह्वांजनकीरसेषु द्राक्षारसे सप्तलिकारसे च ॥ घृतं पिबेत्क्षीतकसंप्रसिद्धं पित्तार्बुदी तज्जठरी च जन्तुः ॥ ३२ ॥

पित्तके अर्बुद (रसोली) में स्वेद, उपनाह और मृदु वस्तुओंका पथ्य करावे तथा विरेचन करावे और अर्बुदको गूलर, शाक (सागोन) गोजिह्वा इनके पत्तोंसे घिसकर ऊपरसे राल, प्रियंगु (गोंदी), पतंग, लोध, रसोत, मुलेठी इन्हें पीस शहत मिलाकर लेप करे तथा कुछ स्राव हो तो उसे निकालकर किरमाला, गोजिह्वा, सोमलता, श्यामा, निशोथ इनका लेप कुशल वैद्यको करना चाहिये ॥ ३० ॥ ३१ ॥ अथवा श्यामा, निशोथ, शिलारस और रसवंतीके रसमें पका हुआ घृत तथा द्राक्षाके रस और सातलाके रसमें पका घृत तथा मुलेठीसे सिद्ध किया घृत पित्तार्बुदवाला तथा पित्तोदरवाला रोगी पीवे ॥ ३२ ॥

कफार्बुदचिकित्सा।

शुद्धस्य जंतोः कफजेऽर्बुदे तु रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत् ॥ द्रव्याणि यान्यूर्द्धमधश्च दोषान् हरंति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात् ३३ ॥

(श्लो० ३३) कफार्बुदे ऊर्ध्वमधश्च हृतदोषस्य स्रुतरक्तस्य च वमनविरेचनद्रव्यैः प्रलेपः (इति वृ० वा०)

कपोतपारावतविड्विमिश्रैः सकांस्यनीलैः शुकलांगलाख्यैः ॥ मूत्रैस्तु काकादनिमूलमिश्रैः क्षारप्रदिग्धैरथवा प्रदिह्यात् ॥ ३४ ॥

कफका अर्बुद रोग होवे तो प्रथम रोगीको वमन और रेचनसे शुद्ध करे फिर रुधिर निकलवावे फिर उस अर्बुदपर वमन, विरेचनके द्रव्योंको पीसकर लेप करे ॥ ॥ ३३ ॥ अथवा कपोत (कमेडी), कबूतरकी बीठ, नीलाथोथा, शुक (ग्रंथिपर्णी) और कलहारी इनका लेप करे तथा चिरमठीकी जड जवाखार इन्हें गोमूत्रमें पीसकर लेप करे ॥ ३४ ॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कैर्मांसप्रगाढैर्दधिमस्तुयुक्तैः ॥ लेपं विदध्यात्क्रिमयो यथात्र मूर्च्छंति मूर्च्छंत्यथ मक्षिकाश्च ॥ ३५ ॥ अल्पावशिष्टे क्रिमिभिः कृते च लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात् ॥३६॥

निष्पाव (मोठ), खल, कुलथी इन्हें पीसकर मांस, दधि और दधिका जल मिलाकर लेप करनेसे कीडे पडते हैं और मक्खियां भी पडती हैं ॥ ३५ ॥ जब कीडोंके भक्षणसे कुछ शेष रहे तब उसे खुरच कर अग्निसे दग्ध करदेना चाहिये ॥३६॥

(वक्तव्य) यह लेप कीडे पैदा करनेके लिये है कि कीडे उसे खा लेवें, कीडे दूर करनेको नहीं है ॥

यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा ॥ क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात्प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः॥३७॥ आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम् ॥ शुद्धे च तैलं विदधीत भार्ङ्गीविडंगपाठात्रिफलाविपक्वम् ॥३८॥ यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥ ३९ ॥

जिस अर्बुदकी जड पतली हो उसकी जडमें रांग, तांबा या सीसे या लोहेके पत्रसे आच्छादन करके सावधान वैद्य कईवार उसपर थोडा थोडा क्षारकर्म या अग्निकर्म करे या शस्त्रसे खुरचे परंतु ऐसा करनेमें रोगीके प्राण (और बल) का नाश न होने पावे ॥ ३७ ॥ फिर व्रणके शोधन करनेको आस्फोता, चमेली, कनेर इनके पत्तोंका यथोचित क्वाथ बनावे और जब शुद्ध होजावे तब भारंगी, विडंग, पाठ और त्रिफला इनमें पकाया हुआ तैल (रोपणार्थ) उपयोग करे ॥ ३८ ॥

(श्लो० ३५) लेपास्वादलोभेन च निलीयमाना मक्षिकाः समुपेक्षेत तद्विमुक्तैः क्रिमिभिरितरैर्वा भक्ष्यमाणं च । ततः क्रिमिभिर्भक्षितावशेषं शाकादिपत्रैर्विलिख्याग्निना दहेत् (इति वृद्धवाग्भटः) ॥

और यदि कफका अर्बुद आपहीसे पकजावे तो फिर पाकके क्रमसे (विद्रधिके अनुसार) उसका उपचार करे ॥ ३९ ॥

मेदोर्बुदचिकित्सा।

मेदोर्बुदं स्विन्नमदो विदार्य विशोध्य सीव्येद्गतरक्तमाशु ॥ ततो हरिद्रागृहधूमरोध्रपतंगचूर्णैः समनःशिलालैः ॥ व्रणं प्रतिमृद्य मधुप्रगाढैः करंजतैलं विदधीत शुद्धे॥४०॥सशेषदोषाणि हि यो ऽर्बुदानि करोति तान्याशु पुनर्भवंति॥ तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्यात्सशेषाणि तथा हि वह्निः ॥ ४१ ॥

मेदका अर्बुद हो तो उसे स्वेदित करके चीर देवे और भीतरसे मेद निकालकर साफ करके शीघ्रही सीम देना चाहिये फिर हलदी, धुवांसा, लोध, पतंग और मैनशिल इनके चूर्णमें शहत मिलाकर व्रणपर लगादेवे और जब शुद्ध होजावे तब करंजसे सिद्ध किया तैल लगाकर व्रणका रोपण करे ॥ ४० ॥ और जो अर्बुदको इसप्रकार शुद्धकरै कि उसमें कुछ दोष शेष रहजावे तो फिर बढकर अर्बुद होजाताहै इस कारणसे जडमूलसे उखाडकर साफ करना चाहिये और जो शेष रहाहुआ होवे तो उसे फिर अग्निसे दग्ध कर देना चाहिये ॥ ४१ ॥

गलगंडचिकित्सा।

संस्वेद्य गंडं पवनोत्थमादौ नाड्यानिलघ्नौषधपत्रभंगैः ॥ अम्लैः समूत्रैर्विविधैः पयोभिरुष्णैः सतैलैः पिशितैश्च विद्वान् ॥४२॥ विस्रावयेत्स्विन्नमतंद्रितश्च शुद्धं व्रणं नाप्युपनाहयेत्तु॥ शणातसीमूलकशिग्रुकिण्वप्रियालसंज्ञानुयुतैस्तिलैस्तु ॥ ४३॥ कालामृताशिग्रुपुनर्नवार्कगजादिनामाकरहाटकुष्ठैः ॥ एकैशिकावृक्षकतिल्वकैश्च सुराम्लपिष्टैरसकृद्विदिह्यात् ॥ ४४ ॥ तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः ॥ सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु हिताय नित्यं गलगंडरोगे ॥ ४५ ॥

(श्लोक ४१)यः वैद्यः सशेषदोषाणि अर्बुदानि करोति तान्यर्बुदानि शीघ्रमेव पुनर्भवंति तानि सशेषाणि समुद्धृतानि अर्बुदानि वह्निः हन्यात् इत्यर्थः।

(श्लो० ४३) अस्य पूर्वार्द्धं पूर्वेण परार्द्धं च परेण श्लोकेन सहान्वेतव्यम् ॥ (श्लो० ४४) काला वरिहिष्ठा, गजादिनामा गजपिप्पली, करहाटको मदनः। एकैशिका शतावरी (इति नि० सं०)

वायुका गलगंड रोग हो तो पहले उसे स्वेदन करावे अर्थात् नाडीस्वेद करावे वायुनाशक औषधों (अरंड आदि) के पत्रखंडोंमें अम्लरस और गोमूत्र आदि तथा दुग्ध मिलाकर गरम करे और उसपर नाडी (नलका) लगाकर उसका मुख गलगंडके पास लगाकर स्वेद (पसीना दिलावे अथवा गरम तैलसे या गरम मांससे स्वेदन करावे ॥ ४२ ॥ फिर उसको स्वेदित करके जलौकादिसे रुधिर निकलवावे। सावधान वैद्य शुद्ध व्रणको फिर उपनाहन नहीं करे, उसपर शण, अलसी, मूलक, सोहँजना, सुराका बीज, चिरोंजीकी गिरी, तिल इन्हें और ॥ ४३ ॥ काला (वरिहिष्ठा), गिलोय, सोहँजना, सोंठी, आक, गजादिनामा (गजपीपल), मैनफल, कूट, एकैशिका (शतावरी), कुडा, लोध इन्हें मदिरा और कांजीमें पीस कर वारंवार लेप करे ॥ ४४ ॥ और गिलोय, नींब, हंसपदी, कुडा, पिप्पली इनसे सिद्ध किया हुआ तैल पान करे दोनों खरेंटी और देवदारु भी युक्त करे इस तैलको नित्य पीना गलगंड रोगमें हित है ॥ ४५ ॥

(वक्तव्य) गलगंडरोग पित्तजनित नहीं होता इसीसे वातज गलगंडकी चिकित्साके पीछे कफजकी चिकित्सा लिखते हैं देखो निदानस्थान अध्याय ११ में गलगंडरोगका निदान ॥

कफज गलगंडका यत्न ।

स्वेदोपनाहैः कफसंभवं तु संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात् ॥ ततोऽजगंधातिविषाविशल्याविशाणिकाकुष्ठशुकाह्वयाभिः ॥४६॥ पलाशभस्मोदकपेषिताभिर्दिह्यात्सगुंजाभिरशीतलाभिः ॥ दशार्द्धसंख्यैर्लवणैश्च युक्तं तैलं पिबेन्मागधिकादिसिद्धम् ॥ ४७ ॥ प्रच्छर्दनं मूर्द्धविरेचनं च धूमश्च वैरेचनिको हितस्तु ॥ पाकक्रमो वापि सदा विधेयो वैद्येन पाकंगतयोः कथंचित् ॥ ४८ ॥ कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः ॥ सशृंगवेराः सपटोलनिंबा हिताय देया गलगंडरोगे ॥ ४९ ॥

कफका गलगंड रोग हो तो प्रथम स्वेदन और उपनाहनोंसे स्वेदित करके रुधिर निकलवाना चाहिये फिर अजगंधा (वनयवानी या वर्वरी), अतीस, विशल्या-

---

(श्लो० ४६) अजगंधा वनयवानीति (नि० सं०) शब्दस्तोमे तु अजगधा वनयवान्या वर्वरिकाय च। विशल्या अग्निशिखा लागलीत्यर्थः। विषाणिका आमलकी (इति डल्हनः) वाचस्पत्ये तु विषाणिका शृंग्या कर्कटशृंग्या आमलक्यां च।

(अग्निशिखा), विषाणिका (शृंगी काकडासींगी), कूट, शुकाह्वा (चमरुवा वट या श्योनाक) ॥ ४६ ॥ इन्हें पलाशकी भस्मके जलसे पीसकर और चिरमिठी पिसी-हुई मिलाकर गरम करके लेप करे और पिप्पल्यादिगणमें पांचों लवण मिला इनसे सिद्ध किया तैल पीवे ॥ ४७ ॥ वमन करावे और शिरोविरेचन करावे तथा विरे-चनकारक धूमपानभी हित है अथवा और जो ये वात, कफके अर्बुद पकजावें तो वैद्यको पाकक्रमसे उपचार करना चाहिये ॥ ४८ ॥ और इस रोगमें त्रिकटु, शहत युक्त गोमूत्र सहित जौके पदार्थ तथा मूँगके रस जिनमें अदरख पटोल (परवल) और निंबका संस्कार हो भोजनार्थ देने उचित हैं ॥ ४९ ॥

मेदोजगलगंडका यत्न ।

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां विध्येच्छिरां स्निग्धतनोर्नरस्य ॥ श्यामासुधालोहपुरीषदंतीरसांजनैश्चापि हितः प्रदेहः॥५०॥ मूत्रेण वालोड्य हिताय सारं प्रातः पिबेच्छालमहीरुहाणाम् ॥ शस्त्रेण वापाद्य विदार्य चैवं मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत् ॥ ५१ ॥ मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेद्वा दग्धे च सर्पिर्मधु चावचार्यम् ॥ कासीसतुत्थे च ततोऽत्र देये चूर्णीकृते रोचनया समेते ॥५२॥ तैलेन चाभ्यज्य हिताय दद्यात्सारोद्भवं गोमयजं च भस्म ॥ हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो गाढश्च बंधो यवभोजनं च ॥ ५३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थानेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

मेदोज गलगण्ड रोगमें उपदेशके अनुसार मनुष्यका शरीर स्निग्ध कराकर शिरा-वेधन करे और श्यामा निसोथ, सुधा (थोहर), लोहकिट्ट और दंती तथा रसोत इनका लेप करे ॥ ५० ॥ और शालसारादि वृक्षोंकी अंतरछाल (सार) को गोमूत्रमें घोलकर नित्य प्रभात पीना हित है अथवा शस्त्रसे चीरकर मेदको नि-काल कर सीम देना चाहिये ॥ ५१ ॥ और मज्जा, घृत मेद (चर्बी) तथा शहत गरम करके दग्ध करदेवे तथा दग्ध करके शहत और घृत लगा देवे तथा कसीस नीलाथोथा पीसकर गोरोचन मिलाकर उपयोग करे इससे व्रण शुद्ध होजाता है ॥ ५२ ॥ फिर तैल लगावे (जो हित हो वह तैल लगावे) और उक्त वृक्षोंकी छालकी भस्म या गोवरकी भस्म लगावे तथा नित्य धोने (या पान करने) में त्रिफलाका क्वाथ हित है और पट्टी दृढ बांधना तथा जौ भोजन करना हित है॥५३॥

अथ परिशिष्टम् ।

भावप्रकाशोक्त-गंडमालायत्न ।

श्लोक-कांचनारत्वचः क्वाथः शुंठीचूर्णेन संयुतः ॥ माक्षिकाढ्यः सकृत्पीतः क्वाथो वरुणमूलजः ॥ १ ॥ गंडमालां हरत्याशु चिरकालानुबंधिनीम् ॥ पलमर्द्धपलं चापि पिष्टं तंडुलवारिणा ॥ कांचनारत्वचः पीत्वा गंडमालां व्यपोहति ॥ २ ॥

अर्थ-कचनालकी छालका क्वाथ शुंठी युक्त, शहत मिलाकर एक समय नित्य पीनेसे गंडमाला नष्ट होजाती है अथवा वरुण (वरने) का क्वाथ बहुत दिनकी भी गंडमालाको नाश करता है अथवा एक पल या आधेपल कचनालकी छालको चावलोंके जलमें पीसकर पीवे तो गंडमाला नष्ट होजावे ॥ १ ॥ २ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्म वि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थानेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः १९.

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अब यहांसे अगाडी हम वृद्धि, उपदंश और श्लीपद रोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

अंडवृद्धिमें वर्जित आहार विहार ।

अंत्रवृद्ध्यां विना षड्यां वृद्धयस्तासु वर्जयेत् ॥ अश्वादियानं व्यायामं मैथुनं वेगनिग्रहम् ॥ अत्यासनं चंक्रमणमुपवासं गुरूणि च ॥ १ ॥

वृद्धि (अंडवृद्धि) रोग सात प्रकारका लक्षणों सहित पहले निदानस्थानके १२ वें अध्यायमें वर्णन हो चुका है जिसमें अंत्रवृद्धिके विना शेष जो छः प्रकारका अंडवृद्धि रोग है उन्होंमें इतनी बातें त्याग देनी चाहिये कि, घोडे आदि पीठकी सवारी, व्यायाम (डंड कसरत तथा परिश्रम), मैथुन, वेगोंका रोकना, बहुत बैठे रहना, बहुतसा फिरना, अति लंघन या व्रतादि करना तथा गरिष्ठ भोजन॥१॥

वातज अंडवृद्धिका यत्न ।

तत्रादितो वातवृद्धौ त्रैवृतस्निग्धमातुरम् ॥ स्विन्नं चैनं यथान्यायं पाययेत विरेचनम् ॥ २ ॥ कोशाम्रतिल्वकैरंडफलतैलानि वा नरम् ॥ सक्षीरं वा पिबेन्मासं तैलमेरंडसंभवम् ॥ ३ ॥ ततः

(श्लो० ३) तृतीयश्लोकस्य पूर्वार्द्धं पूर्वेण सहान्वितव्यम् । नर तैलानि पाययेदिति योजनीयम् ।

कालेनिलघ्नानां क्वाथैः कल्कैश्च बुद्धिमान् ॥ निरूहयेन्निरूढं च भुक्तवंतं रसौदनम् ॥ ४ ॥ यष्टीमधुकसिद्धेन ततस्तैलेन योजयेत् ॥ स्नेहोपनाहौ कुर्य्याच्च प्रदेहांश्चानिलापहान् ॥ ५ ॥ विदग्धां पाचयित्वा वा सेवनीं परिवर्जयेत् ॥ भिंद्यात्ततः प्रभिन्नायां यथोक्तं क्रममाचरेत् ॥ ६ ॥

वातज वृद्धिमें पहले त्रैवृत (घृत, तैल, वसाके) स्नेहसे स्निग्ध करे (अथवा त्रिवृताके स्नेहसे) रोगीको स्निग्ध करे फिर यथायोग्य स्वेद कराकर विरेचनी औषध पिलावे ॥ २ ॥ तथा कोशाम्र, लोध, अरंडके बीजोंका तैल पिलावे अथवा एक महीनेतक अरंडके तैलमें दूध मिलाकर नित्य पीवे ॥ ३ ॥ फिर वायुनाशक द्रव्योंके क्वाथोंसे और कल्कोंसे निरूहणवास्ति करावे और मांसरस सहित चावलोंका भात खिलावे ॥ ४ ॥ तथा मुलेठीके सिद्ध किये तैलसे अनुवासनवस्ति करावे और स्निग्ध उपनाहन करे और वायुनाशक लेप करे ॥ ५ ॥ पकावपर आजावे तो उसे पकाकर सेवनीको छोडके शस्त्रसे चीरा लगावे और फिर यथोक्त व्रणके क्रमसे उपचार करे ॥ ६ ॥

पित्तज अंडवृद्धि।

पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रंथिक्रमो हितः ॥ पक्वां वा भेदयेद्भिन्नां शोधयेत्क्षौद्रसर्पिषा ॥ शुद्धायां च भिषग्दद्यात्तैलं कल्कं च रोपणम् ॥ ७ ॥

पित्तज वृद्धिमें जबतक पके नहीं तबतक पित्तज ग्रंथिके क्रमानुसार यत्न करना हित है और जब पक जावे तब भेदन करे और फूट जावे तब शहत और घृतसे शोधन करे और जब शुद्ध हो जावे तब रोपण करनेवाले तैलों अथवा कल्कोंका उपयोग करे ॥ ७ ॥

रक्तज अंडवृद्धि।

रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेद्भिषक् ॥ पिबेद्विरेचनं वापि शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ॥८॥ पित्तग्रंथिक्रमं कुर्यादामे पक्के च सर्वदा ९

रक्तज वृद्धिमें वैद्य जलौका लगाकर रुधिर निकाल देवे और शर्करा तथा शहतसे

(श्लो० ४ । ५) अनिलघ्नाना क्वाथैः कल्कैर्निरूहयेत् ततः निरूढं रसौदन भुक्तवंत यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन योजयेत्, अनुवासयेदित्यर्थः । तदुक्तं वृद्धवाग्भटेन–'ततोऽनिलघ्नक्वाथकल्कैर्निरूहयेत् । निरूढं च मासरसेनाशितं यष्टीमधुकतैलेनानुवासयेत्' इति ।

मिलाहुआ विरेचन पीवे ॥ ८ ॥ रक्तकी अंडवृद्धिमें कच्ची अवस्थामें तथा पकनेकी अवस्थामें सदा पित्तज ग्रंथिका यत्न करे ॥ ९ ॥

श्लेष्मज अंडवृद्धि ।

वृद्धिं कफात्मिकामुष्णैर्मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥ पीतदारुकषायं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ॥ १० ॥ विम्लापनादृते वापि श्लेष्मग्रंथिक्रमो हितः ॥ पक्वायां च विभिन्नायां तैलं शोधनमिष्यते ॥ सुमनारुष्करांकोठसप्तपर्णेषु साधितम् ॥ ११ ॥

श्लेष्मज अंडवृद्धिमें उष्णद्रव्यों (वचादि और पिप्पल्यादिगणों) को गोमूत्रमें पीसकर लेप करे और दारुहलदीके क्वाथको गोमूत्र युक्त करके पीवे ॥ १० ॥ कफकृत अंडवृद्धिमें कफग्रंथिके समान यत्न करे परंतु एक विम्लापनकर्म नहीं करना चाहिये और जब पक जावे और फूट जावे तब शोधनतैल चमेली, भिलावाँ, अंकोठ और सातलासे सिद्ध करके बनावे और उपयुक्त करे ॥ ११ ॥

मेदोज अंडवृद्धि ।

मेदःसमुत्थां संस्वेद्य लेपयेत्सुरसादिना ॥ शिरोविरेकद्रव्यैर्वा सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः ॥ १२ ॥ स्विन्नां चावेष्ट्य पट्टेन समाश्वास्य तु मानवम् ॥ रक्षेत्फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत् ॥ १३ ॥ मेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात्कासीससैंधवे ॥ बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत् ॥ १४ ॥ मनःशिलालवणैः सिद्धमारुष्करेषु च ॥ १५ ॥

मेदोज वृद्धिमें प्रथम स्वेद कराके सुरसादिगणसे या शिरोविरेचन (पिप्पली, विडंगादि) द्रव्योंको गोमूत्रमें पीस थोडा गरमकर लेप करे ॥ १२ ॥ जब स्वेदित हो जावे तब वस्त्रसे आच्छादनकर मनुष्यरोगीको तसल्लीसे धैर्य देकर उसके अंडगोलक और सेवनी बचाकर वृद्धिपत्रसे चीरा लगावे ॥ १३ ॥ और मेदको निकालकर कसीस और सेंधा नमक लगावे और (गोफणाबंधसे) पट्टी बांध दे इससे शुद्ध होजावे तब मैनसिल, हरताल, लवण और भिलावेंसे सिद्ध किया हुआ तैल व्रणपर उपयुक्त करे ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूत्रज अंडवृद्धि ।

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु पट्टवस्त्रेण वेष्टयेत् ॥ सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद्व्रीहिमुखेन तु ॥ १६ ॥ अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रा-

वयेद्भिषक् ॥ मूत्रनाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबंधमाचरेत् ॥ शुद्धायां रोपणं दद्याद्वर्जयेदंत्रहेतुकीम् ॥ १७ ॥

मूत्रज अंडवृद्धिमें प्रथम स्वेद करावे और वस्त्रसे बांधदे और सेवनीसे नीचे बायें तरफ व्रीहिमुख शस्त्रसे बींध देवे ॥ १६ ॥ फिर छेदमें दो मुखवाली नली लगाकर मूत्रको निकालदे (तथा कुछ अन्य मल हो तो उसे भी निकालदे) फिर उस मूत्रनाडीको निकाल ले और स्थगिका नामक बंधसे बांधदे जब भीतरसे शुद्ध होजावे तब रोपणकर्म करे ॥ और जो अंत्रज अंडवृद्धि हो (अर्थात् आंतें उतर आई हों तो) उसे त्यागदे यद्यपि यह त्याज्य है तो भी इसका यत्न नीचे लिखते हैं) ॥ १७ ॥

अंत्रज अंडवृद्धि ।

अप्राप्तफलकोशायां वातवृद्धिक्रमो हितः ॥ तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्द्धेन्दुवक्रया॥१८॥सम्यङ्मार्गावरोधार्थं कोशप्राप्तां च वर्जयेत् ॥ त्वचं भित्त्वांगुष्ठमध्ये दहेच्चांगविपर्ययात् ॥ १९ ॥ अनेनैव विधानेन वृद्धी वातकफात्मिके॥ प्रदहेत्प्रयतः किंतु स्नायुच्छेदोधिकस्तयोः॥२०॥शंखोपरि च कर्णांते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ॥ व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदंत्रवृद्धिनिवृत्तये ॥ २१ ॥

जो अंत्रवृद्धि अंडकोशमें नहीं पहुंची हो उसमें वातवृद्धिके समान क्रम करना हित है और जो वंक्षण (नलों) में प्राप्त हुई अंत्रवृद्धि हो उसे आधे चंद्रमाकेसे मुखवाली शलाकासे दग्ध करे ॥ १८ ॥ सब मार्गको रोकनेके लिये जो अंडकोशमें उतरी हुई आंतें हैं वह तो त्यागने ही के योग्य हैं परंतु इसमें अंगविपर्यसे अंगूठेके मध्यमें भेदन करके दग्ध करना उचित है (अर्थात् बांयीं ओरकी अंत्र बढी हो तो दहिने अंगूठेके मध्य और दहिनी तरफ आंतें बढी हों तो बांयें अंगूठेकी त्वचाको भेदन करके दग्ध करना चाहिये) ॥ १९ ॥ इसी विधिसे वात और कफकी वृद्धिमें भी यत्नसे दग्ध करना चाहिये परंतु इसमें इतना अधिक है कि इनमें जरा नसें छेदन की जाती हैं ॥२०॥ शंख (कनपटी)के ऊपर कानके अंतमें सीवन (जोड) को छोडकर अंगके व्यत्ययसे नसको बींधनेसे अंत्रवृद्धि निवृत्त हो जाती है (यहां भी यही है कि दाहिनी तरफ वृद्धि हो तो बांयें कानकी और बाँयीं तरफकी अंडवृद्धि हो तो दहिने कानकी नस बींधे) ॥ २१ ॥

(श्लो० २१) व्यत्यासात् विपर्ययात् ।

उपदंशचिकित्सा ।

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः ॥ शिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः ॥ २२ ॥ हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान् ॥ सद्योपहृतदोषस्य रुक्शोफावुपशाम्यतः ॥ २३ ॥ यदि वा दुर्बलो जंतुर्न वा प्राप्तं विरेचनम् ॥ निरूहेण हरेत्तस्य दोषमत्यर्थमुच्छ्रितम् ॥ २४ ॥

उपदंश रोग जब साध्य हो तब पहले स्नेहन, स्वेदन कराये हुए रोगीके मेढ्रकी सिरा वेधन कराके रुधिर निकलवावे अथवा जलौका लगाकर रक्त निकलवावे ॥ २२ ॥ यदि दोष बहुतही बढे हुए हों तो वमन, विरेचन कराकर उन्हें शांत करे जब दोष शांत हो जाते हैं तो उस रोगीके पीडा और शोथ दोनों शांत होजाते हैं ॥ २३ ॥ यदि रोगी दुर्बल हो और विरेचन उसे दिया नहीं जा सके तो उसके बढे हुए दोषको निरूहणवस्तिद्वारा हरण करना चाहिये ॥ २४ ॥

वातोपदंशचिकित्सा ।

प्रपौंडरीकयष्ट्याह्ववर्षाभूकुष्ठदारुभिः ॥ सरलागुरुरास्नाभिर्वातजं संप्रलेपयेत् ॥ २५ ॥ निचुलैरंडबीजानि यवगोधूमसक्तवः ॥ एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः संप्रलेपयेत् ॥ २६ ॥ प्रपौंडरीकपूर्वैश्च द्रव्यैः सेकः प्रशस्यते ॥ २७ ॥

वातज उपदंशमें प्रपौंडरीक (एक वृक्ष होता है जिसके शालवृक्षके समान पत्र होते हैं), मुलेठी, साँठी, कूट, देवदारु, सरला (एला), अगर, रास्ना इनका लेप करे ॥ २५ ॥ तथा निचुल (वेतस), अरंडके बीज, जौ और गेहूंके सत्तू इन्हें स्नेह युक्तकर थोडा २ गरम करके वातोपदंशपर लेप करे ॥ २६ ॥ और इन्ही पूर्वोक्त प्रपौंडरीक आदि द्रव्योंसे सेचन करना भी श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

पित्तोपदंश ।

गैरिकांजनयष्ट्याह्वसारिवोशीरपद्मकैः ॥ सचंदनोत्पलैः स्निग्धैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत् ॥ २८ ॥ पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः ॥ सर्पिःस्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं च प्रलेपयेत् ॥ २९ ॥ सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः ॥ अथवापि सुशीतेन कषायेण वटादिना ॥ ३० ॥

(श्लो० २३) उभयतः वमनविरेचनाभ्याम् ।

पित्तके उपदंशमें गेरू, रसोत, मुलेठी, सारिवा, खस, पद्माख, चंदन और कमल इनमें घृत मिलाकर लेप करना चाहिये ॥ २८ ॥ अथवा कमल, नीलकमल, कमलकी नाली, राल, अर्जुन (कुहा), जलबेतस और मुलेठी इनमें घृत मिलाकर लेप करे ॥ २९ ॥ और घृत, दूध, शर्करा, ईखका रस और शहत इन्हें जलमें मिलाकर सेचन करे अथवा वटादि वृक्षोंका क्काथ ठंढाकर उससे सेचन करे ॥ ३० ॥

कफोपदंश ।

शालाश्वकर्णाजकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम् ॥ सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत् ॥ ३१ ॥ रजन्यतिविषामुस्तासरलासुरदारुभिः ॥ सपत्रपाठापत्तूरैरथवा संप्रलेपयेत् ॥ ३२ ॥ सुरसारग्वधाद्योश्च क्काथाभ्यां परिषेचयेत् ॥ एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः ॥ प्रतिकुर्यात्क्रियायोगैः प्राक्स्थानोक्तैर्हितैरपि ॥ ३३ ॥

कफके उपदंशमें शाल, अश्वकर्ण, अजकर्ण (पियासाल) और धाय इनको मद्यसे पीस गरम कर तैल मिला लेप करे ॥ ३१ ॥ अथवा हलदी, अतीस, नागरमोथा, सरल, देवदारु, पत्रज, पाठा और पत्तूर (सरवाली) इनका लेप करे ॥ ३२ ॥ और सुरसादिगण तथा आरग्वधादिगणके क्काथोंसे सेचन करे (धोवे) इस प्रकार संशोधन, लेपन तथा सेचन और रक्तमोक्षणादिकसे प्रतीकार करे तथा पूर्वस्थानोक्त (सूत्रस्थानोक्त मिश्रकोंके) हितकारक क्रिया करे ॥ ३३ ॥

नायाति च यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥ विदग्धैस्तु शिरास्नायुत्वङ्मांसैः क्षीयते ध्वजः ॥ ३४ ॥ शस्त्रेणोपचरेच्चापि पाकमागतमाशु च ॥ तदापोह्य तिलैः सर्पिःक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत् ॥ ३५ ॥ करवीरस्य पत्राणि जात्यारग्वधयोस्तथा ॥ प्रक्षालने प्रयोज्यानि वैजयंत्यर्कयोरपि ॥ ३६ ॥

जिस तरह लिंग पके नहीं वैद्यको ऐसा यत्न करना चाहिये यदि लिंगेंद्रियके शिरा, स्नायु, त्वचा और मांस पक जावें तो लिंग गलके गिर जावे ॥ ३४ ॥ और जो पकाव पर आही जावे तो शीघ्रही शस्त्रसे चीरा लगाके पीब आदि निकाल दे और तिल, घृत और शहत (पीसकर) मिलाकर लेप कर दे ॥ ३५ ॥ तथा कनेरके पत्ते, चमेलीके पत्ते और किरमालाके पत्तोंके क्काथसे धोवे और अरनी तथा आकके पत्तोंके क्काथसे भी धोवे ॥ ३६ ॥

समान भाग मिला नींबूके रसमें तीन दिन तक खरल करे फिर मटरके समान गोली बांध ले वह गोली) रक्खे और उसे कचौडीकी भांति बंद करदे इसमें चार रत्ती लिखा है पर दो रत्ती ही बहुत है ॥ ३॥ उसे ऐसा बंद करे कि जिससे बाहर नहीं दिखाई दे और फिर उस आटेकी गोलीके ऊपर लवंगका चूर्ण बुरका दे ॥४ ॥ फिर उसे ऐसे खावे कि दांतोंमें नहीं लगने पावे किंतु पानीसे निगल जावे (परंतु नहीं, नींबूके आधे भागको पहले चूस ले और आधे भागके रससे गोलीको निगल जावे) ऊपरसे जी चाहे तो पान खावे पर शाक खटाई और नमक न खावे ॥५॥ श्रम, धूप, मार्ग चलना और विशेष कर स्त्रीसेवन त्याग दे ॥ ६ ॥

(वक्तव्य) सुपारी और पीली कौडीकी भस्मसे युक्त रसकपूरको नींबूके रसमें घोट गोली बनाकर गेहूंके आटेमें लपेट लवंग बुरका नींबूके रससे निगलना अवश्यमेव फिरंगरोगको नष्ट करता है यह हमारा सैकडों वारका अनुभव किया प्रयोग है, १ गोली रोज सात दिन या १४ दिन खाई जाती है पथ्य विशेष गुडका है ।

इति परिशिष्टम् ।

श्लीपदरोगचिकित्सा ।

वातश्लीपद ।

स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक् ॥ कृत्वा गुल्फोपरि शिरां विध्येत्तु चतुरंगुले॥४९॥समाप्यायितदेहं च वस्तिभिः समुपाचरेत्॥ मासमेरंडजं तैलं पिबेन्मूत्रेण संयुतम्॥५०॥ पैयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च ॥ त्रैवृतं चोपयुंजीत शस्तो दाहस्तथाग्निना ॥५१॥

वातश्लीपदमें वैद्यको चाहिये कि पहले स्नेह, स्वेद कराकर गुल्फस्थानके चार अंगुल ऊपर पैरकी सिरा वेधन करे ॥ ४९ ॥ और तर्पणपदार्थोंसे तृप्त हुई देहवाले रोगीके वास्तिकर्म भी करे और एक महीनेतक अरंडके तैलमें गोमूत्र मिलाकर पीवे ॥ ५० ॥ सोंठसे दूध क्वथित करके उसके संग भात खावे तथा त्रैवृत स्नेहका पान करे तथा अग्निसे दाग देनाभी श्रेष्ठ है ॥ ५१ ॥

पित्तश्लीपद ।

गुल्फस्याधः शिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसंभवे ॥
पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्य्यात्पित्तार्बुदविसर्पवत् ॥ ५२ ॥

पित्तके श्लीपदमें गुल्फ (टकने) के नीचे सिरा वेधन करना चाहिये और पित्तके अर्बुद तथा विसर्पके अनुसार पित्तघ्नी क्रिया करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

(श्लो०४९) गुल्फोपरि चतुरंगुले इत्यत्र वाग्भट इत्याह—गुल्फस्योपरिष्टाद्द्व्यंगुले शिरां विध्येत् इति।

कफश्लीपद ।

शिरां सुविदितां विध्येदंगुष्ठे श्लैष्मिके भिषक् ॥ मधुयुक्तानि वाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः ॥ ५३ ॥ पिबेद्वाप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन च ॥ कटुकामसृतां शुंठीं विडंगं दारु चित्रकम् ॥५४॥ हितं वा लेपने नित्यं भद्रदारु सचित्रकम्॥ विडंगमरिचार्केषु नागरे चित्रकेऽथवा॥ ५५॥भद्रदार्व्येलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च ॥ तैलं पक्वं पिबेद्वापि यवान्नं च हितं सदा ॥ ५६ ॥

कफके श्लीपदमें अँगूठेकी सिराको खूब जानकर वेधन करे तथा कफनाशक द्रव्योंके क्वाथ शहत युक्त पीवे ॥ ५३ ॥ अथवा हरीतकीके कल्कमें गोमूत्र मिलाकर पीवे तथा कुटकी, गिलोय, सोंठ, विडंग, देवदारु, चित्रक इन्हें गोमूत्रमें पीसकर लेप करे अथवा देवदारु और चित्रकका लेप करे और विडंग,मिरच, आक, सोंठ, चित्रक, देवदारु, एलावालुक और सब लवण इनमें तैल पकाकर पीवे और यवके पदार्थोंका भोजन करना इसमें सदा हित है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

श्लीपदके अन्य यत्न ।

पिबेत्सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये ॥ पूतीकरंजपत्राणां रसं वापि यथाबलम्॥५७॥ दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत्क्षारकल्पवित् ॥ तत्र दद्याद्घतीवापं काकोदुंबरिकारसम् ॥ ५८॥ प्रयुंजीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित् ॥केबुकाकंदनिर्यासं लवणं दद्यं पाकिमम् ॥रसं दत्त्वाथ पूर्वोक्तं पेयमेतन्निषग्जितम् ॥५९॥

अथवा सरसोंका तैल सब प्रकारके श्लीपदोंकी निवृत्तिके लिये पीवे अथवा पूती करंजके पत्तोंका रस यथाबल (पीवे कोई २ 'पूतीकरंजपत्राणां'के स्थानमें 'पुत्रजीवकपत्राणां' ऐसा पाठ मानकर पुत्रजीवक (जिया पोता) के पत्तोंका ग्रहण करते हैं) ॥५७॥ और इसीको जलाकर जो भस्म हो उसे गोमूत्रमें घोलकर चुवाकर क्षारविधानसे बना ले और उसमें काकोदुंबरी (अंजीर) का रस भी मिलावे॥ ॥ ५८ ॥ इसे बुद्धिमान् वैद्य ऋतु और सात्म्य (माफकत) विचारकर उपयोग

(श्लो० ५३) कषायाणि कफघ्नानि पिबेदिति तात्पर्यम् । (श्लो० ५४) अभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन पिबेत् । अत्र मूत्रेण इति देहलीदीपकन्यायेन अग्रिमस्थे लेपनेऽपि प्रयोज्यम्। तदुक्तं वृद्धवाग्भटे—'आलेपयेच्च नागरामृताविडंगकटुकाभद्रदारुभिर्मूत्रपिष्टैः' इति । (श्लो० ५९) केबुकाकंदः अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः । पाकिमं लवणं विडलवणम्। भिषग्जितम् औषधम् (इति डल्लनः) ।

करे तथा केचुकाकंदका निर्यास और पाकिम लवण इनमें पूर्वोक्त पूतीकरंज या पुत्रजीवकका रस मिलाकर पान करे ॥ ५९ ॥

काकादनीं काकजंघां बृहतीं कंटकारिकाम् ॥ कदंबपुष्पीं मंदारीं लंबां शुकनसां तथा ॥६०॥ मदनाच्च फलात्क्वाथं शुकाख्यास्वरसं तथा ॥ एष क्षारस्तु पानीयः श्लीपदं हंति सेवितः ॥ ६१॥ अपचीं गलगंडं च ग्रहणीदोषमेव च ॥ भक्तस्यानशनं चैव हन्यात्सर्वविषाणि च ॥ ६२ ॥ एष्वेवं तैलं संसिद्धं नस्याभ्यंगेषु पूजितम् ॥ एतानेवामयान्हंति ये च दुष्टव्रणा नृणाम् ॥ ६३ ॥

काकादनी (काकतोरी), काकजंघा, बृहती, कटेली, कदंबपुष्पी (अलंबुषा), मंदारी (मिल), लंबा (कडवी तुंबी), श्योनाक जलाकर भस्म करे ॥ ६० ॥ और फिर क्षारविधानसे पकावे पकते समय उसमें मैनफलका क्वाथ और श्योनाकका रस मिलावे यह क्षार पान करने योग्य होता है इसके सेवनसे श्लीपद नष्ट होजाता है ॥ ६१ ॥ और अपची, गलगंड, ग्रहणी दोष मिट जाते हैं और भोजन किया अनशनके बराबर होजाता है (पच जाता है) और यह सब विषोंको हरता है ॥ ६२ ॥ इन्हींमें सिद्ध किया हुआ तैल नस्य और मलनेमें भी श्रेष्ठ है यह तैल पूर्वोक्त अपची आदि रोगोंको नाश करता है और बिगडे हुए घावको भी अच्छा करता है ॥ ६३ ॥

द्रवंतीं त्रिवृतां दंतीं नीलीं श्यामां तथैव च ॥ सप्तलां शंखिनीं चैव दग्ध्वा मूत्रेण गालयेत्॥६४॥दद्याच्च त्रिफलाक्वाथमेष क्षारस्तु साधितः॥ अधो गच्छति पीतस्तु पूर्वैश्चाप्याशिषः समाः ॥ ६५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थान एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

द्रवंती (दंतीका भेद), निसोथ, दंती, नीलनी, श्यामा, निसोथ, तथा सप्तला (सातला), शंखिनी (यवतिक्ता) इन्हें भस्म कर गोमूत्रमें घोल ले ॥ ६४ ॥ और त्रिफलाका क्वाथ मिलाकर क्षार साधन करे यह पीनेसे नीचेको गमन करताहै (अर्थात् नीचेके अंगोमें प्रभाव करता है अथवा रेचन करता है) यहां पूर्वोक्त क्षारोंके समान ही अन्य शिक्षामें समझना । अथवा इस श्लीपद रोगमें भी पूर्वोक्त रक्षाविधानोंसे आशीर्वाद करना (हितप्रार्थना) करना चाहिये ॥ ६५ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(श्लो० ६०) शुकनसा इत्यार्षः शुकनासा श्योनाकः । (श्लो० ६१) शुकाख्यापि श्योनाकः । (श्लो० ६२) अपच्यादीनि हन्यात् । भक्तस्य अनशनं कुर्यादित्यभिप्रायः ।

विंशतितमोऽध्यायः २०.

अथातः क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम क्षुद्ररोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं।

अजगल्लिकाचिकित्सा ।

अत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत् ॥ शुक्तिसुंघ्रीयवक्षारकल्कैश्चालेपयेद्भिषक् ॥ १ ॥ श्यामालांगलकीपाठाकल्कैर्वापि विचक्षणः ॥ पक्कां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयत् ॥ २ ॥

"अजगल्लिका" की कच्ची अवस्थामें जलौका लगाना उचित है और इसमें सीप, सज्जी तथा जौका खार पीसकर लेप कर दे ॥१॥ तथा श्यामा, लांगली, पाढ इन्हें पीसकर लेप करे और पक जाने पर यथोक्त व्रणके विधानसे साधन करे ॥२॥

(वक्तव्य) यह है कि जहां कल्क आदि द्रवयुक्तोंका कथन होवे और कोई द्रव पदार्थ वर्णन नहीं किया हो वहां सर्वत्र जल समझना चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त दोनों लेप जलमें पीसकर करने चाहिये ऐसेही अन्यत्र भी जानना चाहिये ॥

अंधालजी आदिकी चिकित्सा ।

अंधालजीं यवप्रख्यां पनसीं कच्छपीं तथा ॥ पाषाणगर्दभं चैव पूर्वं स्वेदेन योजयेत् ॥ ३ ॥ मनःशिलातालकुष्ठदारुकल्कैः प्रलेपयेत् ॥ परिपाकगतान्भित्त्वा व्रणवत्समुपाचरेत् ॥ ४ ॥

"अंधालजी, यवप्रख्या, पनसिका, कच्छपी, पाषाणगर्दभ" इन्हें पहले स्वेद करावे ॥ ३ ॥ फिर मैनसिल, हरताल, कूठ और देवदारु इनको पीसकर लेप करे और जो पकजावे तो भेदन करके व्रणके अनुसार उपचार करे ॥ ४ ॥

विवृतादिचिकित्सा ।

विवृतामिन्द्रवृद्धां च गर्दभीं जालगर्धभम् ॥ इरिविल्लां गंधनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा ॥ ५॥ पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक् ॥ रोपयेत्सर्पिषा पक्कान् सिद्धेन मधुरौषधैः ॥ ६ ॥

"विवृता, इंद्रवृद्धा, गर्दभिका, जालगर्दभ, इरिवेल्लिका, गंधनाम्नी, कक्षा, विस्फोटक" ॥ ५ ॥ इन्हे पित्तविसर्पोक्त क्रियासे वैद्य साधन करे और जो पककर फूट जावे उसे मधुर द्रव्यों (काकोल्यादि) से सिद्ध किये घृतसे रोपणकरे ॥६॥

(श्लो० १) सुघ्री इति-सुघ्नो देशविशेषस्तज्जाता सुघ्री स्वर्जिका (इति वाचस्पतिः) क्षारशब्दोत्र प्रत्येकं सवध्यते ।

चिप्प-कुनख-चिकित्सा ।

चिप्पमुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद्भिषक् ॥ चक्रतैलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत् ॥ ७ ॥ बंधेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत् ॥ मधुरौषधसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत् ॥ ८ ॥ कुनखे विधिरप्येष कार्यो हि भिषजा भवेत् ॥ ९ ॥

"चिप्प" रोगको पहले गरम जलसे सेचन (धो) करके फिर उसे शस्त्रसे चीरकर या छीलकर उसका दुष्ट मल निकाल दे और फिर चक्रतैल (कच्ची घानीका तेल) लगाकर ऊपरसे राल पीसकर बुरका दे ॥ ७ ॥ फिर उसपर बंध बांध दे और जो ऐसे आराम न हो तो उसे अग्निसे दाग दे और मधुर औषध (काकोल्यादि) से सिद्ध किये हुए घृतसे रोपण करे ॥ ८ ॥ और "कुनख" रोगमें भी वैद्यको यही विधि करनी योग्य है ॥ ९ ॥

विदारिकाचिकित्सा ।

विदारिकां समभ्यज्य स्विन्नां विम्लाप्य लेपयेत् ॥ नगवृत्तिकवर्षाभूबिल्वमूलैः सुपेषितैः ॥ १० ॥ व्रणभावतायामस्याः कृत्वा संशोधनक्रियाम् ॥ रोपणार्थं हितं तैलं कषायमधुरैः कृतम् ॥११॥ प्रच्छानैर्वा जलौकोभिः स्राव्याऽपक्वा विदारिका ॥ अजकर्णैः सपालाशैर्मूलकल्कैः प्रलेपयेत् ॥ १२ ॥ पक्वां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयोः ॥ कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत् ॥१३॥ बद्ध्वा च क्षीरवृक्षस्य कषायैः खदिरस्य च ॥ व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धास्ततस्तां रोपयेत्पुनः ॥ १४ ॥

"विदारिका" को यथायोग्य अभ्यंग करके स्वेद कराकर विम्लापन करे फिर नगवृत्ति, वर्षाभू (साठी) और बिल्वकी जड इन्हें पीसकर लेप करे ॥ १० ॥ और जब व्रणभावको प्राप्त होजावे (पककर फूट जावे) तब संशोधन क्रिया करे और कषाय द्रव्यों तथा मधुर द्रव्योंसे पकाया हुआ तैल इसमें हित जाने ॥११॥ कच्ची विदारिकामें पछनोंसे या जलौकोंसे रुधिर निकलवावे तथा अजकर्ण और पलाशकी जडको पीसकर लेप करे ॥ १२ ॥ जब पकजावे तब शस्त्रसे चीरकर परवल और निंबको पीसकर तिल मिलाके पीसे और घृत युक्त कर लेप करे ॥

(श्लो० १०) नगवृत्तिः जिगाणं गुडगंनिकेति लोके वृश्चिकालीत्यन्ये (इति नि० सं०) ।

॥ १३ ॥ ऊपरसे पट्टी बाँध देवे तथा दूधके वृक्ष (वटादि) के क्वाथसे और खदिरके क्वाथसे व्रणको धोवे और जब शुद्ध होजावे तब रोपण करे ॥ १४ ॥

शर्करार्बुद-कच्छू-विचर्चिका-पामा-चिकित्सा।

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्करार्बुदम् ॥ १५ ॥ कच्छूं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत्समुपाचरेत् ॥ लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपैः ॥१६॥ वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम् ॥ सारतैलमथाभ्यंगे कुर्वीत कटुकैः शृतम् ॥ १७ ॥

"शर्करार्बुद" की चिकित्सा मेदोर्बुदकी भांति करनी चाहिये देखो इसी स्थानका अठारहवाँ अध्याय ॥ १५ ॥ "कच्छू" (कच्छदाद) "विचर्चिका" (व्योंची) और "पामा" (पावँ) इनका उपचार कुष्ठके अनुसार करना चाहिये तथा मोम, शतावरी और सुपेद सरसों इनका लेप करे ॥१६॥ अथवा वच, दारुहलदी और सरसों इनका लेप करे अथवा करंजुवेका तैल लगावे अथवा सार तैल (सरल तैल तारपीनका) लगावे अथवा कटुक द्रव्यों (निंबादि)से पकाया हुआ तैल लगावे१७॥

पाददारी-अलस-कदर-चिकित्सा।

पाददार्यां शिरां विद्ध्वा स्वेदाभ्यंगौ प्रयोजयेत् ॥ मधूच्छिष्टवसामज्जासर्जचूर्णघृतैः कृतैः॥यवाह्वगैरिकोन्मिश्रैः पादलेपः प्रशस्यते॥ ॥१८॥ पादौ सिक्त्वारनालेन लेपनं ह्यलसे हितम् ॥ कल्कीकृतैर्निबतिलकासीसालैः ससैंधवैः ॥१९॥ लाक्षारसोऽभया वापि कार्यं स्याद्रक्तमोक्षणम् ॥२०॥ सिद्धं रसे कंटकार्यास्तैलं वा सार्षपं हितम् ॥ कासीसरोचनशिलाचूर्णैर्वा प्रतिसारणम् ॥ २१ ॥ उद्धृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत्कदरसंज्ञकम् ॥ २२ ॥

"पाददारी" रोगमें (जिसके यह बहुत बढ जावे उसके) फस्त खोलनी चाहिये और शरीर पर स्वेदन, मर्दन (तैलादिकी मालिश) करना चाहिये तथा मोम, चरबी, मज्जा, राल और घृत ये मिलाकर तथा इनमें जवाखार और गेरू भी मिलाके पैरोंमें लेप करे ॥ १८ ॥ और "अलस" नामक रोग हो तो पहले पावोंको आरनाल (एक भांतिकी कांजी) से सेचन करे (धोवे) फिर निंब, तिल, कसीस, हरताल, सैंधव इन्हें पीसकर लेप करे ॥ १९ ॥ अथवा लाखका रस और हरडेका लेप करे और रुधिर निकलवावे ॥ २० ॥ तथा कटेलीके रसमें सरसोंका तैल सिद्ध करके लगावे और कसीस, गोरोचन, मैनसिलका चूर्ण बुरका

देवे ॥ २१ ॥ यदि " कदर " (डील) नामक रोग हो तो उसे छीलकर गरम स्नेहसे दग्ध कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

इंद्रलुप्तचिकित्सा ।

इंद्रलुप्ते शिरां मूर्ध्नि स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत् ॥ कल्कैः समरिचै-र्दिह्यांच्छिलाकासीसतुत्थकैः ॥ २३ ॥ कुटंनटादारुकल्कैर्लेपनं वा प्रशस्यते ॥ प्रच्छयित्वावगाढं वा गुंजाकल्कैर्मुहुर्मुहुः॥२४॥लेपयेदुपशांत्यर्थं कुर्याद्वापि रसायनम् ॥ मालतीकरवीराग्निनक्तमालविपाचितम् ॥ तैलमभ्यंजने शस्तमिंद्रलुप्तापहं परम् ॥ २५ ॥

"इन्द्रलुप्त" रोगमें स्नेहन, स्वेदन कराकर शिरकी (या सरेरू) फस्त खोले और मैनसिल, कसीस, नीलाथोथा और काली मिरच इनका लेप करे ॥ २३ ॥ अथवा कुटन्नट (श्योनाक), दारु (देवदारु) इनका लेप करे जो इसकी जड नीचे ज्यादा होगई हो तो पछने लगाकर वारंवार चिरमठीका कल्क लेप करे ॥२४॥ अथवा इसकी शांतिके लिये रसायन क्रिया करे और मालती, कनेर, चित्रक, करंज इनसे पकाया हुआ तैलभी मर्दन करनेमें इंद्रलुप्तरोगका परम नाश करनेवाला है ॥ २५ ॥

अरुंषिका–दारुणक–पलित–चिकित्सा ।

अरुंषिकां हृते रक्ते सेचयेन्निंबवारिणा ॥ दिह्यात्सैंधवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु ॥२६॥ हरितालनिशानिंबकल्कैर्वा सपटोलजैः॥ यष्टीनीलोत्पलैरंडमार्कवैर्वा प्रलेपयेत् ॥ २७ ॥ शिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धास्विन्नस्य मूर्द्धनि ॥ अवपीडं शिरोबस्तिमभ्यंगं च प्रयोजयेत् ॥ २८ ॥ क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोयं प्रशस्यते ॥ उपरिष्टात्प्रवक्ष्यामि विधिं पलितनाशनम् ॥ २९ ॥

"अरुंषिकामें" रक्त निकलवाकर नींबके क्वाथसे सेचन करे और घोडेकी लीदके रसमें सैंधा नमक मिलाकर लेप करे ॥२६॥ अथवा हरताल, हलदी, निंब और पटोल (परवल) इन्हें पीसकर लेप करे अथवा मुलेठी, नीलकमल, अरंड और भंगरा इनका लेप करे ॥ २७ ॥ "दारुणक" (शिरोकंडू) रोगमें शिरको स्नेहन, स्वेदन करना और शिरकी फस्त खोलना तथा तेज नस्य देना, शिरोवस्ति करना और तैलाभ्यंगका उपयोग करना चाहिये ॥ २८ ॥ और धोनेके लिये कोदोंके तृणकी क्षार जलमें घोलकर लेना चाहिये तथा "पलित" (बाल सुपेद होने) के रोगकी विधि अगाडी वर्णन करेंगे ॥ २९ ॥

(श्लो० २४) कुटंनटा श्योनाकः अस्य श्लोकस्योत्तरार्द्धस्य अग्रिमेणार्द्धेनान्वयः ।

मसूरिका-जतुमणि-मशक-तिल-चिकित्सा।

मसूरिकायां कुष्ठघ्नलेपनादिक्रिया हिता ॥ पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया वा संप्रशस्यते ॥ ३० ॥ जतुमणिं समुत्कृत्य मशकं तिल-कालकम् ॥ क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः ॥ ३१ ॥

"मसूरिकामें" कुष्ठनाशक लेपनादि क्रिया करनी हित है अथवा पित्तकफ-जनित विसर्पमें कही हुई क्रिया करनी श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥ "जतुमणि" (लहसन) "मशक" (मसा) "तिल" इन्हें छीलकर या खुरचकर क्षारसे युक्तिपूर्वक जलादे अथवा धीरे धीरे अग्निसे दाग दे (इनमें यत्न करनेकी अधिक आवश्यकता नहीं यदि कोई बहुत ही बे मौके हो तो यत्न करना उचित है) ॥ ३१ ॥

न्यच्छ-व्यंग-नीलिका-चिकित्सा।

न्यच्छे व्यंगे सिरामोक्षो नीलिकायां च शस्यते ॥ यथान्यायं यथाभ्यासं ललाट्यादिशिराव्यधः॥ ३२ ॥ घृष्ट्वा दिह्यात्त्वचं पिष्ट्वा क्षीरिणां क्षीरसंयुताम् ॥ बलातिबलयष्ट्याह्वरजनीर्वा प्रलेपनम् ॥ ॥ ३३ ॥ पयस्यागुरुकालीयलेपनं वा सगैरिकम् ॥ क्षौद्राज्ययुक्तया लिंपेद्दंष्ट्रया शूकरस्य च ॥ कपित्थराजादनयोः कल्कं वा हित-मुच्यते ॥ ३४ ॥

"न्यच्छ" (चकत्ते) "व्यंग" (झाई) तथा "नीलिका" (नीली झाई) इनके होनेमें यथोचित और अभ्यासके अनुसार ललाट आदिकी शिराओंका मोक्ष करावे (कई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि शिरामोक्षभी करावे और ललाट आदिकी नसको वेधे भी) ॥ ३२ ॥ अथवा उसे घिसकर दूधवाले वृक्षोंकी दुग्धयुत छालको पीस-कर लेप करे अथवा खिरेंटी, कंघी, मुलेठी और हलदी इनका लेप करे ॥ ३३ ॥ अथवा अर्कपुष्पी, अगर, काला अगर और गेरू इनका लेप करे अथवा सूकरकी डाढ घिसकर शहत और घृत मिलाकर लेप करे अथवा कैथ और खिरनीका कल्क लेप करना हित होता है ॥ ३४ ॥

यौवनपिडिका-पद्मिनीकंटक-चिकित्सा।

यौवने पिडिकाख्येषु विशेषाच्छर्दनं हितम् ॥ लेपनं च वचारोध्र-सैंधवैः सर्षपान्वितैः ॥ ३५ ॥ कुस्तुंबुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम् ॥ पद्मिनीकंटके रोगे छर्दयेन्निंबवारिणा ॥ ३६ ॥ तेनैव

सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिःपानं प्रदापयेत् ॥ निंबारग्वधयोः क्वाथो हितं उत्सादने भवेत् ॥ ३७ ॥

"यौवनपिडिका" (मुहासे) (अधिक) हों तो विशेष कर वमन हित होताहै तथा वच, लोध सैंधा नमक और सरसोंका लेप करना ॥ ३५ ॥ अथवा धनियां, वच, लोध और कूट इनका लेप करना हितकारक होता है और "पद्मिनीकंटक" रोगमें निंबके क्वाथसे वमन करावे ॥ ३६ ॥ और निंबके क्वाथसेही सिद्ध किया हुआ घृत शहत मिलाकर पिलावे तथा उत्सादनके लिये निंब और किरमालाका क्वाथ हित होता है ॥ ३७ ॥

परिवर्त्तिका-अवपाटिका-चिकित्सा ।

परिवर्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत् ॥ त्रिरात्रं पंचरात्रं वा वातघ्नैः शाल्वणादिभिः ॥ ३८ ॥ ततोभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत्पीडयेन्मणिम् ॥ प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः ॥ ३९ ॥ दद्याद्वातहरान्बस्तीन्स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत् ॥ अवपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सकः ॥ ४० ॥

"परिवर्तिका" रोग होवे तो उस (लिंगाग्रभाग) में तीन दिन या पांच दिन तक घृत चुपड़चुपडकर स्वेदन कराकर वायुनाशकः शाल्वणादिकसे उपनाहन करावे ॥ ३८ ॥ फिर तैलाभ्यंगकर (तैल चुपडकर) धीरे धीरे, चर्मको ऊपरको चढा दे और मणि (सुपारी) को जरा दबा दे और जब मणि उघड जावे तब ऊपरके चर्ममें उपनाहन करे ॥ ३९ ॥ और वायुनाशक वस्तिका उपयोग करे और स्निग्ध अन्न भोजन करावे ॥ और यदि "अवपाटिका" होवे तो उसे वैद्य दोषोंके अनुसार (स्नेहन, स्वेदनादि करके) आराम करे ॥ ४० ॥

निरुद्धप्रकाशचिकित्सा ।:

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम् ॥ दार्वीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥ ४१ ॥ परिषेके वसामज्जाशिशुमारवराहयोः॥चक्रतैलं यथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम् ॥४२॥ त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं प्रवेशयेत्॥स्त्रोतो विवर्द्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत्॥४३॥भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत्॥४४॥

(श्लो० ४१) निरुद्धप्रकाशस्थाने निरुद्धप्रकश इत्यार्षः ।

"निरुद्धप्रकाश" रोगमें लोहकी पोली नली जो दोनों तरफसे खुली हो उसे लिंगेंद्रियके मूत्रमार्गमें घृत चुपडकर प्रवेश करे और यदि नली लोहेकी न हो तो लकडी (नरसल आदि) की हो या लाखकी (या, काचकी) बनी हो ॥ ४१ ॥ परिषेकके लिये शिशुमार (सूसनामक जलजंतु) या वाराहकी चरबी और मज्जा हित है तथा यथोचित वायुनाशक द्रव्योंसे युक्त चक्रतैल युक्त करना चाहिये ॥४२॥ फिर तीन २ दिन पीछे वह नली जरा २ मोटी प्रवेश करते रहे इस प्रकारसे छिद्र बढावे और चिकना अन्न भोजन करावे ॥ ४३ ॥ अथवा सेवनी छोडकर जरा चीर दे और सद्योव्रणकी भांति उपचार करे ॥ ४४ ॥

संनिरुद्धगुद-वल्मीक-अग्निरोहिणी-चिकित्सा ।

संनिरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम् ॥ प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत् ॥४५॥ विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम् ॥ संनिरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया ॥४६॥ शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत् ॥ विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत् ॥ ४७ ॥

" संनिरुद्धगुदरोग, वल्मीक, अग्निरोहिणी " इन्हें पहले कहकर (कि आराम हो या न हो) फिर चिकित्सा करे ॥ ४५ ॥ अग्निरोहिणी नामक फुन्सीको विसर्पोक्त विधानसे शोधन करे और संनिरुद्धगुदरोगमें निरुद्धप्रकाशके अनुसार गुदस्थानमें नलिका प्रविष्ट करे ॥ ४६ ॥ और वल्मीकरोगको शस्त्रसे उखाड़कर (खुरचकर) क्षार या अग्निसे दग्ध करे और अर्बुदके विधानके अनुसार शोधन और रोपण करे ॥ ४७ ॥

वल्मीककी विशेष चिकित्सा ।

वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम् ॥ तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥ ४८ ॥ कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च ॥ आरेवतस्य मूलैश्च दंतीमूलैस्तथैव च ॥ ४९ ॥ श्यामामूलैः सपललैः सक्तुमिश्रैः प्रलेपयेत् ॥ सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक्तमुपनाहयेत् ॥ ५० ॥

जिस मनुष्यके "वल्मीक" रोग बहुत न बढा हो (कच्चा हो) और मर्मस्थानमें न हो तो शोधन करके (वमन, विरेचन द्वारा रोगीके दोषोंको शुद्ध करके) वैद्यको

(श्लो० ५०) पलल तिलपिष्टम् (इति डल्हनः) शब्दस्तोमश्च ।

रुधिर निकलवा देना चाहिये (फस्त खुला देनी चाहिये) ॥ ४८ ॥ और वल्मीकपर कुलथीकी जड, गिलोय, नमक, किरमालाकी जड, दंतीकी जड ॥ ४९ ॥ निसोथकी जड इनमें पलल (पिसे हुए तिल) और सत्तू मिलाकर लेप करे तथा स्निग्ध और थोडा गरमकरके इन्हींसे उपनाह भी करे ॥ ५० ॥

पक्वं वा तद्विजानीयाद्गतीः सर्वा यथाक्रमम् ॥अभिज्ञाय ततश्छित्त्वा प्रदहेन्मतिमान्भिषक् ॥ ५१ ॥ संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥ व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान्भिषक्॥५२॥ सुमना ग्रंथयश्चैव भल्लातकमनःशिले ॥ कालानुसारी सूक्ष्मैला चंदनागुरुणी तथा ॥ एतैः सिद्धं निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम् ॥ ॥५३॥ पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम् ॥ वल्मीकं यत्सशोफं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता ॥ ५४ ॥

जब जाने कि वल्मीक पक गया तब उसकी सब तरफ यथाक्रम गति (मार्ग) जानकर चीरा लगावे फिर बुद्धिमान् वैद्य उसे जलाभी दे ॥५१॥ और दुष्टमांसको शुद्ध करके उसपर क्षारसे घिस दे (क्षार लगा दे) जब व्रण शुद्ध जाना जाय तब उसे बुद्धिमान् वैद्य रोपण करे ॥ ५२ ॥ चमेली, पीपलामूल, भिलावाँ, मैनसिल, कालानुसारी (तगर), छोटी इलायची, चंदन और अगर इनसे सिद्ध कियाहुआ निंबका तैल वल्मीक रोगके व्रणरोपणमें हित है (कालानुसारीको डल्हनाचार्य कृष्णसारिवा बताते हैं) ॥५३॥ हाथ पावों पर जो वल्मीक बहुत छिद्रवाली हो और शोथयुक्त भी हो तो जानकार वैद्योंको त्याग देना चाहिये ॥ ५४ ॥

अहिपूतनक-वृषणकच्छु-चिकित्सा ।

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याहिपूतना ॥ पटोलपत्रत्रिफलारसांजनविपाचितम् ॥ ५५ ॥ पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम् ॥ त्रिफलाकोलखादिरकषायं व्रणरोपणम् ॥५६॥ कासीसरोचनातुत्थहरितालरसांजनैः॥ लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैंधवसंयुता ॥ ५७ ॥ कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत ॥ चिकित्सेन्मुष्ककच्छूं चाप्यहिपूतनपानवत् ॥ ५८ ॥

(श्लो० ५६) अस्य श्लोकस्य पूर्वार्द्धं पूर्वस्योत्तरार्द्धेन सहान्वेतव्यम् । (श्लो० ५७) अम्लपिष्टः कांजिकेन पिष्टः । (श्लो० ५८) कपालं मृत्खर्परम् ।

बालकके "अहिपूतना" रोगमें प्रथम धाय (दूध पिलानेवाली) के दूधकी शुद्धि करे और फिर पटोलपत्र, त्रिफला, रसोत इनमें पकाये हुए ॥ ५५ ॥ घृतका पान करे तो कष्टसाध्य भी अहिपूतनाको नष्ट करता है तथा त्रिफला, बेरीकी छाल और खैरकी छालका क्काथ अहिपूतनारोगके व्रणको रोपण करता है ॥५६॥ तथा कसीस, गोरोचन, नीलाथोथा, हरताल और रसोत इन्हें कांजीमें पीसकर लेप करना अथवा बेरकी छाल, सैंधा नमक मिलाकर लेप करना ॥ ५७ ॥ ठेकरी, नीलाथोथा इन्हें चूर्ण करके बुरकावे और "वृषणकच्छू" रोगमें भी अहिपूतनाकी भांति पान करानेको पूर्वोक्त घृत देवे और क्काथ, चूर्ण आदि भी वेही उपयोग करे॥५८॥

गुदभ्रंशका यत्न ।

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत् ॥ कारयेद्गोफणाबंधं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥ ५९ ॥ विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ॥ क्षीरं महापंचमूलं मूषिकां चांत्रवर्जिताम् ॥६०॥ ततस्तस्मिन्पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ॥ गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यंगात्प्रसाधयेत् ॥ ६१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने विशंतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

"गुदभ्रंश" (कांच निकलनेके) रोगमें गुदा (निकली हुई कांच) को घृतसे चुपडकर भीतर प्रवेश करदेना चाहिये और फिर चमडेके बीचमें छेदकरके उसको गोफणाबंधकी रीतिसे बांधदे ॥ ५९ ॥ और वायुके निःसरण होनेके लिये बार २ स्वेदन करते रहे और दूध, महत्पंचमूल, आंतें निकालीं हुई चूही ॥ ६० ॥ इनमें तैल पकावे और वायुनाशक औषधें भी उसमें संयुक्त करे यह तैल पिलाने तथा लगानेसे कष्टसाध्यभी गुदभ्रंशरोगको अच्छा कर देता है ॥ ६१ ॥

(वक्तव्य) इस रोगमें (कांच निकलनेमें) कांचको भीतर चढाकर अनारके छिलकेके पानीसे चूतड धोना और वही पीसकर लगाना बहुत ही लाभदायक है यह हमारा कई वारका परीक्षित है ॥

इति प० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः २१.

अथातः शूकरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम शूकरोगकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं।

सर्षपिका-अष्ठीलिका-ग्रथित-चिकित्सा।

संलिख्य सर्षपीं सम्यक् कषायैरवचूर्णयेत् ॥ कषायेष्वेवं तैलं च कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥ १ ॥ अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेत्कुशलो भिषक् ॥ तथा चानुपशाम्यंति कफग्रंथिवदुद्धरेत् ॥ २ ॥ स्वेदये-द्ग्रथितं शश्वन्नाडीस्वेदेन बुद्धिमान् ॥ सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत् ॥ ३ ॥

शूकरोगोंके लक्षण पहले निदानस्थानमें लिख चुके हैं उनमेंसे यदि "सर्षपिका" हो तो उसे खुरचकर अच्छी तरहसे कषाय द्रव्योंके चूर्णसे अवचूर्णित करे (बुर-कावे) और उन्हीं कषायद्रव्योंसे तैल सिद्ध करके रोपण करनेमें उपयोग करे (कषायद्रव्य पहले सूत्रस्थानमें देखिये) ॥ १ ॥ "अष्ठीलिका" को वैद्य जलौका लगाकर ठीक करे और जो इससे शांत न हो तो कफकी ग्रंथिकी भांति शस्त्रसे उखाड ले (और व्रणोपचार करे) ॥ २ ॥ "ग्रथित" रोग हो तो उसे बुद्धिमान नाडीस्वेदसे स्वेदित करे तथा स्निग्ध और सुखोष्ण उपनाहन द्रव्योंसे उपनाहन करे (सेके) ॥ ३ ॥

कुंभीका-अलजी-मृदित-चिकित्सा।

कुंभीकां पाकमापन्नां भिंद्याच्छुद्धां तु रोपयेत् ॥ तैलेन त्रिफला-लोध्रतिंदुकाम्रातकेन तु ॥ ४ ॥ ग्राहयित्वा जलौकोभिरलजीं सेचयेत्ततः ॥ कषायैस्तेषु सिद्धं च तैलं रोपणमिष्यते ॥ ५ ॥ बलातैलेन कोष्णेन मृदितं परिषेचयेत् ॥ मधुरैः सर्पिषा स्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहयेत् ॥ ६ ॥

"कुंभीका" यदि पक गई हो तो उसे भेदन करके शोधन करे जब शुद्ध हो जावे तब त्रिफला, लोध, तिंदुक, और आम्रातक (आमडे) इनके तैलसे रोपण करे ॥ ४ ॥ "अलजी" पर पहले जलौका लगावे फिर कषाय द्रव्यों (प्लक्षादि) के क्वाथसे धोवे और इन्हीं कषाय द्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ तैल रोपणके लिये काममें लावे ॥ ५ ॥ "मृदित" को गरम २ बलातैलसे मर्दन करके सेचन करे और मधुर (काकोल्यादि) द्रव्योंको घृत मिला थोडा गरम कर उपनाहन करे ॥ ६ ॥

(श्लो० १) कषायैः कषायद्रव्यैः कषायवृक्षचूर्णैः कषायवृक्षैर्मिश्रकोक्तशोधनद्रव्यैः (इति नि. स.)
(श्लो० २) कफग्रथिरिव शस्त्रेणोद्धरणम् (इति डल्लनः) ।

संमूढपिडिका-अवमंथ-पुष्करिका चिकित्सा ।

संमूढपिडिकां क्षिप्रं जलौकोभिरुपाचरेत् ॥ भित्त्वा पर्यागतां चापि लेपयेत्क्षौद्रसर्पिषा ॥ ७ ॥ अवमंथे गते पाके भिन्ने तैलं विधीयते ॥ धवाश्वकर्णपत्तंगशल्लकीतिंदुकीकृतम् ॥ ८ ॥ क्रियां पुष्करिकायां तु शीतां सर्वां प्रयोजयेत् ॥ जलौकोभिर्हरेच्चासृक्सर्पिषा चावसेचयेत् ॥ ९ ॥

"संमूढपिडिका" हो तो शीघ्रही जलौका लगाके उपचार करे (रुधिर निकलवावे) और जो पक जावे तो भेदन करके शहत और घृतका लेप करे ॥ ७ ॥ "अवमंथ" पक जावे तो भेदन करके धव, अश्वकर्ण, पतंग, शल्लकी, तिंदुकी इनसे साधन किया हुआ तैल उपयुक्त करे ॥ ८ ॥ " पुष्करिका " हो तो उसपर सब शीतल क्रिया करे और जलौकोंसे रुधिर निकलवावे तथा घृतका सेचन करे ॥९॥

स्पर्शहानि-उत्तमा-शतपोनक-त्वक्पाक-शोणितार्बुद-चिकित्सा ।

स्पर्शहान्यां हरेद्रक्तं प्रदिह्यान्मधुरैरपि ॥ क्षीरेक्षुरससर्पिर्भिः सेचयेच्च सुशीतलैः ॥ १० ॥ पिडिकामुत्तमाख्यां च बडिशेनोद्धरेद्भिषक् ॥ उद्धृत्य मधुसंयुक्तैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥ ११ ॥ रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके ॥ पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च देयं तैलमनंतरम् ॥ १२ ॥ क्रियां कुर्याद्भिषक्प्राज्ञस्त्वक्पाकस्य विसर्पवत् ॥ रक्तविद्रधिवच्चापि क्रियां शोणितजेऽर्बुदे ॥ १३ ॥

यदि शूकदोषसे "स्पर्शहानि" होवे तो रुधिर निकलवावे और मधुर द्रव्योंका लेप करे और दूध, ईखका रस, घृत इनको शीतलही सेचन करे (अर्थात् तरडे दे या धोवे) ॥ १० ॥ "उत्तमा" नामक पिडिका हो तो उसे बाडिशनामक शस्त्रसे उखाडे और उखाडकर कषाय द्रव्योंके चूर्णमें शहत मिलाकर बुरका दे ॥ ॥ ११ ॥ "शतपोनक" हो तो उसे खुरचकर रस क्रिया करे और पृथक्पर्णी आदि द्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ तैल निरंतर लगावे ॥ १२ ॥ यदि "त्वक्पाक" रोग हो तो बुद्धिमान् वैद्य विसर्पके अनुसार क्रिया करे "शोणितार्बुद" हो तो उसपर रक्तविद्रधिके अनुसार क्रिया करनी चाहिये ॥ १३ ॥

(वक्तव्य) इस क्षुद्ररोगोक्त शतपोनकसे पृथक् शतपोनकनामक भगन्दररोग होता है इनमें जो अन्तर है वह उनके निदानमें देखो ॥

(श्लो० ७) पर्यागता पाकप्राताम् ।

शूकरोगोंमें कर्तव्य।

कषायकल्कसर्पींषि तैलं चूर्णं रसक्रिया॥ शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य-वीक्ष्यावचारयेत्॥१४॥यथास्वं सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम्॥ हितः शोणितमोक्षश्च यच्चापि लघुभोजनम्॥१५॥अर्बुदं मांसपाकं च विद्रधिं तिलकालकम्॥प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक्सम्यक्प्रति-क्रियाम्॥ १६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थान एकविंशतितमोऽध्यायः॥ २१ ॥

वैद्यको चाहिये कि शूकरोगमें देख देख विचार २ कर जहां जैसा २ उचित हो वैसेही कषाय, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, शोधन और रोपण कर्म करे ॥ ॥ १४ ॥ यथोचित घृत पीना, पथ्य करना, विरेचन, रुधिर निकलवाना और हलका भोजन ये शूकरोगमें हित हैं ॥ १५ ॥ "अर्बुद" (मांसार्बुद) और "मांसपाक" विद्रधि तथा "तिलकालक" इनको (असाध्य हैं) ऐसा कहकर फिर वैद्य जैसे बने उसकी प्रतिक्रिया करे (अर्बुदरोग इससे पृथक् भी होता है तथा तिलकालक क्षुद्ररोग भी है परंतु इनमें जो भेद है वह इनके निदानमें देखो) १६॥

(वक्तव्य) शूकोंके उपयोगका अब प्रचार नहीं है इससे अबके समयमें शूकदोषज उपाधियां नहीं होतीं परंतु तीक्ष्ण सविष औषधों तथा तेल पट्टी आदिका अब भी प्रायः मूर्खोंमें प्रचार है उससे इस समय में भी कइयोंको दारुण व्याधियाँ हो जाती हैं॥

इति पं०मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थान एकविंशतितमोऽध्यायः॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः २२.

अथातो मुखरोगाणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम मुखके रोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं।

वातज ओष्ठकोपकी चिकित्सा ।

चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च ॥ वातजेऽभ्यंजनं कुर्यान्नाडी-स्वेदं च बुद्धिमान्॥१॥ मातिमानोष्ठकोपे तु शाल्वणं चोपनाहने॥ मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम्॥२॥ श्रीवेष्टकं सर्ज-रसं सुरदारु सगुग्गुलु॥ यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात्प्रतिसारणम्॥३॥

(श्लो० १) चतुर्विधेन स्नेहेन चतुःस्नेहेन वातजे ओष्ठकोपे इति श्लोकद्वयपठितपदयोर्मेलयित्वान्वयः कार्यः। (श्लो० ३) प्रतिसारणं घर्षण लेपनं च ।

(मुखके ओष्ठ आदि सात स्थानोंके सब पैंसठ रोग और उनके लक्षण निदान-स्थानके सोलहवें अध्यायमें पहले वर्णन कर चुके हैं) उनमेंसे वायुके ओष्ठकोप (होठके रोग) में चारों प्रकारके स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) से (या केवल घृतसे) मोम मिलाकर अभ्यंजन (मालिश) करना चाहिये और नलिकासे स्वेदभी करावे ॥ १ ॥ बुद्धिमान् वैद्यको चाहिये कि उपनाहके लिये शाल्वण उपयोग करे और मस्तिष्क तथा नस्यसे वायु नाशक तैल उपयुक्त करे (मस्तिष्क शिरोवस्तिको कहते हैं तथा मूर्द्धाके हितकारक मर्दनादिकोभी) ॥ २ ॥ और श्रीवेष्टक (सरल नियोस) तथा राल, देवदारु, गूगल और मुलेठी ये पीसकर बुरकाना या लगाना चाहिये ॥ ३ ॥

पित्तज ओष्ठकोपकी चिकित्सा ।

रक्तपित्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत् ॥
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः ॥ ४ ॥

रुधिर और पित्तके और अभिघात (चोट आदि लगने) से उत्पन्न ओष्ठकोपमें जलौका लगाकर रुधिर निकलवाना चाहिये और सब क्रिया पित्तजविद्रधिके समान करनी उचित हैं ॥ ४ ॥

कफज ओष्ठकोपकी चिकित्सा ।

शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च ॥ हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके ॥ ५ ॥ त्र्यूषणं स्वर्जिकाक्षारो यवक्षारो विडं तथा ॥ क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥ ६ ॥

कफके ओष्ठकोप रोगमें प्रथम रुधिर निकलवावे और शिरोविरेचन दे तथा धूमपान करावे (या धूनीदे) और स्वेद करावे (सेके) तथा कफनाशक द्रव्योंका कवल (ग्रास) मुखमें रहने दे ॥ ५ ॥ और त्रिकटु, सज्जीखार, जवाखार और बिड-लवण इन्हें शहतमें मिलाकर लगावे ॥ ६ ॥

मेदोज ओष्ठकोपकी चिकित्सा ।

मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः ॥ प्रियंगुत्रिफलारोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ॥ ७ ॥ एतदोष्ठप्रकोपानां साध्यानां कर्म कीर्तितम् ॥ दंतमूलगतानां तु रोगाणां कर्म वक्ष्यते ॥ ८ ॥

मेदोज ओष्ठकोपमें प्रथम स्वेदित करके चीर दे और फिर शोधन करके अग्निसे दग्ध कर देना हित है और प्रियंगु, त्रिफला, लोध इन्हें शहत मिलाकर लगावे॥७॥

यह साध्य ओष्ठप्रकोप रोगोंका यत्न वर्णन किया गया अब अगाडी दंतमूल (मसूढों) के रोगोंका यत्न वर्णन किया जाता है ॥ ८ ॥

दंतमूलके रोग ।

शीतादका यत्न ।

शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान् ॥ निःक्वाथ्य त्रिफलां मुस्तं गंडूषः सरसांजनः ॥ ९ ॥ प्रियंगवश्च मुस्तं च त्रिफला च प्रलेपनम् ॥ नस्यं च त्रिफलासिद्धं मधुकोत्पलपद्मकैः ॥ १० ॥

"शीताद" नामक दंतरोगमें रुधिर निकलवाकर सोंठ, सरसों, त्रिफला, नागरमोथा और रसोत इन्हें क्वाथ करके कुल्ले करे ॥ ९ ॥ और प्रियंगु, नागरमोथा और त्रिफला इनका लेप करे तथा त्रिफला, मुलेठी, कमल और पद्माख इनसे सिद्ध किये घृतका नस्य (नास) देवे ॥ १० ॥

दंतपुप्पुट और दंतवेष्टकका यत्न ।

दंतपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम् ॥ सपंचलवणः क्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम् ॥ हितः शिरोविरेकश्च नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ॥ ११ ॥ विस्राविते दंतवेष्टे व्रणांश्च प्रतिसारयेत् ॥ रोध्रापतंगयष्ट्याह्वला-क्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः ॥ १२ ॥ गंडूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः ॥ काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिश्च नस्यतः ॥ १३ ॥

"दंतपुप्पुट" रोगके आरंभमें रुधिर निकलवावे और पांचों नमक, यवक्षार, शहत मिलाकर लगाना उचित है और शिरोविरेचन देना, नस्य देना और स्निग्ध-भोजन ये भी हित हैं ॥ ११ ॥ और "दंतवेष्ट" रोगमें रक्तादि स्रावित करनेके पीछे लोध, पतंग, मुलेठी और लाख इनका चूर्ण शहत मिलाकर व्रणोंपर लगावे ॥ ॥ १२ ॥ और दूधवाले (गूलर आदि) वृक्षोंके क्वाथमें शहत, घृत और शर्करा मिलाकर कुल्ले करे और काकोल्यादिगण तथा दश गुणा दूध डालकर घृत सिद्ध करे और इस घृतका नस्य दे ॥ १३ ॥

शौषिरयत्न ।

शौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसांजनैः ॥ सक्षौद्रैः शस्यते लेपो

(श्लो० १०) त्रिफलासिद्धं घृतमिति (नि० सं०) (श्लो० १३) काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिरित्यत्र दशक्षीरसिद्धं दशगुणेन क्षीरेण सिद्धं सर्पिः (इति डल्लनः)

गंडूषे क्षीरिणो हिताः॥१४॥सारिवोत्पलयष्ट्याह्वशावरागुरुचंदनैः॥ क्षीरे दशगुणे सिद्धं सर्पिर्नस्ये च पूजितम्॥ १५॥

"शौषिर" रोगमें रुधिर निकलवाकर लोध, नागरमोथा, रसोत इन्हें शहतमें मिलाकर लेप करना श्रेष्ठ है और कुल्ले करनेमें दूधके वृक्ष गूलर आदि हितकारक हैं ॥ १४ ॥ और सारिवा, कमल, मुलेठी, साबरलोन, अगर और चंदन इन्हें लेकर दश गुणा दूध डालकर घृत सिद्ध करे और इस घृतका नस्य दे (सारिवादिका क्वाथ लेना) ॥ १५ ॥

परिदर और उपकुशका यत्न ।

क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः ॥१६॥ संशोध्योभयतः कायं शिरश्चोपकुशे तथा ॥ काकोदुंबरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥१७॥ क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत्॥ पिप्पलीसर्षपांश्चैव नागरं नैचुलं फलम् ॥ १८॥ सुखोदकेन संसृष्टं कवलं चापि धारयेत् ॥ घृतं मधुरकैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥ १९ ॥

"परिदर" रोगमें विचक्षण वैद्य शीतादोक्त क्रियाओंको करे ॥ १६ ॥ और "उपकुश" नामक रोगमें वमन, विरेचनद्वारा शरीरकी शुद्धि करके शिरोविरेचनसे शिर भी शोधन करना चाहिये और काकोदुंबरी (अंजीर) के पत्तेसे अथवा गोजिह्वाके पत्तेसे (रगडकर) रुधिर निकलवाना चाहिये ॥ १७ ॥ और त्रिकटु, लवण, शहत मिलाकर लगावे तथा पीपल, सरसों, सोंठ और जलवेतसके फलको गरम जलसे पीसकर ग्रास बनाकर मुखमें रक्खे अथवा मधुर द्रव्यों काकोलि आदिसे सिद्ध किया हुआ घृत भी कवल (ग्रास) और नस्यके लिये हित है ॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥

दंतवैदर्भ और अधिदंतका यत्न ।

शस्त्रेण दंतवैदर्भे दंतमूलानि शोधयेत्॥ततः क्षारं प्रयुंजीत क्रियाः सर्वाश्च शीतलाः ॥२०॥ उद्धृत्याधिकदंतं तु ततोऽग्निमवचारयेत् ॥ कृमिदंतकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता ॥ २१ ॥

(श्लो० १५) शावरः शावराख्यलोध्रः ॥ (श्लो० १७) संशोध्योभयत इति वमनविरेचनाभ्याम् ऊर्ध्वमधश्च कायं शोधयित्वा शिरोविरेचनेन शिरश्च शोधयेदित्यर्थः (इति नि० सं०)

"दंतवैदर्भ" रोगमें दाँतोंकी जडको शस्त्रसे (खुरचके या चीरके) शुद्ध करे फिर उसपर कोईसा क्षार लगा देवे और सब क्रिया शीतल करे ॥ २० ॥ और जो "अधिकदंत" हो तो उसे उखाडकर अग्निसे दाग लगा दे अथवा कृमिदंतके अनुसार जानकार वैद्य यत्न करे ॥ २१ ॥

अधिमांसका यत्न ।

छित्त्वाधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत् ॥ वचातेजोवतीपाठासर्जिकायावशूकजैः ॥ २२ ॥ क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः ॥ पटोलत्रिफलानिम्बकषायश्चात्र धावने ॥ २३ ॥ हितः शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः ॥ सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु ॥ २४ ॥

"अधिमांस" रोग हो तो उसे शस्त्रसे छेदन करके नीचे लिखी औषधोंके चूर्णमें शहत मिलाकर लगावे वच, तेजवती, पाढ, सज्जी और जवाखार ॥ २२ ॥ अथवा पीपल और शहद इनका ग्रास धारण करे और धोनेके लिये परवल, त्रिफला और निंबका काथ चाहिये ॥ २३ ॥ यहां शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम भी हित है "नाडीरोग" का सामान्य उपाय नाडीव्रणके विधानमें वर्णन हो चुका है और उससे विशेष यहांपर अगाडी हमसे सुनो ॥ २४ ॥

दंतनाडीका विशेष यत्न ।

यद्दंतमधिजायेत नाडी तं दंतमुद्धरेत् ॥ छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत् ॥ २५ ॥ शोधयित्वा दहेद्वापि क्षारेण ज्वलनेन वा ॥ भिन्नेप्युपेक्षिते दंते हनुकास्थि गतिर्ध्रुवम् ॥ २६ ॥ समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्भग्नमस्थि च ॥ उद्धृते तूत्तरे दंते सशूले स्थिरबंधने ॥ २७ ॥ रक्तातियोगात्पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवंति हि ॥ काणः संजायते जंतुरर्दितं चास्य जायते ॥ २८ ॥ चलमप्युत्तरं दंतमतो नापहरेद्भिषक् ॥ धावने जातिमदनस्वादुकंटकखादिरम् ॥ ॥ २९ ॥ कषायं जातिमदनकटुकस्वादुकंटकैः ॥ यष्ट्याह्वरोध्रमंजि-

---

(श्लो० २४) नाडीना दंतनाडीनां कर्म सामान्यं वातादिनाडीव्रणतुल्यं कर्म चोक्त, तदेव अत्र च दंतनाडीनां विशेषमपि मे शृणु इति ।

(श्लो० २८) एष श्लोकः पूर्वेणार्द्धेन अग्रिमेणार्द्धेन सह मेलयित्वान्वेतव्यः ।

छाखदिरैश्चापि यत्कृतम् ॥३०॥ तैलं संशोधनं तद्धि हन्याद्दंतगतां गतिम् ॥ कीर्तिता दंतमूले तु क्रिया दंतेषु वक्ष्यते ॥ ३१ ॥

"दंतनाडी" (दांतकी जडका नासूर जिसे भाषामें जाडिया कहते हैं) जिस दांतके पास (जडमें) हो उस दांतको उखाड देना चाहिये और दूषित मांसको शस्त्रसे छेदन कर देना चाहिये परंतु जो ऊपरका दांत हो तो उसे कदाचित् नहीं उखाडना चाहिये ॥ २५ ॥ फिर उसे शोधन करके क्षारसे या अग्निसे जला देवे यदि वह दांत जिसकी जडमें नाडी है नही उखाडा जावे तो वह गति (नासूर) ठोडीके हाडको भेदन कर देवे ॥ २६ ॥ इस कारण उस दांतको जडसे उखाड लेना चाहिये और जो टूटा हुआ अस्थिका टुकडा वहां हो तो उसे भी अलग कर देवे परन्तु ऊपरका दांत नहीं उखाडे चाहे वह शूलयुक्त और ढीले बंधवालाभी (हिलताभी) हो ॥ २७ ॥ क्योंकि ऊपरके दांत उखाडनेसे रुधिर अधिक निकलता है जिससे पूर्वोक्त भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा मनुष्य काणा होजाता है अथवा उसे अर्दित नाम वातव्याधि होजाती है ॥ २८ ॥ इस वास्ते ऊपरके दांत और जडको हिलनेपर भी नहीं उखाडना चाहिये । दंतनाडीके व्रणको धोनेके लिये चमेली, मैनफल, गोखरू और खैर इनका काथ श्रेष्ठ है ॥ २९ ॥ और चमेली, मैनफल, कुटकी, गोखरू, मुलेठी, लोध, मँजीठ और खदिर इनसे साधन किया हुआ ॥ ३० ॥ तैल शोधन करनेवाला है तथा दंतगत गति (दांतोंकी जडके नासूर) को अच्छा कर देता है (यह दंतनाडी मुखके भीतर भी होती है और कइयोंके बाहरको ठोडीके ऊपर होती है) दंतमूल (दाँतोंकी जड) के रोगोंकी क्रिया वर्णन कीगई अब अगाडी दंतरोगोंकी क्रिया कही जाती है ॥ ३१ ॥

दंतरोगचिकित्सा ।

दंतहर्ष–शर्करा–कापालिका ।

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रैवृतस्य वा ॥ निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दंतहर्षप्रमर्दनाः ॥ ३२ ॥ स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ॥ रसो रसयवाग्वश्च क्षीरं संतानिका घृतम् ॥ ३३ ॥ शिरोवस्तिहितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः ॥३४॥ अहिंसन्दंतमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक् ॥ लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत् ॥ दंतहर्षक्रिया वापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥३५॥ कपालिका कृच्छ्रतमा तथाप्येषा क्रिया हिता ॥ ३६ ॥

(श्लो० ३०।३१) जातिमदनादिकैः खदिरांतैः यत्कृत शोधन तैलं तद्धि दंतगतां गति हन्यादित्यर्थः ।

"दंतहर्ष रोग" हो तो स्नेहके (चिकनी वस्तुओंके) गरम गरम ग्रास मुखमें रक्खे तथा त्रैवृत घृतके कवल रक्खे और वायुनाशक औषधोंके क्वाथ सेवन करे ये सब दंतहर्षके नाशक हैं ॥ ३२ ॥ तथा स्नेहका धुवाँ और स्निग्ध नस्य तथा चिकना भोजन, मांसका रस तथा मांसरसके बनाये यवागू, दूध और मलाई ये सब हित हैं ॥ ३३ ॥ और शिरका वस्तिकर्म तथा जो वायुनाशक क्रम है वह सबही हित हैं ॥ ३४ ॥ "दंतशर्करा" रोग हो तो दांतोंकी जडको बचाकर वहांकी शर्कराको अलग कर देना चाहिये फिर वैद्य उसपर लाखके चूर्णमें शहत मिलाकर रगड दे अथवा सब क्रिया दंतहर्षके समान करे ॥ ३५ ॥ "कपालिका" नामक रोग कष्टसाध्य होता है परंतु वहां भी यही पूर्वोक्त क्रिया करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

कृमिदंत और हनुमोक्ष ।

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदंतकम् ॥ तथावपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगंडूषधारणैः ॥ ३७ ॥ भद्रदार्व्यादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः ॥ चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च ॥३८॥ ततो विदारीयष्ट्याह्वशृंगाटककशेरुकैः ॥ तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत् ॥३९॥ हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चार्दितवत्क्रियाम् ॥४०॥

यदि "कृमिदंत" रोग हो और दांत हिलता न हो तो उसे स्वेदित करे अर्थात् बफारा ले, विस्रावण करे और अवपीडन करे (नस्य ले) तथा वायुनाशक स्नेहसे कुल्ले करे ॥ ३७ ॥ तथा भद्रदार्व्यादि द्रव्यों और सांठीका लेप करे स्निग्ध भोजन करे यदि वह दांत (कीडेवाला) हिलता हो (नीचेका हो) तो उसे उखाडले और उसकी जगहको जरा जलादे तथा "शुषिरके" स्थानको भी जलादे ॥ ३८ ॥ और विदारी, मुलेठी, सिंघाड़े, कसेरु इनमें दशगुणा दूध डालकर तैल सिद्ध करे और इसका नस्य दे ॥ ३९ ॥ "हनुमोक्ष" रोगमें अर्दितवातोक्त सब क्रिया करे ॥४०॥

दंतरोगमें पथ्य ।

फलान्यम्लानि शीतांबु रूक्षान्नं दंतधावनम् ॥ तथातिकठिनान्भक्ष्यान्दंतरोगी विवर्जयेत् ॥४१॥ साध्यानां दंतरोगाणां चिकित्सितमुदीरितम् ॥ जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये ॥४२॥

जिसके दंतरोग हो वह मनुष्य खट्टे फल, बहुत ठंढापानी, रूखा भोजन, दतून करना और कडे पदार्थ (तथा फलोंका गरम भुरता भी) न खावे ॥ ४१ ॥ साध्य

(श्लो० ३८) शुषिरस्यापि स्थान दहेदित्यर्थः ।

दंतरोगोंकी चिकित्सा वर्णन की गई है (असाध्य जो दंतरोग हैं उनकी चिकित्सा नहीं कहीगई जैसे श्यावदंत, दालन और अवभंजक ये असाध्य जानने चाहिये) इससे अगाडी अब जिह्वाके साध्य रोगोंकी सिद्धिके लिये यत्न कहते हैं ॥ ४२ ॥

जिह्वाके वातज और पित्तज कंटक रोगका यत्न ।

ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम्॥कंटकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्यं भिषजा भवेत् ॥४३॥ पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते ॥ प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम् ॥ ४४ ॥

जिह्वाका "वातजकंटक" रोग हो तो वायुके ओष्ठकोपमें जो प्रथम चिकित्सा वर्णन होचुकी है वही वैद्यको करनी चाहिये ॥ ४३ ॥ और जिह्वाके "पित्तजकंटक" रोगमें प्रथम उसे घिसे जिससे दुष्ट रुधिर निकल जावे फिर मधुर द्रव्योंहीके प्रतिसारण और कुल्ले तथा नस्य उपयुक्त करने चाहिये ॥ ४४ ॥

कफकंटक ।

कंटकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये ॥ पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥४५॥ गृह्णीयात्कवलांश्चापि गौरसर्षपसैंधवैः॥ पटोलनिंबवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत् ॥ ४६ ॥

जिह्वाके "कफजकंटक" में प्रथम जिह्वाको खुरचे जब दुष्ट रक्त निकल जावे तब पिप्पल्यादि द्रव्योंमें सहत मिलाकर उसपर रगडदे ॥ ४५ ॥ और सुपेद सरसों तथा सैंधा नमक इनका ग्रास रक्खे तथा परवल, निंब एवं वृंताक और जवाखारके यूषके संग भोजन करे ॥ ४६ ॥

उपजिह्वाका यत्न ।

उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥ शिरोविरेकगंडूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् ॥ ४७ ॥ जिह्वागतानां कर्मोक्तं तालव्यानां प्रवक्ष्यते ॥ ४८ ॥

"उपजिह्वा" को खुरचकर उसपर क्षार लगा देवे और शिरोविरेचन, कुल्ले तथा धूम आदिसे उपचार करे (जिह्वाका अलास नाम रोग असाध्य है इससे उसका यत्न नहीं कहा) ॥ ४७ ॥ जिह्वाके रोगोंके यत्न कहे गये, अब अगाडी तालूके रोगोंकी चिकित्सा कहते हैं ॥ ४८ ॥

(श्लो० ४६) वार्ताकुः बृहतीफलं वृंताकं वा ।

तालुरोगचिकित्सा।

गलशुंडी।

अंगुष्ठांगुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुंडिकाम् ॥ छेदयेन्मंडलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ॥४९॥ नोत्कृष्टं चैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद्भिषक् ॥ अत्यादानात्स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ॥ ५० ॥ हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्ततः॥तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः॥ गलशुंडीं तु संच्छिंद्य कुर्यात्प्राप्तमिमं क्रमम्॥ ॥५१॥मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः ॥ क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत्॥५२॥वचामतिविषां पाठां रास्नां कटुकरोहिणीम्॥निःक्वाथ्य पिचुमंदं च कवलं तत्र योजयेत् ॥५३॥ इंगुदीकिणिहीदंतीसरलासुरदारुभिः ॥ पंचांगीं कारयेत्पिष्टैर्वर्तिं गंधोत्तरां शुभाम् ॥ ततो धूमं पिबेज्जंतुर्द्विरह्नः कफनाशनम् ॥५४॥ क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः ॥ ५५ ॥

यदि "गलशुंडी" बढ जावे तो अँगूठे और अंगुलीके संदंश (चिमटे) से पकड कर कुछ खींचकर मंडलाग्र शस्त्रसे जितनी जीभपर लटक पडी हो उसे काटले ॥ ४९ ॥ ज्यादा और कम नहीं काटे तृतीय भाग काटना चाहिये ज्यादा कट जानेसे रुधिर बहने लगता है जिससे मनुष्य मर जाता है ॥५०॥ और कम कटे तो शोथ, हो जाता है राल बहने लगती है, निद्रा, भ्रम और तम (अंधेरी आ जाती है) इस कारण दृष्टकर्मा विशारद वैद्य (जिसने कई वार इसे काटते देखा हो वह) यत्नसे गलशुंडी (बढा हुआ फूला हुआ काक) को काटे और फिर यह क्रिया करे ॥ ५१ ॥ मिरच, अतीस, पाठा, वच, कूट, श्योनाक इनमें जवाखार और लवण मिलाकर उसे रगडदे (मलदे) ॥ ५२ ॥ और वच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी और निंब इन्हें क्वथित करके ग्रास धारण करे ॥ ५३ ॥ और हिंगोट, किणही (कटभी), दंती, सरला (निसोथ) और देवदारु इन पांचोंके चूर्णमें सुगंधित वस्तु चन्दन, बालछड आदि डालकर बत्ती (चुरटके आकार) बनावे और इसका धूम दिनमें दो वार पान करे यह कफनाशक है ॥ ५४ ॥ तथा जवाखारसे सिद्ध मूँगका यूष भोजन करनेमें हितकारक है ॥ ५५ ॥

(श्लो० ५४) पंचांगीमिति पंचभिरंगभूतैर्द्रव्यैः कृता पंचांगी (इति डल्हनः) ।

तुंडिकेरी आदिका यत्न ।

तुंडिकेर्यध्रुषे कूर्मे संघाते तालुपुप्पुटे ॥
एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ॥ ५६ ॥

"तुंडिकेरी, अध्रुषमांस, कच्छपमांस, संघात, तालुपुप्पुट" इन सब रोगोंमें प्रतिसारण कवल आदिमें यही पूर्वोक्त विधि करनी चाहिये पर शस्त्रकर्ममें प्रत्येक स्थानमें विशेषता (भेद) है वह सर्वत्र एकसा नहीं है किन्तु कहीं छेद्य, कहीं भेद्य, कहीं लेख्य ऐसे यथायोग्य होता है ॥ ५६ ॥

तालुपाक ।

तालुपाके तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनम् ॥ स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ॥ कीर्तितं तालुजानां तु कंठ्यानां कर्म वक्ष्यते ॥ ५७ ॥

"तालुपाक" में पित्तनाशक (शीतल) विधान करना उचित है । और तालुशोषमें स्नेहन (चिकनाईसे तर करना) तथा स्वेदन करना चाहिये और वायु-नाशक विधि करनी चाहिये । तालुके (साध्य) रोगोंकी विधि वर्णन की गई (रक्तार्बुदकी क्रिया नहीं कही इससे वह असाध्य जानों) अब यहांसे अगाडी कंठके रोगोंकी क्रिया वर्णन की जाती है ॥ ५७ ॥

कंठरोगचिकित्सा ।

रोहिणी ।

साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम् ॥ छर्दनं धूमपानं च गंडूषो नस्यकर्म च ॥ ५८ ॥ वातकीं तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ॥ सुखोष्णान्स्नेहगंडूषान्धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ॥ ५९ ॥ पतंगशर्कराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत् ॥ द्राक्षापरूषकक्काथौ हितौ च कवलग्रहे ॥ ६० ॥ अगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत् ॥ श्वेताविडंगदंतीषु तैलं सिद्धं ससैंधवम् ॥ ६१ ॥ नस्यकर्मणि

(श्लो० ५६) एष एव विधिः समान एव कार्यः । विशेषः शस्त्रकर्मणीति-तत्र तुडिकेरी भेद्या तालुपुप्पुटके अध्रुषे संघातेऽपि च छेद्यः, मासोच्छेद्यात् लेख्यः कूर्मोपि लेख्यश्छेद्यो वाऽवस्थया (इति नि० सं०)

(श्लो० ६१) श्वेता पारसीकवचा किरमानीवच इति लोके । तदुक्तं निघंटौ-"पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा ॥" शुक्ला वचा शुक्लत्वात् श्वेता अपि तन्नाम इति । श्वेताविडगदंतीषु सिद्धं तैलं नस्यकर्मणि कवलधारणे च योक्तव्यमित्यन्वयः ।

योक्तव्यं तथा कवलधारणे ॥ पित्तवत्साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्त-संभवाम् ॥ ६२ ॥

" कंठरोहिणी " जो साध्य हैं उनमें रक्तमोक्षण, वमन, धूमपान, गंडूष (कुल्ले करना) और नस्य ये हित हैं ॥ ५८ ॥ वायुकी रोहिणीमें रक्तमोक्षके पीछे लवणसे प्रतिसारण करना और वारंवार सुखोष्ण (निवाये) स्नेहके कुल्ले धारण करना उचित है ॥ ५९ ॥ पित्तकी रोहिणीमें (रक्त निकलवाकर) पतंग, शक्कर और शहतसे प्रतिसारण करे और दाख और फालसोंका क्वाथ मुखमें रखनेको हित-है ॥ ६० ॥ कफकी रोहिणीमें घरका धूम (धुवांसा) और कटुक द्रव्यों (त्रिकटु आदि) का प्रतिसारण करे (रगडे) और श्वेता (किरमानी वच), विडंग. दंती इनका सिद्ध किया सैंधव युक्त तैल ॥ ६१ ॥ नस्यकर्म तथा कवलधारण करनेमें उपयोग करना चाहिये । और रक्तकी रोहिणीको वैद्य पित्तरोहिणीके अनुसार साधन करे (सन्निपातकी रोहिणी असाध्य है इससे उसकी चिकित्सा नहीं लिखी)॥ ६२ ॥

कंठशालूकयत्न ।

विस्राव्य कंठशालूकं साधयेत्तुंडकेरिवत् ॥
एककालं यवान्नं च भुंजीत स्निग्धमल्पशः ॥ ६३ ॥

" कंठशालूक " रोगको विस्रावित करके तुंडिकेरीके अनुसार साधन करना चाहिये और एकवार जवका भोजन थोडा चिकना करे ॥ ६३ ॥

अधिजिह्वा और एक वृंद ।

उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम् ॥
एकवृन्दं तु विस्राव्य विधि शोधनमाचरेत् ॥ ६४ ॥

" अधिजिह्वा " रोगको उपजिह्वाके अनुसार साधन करे और एकवृंदको विस्रावण करके शोधन करे ॥ ६४ ॥

गिलायु और गलविद्रधि ।

गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत् ॥
अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद्गलविद्रधिम् ॥ ६५ ॥

" गिलायु " नामक व्याधिको शस्त्रसे साधन करे और " गलविद्रधि " जो मर्मस्थानसे बचा हुआ हो और ठीक पक गया हो उसे शस्त्रसे भेदन करे ॥ ६५ ॥

(श्लो० ६३) तुंडकेरिरित्यार्षः ।

सर्वमुखगत वातजरोग।

वातात्सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत्॥ तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥६६॥ ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ॥ शालराजादनैरंडसारेंगुदिमधूकजाः ॥ ६७ ॥ मज्जानो गुग्गुलुध्यामस्मांसीकालानुसारिवाः ॥ श्रीसर्जरसशैलेयमधूच्छिष्टानि वा हरेत् ॥ ६८ ॥ तत्सर्वं सुकृतं चूर्णं स्नेहेनालोड्य युक्तितः ॥ टुंटूकवृंतं सक्षौद्रं मतिमांस्तेन लेपयेत्॥६९॥ एष सर्वसरे धूमः प्रशस्तः स्नैहिको मतः ॥ कफघ्नो मारुतघ्नश्च मुखरोगविनाशनः ॥ ७० ॥

वायुके सर्वमुखरोगमें लवणोंके चूर्णोंसे प्रतिसारण करे और वायुनाशक देवदारु आदिसे सिद्ध किया तैल नस्य और कवलधारणमें हित है ॥ ६६ ॥ और इसमें स्नेहका धुवां दे तथा शाल, खिरनी, अरंड इनकी छाल, हिंगोट और महुआ इनकी गिरी, गूगुल, ध्याम (गंधतृण), जटामांसी, कालवल्ली, लवंगराज, शिलारस, मोम इन सबको ले ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ चूर्णकर स्नेह (घृत) मिला श्योनाकके डंठलपर शहद लगाकर इसे लगावे ॥ ६९ ॥ इसका धूम पान करे यह स्नैहिक धूम कफ और वायुका नाश करनेवाला समस्त मुखके रोग नाश करनेमें श्रेष्ठ है ॥७०॥

पित्तज सर्वमुखरोग।

पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः ॥
सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥ ७१ ॥

पित्तज सर्वमुखरोगमें प्रथम वमन और विरेचनसे शरीर शुद्ध करके फिर सब क्रिया पित्त नाश करनेवाली मधुर और शीतल करनी चाहिये ॥ ७१ ॥

कफजसर्वमुखरोग।

प्रतिसारणगंडूषधूमसंशोधनानि च ॥ कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात्कफापहम् ॥ ७२ ॥ पिबेदतिविषां पाठां मुस्तं च सुरदारु च ॥ रोहिणीं कटुकाख्यां च कुटजस्य फलानि च ॥ ७३ ॥ गवां मूत्रेण मनुजो भागैर्धरणसंमितैः ॥ एष सर्वान्कफकृतान्रोगान्योगोपकर्षति ॥ ७४ ॥

(श्लो० ६६) चूर्णैर्लवणैः पचलवणचूर्णैः (इति डल्लनः) वातहरैः भद्रदार्व्यादिकैः ।(श्लो० ६७) इंगुदीमधूकजा मज्जानः । (श्लो० ६८ । ६९) ध्यामं गंधतृण कालानुसारिवा कालवल्ली श्रीलवंगं टुंटूकः श्योनाकः (इति नि० सं०)

कफज सर्वमुखरोगमें प्रतिसारण (रगडनेकी औषध), गंडूष (कुल्ले), धूम (धूमपान या धूनी) और संशोधन ये सब कफनाशक विधिपूर्वक करने चाहिये ॥ ॥ ७२ ॥ तथा अतीस, पाठा, नागरमोथा, देवदारु, कटुकाख्या, रोहिणी (कुटकी), कुटज फल (इंद्रजौ) ॥ ७३ ॥ इन सबको कूट चूर्ण करे इसमेंसे एक धरण (टंक) प्रमाण गोमूत्रके संग पीवे यह योग सब कष्टसाध्य मुखरोगोंको नष्ट करता है ॥ ७४ ॥

मुखरोगोंमें साधारण यत्न।

क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकांजिकैः ॥
विदध्यात्कवलान्वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥ ७५ ॥

दूध, ईखका रस, गोमूत्र, दही, दहीका जल, अम्लरस, कांजी तथा तैल आर घृत इनमेंसे यथायोग्य दोषको देखकर कवल धारण करावे (तथा और यत्न जहां जैसा उचित हो वैसा करे) ॥ ७५ ॥

असाध्य मुखरोगोंकी संख्या।

रोगाणां मुखजातानां साध्यानां कर्म कीर्तितम् ॥ असाध्या अपि वक्ष्यंते रोगा ये यत्र कीर्तिताः ॥७६॥ ओष्ठप्रकोपा वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः ॥ दंतमूलेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिंगगतिशौषिरौ ॥७७॥ दंतेषु च न सिध्यंति श्यावदालनभंजनाः ॥ जिह्वागतेष्वलासस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा ॥ ७८ ॥ स्वरघ्नो वलयो वृंदो बलासश्च विदारिका ॥ गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥ ७९ ॥ असाध्या कीर्तिता ह्येते रोगा नवदशैव च ॥ तेषां चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ ८० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

मुखके रोग जो साध्य थे उनकी चिकित्साका वर्णन किया गया, अब जो २ असाध्य जिन जिन स्थानोंमें हैं उनका भी वर्णन किया जाताहै ॥७६॥ ओष्ठकोपमें मांसका, रुधिरका और त्रिदोषका ओष्ठकोप असाध्य त्यागने योग्य है और दंतमूलरोगोंमें एक त्रिदोषकी नाडी और दूसरा शौषिर अर्थात् महाशौषिर ये दो असाध्य हैं ॥ ७७ ॥ दंतरोगोंमें श्यावदंत (दांत नीला हो) और दालन तथा अवभंजन ये असाध्य हैं, जिह्वाके रोगोंमें अलास असाध्य है और तालुके रोगोंमें अर्बुद असाध्य होता है ॥ ७८ ॥ कंठरोगोंमें स्वरघ्न, वलय, वृंद, बलास, विदारि-

का, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी और त्रिदोषकी रोहिणी असाध्य होते हैं ॥ ७९ ॥ मुखके रोगोंमेंसे ये १९ रोग असाध्य होते हैं (परन्तु ईश्वरकी गतिसे असाध्यभी कभी साध्य हो जाते हैं जैसे लिखा है कि "असाध्यः साध्यतां याति") इस लिये वैद्यको इनकी भी चिकित्सा बुद्धिबलके अनुसार करनी चाहिये परन्तु पहले ऐसा कहकर कि ये असाध्य हैं फिर क्रिया करनी चाहिये ॥ ८० ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः २३.

अथातः शोफानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम शोफ अर्थात् सोजेकी चिकित्साका व्याख्यान करतेहैं ।

सर्वांगशोथ ।

षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहितो लक्षणतः प्रतिकारतश्च सर्वसरस्तु[1] पंचविधः तद्यथा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातविषनिमित्तः ॥१॥

किसी एक अंगमें उठा हुआ विद्रधि आदिका पूर्वज शोथ छः प्रकारका होता-है उसके लक्षण और प्रतिकार सूत्रस्थानके १७ वें अध्यायमें वर्णन कर चुके हैं परन्तु सब शरीरमें होनेवाला (जो विद्रध्यादिका पूर्वज नहीं होता वह) शोथ पांच प्रकारका होता है जैसे १ वायुका, २ पित्तका, ३ कफका, ४ सन्निपातका, ५ विषका ॥ १ ॥

शोथका हेतु ।

तत्रापि तर्पितस्याऽध्वगमनादतिमात्रमभ्यवहरतो वा पिष्टान्नहरितकशाकलवणानि क्षीणस्य वातिमात्रमम्लमुपसेवमानस्य मृत्पक्वलोष्टकटशर्करा[2]नूपौदकमांससेवनादजीर्णिनो वा ग्राम्यधर्मसेवनादिविरुद्धाहारसेवनाद्धस्त्यश्वोष्ट्ररथपदातिसंक्षोभणाद्दोषा धातून् प्रदूष्य श्वयथुमापादयंत्यखिले शरीरे ॥ २ ॥

तहां अतिभोजन करके मार्ग चलनेसे (और बहुत भोजन करनेसे) तथा मिट्टीके पदार्थ, हरेशाक, लवण, विशेष खानेसे, क्षीण मनुष्य (जो ज्वर, अतिसार आदि रोगोंसे दुबला होगया हो उस) को अधिक खटाई खा लेनेसे मिट्टीका पका हुआ लोष्ट अर्थात् ठेकरा खानेसे, कट (तृण) और शर्करा (धूल रेत) खा-

---

(वा० १) सर्वसरः सर्वांगगतः ।

(वा० २) मृत्पक्वलोष्टमिति–मृत्तिकाजनितपक्वघटशकलं ठेकरीति । कटः तृणम् (इति शब्दस्तोमः)

जानेसे तथा जलके किनारेके और जलके जीवोंका मांस खानेसे, अजीर्णमें मैथुन करनेसे, विरुद्ध पदार्थ खानेसे, हाथी, घोडे, ऊँट, रथकी सवारी या पैदल विशेष चलनेसे क्षुभित हुए दोष धातुओंको दूषित करके सब शरीरमें (वा हाथ, पावँ, मुख आदिमें) शोथ उत्पन्न कर देतेहैं ॥ २ ॥

वातादिजनितशोथके लक्षण ।

तत्र वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा मृदुरनवस्थितस्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषाः ॥ ३ ॥ पित्तश्वयथुः पीतो रक्तो वा शीघ्रानुसार्योषचोषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः ॥ ४ ॥ श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः शुक्लो वा स्निग्धः कठिनः शीतो मंदानुसारी कंडादयश्चात्र वेदनाविशेषाः ॥ ५ ॥ सन्निपातश्वयथुः सर्ववर्णवेदनः ॥ ६ ॥

इनमें वायुका शोथ कुछ लाल अथवा काला होता है नरम और चलायमान होताहै और शूल (चमक) आदिकी वेदना विशेष होती है ॥ ३ ॥ पित्तका शोथ पीला, लाल और शीघ्र फैलनेवाला होता है, गरमी (दाह) और चोष (चूसनेकीसी व्यथा) इत्यादि वेदना विशेष उसमें होती हैं ॥ ४ ॥ कफका शोथ कुछ पीला सुपेद, चिकना, कडा, शीतल, मंद फैलनेवाला होता है और खाज आदि उसमें वेदना विशेष होती हैं ॥ ५ ॥ सन्निपातका शोथ सब रंगका और सबकेसी वेदनावाला होता है ॥ ६ ॥

विषज शोथ ।

विषनिमित्तस्तु गरोपयोगाद्दुष्टतोयसेवनात्प्रकोथोदकावगाहनात्सविषसत्त्वदिग्धचूर्णेनावचूर्णनाद्वा सविषमूत्रपुरीषशुक्रस्पृष्टानां तृणकाष्ठादीनां संस्पर्शनात्स तु मृदुः क्षिप्रोत्थानोऽवलंबी चलो वा दाहपाकप्रायश्च भवति ॥ ७ ॥ भवन्ति चात्र–

विषजनित शोथ विषके उपयोगसे, दूषित जलके सेवनसे, सडे हुए जलमें स्नान करनेसे, विषके सत्त्वयुक्त चूर्ण शरीर पर लगनेसे, विषैले जंतुके विषयुक्त मूत्र, विष्ठा, वीर्य आदिसे सनेहुए तृण, काष्ठ आदिके स्पर्शसे (भल्लातक (भिलावें)का तैल, धुवाँ आदि लगजानेसे) शोथ उत्पन्न होजाता है यह कोमल और शीघ्रही उठनेवाला और अवलंबी (अवलंबन करनेवाला) अर्थात् जबतक उस विषका प्रभाव रहे

(वा० ७) अवलंबी अवलंबनशीलः आश्रयीभूतः । प्रकोथः पूतिभावः । सविषकीटादिकोथप्रकुपितोदकस्नानात् हस्तपादप्रक्षालनाद्वा ।

तबतक रहनेवाला और चलायमान होता है तथा इसमें दाह (जलन) और पकाव भी होजाया करता है ॥ ७ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

स्थानभेदसे शोथकारक दोष ।

दोषाः श्वयथुमूर्द्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ पक्काशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः ॥ कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ ८ ॥

यदि आमाशयमें इसके कारणरूप दोष हों तो ऊपरके शरीर मुख आदिमें शोथ करते हैं और पक्वाशयमें हों तो मध्यमें (धडमें) सोजा करते हैं और मलाशयमें हों तो नीचेके शरीर (पावों) में शोथ पैदा करते हैं तथा सब शरीरमें व्याप्त हों तो समस्त शरीरमें सोजा उत्पन्न करते हैं ॥ ८ ॥

शोथकी कष्टसाध्यता और असाध्यता ।

श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः ॥ अर्द्धांगेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्द्ध्वं परिसर्पति ॥ ९ ॥ श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः ॥ हिक्कातीसारकासश्च शूनं संक्षपयंति हि ॥ १० ॥ सामान्यतो विशेषाच्च तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ ११ ॥

जो सोजा मध्य देश (हृदय, गुदा आदि) में हो अथवा सब शरीरमें हो वह कष्टसाध्य है तथा जो आधे अंगमें (दाहिनेमेंही या बायेंमेंही) हो अथवा नीचेसे ऊपरको गमन करनेवाला हो वह अरिष्ट अर्थात् असाध्य होता है ॥ ९ ॥ जिस शोथ रोगवालेके श्वास हो, तृषा हो, दुबलापन हो, ज्वर हो, वमन होता हो, अरुचि हो, हिचकी हो, अतीसार हो तथा खांसी हो तो वह शोथरोगी मृत्युको प्राप्त होवे ॥ ॥ १० ॥ अब अगाडी सामान्यतासे और विशेषतासे इन सबकी औषधि वर्णन करते हैं ॥ ११ ॥

शोथरोगमें पथ्य ।

शोफिनः सर्व एव परिहरेयुरम्ललवणदधिगुडवसापयस्तैलघृतपिष्टमयगुरूणि ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शोथरोगवाले इतनी वस्तु त्याग देवें-अम्ल (खटाई), लवण (खारी लवण), दही, गुड (नया गुड), वसा (चरबी), दूध, तैल, घृत पिट्ठीके पदार्थ और गरिष्ठ पदार्थ (जैसे अरवी आदि) ॥ १२ ॥

(वा० ९) यश्चोर्ध्वंपरिसर्पति सतु पुरुषं क्षपयति नारीतु यश्चाधः परिसर्पतीति । तदुक्तं भावप्रकाशे वंगसंग्रहे च-"ऊर्ध्वगामी नर पद्भ्यामधोगामी तथा स्त्रियम्" इति ।

वातजादि शोथोंकी चिकित्सा ।

तत्र वातश्वयथौ त्रैवृतमैरंडतैलं वा मासमर्द्धमासं वा पाययेत् । न्यग्रोधादिकषायसिद्धं सर्पिः पित्तश्वयथौ । आरग्वधादिसिद्धं श्लेष्मश्वयथौ । सन्निपातश्वयथौ स्नुहीक्षीरपात्रं द्वादशभिरम्लपात्रैः प्रतिसंसृष्टं दंतीप्रतीवापं सर्पिः पाचयित्वा पाययेत् । विषनिमित्ते शोफे कल्पेषु प्रतीकारः ॥ १३ ॥

तहाँ वायुके शोथमें त्रिवृत तैल अथवा अरंडका तैल महीनेभरतक या पंद्रह दिनतक पिलावे । पित्तके शोथमें न्यग्रोधादिकके क्वाथसे सिद्ध किया घृत पिलावे। कफके शोथमें आरग्वधादिसे सिद्ध कियाहुआ घृत पान करावे । सन्निपातके शोथमें थोहरका दूध एक पात्र और कांजी बारह पात्र तथा दंती डालकर सिद्ध किये घृतका पान करावे । विषके शोथका यत्न अगाडी कल्पस्थानमें वर्णन किया जावेगा ॥ १३ ॥

शोथकी सामान्य चिकित्सा ।

अथातः सामान्यचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥ तिल्वकघृतचतुर्थानि यान्युक्तान्युदरेषु तु ततोन्यतममुपयुज्यमानं श्वयथुमुपहंति । मूत्रवर्तिक्रियां वा सेवयेत् । नवायसं वाहरहर्मधुना विडंगातिविषाकुटजफलभद्रदारुनागरमरिचचूर्णं वा धरणमुष्णांबुना त्रिकटुक्षारायश्चूर्णानि वा त्रिफलाकषायेण मूत्रं वा तुल्यक्षीरं हरीतकीं वा तुल्यगुडामुपयुंजीत ॥ १५ ॥

अब यहांसे अगाडी हम शोथरोगकी सामान्य औषधें वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥ उदररोगोंमें जो तीन घृत वर्णन किये (१ "हरीतकीचूर्ण" आदि, २ "गव्ये पयसि महावृक्षक्षीर" आदि ३ "चव्यचित्रक" आदि) और चौथा तिल्वकघृत (वातव्याधिकथित) इनमेंसे कोईसा उपयोग करनेसे शोथको हरता है अथवा मूत्रवर्तिकी क्रिया (जो उदररोगोंमें कही है) सेवन करे अथवा नवायसलोह (जो प्रमेहपिडिकामें कहा है) शहतके साथ नित्य सेवन करे अथवा विडंग, अतीस, इंद्रजौ, देवदारु, सोंठ,

(गद्य १५) तिल्वकघृतचतुर्थानीति-"हरीतकीचूर्णप्रस्थ" इत्यादिना एकम् । "गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरे" इत्यादिना द्वितीयम् । "चव्यचित्रक" इत्यादिना तृतीयमेतान्युदररोगोक्तानि त्रीणि चतुर्थं तु तिल्वकघृतं वातव्याध्युक्तमित्यर्थः । मूत्रवर्तिरपि चोदररोगोक्ता । नवायसं प्रमेहपिडिकाचिकित्सिते पठितम् (इति निबंधसंग्रहः)

मिरच इन सबको समान भाग ले चूर्णकर धरण (टंक) प्रमाण गरम जलके साथ खावे अथवा सोंठ, मिरच, पीपल, यवक्षार, लोहचूर्ण इन्हें त्रिफलाके काथके साथ सेवनकरे अथवा गोमूत्रमें बराबर दूध मिलाकर पीवे अथवा बडी हरडेकी छालके चूर्णकर समान भाग पुराना गुड मिलाकर नित्य उपयोग करे ॥ १५ ॥

देवदारुं शुंठीं वा गुग्गुलं वा मूत्रेण वर्षाभूकषायानुपानं वा तुल्यगुडं शृंगवेरं वा वर्षाभूकषायं मूलकल्कं वा शृंगवेरं वा पयोनुपानमहरहर्मासं व्योषवर्षाभूकषायसिद्धेन वा सर्पिषा मुद्गोलुंबान्भक्षयेत् ॥ १६ ॥ पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकमयूरवर्षाभूसिद्धं वा क्षीरं पिबेन्महौषधमुरंगीमूलसिद्धं वा त्रिकटुकैरंडमूलश्यामामूलसिद्धं वा वर्षाभूशृंगवेरसहादेवदारुसिद्धं वा तथालाबूविभीतकफलकल्कं वा तंडुलाम्बुना ॥ १७ ॥

देवदारु और सोंठ (सुखोष्ण जलसे) पीवे अथवा गुग्गुलको गोमूत्रके संग पीवे अथवा सोंठ या अदरखमें पुराना गुड समान भाग मिलाकर सांठीके काथसे पीवे अथवा केवल सांठीका काथही पीवे अथवा पिप्पलीमूलका कल्क बनाकर पीवे अथवा प्रतिदिन एक मास तक सोंठ (या अदरख) खाकर (या चूर्ण फांकके दूध पीवे अथवा त्रिकटु और सांठी इनके काथसे सिद्ध किये हुए घृतके साथ मूँगकी उलुंबी (भुनी मूँग) खावे ॥ १६ ॥ अथवा पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, मयूर (अपामार्ग) सांठी इनसे सिद्ध किया दूध पीवे अथवा सोंठ, मुरंगी (सहँजना) की जड इनसे पकाया हुआ दूध पीवे अथवा त्रिकटु, अरंडकी जड, निसोथमूल इनसे पकाया हुआ दूध पीवे अथवा सांठी, अदरख, सहा (पृश्निपर्णी), देवदारु इनसे सिद्ध किया दूध पीवे तथा घीया और बहेडेके फलका कल्क चावलोंके जलसे पीवे ॥ १७ ॥

(वक्तव्य) इन पूर्वोक्त योगोंको सामान्यसे वातजादि सभी शोथोंमें उपयोग न करे किन्तु जिस दोषका शोथ हो उसीके नाशक योगका उसमें उपयोग करे जैसे अंतका योग जो चावलोंके जलके साथ पीनेको कहाहै वह पित्तज शोथका है इसीप्रकार अन्योंको भी विचार लेवे ॥

क्षारपिप्पलीमरिचशृंगवेरानुसिद्धेन च मुद्गयूषेणालवणेनाल्पस्ने-

---

(गद्य १६) मुद्गोलुंबान् भृष्टान् मुद्गान् (इति डल्लनः) अन्ये तु मुद्गकृतकुल्माषान् इत्याहुः ।
(गद्य १७) मयूरो अपामार्गः । क्षीरं सर्वत्र गव्यं योज्यम् ।

हेन भोजयेद्यवान्नं गोधूमान्नं वा वृक्षकार्कनक्तमालनिंबवर्षाभूक्वाथैश्च परिषेकः सर्षपसौवर्चलसैंधवशार्ङ्गेष्ठाभिश्च प्रदेहः कार्यः ॥ ॥ १८ ॥ यथादोषं च विरेचनास्थापनानि तीक्ष्णान्यजस्रमुपसेवेत स्नेहस्वेदोपनाहांश्च शिराभिश्चाभीक्ष्णं शोणितमवसेचयेदन्यत्रोपद्रवशोफादिति ॥ १९ ॥ भवति चात्र--

जवाखार, पिप्पली, मिरच, अदरख ये डालकर बनाये हुए अलोने मूँगके यूष जिसमें थोडीसी चिकनाई हो उसके संग जव अथवा गेहूंका भोजन करावे और कुडा, आक, करंज, निंब, सांठी इनके क्वाथसे परिषेक करे (तरडेदे) तथा सरसों, सौवर्चल (सुर्यावर्त या सोंचर नोन), सेंधा नमक, शार्ङ्गेष्ठा (काकजंघा) इनका लेप करे ॥ १८ ॥ और दोषोंके अनुसार वारंवार तीक्ष्ण विरेचन और आस्थापन करावे तथा स्नेहन, स्वेदन और उपनाहन भी करावे तथा शिरावेध कराके वारंवार रुधिर (थोडा थोडा) निकलवावे परन्तु औपद्रविक शोथ न हो तो (और यदि औपद्रविक शोथ हो तो उसका यथोक्त यत्न करे) ॥ १९ ॥ इस विषयमें श्लोक है–

पिष्टान्नमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमजांगलं च ॥
स्त्रियो घृतं तैलपयोगुरूणि शोफं जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥ २० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

पिट्ठीके पदार्थ, खटाई, नमक (सब प्रकारके), मदिरा, मिट्टी, दिनमें सोना, जंगली जीवोंसे अन्य मांस, स्त्रीसेवन, घृत, तैल, दूध, गरिष्ठ पदार्थ इतने वस्तुओंको शोथ नष्ट करनेकी इच्छावाला मनुष्य अवश्य त्याग देवे ॥ २० ॥

(वक्तव्य) यही पथ्य पहले वर्णन होचुके फिर क्यों कहे इसका कारण यह है कि दृढताद्योतनार्थ फिर वर्णन किये हैं कि अवश्यमेव त्याग करे ॥

इति पं० मुरलीधरशर्म वि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः २४.

अथातोऽनागतबाधाप्रतिषेधनीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम अनागतबाधा (विना आये हुए रोग) के प्रतिषेध (रोकने) की विधिरूप चिकित्सा (वरताव) का व्याख्यान करते हैं अर्थात् इस प्रकारके नियमों और वरतावका उपदेश करते हैं कि जिनके करते रहनेसे कोई व्याधि होवेही नहीं ।

दिनचर्य्या ।

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनाऽऽरोग्यमिच्छता ॥
धीमता यदनुष्ठेयं तत्सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥ १ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल उठतेही आरोग्यताकी इच्छा रखनेवाले स्वस्थ बुद्धिमान मनुष्यको जो जो वरताव करने चाहिये उन सबका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

अथ परिशिष्टम् ।

श्लोक-ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्धयेत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ॥
तत्र सर्वाघशांत्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम् ॥ १ ॥

अर्थ-ब्राह्म मुहूर्त (अरुणोदयसे पूर्व दण्डद्वयात्मक काल) में स्वस्थ मनुष्यको अपनी आयुकी रक्षाके लिये जाग उठना चाहिये और उस समय समस्त पापोंकी शांतिके लिये ईश्वरका स्मरण करना उचित है ॥ १ ॥

मलोत्सर्गविधि ।

श्लोक-आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम् ॥
तदंत्रकूजनाध्मानोदरगौरववारणम् ॥ २ ॥

अर्थ-सवेरेही मलादिक (मलमूत्र) का त्याग करना आयु (और स्वस्थता) बढानेवाला है और आंतोंकी गुडगुडाहट तथा पेट फूलने और उदररोग तथा भारीपना इनको दूर करता है ॥ २ ॥

श्लोक-गुदादिमलमार्गाणां शौचं कांतिबलप्रदम् ॥ पवित्रकरमायुष्यमलक्ष्मीकलिपापहृत् ॥ ३ ॥ प्रक्षालनं मतं पाण्योः पादयोः शुद्धिकारकम् ॥ मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं तापनाशनम् ॥ ४ ॥

अर्थ-मलत्याग करके गुदा आदि मलमार्गोंको खूब साफ करके धोना चाहिये इससे कांति (उज्ज्वलता) होती है और बल होता है तथा पवित्रकारक और आयु बढाता है दरिद्र, क्लेश और पापका नाश होता है ॥ ३ ॥ इसके पीछे (गुदलिंग आदिके प्रक्षालन पीछे) हाथों और पावोंको भी खूब मलकर धोना (साफ करना) चाहिये यह हाथ और पावोंका धोना शुद्धिकारक है, मल (मैल), श्रम (थकान) इनका नाशक है और वृष्य (पुरुषार्थ देनेवाला) है, नेत्रोंको हित है और ताप (संताप-गरमी) का नाशक है ॥ ४ ॥

(श्लो० १) उत्थायोत्थाय इति वीप्साया प्रत्यहमितिकर्तव्यताख्यापनायेत्येके । अन्ये तु उत्थायेति अभियोज्यार्थः अभितो योगमभिसंयोगं कृत्वा । अभियोग उद्यमः । सततं निरंतरम् । अहरहरित्यर्थः (इति नि. सं.)

मलादिवेग रोकनेके दोष ।

श्लोक–आटोपशूलौ परिकर्तिका च संगः पुरीषस्य तथोर्द्ध्ववातः ॥ पुरीषमार्गादथवा निरेति पुरीषवेगे निहते नरस्य ॥ ५ ॥ वातमूत्रपुरीषाणां संगो ध्मानं क्लमो रुजा ॥ जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ ६ ॥ बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ॥ विनामो वंक्षणानाहः स्याल्लिंगं मूत्रनिग्रहे ॥ ७ ॥

अर्थ–पुरीष (दस्त)के रोकनेमें इतने अवगुण होते हैं आटोप (पेट अफरना), शूल, परिकर्तिका (कतरनीसे काटनेके समान पीडा) तथा मलका रुकजाना, ऊर्द्ध्ववात (वायु प्रतिलोम होकर ऊपरको चढना) तथा मलमार्गसे मलका साफ न निकलना इत्यादि ॥ ५ ॥ अधोवायुके रोकनेसे इतने अवगुण होते हैं–वायुका रुकजाना, मूत्र रुकना, मल रुकजाना, पेट फूलजाना, क्लम (ग्लानि) होना, दरद होना तथा पेटमें और भी वायुके विकार होजाना ॥ ६ ॥ मूत्रके रोकनेसे इतने अवगुण होते हैं–वस्ति और लिंगमें पीडा, मूत्रकृच्छ्र, शिरमें दरद, नलोंका नवना, वंक्षणमें अफारा (इससे इनके वेगोंको कभी न रोके) ॥ ७ ॥

इति पारिशिष्टम् ।

दंतकाष्ठविधिः ।

तत्रादौ दंतपवनं द्वादशांगुलमायतम् ॥ कनिष्ठिकापरिणाहमृज्वग्रथितमव्रणम् ॥ २ ॥ अयुग्मग्रंथि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम् ॥ अवेक्ष्यर्तुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत् ॥ कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः ॥ ३ ॥

'तत्रादौ'–(अर्थात् प्रभात उठकर मलत्यागादि आवश्यक कार्य करके) सबसे पहले दन्तधावन (दतौन) करना चाहिये दतौन बारह अंगुलके अनुमान लंबी और कनिष्ठिका अंगुली जैसी मोटी, कोमल, गांठोंसे रहित आर व्रण (कखोडर) से भी रहित (साफ) चाहिये ॥ २ ॥ तथा अगाडीसे दुशाखी और गठुलेवाली न हो तथा श्रेष्ठ भूमिमें उत्पन्न हुए वृक्षकी होवे ऐसी दतौनको ऋतु और दोष तथा रस और वीर्य विचारकर या तो कसेले वृक्षकी हो या मीठे वृक्षकी या कडवे वृक्षकी या चरपरे वृक्षकी हो उससे प्रभात उठकर दंतधावन करे ॥ ३ ॥

निंबश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करंजः कटुके तथा ॥ ४ ॥

(श्लो० २) दंतपवनं दंतधावनं कुर्यादिति शेषेणान्वयः ।

भिल्लोदककषाय अंतर्मुखप्रक्षालनको कहते हैं—देखो टिप्पणी । और कई कहते हैं कि धूपसे गरम किया हुआ जल ठंढा होनेपर भिल्लोदककषाय कहाता है) और आंवलोंके काथसे दोनों नेत्रोंको (छाटा दे देकर) धोवे अथवा स्वस्थ मनुष्य ठंढे जलसे मुख और नेत्रोंको धोवे ॥ १२ ॥ इससे (मुख धोनेसे) काले २ धब्बे, मुखकी खुश्की, छोटी फुन्सियां (मुहासे) और झाईं तथा रक्तपित्तके रोग शीघ्र नष्ट होजाते हैं और मुख हलका (साफ) दीखने लगता है तथा नेत्र धोनेसे दृष्टि दृढ होती है ॥ १३ ॥

(वक्तव्य) ' क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः ' इन पदोंको कई पूर्वोक्त गंडूषधारणके संग लगाते हैं अर्थात् क्षीरवृक्षोंके काथसे तथा उसमें दूध मिलाकर कुल्ले करना ॥

नत्रांजन ।

मतं स्रोतोंजनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिंधुसंभवम् ॥ दाहकंडूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम् ॥१४॥ अक्ष्णो रूपावहं चैव सहते मारुतातपौ॥ न नेत्ररोगा जायंते तस्मादंजनमाचरेत् ॥ १५ ॥

मुख धोकर पीछे नेत्रोंमें अंजन लगाना चाहिये इसके लिये सिंधु नदीका उत्पन्न हुआ निर्मल स्रोतोंजन अर्थात् सुरमा श्रेष्ठ है यह दाह, खाज और नेत्रोंके मैलको नष्ट करता है तथा दृष्टिके क्लेद और रोगोंको भी नष्ट करता है ॥ १४ ॥ नेत्रोंको सुरूप(सुंदर) करता है तथा वायु और धूपकी सहनशक्ति नेत्रोंमें होजाती है और नेत्रमें रोग नहीं पैदा होते इससे नित्य अंजन लगाना चाहिये ॥ १५ ॥

अंजनका निषेध ।

भुक्तवाञ्छिरसा स्नातः श्रांतश्छर्दनवाहनैः ॥
रात्रौ जागरितश्चापि नांज्योऽज्वरित एव च ॥ १६ ॥

भोजन करके, शिरसे स्नान करते ही, वमन और वाहनसे थकेहुएको, रातके जागे हुएको और ज्वरवालेको अंजन (सुरमा) लगाना उचित नहीं ॥ १६ ॥

तांबूलभक्षण ।

कर्पूरजातिकंकोललवंगखदिराह्वयैः ॥ सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं तांबूलजं शुभम् ॥ १७ ॥ मुखवैशद्यसौगंध्यकांतिसौष्ठवकारकम्॥ हनुदंतस्वरमलजिह्वेंद्रियविशोधनम् ॥ १८ ॥ प्रसेकशमनं हृद्यं

(श्लो०१५) तदजनम् अक्ष्णोः रूपावह तथा मारुतातपौ सहते अंजनप्रभावात् नेत्रयोर्मारुतातपसहनशक्तिरुत्पद्यते इत्यर्थः ।

गलामयविनाशनम् ॥ पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वांते च मानवे ॥ १९ ॥

अंजन लगाकर तांबूल (पान) खाना चाहिये । कपूर (भीमसेनी कपूर), जायफलशीतलचीनी, लवंग और खदिर (कत्था), चूना, सुपारी इन सबको पानमें डालकर खाना श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥ पान खाना मुखमें विशदता (सफाई), सुगंध, कांति और सुन्दरता करता है तथा हनु (जावडे), दांत और स्वर (कंठस्वर) तथा मुखके मैल और जिह्वा इंद्रिय इनको शुद्ध करता है ॥ १८ ॥ मुखसे राल बहनेकी शांति करता है, हृदयको हित है, गलके रोगोंको नाश करता है । पान खाना इतने समय पथ्य है-प्रथम सोते उठके, भोजन करके, स्नान करके, वमनके पीछे। "खदिराह्वयैः" की जगह कई ' कटुकाह्वयैः ' पाठ मानते हैं ॥ १९ ॥

परिशिष्ट (भावप्रकाशोक्त)

श्लोक-प्रभाते पूगमधिकं मध्याह्ने खदिरं तथा ॥ निशासु चूर्णमधिकं तांबूलं भक्षयेत्सदा ॥ १ ॥ आयुरग्रे यशो मूले लक्ष्मी मध्ये व्यवस्थिता ॥ तस्मादग्रं तथा मूलं मध्यं पर्णस्य वर्जयेत् ॥ २ ॥ पर्णमूले भवेद्व्याधिः पर्णाग्रे पापसंभवः ॥ पर्णचूर्णं हरत्यायुः शिरा बुद्धिविनाशिनी ॥ ३ ॥ आद्यं विषोपमं पीतं द्वितीयं भेदि दुर्जरम् ॥ तृतीयादि तु पातव्यं सुधातुल्यं रसायनम् ॥ ४ ॥

अर्थ-प्रभात पान खानेमें सुपारी ज्यादा रखनी और मध्याह्नमें कत्था ज्यादा लगाना, रातके समय चूना ज्यादा लगाना इस भांति सदा पान खाना चाहिये॥१॥ पानके अग्र (नोक) में आयु और मूल (डंठलकी जड) में यश और बीच डंठलमें लक्ष्मी रहती है इसलिये नोक, जड और डंठल निकाल देने चाहिये ॥२॥ पानके मूलमें व्याधि है और नोंकमें पाप तथा पानका चूरा आयु घटाता है और शिरा (नसें) बुद्धिको नष्ट करती हैं इससे इन्हें त्यागे ॥ ३ ॥ और प्रथमकी पीक विषके समान होती है (तीक्ष्ण गरम होती है) दूसरी भेदन करनेवाली तथा दुर्जर है इसके पीछे तीसरीको आदि लेकर सब पीक निगलनी चाहिये वे अमृतके तुल्य रसायन हैं ॥ ४ ॥

तांबूलका निषेध ।

रक्तपीतक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम् ॥
रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम्॥ २० ॥

रक्तपित्तके रोगवाले, क्षतक्षीण मनुष्य, तृषायुक्त, मूर्च्छावाले, रूक्ष, दुर्बल और जिनके मुखमें खुश्की है ऐसे मनुष्योंको पान खाना हित नहीं ॥ २० ॥

शिरमें तैल लगानेके गुण ।

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोऽभ्यंगोऽपकर्षति॥ केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णता ॥ २१ ॥ करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्त्वमपि चालनम् ॥ संतर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम् ॥२२॥

शिरमें तैल लगाना शिरके रोगोंको दूर करता है तथा बालोंको नरम करता है और बढाता है तथा बाल अधिक पैदा करके घिनके करता है और चिकने और काले करता है ॥ २१ ॥ शिर (दिमाग) की तृप्ति करता है तथा शिरकी त्वचाको सुन्दर करता है और (रक्तादिका) संचार करता है, समस्त इंद्रियों (नाक, कान, नेत्र आदि) को भी तृप्त करता है तथा शिरको पूरण करता है ॥ २२ ॥

शिरमें लगानेका तैल ।

मधुकं क्षीरशुक्ला च सरलं देवदारु च ॥ क्षुद्रकं पंचनामानं समभागानि संहरेत् ॥ २३ ॥ तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ॥ सदैव शीतलं जंतोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत् ॥ २४ ॥

मुलेठी, क्षीरविदारी, सरल, देवदारु, लघुपंचमूल इन सबको समभाग लेवे ॥ २३ ॥ इनके क्काथ और कल्कमें चक्रतैल (कोल्हूका पिरा हुआ सुपेद तिलका तैल) पकावे फिर उसे ठंढा करके रख छोडे इसीमेंसे सदा शिरमें लगावे ॥ २४ ॥

कंघी करना और कर्णपूरण ।

केशप्रसाधनी केश्या रजोजंतुमलापहा ॥ २५ ॥
हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥ २६ ॥

केशप्रसाधनी (कंघी करना) केशोंको हित है, धूलि, जन्तु (जूँ आदि) और मैल दूर करती है ॥ २५ ॥ कानोंमें तैलके टपके डालना ठोडी, मन्या, शिर और कानके दर्दको नाश करता है ॥ २६ ॥

स्नेहाभ्यंग और सेक तथा स्नेहावगाहन ।

अभ्यंगो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः ॥ धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णवलप्रदः ॥२७॥ सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसंधिप्रसाधकः॥ क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥ २८ ॥ जलसिक्तस्य

(श्लो० २७) मृजा शुद्धिः । (श्लो० २८) सेकः सेचन धारादिभिः । अभिहतः लकुटादिभिर्हतः।

वर्द्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः ॥ तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ २९ ॥ शिरामुखै रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन् ॥ शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोवगाहने ॥ ३० ॥ तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित्॥तैलं घृतं वा मतिमान्युंज्यादभ्यंगसेकयोः ॥३१॥

शरीर पर स्नेहका मर्दन करना शरीरको मुलायम करता है तथा कफ और वायुको रोकता है, धातुओंको पुष्ट करता है, शुद्धि रूप और बलका देनेवाला है॥२७॥ चिकनाईके तरडे देने श्रम और वायुको नाश करतेहैं, टूटी हुई संधिको जोडते हैं, क्षत (जखम) और अग्निदग्धको हित है तथा चोट और शरीर घिस गया हो (रगडा लगा हो) उसकी पीडाको शांत करता है ॥ २८ ॥ जैसे वृक्षकी जडमें जल सींचनेसे उसके डाली पत्तोंके अंकुर बढते हैं इसी प्रकार स्नेहके सींचे हुए मनुष्यका धातु बढता है ॥ २९ ॥ और स्नेहकी द्रोणी (बालटी) भरकर उसमें बैठकर उसीसे स्नान करना शिराओंके मुखद्वारा, रोमकूपोंके द्वारा और धमनियोंके द्वारा तृप्ति करके शरीमें बल करता है ॥ ३० ॥ इसमें प्रकृतिसात्म्य अर्थात् माफकता ऋतु, देश और दोष तथा विकार (रोग) इन सबको जानकर बुद्धिमान् वैद्य मर्दन करने तथा सेचन करनेमें तैल अथवा घृत जहां जैसा उचित हो उपयोग करे ॥ ३१ ॥

स्नेहाभ्यंगका निषेध ।

केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत् ॥ तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथंचन ॥ ३२ ॥ तथा विरिक्तो वांतश्च निरूढो यश्च मानवः ॥ पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥३३॥ शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमांद्यादयो गदाः ॥ संतर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत् ॥ ३४ ॥

आम सहित दोषोंमें केवल स्नेहका उपयोग करना उचित नहीं तथा तरुणज्वरवाले और अजीर्णवालेको भी तैलाभ्यंग नहीं करना ॥ ३२ ॥ विरेचनके पीछे, वमनके पीछे और निरूहणवास्तिके पीछे भी तैलमर्दन उचित नहीं क्योंकि ऐसा करनेसे पूर्वोक्त तरुणज्वर और अजीर्णवालेकी व्याधि कष्टसाध्य अथवा असाध्य होजाती है ॥ ३३ ॥ शेष अर्थात् (विरेचन किया वांत और निरूढ) इनको उसी

(श्लो० ३३ । ३४) पूर्वयो॰ तरुणज्वराजीर्णिनोः । शेषाणा विरिक्तादीनाम् (इति नि० सं०)

दिन मंदाग्नि आदि रोग हो जाते हैं तथा संतर्पणसे पैदा हुए रोगोंमें भी स्नेहाभ्यंगादि अनुचित हैं इससे कराने नहीं चाहिये ॥ ३४ ॥

व्यायाम करनेके गुण ।

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम् ॥ तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात्समंततः ॥ ३५ ॥ शरीरोपचयः कांतिर्गात्राणां सुविभक्तता ॥ दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥ ३६ ॥ श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ॥ आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥ ३७ ॥ न चास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षणम् ॥ न च व्यायामिनं मर्त्यं मर्दयंत्यरयो भयात् ॥३८॥ न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥ स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च ॥ ३९ ॥

शरीरको श्रम पैदा करनेवाले कर्मको व्यायाम कहते हैं उस व्यायाम अर्थात् दंड कसरतके करनेसे सुखपूर्वक शरीर सब तरफसे सुडौल हो जाता है ॥ ३५ ॥ शरीरकी वृद्धि और कांति होती है, सब अंगोंका सुन्दर विभाग होता है, जठराग्नि दीप्त होतीहै और आलस्य नष्ट होता है, स्थिरता, हलकापन और शुद्धि (शरीरके दोषोंकी शुद्धि) होती है ॥ ३६ ॥ परिश्रम, थकाव, प्यास तथा गरमी, सरदी आदिके सहनेकी शक्ति होती है तथा व्यायामसे परम आरोग्यता होती है ॥ ३७ ॥ स्थूलता (मुटापा) कम करनेके लिये इस व्यायामके तुल्य कोई यत्न नहीं है, व्यायामी (कसरती) बलवान् मनुष्यको भयसे शत्रु आक्रमण नहीं कर सकते (दुःख नही दे सकते) ॥ ३८ ॥ और एकाएक बुढापाभी व्यायामी पर जोर नहीं करता है और व्यायामवालेका मांसभी स्थिर कडा (मजबूत) होजाता है ॥ ३९ ॥

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च ॥ व्याधयो नोपसर्पंति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥४०॥ वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात्सुदर्शनम् ॥ ॥ ४१ ॥ व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ॥ विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते ॥ ४२ ॥ व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥ स च शीते वसंते च तेषां पथ्य-

(श्लो० ३६) उपचयः सम्यक्पुष्टिः (श्लो० ४०) पद्भ्यामुद्वर्तितस्येति—उद्वर्तनकृतस्येत्यर्थः । अन्ये तु पद्भ्यां चक्रमणकृतस्येति वदंति ।

तमः स्मृतः ॥ ४३ ॥ सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः ॥
बलस्यार्द्धेन कर्तव्यो व्यायामो हंत्यतोऽन्यथा ॥ ४४ ॥

व्यायामसे शरीर थकजावे तब पैरोंमें उबटन लगावे (या पैरोंमें मालिश करे) ऐसा करनेवालेके पास रोग नहीं आते जैसे सिंहके पास छोटे २ मृग नहीं आसकते ॥ ४० ॥ जो मनुष्य अवस्था, रूप और गुणोंसे हीन भी है उसको व्यायाम सुन्दर बना देता है ॥ ४१ ॥ नित्य व्यायाम करनेवालेके विरुद्ध भोजन किया हुआ, विदग्ध (जलाभुना), अविदग्ध (कच्चा रहा) सब निर्दोषतापूर्वक पच जाता है ॥ ४२ ॥ बलवान् और स्निग्ध भोजन करने (माल खाने) वाले (तथा श्रम न करनेवाले, बैठे या लेटे रहनेवाले अमीरों) को व्यायाम करना सदाही पथ्य है विशेष करके शीत ऋतु और वसंत ऋतुमें तो उन्हें व्यायाम अवश्य ही करना परम पथ्य और उचित है ॥ ४३ ॥ सब ऋतुवोंमें अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको आधे बलके अनुसार व्यायाम करना चाहिये अन्यथा अधिक व्यायाम हानि करता है (मनुष्यको नष्ट कर देता है) ॥ ४४ ॥

बलार्द्धका लक्षण और अन्य विचार ।

हृदिस्थाने स्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ॥ व्यायामं कुर्वतो जंतोस्तद्बलार्द्धस्य लक्षणम् ॥४५॥ वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च ॥ समीक्ष्य कुर्य्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

व्यायाम करते २ जब हृदयका वायु मुँहसे निकलने लगे अर्थात् दम चढजावे यही बलार्द्धका लक्षण है अर्थात् जबतक दम भर जावे तभीतक व्यायाम करना चाहिये अधिक नहीं ॥ ४५ ॥ और अवस्था, बल, शरीर, देश समय और भोजन इन सब बातोंको विचार कर व्यायाम भी उसके अनुसार करना चाहिये अन्यथा बीमारी पैदा कर देता है ॥ ४६ ॥

अतिव्यायामके दोष ।

क्षयस्तृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसंभवाः ॥ ४७ ॥

अति व्यायाम करनेसे क्षय, तृषा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, भ्रम, क्लम (थकाव), खांसी, शोष (शरीर सूख जाना या खुश्की), ज्वर तथा श्वास इतने रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४७ ॥

व्यायामका निषेध।

रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षतातुरः॥
भुक्तवान्स्त्रीषु च क्षीणो भ्रमार्तश्च विवर्जयेत्॥ ४८॥

रक्तपित्तवाला, दुर्बल शरीर, शोषका रोगी, श्वास, खांसी और उरःक्षत रोगवाला, भोजनके पीछे तथा जो स्त्रीसंगसे क्षीण होगया हो तथा भ्रमसे जो व्याधित हो इन्हें व्यायाम करना उचित नहीं॥ ४८॥

उबटन लगानेके गुण।

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम्॥ स्थिरीकरणमंगानां त्वक्प्रसादकरं परम्॥ शिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम्॥४९॥

उद्वर्तन (उबटन) करना वायुको हरनेवाला है, कफ और मेदको विलानेवाला है और अंगोंको स्थिर करनेवाला तथा त्वचाको परम प्रसन्न करनेवाला है। शिराके मखोंमें प्रविष्ट होकर विविक्तता करता है और त्वचाकी अग्निको उत्तेजित करनेवाला है॥ ४९॥

उद्धर्षण और उत्सादनके गुण।

उद्धर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम्॥५०॥ उत्सादनाद्भवेत्स्त्रीणां विशेषात्कांतिमद्वपुः॥ प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम्॥५१॥ उद्धर्षणं तु विज्ञेयं कंडूकोठानिलापहम्॥ ५२॥

उद्धर्षण अर्थात् मर्दन करना और उत्सादन (स्निग्ध चूर्णादि मलना) इनसे निःसन्देह आगे लिखेहुए लाभ होते हैं॥ ५०॥ उत्सादनसे विशेषकर स्त्रियोंका शरीर कांतियुक्त, प्रहर्ष, सुभगता, शुद्ध तथा लघुतासे युक्त होता है॥ ५१॥ उद्धर्षण करना खाज, कोठ (चकदे) और वायुको नाश करता है॥ ५२॥

(वक्तव्य) रुमाल या इस्पंज आदिसे शरीर रगडनेको उद्धर्षण कहते हैं और शरीरके मैल दूर करनेके लिये जो मसाला (साबुन आदि) लगाया जाता है उसको उत्सादन कहते हैं॥

इस्पंज और ईंटसे रगडनेके गुण।

ऊर्वोः संजनयत्याशु फेनकः स्थैर्यलाघवे॥ कण्डूकोठानिलस्तंभमलरोगापहश्च सः॥५३॥ तेजनं त्वग्गतस्याग्नेः शिरामुखविरेचनम्॥ उद्धर्षणं त्विष्टिकया कंडूकोठविनाशनम्॥ ५४॥

(श्लो० ५०) उद्घर्षणं फेनकेष्टिकादिना घर्षणम्। उत्सादनं सस्नेहकल्कादिनोद्घर्षणम् (इति डल्हनः)

फेनक (समंदरका झाग अथवा इस्पंज) से उद्धर्षण करना साथलोंमें स्थिरता और लघुता उत्पन्न करता है और खाज, कोढ तथा वायुको और स्तंभ मल और रोगोंका नाशक है ॥ ५३ ॥ ईंट या झामेंसे उद्धर्षण करना (रगडना) त्वचाकी अग्निको उत्तेजन करता है, शिराओं (रगों) का मुख खोलकर (स्वेदको) विरेचन करता है और कंडू तथा कोढको नाश करता है ॥ ५४ ॥

स्नानके गुण ।

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकंडूतृषापहम् ॥ हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविशोधनम् ॥ ५५ ॥ तंद्रापापोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्द्धनम् ॥ रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम् ॥ ५६ ॥

अभ्यंग उद्धर्षणादिके पीछे नित्य स्नान करना चाहिये । स्नानका करना निद्रा, दाह, श्रम (थकाव) को नाश करता है तथा पसीना, खाज और तृषाको नष्ट करता है हृदयको हित है, मल (मैल) को दूर करनेवाला श्रेष्ठ है, समस्त इंद्रियोंका शोधन करता है ॥ ५५ ॥ तंद्रा और पापका नाशक, तुष्टिका देनेवाला, पुरुषार्थ बढानेवाला, रुधिरको प्रसन्न (स्वच्छ) करनेवाला तथा जठराग्निका दीपन करनेवाला है ॥ ५६ ॥

उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा ॥ शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् ॥ काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ॥ ॥ ५८ ॥ अतिशीतांबु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम् ॥ अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्द्धनम् ॥ ५९ ॥

गरम जलसे शिरका स्नान करना सदा नेत्रोंको हानिकारक है और शीतल जलसे शिरका स्नान करना नेत्रोंको अत्यन्त लाभदायक है ॥ ५७ ॥ कफ और वायुके कोपमें व्याधिके बलाबलको विचारकर आवश्यकता होनेपर औषधीरूपक भेषजके लिये गरम जलसे भी शिरका स्नान कर सकते हैं ॥ ५८ ॥ अति ठंढा पानी शीत ऋतुमें कफ वायुका कोप करता है तथा अति गरम जल गरमीमें पित्त और रुधिरको बढाता है ॥ ५९ ॥

स्नानका निषेध ।

तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु ॥
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥ ६० ॥

स्नान करना अतिसारके रोगी, ज्वरवाले, कर्णशूल और वातव्याधिवाले, आध्मानवाले, अरुचिवाले, अजीर्णरोगवालेको तथा भोजन किये हुएको उचित नहीं ॥ ६० ॥

अनुलेपके गुण ।

सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्द्धनम् ॥ स्वेददौर्गंध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम् ॥ ६१ ॥ स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम् ॥ ६२ ॥

अनुलेपन (चंदनादि) लगाना सौभाग्य (सुभगता) देता है, वर्णको सुन्दर करताहै, प्रीति, ओज और बलको वढाता है, पसीना, दुर्गंध, विवर्णता, थकाव इन सबको दूर करता है ॥ ६१ ॥ जिन अवस्थाओंमें स्नान करना निषिद्ध है उन्हीं अवस्थाओंमें अनुलेप भी निषिद्ध है ॥ ६२ ॥

परिशिष्ट (भावप्रकाशोक्त)

श्लोक-कुंकुमं चंदनं चापि कृष्णागुरुविमिश्रितम् ॥ उष्णं वातकफध्वंसि शीतकाले तदिष्यते ॥ १ ॥ चंदनं घनसारेण वालकेन च मिश्रितम् ॥ सुगंधि परमं शीतमुष्णकाले प्रशस्यते ॥ २ ॥ चंदनं घुसृणोपेतं मृगनाभिसमन्वितम् ॥ न चोष्णं नच वा शीतं वर्षाकाले तदिष्यते ॥ ३ ॥

अर्थ-केशर, चंदन, कृष्ण अगुरसे मिला हुआ गरम है, वायु और कफको नाश करता है इससे यह शीत ऋतुमें लगाना चाहिये ॥ १ ॥ कपूर और वालछड मिला-हुआ चंदन परम सुगंधित और शीतल है यह उष्ण काल (गरमी) में लगाना चाहिये ॥ २ ॥ कपूर और कस्तूरी मिला हुआ चंदन न गरम है, न ठंढा है यह वर्षाकालमें लगाना चाहिये ॥ ३ ॥

रक्षोघ्नमर्थ्यं चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥
सुमनोंवररत्नानां धारणं प्रीतिवर्द्धनम् ॥ ६३ ॥

सुमन (पुष्पों) का और वस्त्रोंका तथा रत्नादिका धारण करना राक्षसों (दुर्जनों) का नाश करनेवाला है (अर्थात् अच्छे वस्त्रादि धारण किये मनुष्यसे दुर्जन दबजाते हैं) तथा ओज बढता है और सुभगता (सुन्दरताई) करता है तथा उत्तम है और प्रीतिको बढाता है, अच्छे वस्त्रादि धारण किये मनुष्यसे हरेक प्रीति करता है ॥ ६३ ॥

परिशिष्ट (भावप्रकाशोक्त)

श्लोक-कौशेयं चित्रवस्त्रं च रक्तवस्त्रं तथैव च ॥ वातश्लेष्महरं तत्तु शीतकाले विधारयेत् ॥ १ ॥ मेध्यं सुशीतं पित्तघ्नं कषायं वस्त्रमुच्यते ॥ तद्धारयेदुष्णकाले तत्रापि लघु शस्यते ॥ २ ॥ शुक्लं तु शुभदं वस्त्रं शीततापनिवारणम् ॥ न चोष्णं न च वा

शीतं तत्तु वर्षासु धारयेत् ॥ ३ ॥ कदाचिन्न जनैः सद्भिर्धार्यं मलिनमंबरम् ॥ तत्तु कंडूकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम् ॥ ४ ॥

अर्थ-कौशेय (रेशमी वस्त्र), चित्र वस्त्र (चित्र व्याघ्रादिचर्मनिर्मित जैसे पोस्तीन संजाब संमूर अथवा चित्रविचित्र रंगका वस्त्र) तथा रक्तवस्त्र ये वायु और कफके नाशक हैं इन्हें शीतकाल (सरदीकी ऋतु) में धारण करना चाहिये ॥१॥ कषाय (भगवां तथा शरबती संदली आदि रंगके) वस्त्र पवित्र शीतल पित्तनाशक है इन्हें गरमीकी ऋतुमें धारण करना चाहिये और ये भी हलके बारीक होवें ॥ २ ॥ सुपेद वस्त्र शुभ हैं, शीत और धूपको निवृत्त करते हैं, न गरम हैं, न शीतल हैं इन्हें वर्षा ऋतुमें धारण करे ॥ ३ ॥ सज्जन और शिष्ट पुरुषोंको कभी मैले कपडे पहरने उचित नहीं क्योंकि मैले कपडे खाज, कृमि (जूँ आदि) पैदा करते हैं तथा ग्लानिकारक हैं और दरिद्री करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

मुखालेपाद्दृढं चक्षुः पीनगंडं तथाननम् ॥ अव्यंगपिटकं कांतं भवत्यंबुजसन्निभम् ॥ ६४ ॥ पक्ष्मलं विशदं कांतममलोज्ज्वलमंडलम् ॥ नेत्रमंजनसंयोगाद्भवेच्चाऽमलतारकम् ॥ ६५ ॥ यशस्यं स्वर्ग्यमायुष्यं धनधान्यविवर्द्धनम् ॥ देवतातिथिविप्राणां पूजनं गोत्रवर्द्धनम् ॥ ६६ ॥

मुखमें आलेपन करनेसे (रुमाल आदिसे मलनेसे) नेत्र दृढ होते हैं, कपोल और मुख पुष्ट होते हैं, व्यंग और पिडिका नहीं होते तथा सुन्दर कमलके समान मुख होजाता है ॥६४॥ अंजनका नेत्रोंमें प्रयोग करनेसे पक्ष्म (पलकें) सुंदर होती- हैं, नेत्रमंडल उज्ज्वल, सुभग, निर्मल और स्वच्छ तारेके समान दृष्टि होती है (अथवा नेत्रोंका तिल स्वच्छ होता है)॥६५॥ देवता, अभ्यागत और ब्राह्मणोंका पूजन करना यशका देनेवाला, स्वर्गकी प्राप्ति करनेवाला, आयु बढानेवाला और धन धान्यकी वृद्धि करनेवाला और कुलका वृद्धिकारक होता है ॥ ६६ ॥

भोजन करनेके गुण ।

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः ॥
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोग्निविवर्द्धनः ॥ ६७ ॥

इसके पीछे भोजन करना चाहिये भोजन (आहार) तृप्तिकारक, तत्काल बल करनेवाला और देहको धारण करनेवाला है । आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और जठराग्निको बढाता है ॥ ६७ ॥

(श्लो० ६५) नेत्रांजनस्यायमप्यवसरस्तस्मादत्र पुनरुक्तिरदूषणीया ।

(वक्तव्य) आहार अर्थात् भोजनकी समस्त विधि और नियम सब विस्तारपूर्वक पहले सूत्रस्थानके ४६ वें अध्यायमें "आहारविधि" के वर्णनमें लिख चुके हैं वहां देखिये ॥

पादप्रक्षालन और पादाभ्यंगके गुण ।

पादप्रक्षालनं पादमलरोगश्रमापहम् ॥ चक्षुःप्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्द्धनम् ॥ ६८ ॥ निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत् ॥ पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यंगः सदा हितः ॥ ६९ ॥

भोजन करनेके पीछे पुनः पाँव धोने चाहिये यह पैरोंके मल तथा पैरोंके रोग और श्रमको दूर करता है तथा नेत्रोंको प्रसन्न करता है, वृष्य है, राक्षसोंको नाश करता है (धुले साफ पाँव और शरीरवालोंसे राक्षस दूर रहते हैं) और प्रीतिको बढाता है ॥ ६८ ॥ पावोंपर तैलाभ्यंग करना निद्राजनक, देहको सुखदायक, चक्षुवोंको लाभदायक श्रम और सुप्ति (सोना) इन्हें नाश करता है, पैरोंकी त्वचाको नरम करता है इससे सदा पादाभ्यंग करना हित है ॥ ६९ ॥

पादत्र धारणके गुण ।

पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्द्धनम् ॥ सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम् ॥ ७० ॥ अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत् ॥ पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चंक्रमणं नृणाम् ॥ ७१ ॥

फिरनेके समय पादत्र धारण करना (जूता पहरना) सदैव चाहिये, पादत्र धारण करना पावोंके रोगोंको दूर करता है (पैरोंमें रोग नहीं होने देता), वृष्य है, रक्षोघ्न है, प्रीतिका बढानेवाला है, चलनेमें सुख देता है ॥ ७० ॥ और विना जूता पहने नंगे पावोंसे फिरना आरोग्यता (तंदुरस्ती) को नष्ट करता है, आयुमें हानि करता है, नेत्रोंको विकारकारक है (इससे मनुष्यको अवश्य जूता पहनकर फिरना चाहिये) ॥ ७१ ॥

क्षौरादिके गुण ।

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ॥ हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्द्धनम् ॥ ७२ ॥

वाल, नख तथा अन्य स्थल रोमादिकोंका दूर करना पापको दूर करता है, हर्ष, लघुता और सुंदरता करनेवाला है और उत्साह बढाता है ॥ ७२ ॥

उष्णीषधारणके गुण ।

वाणवारं मृजावर्णतेजोबलविवर्द्धनम् ।

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोपहम् ॥ ७३ ॥

उष्णीष (पगडी) का बांधना बाण (तीर) की चोटसे (शिरको) बचाता है, शिरको शुद्ध रखता है (मैल नहीं भरने देता), वर्ण, तेज और बलको बढाता है, पवित्र है, केशोंको हित है और वायु, धूप और धूलिसे मूर्द्धाको बचाता है ॥७३॥

छत्र लगानेके गुण ।

वर्षानिलरजोधर्महिमादीनां निवारणम् ॥

वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शङ्करं छत्रधारणम् ॥ ७४ ॥

राजोंको छत्र धारण करना और लोगोंको छत्री लगाना वर्षा, वायु, धूलि और धूप तथा सरदी, बरफ आदिको निवारण करता है, रूपको सुंदर करनेवाला, नेत्रोंको हित, ओज बढानेवाला और सुखदायक है ॥ ७४ ॥

हाथम दंड लेनेके गुण ।

शुनः सरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम् ॥ श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते ॥७५॥सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्द्धनम्॥ अवष्टंभकरं चापि भयघ्नं दंडधारणम् ॥ ७६ ॥

लट्ठी अथवा छडी हाथमें रखना कुत्ते, सर्प, वृकादि तथा सींगवाले पशुओंसे बचाता है, श्रम (थकाव), स्खलन (काँपना-गिरना-लडखडाना) आदि दोषोंको नष्ट करता ह, विशेष करके वृद्ध मनुष्यको अवश्य लट्ठी रखनी श्रेष्ठ है (और किशोर अवस्थावाले तथा जवान मनुष्य लकडी पतली या सुरूप रक्खें) ॥ ७५॥ लकडी रखना सत्त्व, उत्साह, बल और स्थिरता, धीरता तथा पराक्रमको बढाताहै और धीरे चलना उत्पन्न करता है और भयको दूर करता है ॥ ७६ ॥

स्थिति और पर्यटनके गुण ।

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यकरी सुखा ॥ अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्य्यविनाशनः ॥ अत्यध्वा विपरीतोस्मात्जरादौर्बल्यकृच्च सः ॥ ७७ ॥ यत्तु चंक्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत् ॥ तदायुर्बलमेधाग्निप्रदामद्रियबोधनम् ॥७८॥श्रमानिलहरं वृष्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम् ॥ सुखं शय्यासनं दुःखं विपरीतगुणं मतम् ॥ ७९ ॥

(श्लो० ७५ । ७६) स्खलन पतनं तद्दोषघ्नमिति च । स्थविरः प्रौढः वृद्धश्च । अवष्टंभकरं प्लुतगेतरवरोधकरं गतेः सौष्ठवकारकमित्यर्थः ।

आस्या (स्थिति अर्थात् बैठे रहना) वर्ण (रूप), कफ, स्थूलता और सुकुमारता (नाजुकपना) को उत्पन्न करता है और मार्ग चलना वर्ण (रूप), कफ, स्थूलता और सुकुमारताको नष्ट करता है और विशेष मार्ग चलना इसके विपरीत बुढापा और दुर्बलता करता है ॥ ७७ ॥ और जो चंक्रमण (अर्थात् चहल कदमी) करना शरीरको अधिक पीडा न दे वह आयु, बल और बुद्धिको देनेवाला है तथा जठराग्निका वर्द्धन करता है और सब इंद्रियोंका बोधन करता है ॥ ॥ ७८ ॥ सुखदायक शय्या (अच्छा पलँग) और उसपर लेटना श्रम, वायुका नाशक है तथा वृष्य है, पुष्टि, निद्रा और धृति (धारणशक्ति) देता है और दुःखदायक खटोली इससे विपरीत अवगुण देती है ॥ ७९ ॥

बालव्यजन और व्यजनकी वायुके गुण ।

बालव्यजनमोजस्यं मक्षिकादीनपोहति ॥
शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नो व्यजनानिलः ॥ ८० ॥

बालव्यजन (चँवर करना) ओजको बढाता है और मक्खी मच्छर आदिको दूर करता है । पंखेका पवन शुष्कता, दाह, परिश्रम, पसीना और मूर्च्छाको नाश करता है ॥ ८० ॥

संवाहनके गुण ।

प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम् ॥
संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम् ॥ ८१ ॥

संवाहन (हाथ, पाँव, कमरका दबवाना) प्रीति (आनन्द) और निद्राका करनेवाला तथा वृष्य है, कफ, वायु और परिश्रमको दूर करता है तथा मांस रक्त और त्वचाको प्रसन्न करता है, सुखकारक होता है ॥ ८१ ॥

प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तंभकृद्दाहपक्तिनुत् ॥ स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा ॥ ८२ ॥ सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः ॥ निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा ॥ ८३ ॥

प्रवात (अर्थात् वायु) रूक्षता, विवर्णता और स्तंभ कारक है तथा दाह और पक्ति (पकाव) का नाशक है, स्वेद (पसीना), मूर्च्छा और प्यासको दूर करता है और निवात (विना हवाकी जगह रहना) इनसे विपरीत गुणोंका

(श्लो० ८१) संवाहनं सुखकरं स्पर्शनं गाढप्रमर्दनम् (इति डल्लनः)
(श्लो० ८३) वातं सुखमनुष्णं प्रियं चेत्यर्थः ।

करनेवाला है ॥ ८२ ॥ ग्रीष्म और शरद ऋतुमें सुखसे यथारुचि वायुका सेवन करना चाहिये और इनके सिवाय सब ऋतुओंमें मनुष्यको आयु और आरोग्यताके लिये विना प्रचंड वायुकी जगह रहना चाहिये ॥ ८३ ॥

धूप छाया और अग्नितापके गुण ।

आतपः पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत् ॥ दाहवैवर्ण्यकारी च छाया चैतानपोहति ॥८४॥ अग्निर्वातकफस्तंभशीतवेपथुनाशनः॥ आमाभिष्यंदजरणो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥ ८५ ॥

आतप (धूप) में रहना पित्त, तृषा, अग्नि, स्वेद, मूर्च्छा, भ्रम और रुधिरकोप कारक है तथा दाह और विवर्णता करता है और छायामें रहना पूर्वोक्त पित्त, तृषा आदि सबको दूर करता है ॥ ८४ ॥ अग्निसे तापना, वायु, कफ, स्तंभ, अर्थात् अकडाव शीत और वेपथु (कंप) इन्हें नष्ट करता है और आम तथा अभिष्यंदताको जराता है तथा रक्तपित्तको दूषित करता है ॥ ८५ ॥

कालसेवित निद्राके गुण ।

पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतंद्रिताम् ॥
करोति साधुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता ॥ ८६ ॥

समय पर निद्राका सेवन करना (सोना) पुष्टि, रूप, बल, उत्साह और जठराग्निकी दीप्ति तथा निरालस्यता उत्पन्न करता है और सब दोषोंको स्वच्छ और समान करता है ॥ ८६ ॥

परिशिष्ट (भावप्रकाशोक्त)

शिबिकादिमें आरोहणके गुण ।

श्लोक–ऊर्द्धाच्छादनसंयुक्ता शिबिका सर्ववल्लभा ॥ तस्यामारोहणं नृणां त्रिदोषशमनं मतम् ॥ १ ॥ वातश्लेष्मगदार्तानामहिता भ्रमकृत्तरिः ॥ पित्तानिलकरो हस्ती लक्ष्म्यायुःपुष्टिवर्द्धनः ॥ २ ॥ घोटकारोहणं वातपित्ताग्निश्रमकृन्मतम् ॥ मेदोवर्णकफघ्नं च हितं तद्बलिनां परम् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसके ऊपर ढकना (वस्त्रादि) हो ऐसी पीनसकी सवारी सबको हित है.उसमें बैठना त्रिदोष (तीनों दोषोंको) शांत करता है ॥ १ ॥ नाव या बोटमें बैठना वायु और कफके रोगवालोंको अहितकारक है और भ्रम करता है (उससे चक्कर आने लगता है) हाथीकी सवारी पित्त और वायुकारक है तथा लक्ष्मी, आयु और पुष्टिको बढाती है ॥ २ ॥ घोडे पर चढना वायु, पित्त, अग्नि (जठराग्नि), श्रम कारक है। मेद, वर्ण और कफको नष्ट करता है और बलवान् मनुष्योंके लिये यह परम हितकारक है ॥ ३ ॥

सद्वृत्तका उपदेश ।

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघूष्णीषच्छत्रोपानत्केन दंडपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बंधुभूतेन भूतानां तु गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खलूपचरितव्यम् । तदपि न रात्रौ न केशास्थिकंटकाश्मतुषभस्मोत्करकपालांगारामेध्यस्थानबलिभूमिषु न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात् ॥ ८७ ॥

मनुष्यको आदिहीसे ऐसा करना चाहिये कि क्षौर बनवाये हुए शुद्ध होकर, सुफेद (साफ) वस्त्र पहनकर, हलकी पगडी बांधकर, छत्री लगाकर, जूता पहनकर, छडी हाथमें लेकर (इस प्रकारसे आना जाना रक्खे कि) समय पर हरेकसे पहलेवाले हितके वचन कहे, कम बोले और मधुर भाषण करे और सब प्राणिमात्रसे भ्रातृभाव रक्खे, अपनेसे जाति, विद्या, प्रताप तथा नातेमें बडोंसे और वृद्धोंसे नम्र होकर बरताव करे और साथमें अच्छा सहकारी रक्खे और एकाग्रचित्त होकर चर्या (पर्यटन) करे परंतु रात्रिमें न फिरे, बाल, हड्डी, कांटे, पत्थर, तृण, भस्म, खेत और ठेकरे, अंगारे तथा अपवित्र स्थान और बलिभूमिमें न जावे तथा बहुत ऊंची नीची पृथ्वीमें न फिरे और इंद्रकील (पर्वतों और नोकवाले स्थानों) पर न फिरे, चतुष्पथमें न जावे तथा श्वभ्र (जहां बिल) हो वहां न जावे अर्थात् इनपर फिरना उचित नहीं ॥ ८७ ॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत् । न देवब्राह्मणपितृपरिवारांश्च न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचाचारानुपासीत ॥ ८८ ॥

राजविद्रोहकी बातें कभी न कहे, कठोर वचन, कमीने वाक्य और झूंठे वाक्यभी न कहे और देवता, ब्राह्मण, पितर और परिवारसे विवाद न करे और राजविद्रोही, उन्मत्त, पतित और क्षुद्र (ओछा) तथा नीच आचरणवाले मनुष्योंके पास न बैठे (इनसे मेल न करे) ॥ ८८ ॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुंजराद्यधिरोहणानि परिहरेत् पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि भिन्नशू-

(वा० ८७) नीचनखरोम्णा नखरहितेन कृतक्षौरेणेत्यर्थः । उत्करः धान्यादीना राशीकरणे प्रसारणे च । इंद्रकीलः इंद्रस्य कील इव पाषाणादयो यत्र । श्वभ्र छिद्रं गर्तः (इति शब्दस्तोमः) ।

(वा० ८९) प्रपातः निर्झरः । सन्निकर्षः निकटत्वम् ।

न्यागारश्मशानविजनारण्यवासाग्निसंभ्रमव्यालभुजंगकीटसेवा-ग्रामाघातकलहशस्त्रसंनिपाताग्निसंभ्रमव्यालसरीसृपशृंगिसान्निकर्षांश्च ॥ ८९ ॥

वृक्षपर चढना, पर्वतपर चढना, प्रपात (जहां जल ऊपरसे गिरता हो) वहां जाना तथा विषम स्थानोंमें बँबईके पास जाना भी त्याग दे और दुष्ट घोडे, हाथीकी सवारी भी नहीं करे। चढीहुई नदी और समुद्र तथा विना जाने हुए तालाब तथा गढे और कूपमें कभी नहीं उतरे। फूटे और शूने मकानमें, श्मशानमें, निर्जनवनमें वास न करे और अग्निसे जलते हुए मकानमें न जावे। हिंस्रक जीव सर्प, विच्छू आदि कीडोंके पास न जावे (इनसे दूर रहे) और ग्रामाघात (जिन ग्रामोंमें महामारी हो), जहां लडाई होती हो, जहां हथियार चलते हों, जहां आग लगी हो वहां न जावे। हिंस्रक जीवों सर्प, विच्छू आदि तथा सींगवाले पशुओंके संनिकर्ष (निकट) भी न जावे ॥ ८९ ॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेंखादंपत्यंतरेणाभियायात्। न शवमनुयायात्। देवगोब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रामेत्। नास्तंगच्छंतमुद्यंतं वाऽऽदित्यं वीक्षेत। गां धयंतीं परसस्यं वा चरंतीं परस्मै न कस्मैचिदाचक्षीत न चोल्कापातेंद्रधनूंषि। नाग्निं मुखेनोपधमेत्। नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात् ॥ ९० ॥

अग्नि, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेंखा (हिंडोला या नृत्य) और स्त्री पुरुष इनके बीचमेंसे नहीं निकले, (हीन नीच जातिके) मुरदेके संग न जावे। देवता, गौ, ब्राह्मण, चिता, ध्वजा, रोगी, पतित, पापी इनकी छायाको उल्लंघन न करे। छिपते और उदय होते सूर्यको न देखे। वच्छेको दूध पिलाती तथा पराये खेतमें चरतीहुई गौको किसीसे नहीं बतावे। उल्कापात और इंद्रधनुष भी किसीको न बतावे। अग्निमें मुखसे फूँक न दे। जल और पृथ्वीको हाथों या पैरोंसे न कूटे ॥ ९० ॥

न वेगान्धारयेत् न बहिर्वेगान्ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसंनिकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम् ॥ ९१ ॥

(वा० ९०) प्रेंखा स्त्रीनृत्ये दोलायाम् (इति शब्दस्तोमः) गा धयतीमिति–वत्सं पाययतीं गाम्। धयन्तीमिति 'धेट्–पाने' इत्यस्य धातोः (इति डल्हनः) (वा० ९१) बहिर्वेगाः मूत्रपुरीषादीनां बहिःकरणानि। न प्रकाशमिति प्रकाशो यथा भवति तथा नोत्सृजेत् (इति नि० सं०)।

सद्वृत्तका उपदेश ।

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघूष्णीषच्छत्रोपानत्केन दंडपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बंधुभूतेन भूतानां तु गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खलूपचरितव्यम् । तदपि न रात्रौ न केशास्थिकंटकाश्मतुषभस्मोत्करकपालांगारामेध्यस्थानबलिभूमिषु न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात् ॥ ८७ ॥

मनुष्यको आदिहीसे ऐसा करना चाहिये कि क्षौर बनवाये हुए शुद्ध होकर, सुफेद (साफ) वस्त्र पहनकर, हलकी पगडी बांधकर, छत्री लगाकर, जूता पहनकर, छडी हाथमें लेकर (इस प्रकारसे आना जाना रक्खे कि) समय पर हरेकसे पहलेवाले हितके वचन कहे, कम बोले और मधुर भाषण करे और सब प्राणिमात्रसे भ्रातृभाव रक्खे, अपनेसे जाति, विद्या, प्रताप तथा नातेमें बडोंसे और वृद्धोंसे नम्र होकर वरताव करे और साथमें अच्छा सहकारी रक्खे और एकाग्रचित्त होकर चर्या (पर्यटन) करे परंतु रात्रिमें न फिरे, बाल, हड्डी, कांटे, पत्थर, तृण, भस्म, खेत और ठेकरे, अंगारे तथा अपवित्र स्थान और बलिभूमिमें न जावे तथा बहुत ऊंची नीची पृथ्वीमें न फिरे और इंद्रकील (पर्वतों और नोकवाले स्थानों) पर न फिरे, चतुष्पथमें न जावे तथा श्वभ्र (जहां बिल) हो वहां न जावे अर्थात् इनपर फिरना उचित नहीं ॥ ८७ ॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत् । न देवब्राह्मणपितृपरिवारांश्च न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचाचारानुपासीत ॥ ८८ ॥

राजविद्रोहकी बातें कभी न कहे, कठोर वचन, कमीने वाक्य और झूंठे वाक्यभी न कहे और देवता, ब्राह्मण, पितर और परिवारसे विवाद न करे और राजविद्रोही, उन्मत्त, पतित और क्षुद्र (ओछा) तथा नीच आचरणवाले मनुष्योंके पास न बैठे (इनसे मेल न करे) ॥ ८८ ॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुंजराद्यधिरोहणानि परिहरेत् पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि भिन्नशू-

(वा० ८७) नीचनखरोम्णा नखरहितेन कृतक्षौरेणेत्यर्थः । उत्करः धान्यादीना राशीकरणे प्रसारणे च । इंद्रकीलः इंद्रस्य कील इव पाषाणादयो यत्र । श्वभ्रं छिद्रं गर्तः (इति शब्दस्तोमः) ।

(वा० ८९) प्रपातः निर्झरः । सन्निकर्षः निकटत्वम् ।

न्यागारश्मशानविजनारण्यवासाग्निसंभ्रमव्यालभुजंगकीटसेवा-ग्रामाघातकलहशस्त्रसंनिपाताग्निसंभ्रमव्यालसरीसृपशृंगिसान्निकर्षांश्च ॥ ८९ ॥

वृक्षपर चढना, पर्वतपर चढना, प्रपात (जहां जल ऊपरसे गिरता हो) वहां जाना तथा विषम स्थानोंमें बँबईके पास जाना भी त्याग दे और दुष्ट घोडे, हाथीकी सवारी भी नहीं करे । चढीहुई नदी और समुद्र तथा विना जाने हुए तालाब तथा गढे और कूपमें कभी नहीं उतरे । फूटे और शूने मकानमें, श्मशानमें, निर्जनवनमें वास न करे और अग्निसे जलते हुए मकानमें न जावे । हिंस्रक जीव सर्प, विच्छू आदि कीडोंके पास न जावे (इनसे दूर रहे) और ग्रामाघात (जिन ग्रामोंमें महामारी हो), जहां लडाई होती हो, जहां हथियार चलते हों, जहां आग लगी हो वहां न जावे । हिंस्रक जीवों सर्प, विच्छू आदि तथा सीगवाले पशुओंके संनिकर्ष (निकट) भी न जावे ॥ ८९ ॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेंखादंपत्यंतरेणाभियायात् । न शवमनुयायात् । देवगोब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रामेत् । नास्तंगच्छंतमुद्यंतं वाऽऽदित्यं वीक्षेत । गां धयंतीं परसस्यं वा चरंतीं परस्मै न कस्मैचिदाचक्षीत न चोल्कापातेंद्रधनूंषि । नाग्निं मुखेनोपधमेत् । नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात् ॥ ९० ॥

अग्नि, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेंखा (हिंडोला या नृत्य) और स्त्री पुरुष इनके बीचमेंसे नहीं निकले, (हीन नीच जातिके) मुरदेके संग न जावे । देवता, गौ, ब्राह्मण, चिता, ध्वजा, रोगी, पतित, पापी इनकी छायाको उल्लंघन न करे । छिपते और उदय होते सूर्यको न देखे । वच्छेको दूध पिलाती तथा पराये खेतमें चरतीहुई गौको किसीसे नहीं बतावे । उल्कापात और इंद्रधनुष भी किसीको न बतावे । अग्निमें मुखसे फूँक न दे । जल और पृथ्वीको हाथों या पैरोंसे न कूटे ॥ ९० ॥

न वेगान्धारयेत् न वहिर्वेगान्ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसंनिकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम् ॥ ९१ ॥

(वा० ९०) प्रेंखा स्त्रीनृत्ये दोलायाम् (इति शब्दस्तोमः) गां धयतीमिति—वत्सं पाययतीं गाम् । धयन्तीमिति 'धेट्—पाने' इत्यस्य धातोः (इति डल्हनः) (वा० ९१) वहिर्वेगाः मूत्रपुरीषादीनां बहिःकरणानि । न प्रकाशमिति प्रकाशो यथा भवति तथा नोत्सृजेत् (इति नि० सं०) ।

मल, मूत्र (दस्त, पेशाब) आदिके वेगोंको न रोके और वहिर्वेग अर्थात् मल, मूत्र त्यागते समय ग्राम, नगर, देवस्थान, श्मशान, चतुष्पथ (चौराहा), जलाशय (कूवा तालाब आदि) और मार्ग इनके निकट नहीं बैठे (इनके समीप मल, मूत्रादि न त्यागे) और प्रकाशरूपसे जहां दीखता हो वहां भी न त्यागे और वायु, अग्नि, जल, चंद्रमा, सूर्य, गौ, गुरु इनके सम्मुख बैठकर मल नहीं त्यागे ॥९१ ॥

न भूमिं विलिखेत् । नासंवृतमुखः सदसि जृंभोद्गारश्वासक्षवथूनुत्सृजेत् । न पर्यस्तिकावष्टंभपादप्रसारणानि गुरुसंनिधौ कुर्यात्॥९२॥

पृथिवीको न कुरेदे। सभामें बैठके विना मुख ढके जँभाई, डकार, लम्बा श्वास छींक नहीं लेवे और गुरु (बडे आदमी) के समीप तकियेके सहारे नहीं बैठे और पावँ पसारकरभी न बैठे ॥ ९२ ॥

न बालकर्णनासास्रोतोदशनविवराण्यभिकुष्णीयात् । न वीजयेत्केशमुखनखवस्त्रगात्राणि । न गात्रनखवक्रवादित्रं कुर्यात् । न काष्ठलोष्टतृणादीनभिहन्याच्छिन्द्याद्वा ॥ ९३ ॥

बाल, कान, नाक, स्रोत (अन्य द्वार) तथा दांत इनके छिद्रोंको न कुरेदे (न खुरचे), बाल, मुख, नख, वस्त्र और शरीर इन्हें न हिलावे और शरीर, नख, मुख इन्हें नहीं बजावे तथा काठ, लोह, तृण इत्यादिको तोडे नहीं और मरोडे भी नहीं ॥ ९३ ॥

न प्रतिवातातपं सेवेत न भुक्तमात्रोऽग्निमुपासीत । नोत्कटकस्तिष्ठेत् । नाल्पकाष्ठासनमध्यासीत । न ग्रीवां विषमां धारयेत् । न विषमकायः क्रियां भजेद्भुंजीत वा । न प्रततमीक्षेत विशेषाज्ज्योतिर्भास्करसूक्ष्मचलभ्रांतानि । न भारं शिरसा वहेत् । न स्वप्नजागरणशयनासनचंक्रमणयानवाहनप्रधावनलंघनप्लवनप्रतरणहास्यभाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यति सेवेत ॥ ९४ ॥

विशेषकर वायु और सूर्यके सम्मुख न रहे। भोजन करतेही अग्निसे न तापे। विशेष उत्कट (ऊकडू) न बैठे। छोटी काष्ठादिकी वस्तु पर न बैठे। गरदनको टेढी न

(वा० ९२) पर्यस्तिकावष्टंभमिति—पर्यस्तिका पलस्तिका पर्यस्तिः पतनं यस्याधारे इति पर्यस्तिका तकिया इति लोके । तस्य अवष्टभमवलंबनमिति तात्पर्यार्थः । (वा० ९३) स्रोतांसि मूत्रपुरीषादीनां विवराणि न कुष्णीयात् विमर्दनं विलेखनं वा न कुर्यात् । (श्लो० ९४) 'शयनासनम्' इत्यत्र शयनाशनमिति वा पाठः । अशनं भोजनं तदप्यति न सेवेत । यानं रथादिकम् । वाहनम् अश्वादिकम् ।

रक्खे और शरीरको टेढा करके कोई काम विशेष न करे और न ठेढा बैठकर भोजन करे। खूब टकटकी बांधकर न देखे। विशेषकर चमकीली वस्तु, सूर्य, बारीक वस्तु, चलती वस्तु और चक्कर खाते हुए पदार्थोंको निगाह बांधकर न देखे। शिरपर बोझा रखकर न चले और सोना, जागना, लेटना, बैठना, फिरना, घोडे आदि तथा रथादिकी सवारी करना, दौडना, लंघन करना, कूदना, तैरना, हँसना, बोलना, मैथुन करना और परिश्रम (दंड कसरत) आदिको उचितके सिवाय अधिक नहीं करना चाहिये ॥ ९४ ॥

उचितादप्यहितात्क्रमशो विरमेद्धितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशो न चैकांततः पादहीनात् ॥ ९५ ॥

जो उचित है पर हितकारक नहीं उसको क्रमसे छोड देना चाहिये और जो अनुचित है परन्तु हितकारक है अर्थात् फायदा करता है उसे क्रमसे ग्रहण करना चाहिये, एकाएक त्यागना और ग्रहण करना योग्य नहीं किंतु पादहीनके क्रमसे छोडना या ग्रहण करना चाहिये। पादका अर्थ कई षोडशांश करते हैं और कई चतुर्थांश करते हैं ॥ ९५ ॥

नावाक्छिराः शयीत न भिन्नपात्रे नांजलिपुटेनापः पिबेत्। काले हितमितस्निग्धमधुरप्रायमाहारं वैद्यप्रत्यवेक्षितमश्नीयात् ॥ ९६ ॥ ग्रामगणगणिकापणिकशत्रुशठपतितभोजनानि परिहरेत्। शेषाण्यपि चानिष्टरूपरसगंधस्पर्शशब्दमानसान्यन्यान्येवंगुणान्यपि वा संभूय दत्तानि तान्यपि मक्षिकाबालोपहतानि ॥९७ ॥ नाप्रक्षालितपाणिपादो भुंजीत मूत्रोच्चारपीडितो न संध्ययोर्नापाश्रितो नातीतकालं हीनमतिमात्रं चेति न भुंजीतोद्धृतस्नेहम् ॥९८॥

नीचा शिर करके न सोवे। फूटे पात्रमें और अंजलिसे जल नहीं पीवे। समय पर हितकारक, कुछ कम, चिकना और मीठा वैद्यको दिखाकर भोजन करे ॥९६॥

(वा०९५) उचितात् अभ्यस्तात् अपि अहितात् मद्यादेः। पादहीनात् चतुर्थांगात् षोडशांशाद्वा। (गद्य ९६) अवाक्शिराः अधःशिरा इत्यर्थः। (श्लो० ९७) ग्रामभोजन गणभोजन च परिहरेत्। पणिकः क्षुद्रवणिक्। गणा रथकारचारणादयः (इति डल्लनः) शब्दस्तोमे तु गणः समूह एव। संभूय दत्तानीति-मिलित्वा दत्तानि अथवा असंभूय दत्तानि अश्रद्धया दत्तानि।

(श्लो० ९८) अपाश्रितः न भुंजीतेति-अपगतः आश्रितः यस्मादित्यपाश्रितः। आश्रितं दूरीकृत्य न भुंजीत इत्यर्थः। अथवा 'नोपाश्रित इति वा पाठे उपाश्रित आश्रयीभूतः सन्न भुंजीत इति।

ग्राम (साझला) और समूहका (जैसे मेघ न बरषनेपर ग्रामके लोग सब मिलकर भोजन कराया करते हैं), वेश्याका, वणजी करनेवालेका, शत्रुका, मूर्खका और पतितका भोजन नहीं करे और भी बुरे रूप, बुरी गंध, अयोग्य रस, कुत्सित स्पर्श और खराब शब्द जिस भोजनमें हों उसे भी नहीं खावे और जिससे मनको ग्लानि हो तथा ऐसेही और अवगुण हों तो उस भोजनको भी न खावे और जो मिलाकर कइयोंने दिया हो (अथवा 'असंभूयदत्तानि' जो विना प्रीतिके दिया हो) और जिनमें मक्खी, वाल आदि पडे हों ऐसे भोजन भी न खावे ॥ ९७ ॥ विना हाथ, पांव धोये भोजन नहीं करे तथा मूत्र और मलकी शंकासे पीडित भी भोजन न करे तथा संध्याओंमें न जीमें और अकेला विना पासवालेको भोजन कराये भी भोजन न करे । क्षुधा मारकर समय व्यतीत होनेपर न जीमें अर्थात् देर करके न जीमें । वहुत कम और वहुत अधिक भोजन न करे और जिसमें घृत न हो वह भोजन नहीं करे (अथवा जिसमेंसे घृत निकाल लिया हो वह वस्तु न खावे) ॥ ९८ ॥

नोदके पश्येदात्मानं न नग्नः प्रविशेज्जलम् ॥ न नक्तं दधि भुंजीत न वाप्यघृतशर्करम् ॥ नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णैर्नामलकै-र्विना ॥ ९९ ॥ अन्यथा कुष्ठविसर्पादीञ्जनयेत् ॥

अपनी छाया जलमें न देखे । नग्न होकर जलमें प्रविष्ट न हो । रात्रिमें दही नहीं खावे और घृत खांडके विना भी नहीं खावे तथा विना मूँगके यूषके भी नहीं खावे तथा शहत मिलाये विना नहीं खावे तथा गरम पदार्थके संग न खावे और आँवलेके विना नहीं खावे (अर्थात् खावे तो पूर्वोक्त विधिसे खावे) ॥ ९९ ॥ और अन्यथा दही खानेसे कुष्ठविसर्पादि रोग होते हैं ॥

द्यूतमद्यातिसेवाप्रतिभूसाक्षित्वसमाह्वानगोष्ठीवादित्राणि न सेवेत । स्रजं छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि न चान्यैर्धृतानि धारयेत् । ब्राह्मणमग्निं गां च नोच्छिष्टः स्पृशेत् ॥ १०० ॥ भवन्ति चात्र—

जुवा खेलने, मद्य पीने (अति मद्य पीने), प्रतिभू (किसीका जामिन बनने), गवाही देने, समूहकी गोष्ठी और मृदंग, तंबूरा आदि बजानेसे अलग रहे । औरोंके धारण किये हुए माला, छत्री, जूता, सोनेके भूषण और पुराने वस्त्रोंको

(वा० १००) छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि चान्यैर्धृतानि न धारयेद्यदि धारयेत्तर्हि प्रक्षाल्य धारयेत् । (इति नि० स०)

न धारण करे (आवश्यकता हो तो धोकर धारण करे), ब्राह्मण, अग्नि और गौको जूंठे (भोजन करते) न छुवे ॥ १०० ॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

सुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यैतदीरितम् ॥
आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥१०१॥

शिष्ट मनुष्योंको जिस भांति सुख, आरोग्यता और द्रव्यादिकी प्राप्ति हो वह आचरण यहां संक्षेपसे वर्णन किये गये और जो असत् पुरुष इसके विपरीत वरताव करेंगे उन्हे सुख, आरोग्यता और लक्ष्मी आदिकी प्राप्ति नहीं होवे ॥ १०१ ॥

यस्मिन्यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यंति देहिनाम् ॥
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥ १०२ ॥

जिस जिस ऋतुमें जो जो दोष मनुष्योंके शरीरमें कुपित होते हैं उन २ ऋतुओंमें दोषोंके शांत करनेवाले वही रस जानकार वैद्यको चाहिये कि (खानेमें विशेष) देवे (जैसे प्रावृट्में वायुका कोप होता है तो वायुनाशक मधुर, अम्ल और लवण रस विशेष भोजनमें देवे और शरद् ऋतुमें पित्तका कोप होता है वहां मधुर, तिक्त और कषाय रस देवे तथा वसंतमें कफकोपके समय कटु, तिक्त और कषाय रस देवे) ॥ १०२ ॥

वर्षासु न पिवेत्तोयं पिबेच्छरदि मात्रया ॥ वर्षासु चतुरो मासान्मात्रावदुदकं पिबेत् ॥१०३ ॥ उष्णं हैमे वसंते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम् ॥ हेमंते च वसंते च सीध्वरिष्टौ पिबेन्नरः ॥१०४ ॥ शृतं शीतं पिबेद्ग्रीष्मे प्रावृट्काले रसं पिबेत् ॥ यूषं वर्षति तस्यांते प्रपिबेच्छीतलं जलम् ॥ १०५ ॥

वर्षामें जहांतक हो जल न पीवे (खींचकर कम पीवे) और शरद ऋतुमें मात्रासे जितनी आवश्यकता हो उतना पीवे, वर्षाके चारों महीनोंमें ही मात्रा (प्रमाण)का जल पीवे (अधिक नहीं) ॥ १०३ ॥ शीतकी अधिकतामें निवाया जल पीवे और वसंतमें जैसेको जी चाहे वैसा पीवे, ग्रीष्म (गरमी) में शीतल जल पीवे और हेमंत तथा वसंतमें थोडा सीधु और अरिष्ट (मद्य) भी पीना उचित है ॥ १०४ ॥ ग्रीष्ममें औटाया हुआ जल ठंढा करके पीवे और प्रावृट् ऋतुमें मांसके रसका पान करे, वर्षामें यूष बना २ कर पीवे और वर्षाके अन्त शरद् ऋतुमें ठंढा जल पीवे ॥ १०५ ॥

(श्लो० १०३) वर्षासु न पिबेत्तोयमित्यत्र नञ् ईषदर्थे ईषज्जल पिबेदित्यर्थः (इति नि० सं०)

स्वस्थे एवंमतोन्यस्तु दोषाहारमतानुगः ॥ स्नेहं सैंधवचूर्णेन पिप्पलीभिश्च संयुतम् ॥ १०६ ॥ पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं न च वेगान् विधारयेत् ॥ अग्निदीप्तिकरं नृणां रोगाणां शमनं प्रति ॥ १०७ ॥ प्रावृट्शरद्वसंतेषु सम्यक् स्नेहादिमाचरेत् ॥ कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको वस्तिरीरिणे ॥ १०८ ॥

पूर्वोक्त वरताव स्वस्थ मनुष्यको करना चाहिये और जो रोगी हो उसे दोष और आहारके अनुसार करना उचित है । स्नेहमें सैंधा नमक और पीपल मिलाकर पीवे इससे जठराग्नि बढती है और वेगोंको न रोके और अग्नि दीप्त करने और मनुष्योंके रोग शांति करनेको प्रावृट् शरद् और वसंतमें युक्तिपूर्वक स्नेह आदि (स्नेहन, स्वेदन, वमन रेचन आदि) करे । कफमें वमन, पित्तमें विरेचन और वायुमें वस्तिकर्म हित है ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

शस्यते त्रिष्वपि सदा व्यायामो दोषनाशनः ॥ भुक्तं विरुद्ध-मप्यन्नं व्यायामान्न प्रकुप्यति ॥ १०९ ॥ उत्सर्गमैथुनाहारशोधने योऽस्तु तन्मनाः॥नेच्छेद्रोगभयात्प्राज्ञः पीडां वा कायमानसीम् ११०

तीनों कालमें सदा व्यायाम करना दोषोंको नाश करता है, भोजन किया हुआ विरुद्ध अन्नभी व्यायामसे कुपित नहीं होता (पचजाता है) ॥ १०९ ॥ उत्सर्ग (मलमूत्रादिके त्यागने), मैथुन करने, भोजन करने और शोधन करनेमें उसी तरफ मन लगाये रखना चाहिये और बुद्धिमान् मनुष्य रोगके भयसे शारीरिक और मानसिक पीडाको भी इच्छा न करे (शारीरिक और मानसिक पीडा जिसमें विशेष हो वह काम नहीं करे) ॥ ११० ॥

अति मैथुनका निषेध ।

अतिस्त्रीसंप्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान् ॥ शूलकासज्वरश्वास-कार्श्यपांड्वामयक्षयाः॥अतिव्यवायाज्जायंते रोगाश्चाक्षेपकादयः १११

सावधान मनुष्यको चाहिये कि अत्यन्त स्त्रीप्रसंगसे अपनेको बचाये रक्खे क्योंकि अति मैथुन करनेसे शूल, खांसी, ज्वर, श्वास, कृशता, पांडुरोग, क्षय और आक्षेपक आदि वातरोग उत्पन्न होते हैं ॥ १११ ॥

(श्लो० १०६) स्वस्थः रोगरहितः अतोऽन्यः व्याधिपीडितः । (श्लो० १०९) त्रिषु कालेषु प्रावृट्शरद्वसंतेषु तथा च सदापदेन षट्सु ऋतुषु सर्वदैव व्यायामः शस्यते इत्यभिप्रायः ।

(श्लो० १११) आत्मवान् बुद्धिमान् (इति डल्हनः) आक्षेपको वातव्याधिः ।

युक्तिसे स्त्रीसंगके गुण और प्रमाण ।

आयुष्मंतो मंदजरा वपुर्वर्णबलान्विताः ॥ स्थिरोपचितमांसाश्च भवंति स्त्रीषु संयुताः ॥ ११२ ॥ त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्हि समीयात्प्रमदां नरः ॥ सर्वेष्वृतुषु घर्मेषु पक्षात्पक्षाद्व्रजेद्बुधः ॥ ११३ ॥

जो युक्तिपूर्वक स्त्रीसंग करते हैं वे दीर्घायु जरारहित होते हैं, शरीर, रूप और बलसे युक्त होते हैं और उनका मांस शरीरपर स्थिर गँठा हुआ रहता है (झुरियां नहीं पडतीं) ॥ ११२ ॥ बुद्धिमान्को चाहिये कि और सब ऋतुओंमें तीन तीन दिनमें एक वार स्त्रीसंग करे और गरमीमें पन्द्रह २ दिनमें गमन करे ॥ ११३ ॥

रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥ वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम् ॥ ११४ ॥ हीनांगीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषप्रपीडिताम् ॥ सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि ॥ संध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात्प्रमदां नरः ॥ ११५ ॥

जो स्त्री रजस्वला हो, कामकी इच्छासे रहित हो, मलिन हो, प्रिय न हो तथा वर्ण (जाति) और अवस्थामें बडी हो, रोगसे पीडित हो ॥ ११४ ॥ जिसका कोई अंग भंग हो, जो गर्भवती हो, जो द्वेष रखती हो, जिसकी योनिमें कोई दोष हो, सगोत्रा हो, गुरुकी स्त्री हो (या बडे आदमीकी स्त्री हो) वे वारसी ऐसीही फिरती हो उन स्त्रियोंके साथ कदाचित् मैथुन नहीं करे और सन्ध्याके समय तथा पर्वके दिनोंमें तथा अगम्यास्त्रियोंसे भी संगम करना उचित नहीं ॥ ११५ ॥

गोसर्गे चार्द्धरात्रे च तथा मध्यदिनेषु च ॥ लज्जासम्भावहे देशेऽविवृतेऽशुद्ध एव च ॥ ११६ ॥ क्षुधितो व्याधितश्चैव क्षुब्धचित्तश्च मानवः ॥ वातविण्मूत्रवेगी च पिपासुरतिदुर्बलः ॥ ११७ ॥ तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् ॥ दुष्टयोनौ विसर्गन्तु बलवानपि वर्जयेत् ॥ ११८ ॥ रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्द्धावरणमेव च ॥ स्थिता उत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम् ॥ क्रीडायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत् ॥ ११९ ॥

(श्लो० ११२) स्थिरोपचितमांसाः स्थिरकठिनमांसाः। (श्लो० ११५) 'योनिदोषप्रपीडिताम्' इत्यत्र योनिदोषसमन्वितामिति वा पाठः । प्रव्रजितां गृहीतव्रताम् (इति डल्हनः) अपरे तु त्यक्तगृहामाहुः । (श्लो० ११६) अविवृते अनाच्छादिते देशे । (श्लो० ११८) प्राप्तशुक्रविधारणं परिवर्जयेदित्यन्वयः। (श्लो० ११९) 'मूर्द्धावरणम्' इत्यत्र मूर्द्धाहरणमिति पाठः।तथाचोक्त वृद्धवाग्भटे—मूर्द्धाभिघातं परिहरेत् ।

गोसर्ग (प्रभात) में, अर्द्धरात्र और मध्याह्नमें, लज्जाके स्थानमें तथा अनाच्छादित और अशुद्ध स्थानमें मैथुन करना उचित नहीं ॥ ११६ ॥ भूखके समयमें, रोगसे युक्त होनेमें और चित्तमें क्षोभ (क्रोध) होनेके समयमें तथा अधोवायु, विष्ठा और मूत्रकी शंका होनेपर स्त्रीसंग न करे। प्यासा मनुष्य और अति दुर्बल भी मैथुन न करे ॥ ११७ ॥ तिर्यग्योनि (गधी, घोडी, बकरी आदि) तथा अयोनि (गुदमैथुनादि) में भी मैथुन करना उचित नहीं और गिरते हुए शुक्रको रोकनाभी योग्य नहीं तथा दुष्टयोनि (खडा आदि) में बलवान्‌भी मैथुन न करे ॥ ११८ ॥ अतिवीर्यपात करना, शिर बाँधना (या शिर हिलाना या शिरका कंपन करना), खडे होना, ऊपरको पाँव करना भी मैथुनके समय विशेष वर्जित है और क्रीडामें भी हितार्थी बुद्धिमान् अतिवीर्यपातादि नहीं करे ॥ ११९ ॥

रजस्वलां प्रासेवतो नरस्यानियतात्मनः ॥ दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ॥ १२० ॥ लिंगिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु ॥ वृद्धां च संध्ययोश्चापि गच्छतो जीवितक्षयः ॥ १२१ ॥

रजस्वलामें गमन करनेवाले अजितेंद्रिय मनुष्यके दृष्टि आयु और तेजकी हानि होती है और अधर्म (पाप) भी होता है ॥ १२० ॥ लिंगिनी (प्रव्रजिता-साधनी), गुरुपत्नी, सगोत्रा इनसे संग करनेमें तथा पर्वमें मैथुन करनेसे, वृद्धा स्त्रीसे संग करनेमें तथा संध्या समय मैथुन करनेसे जीवितका क्षय होता है (आयु और बल घट जाता है) ॥ १२१ ॥

गर्भिण्यां गर्भपीडा स्याद्व्याधितायां बलक्षयः ॥ हीनांगीं मलिनां द्वेष्यां कामं वंध्यामसंवृते ॥ देशेऽशुद्धे च शुक्रस्य मनसश्च क्षयो भवेत् ॥ १२२ ॥

गर्भिणीका संगम करनेसे गर्भको पीडा होती है, व्याधिवालीका संग करनेसे बलक्षय होता है, हीनांगी मलिन और द्वेषयुक्त स्त्रीके संगसे तथा वंध्याके संगसे, अनाच्छादित और अशुद्ध स्थानमें मैथुन करनेसे वीर्य और मनका क्षय होता है १२२

(वक्तव्य) इस श्लोकमें "कामं" या "कामां" यह पद अलग रहता है इसी कारण इसकी खींचातानीसे पाठभेद है कई तो 'द्वेष्या' शब्दको 'कामां' शब्दके साथ युक्त करके 'द्वेष्याकामां' ऐसा शुद्ध पाठ मानकर द्वेषयुक्त और अकाम स्त्रीका संग ऐसा अर्थ करतेहैं और कई 'काम' शब्दको वंध्या शब्दके साथ युक्त करके 'कामवंध्या' का अर्थ अकामा ऐसा मानतेहैं और इसी अर्थकी पुष्टिमें यह हेतु देतेहैं कि पहले श्लोकोंमें वंध्या नहीं कही तो फिर अब दूषण कहनेमें वंध्या क्यों लिखी इस

कारण 'कामवंध्यां' ऐसा ही शुद्ध पाठ मानना चाहिये । कई इसे आर्ष कहकर समाधान करते हैं ॥

क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृषितोऽबलः ॥ स्थितस्य हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विंदति ॥ १२३ ॥ अतिप्रसंगाद्भवति शोषः शुक्रक्षयावहः ॥ व्याधितस्य रुजा प्लीहा मृत्युर्मूर्च्छा च जायते ॥ १२४ ॥ प्रत्यूषस्यर्द्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः ॥ तिर्यग्योनावयोनौ च दुष्टयोनौ तथैव च ॥ उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रस्य च क्षयः ॥ १२५ ॥

क्षुधाके समय मैथुन करनेसे, चित्तके क्षोभके समय, मध्याह्नमें, तृषाके समय, निर्बल और खडे हुए मैथुन करनेसे शुक्रकी हानि और वायुका कोप होता है ॥ १२३॥ अति मैथुनसे (स्त्रियोंके पासही रहनेसे) शुक्रक्षय जनित शोषरोग होता है । व्याधियुक्त संगम करे तो प्लीहावृद्धि, मूर्च्छा तथा मृत्यु होजाती है ॥ १२४ ॥ प्रभात और अर्द्धरात्रके समय मैथुन करनेसे वायु और पित्त दोनों कुपित होते हैं, तिर्यग्योनि और अयोनि तथा दुष्ट योनियोंमें विषय करनेसे उपदंश रोग होता है तथा वायुका कोप और शुक्रका क्षय होता है ॥ १२५ ॥

उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे ॥ उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्य्यास्तु संभवः ॥ १२६ ॥ सर्वं परिहरेत्तस्मादेतल्लोकद्वये हितम् ॥ शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न संधार्यं कथंचन ॥ १२७ ॥

'उच्चारिते' (मलके वेगमें या दस्त जाते जाते), मूत्रिते, (मूत्रके वेग होनेपर या पेशाब करते करते) मैथुन करनेमें तथा वीर्य गिरते हुएको रोकनेसे और ऊपरको पैरकर संग करनेसे शीघ्रही शुक्राश्मरी (वीर्यकी पथरी) तथा शुक्रावरोधज कृच्छ्र (सुजाक रोग) होजाते हैं इससे इन सब बातोंको त्यागना ही चाहिये यह इस लोकमें सुखके कारण है तथा परलोकके वास्ते धर्मका हेतु है और गिरते हुए शुक्रको तो मोहके वश हो (आनन्दकी अभिलाषासे) कभी भी रोकना नहीं चाहिये ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां गुणान्विताम् ॥ अभिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलंकृताम् ॥ १२८ ॥ सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणबृंहितः ॥ १२९ ॥ भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरं समिष्टं रस एव च ॥ स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायांते हितानि तु ॥ १३० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

जो स्त्री युवा अवस्थावाली और रूपवती हो तथा अपने समान जिसकी प्रकृति हो और गुणवाली हो (अर्थात् बेहूदी न हो) और उसे कामदेव भी व्याप्त हो-रहा हो तथा प्रसन्न हो और खूब वस्त्र, भूषण, काजल, बिंदी आदि शृंगारोंसे बनी-ठनी हो ऐसी कामिनीसे प्रसन्न चित्तवाला और कामदेवसे व्याप्त युवा पुरुष मैथुन करे ॥ १२८ ॥ और वाजीकरण पदार्थोंसे शरीर पुष्ट किये हुए पुरुष युक्तिपूर्वक स्त्रीका संग करे ॥ १२९ ॥ मैथुन कर चुकनेके पीछे मीठे (स्निग्ध) भोजन करने और मिश्री युक्त दूध पीना तथा मांसरस पीना , स्नान करना, पंखेसे पवन करना और सोजाना ये हितकारक हैं (स्नान करना मैथुनसे पीछे केवल ग्रीष्मऋतुके लिये है अन्य ऋतुओंमें नहीं और ग्रीष्ममें भी मैथुनांतमें तत्काल स्नान ठीक नहीं किंतु मुहूर्त मात्र ठहरकर करना चाहिये)॥ १३० ॥

इति प० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पंचविंशतितमोऽध्यायः २५.

अथातो मिश्रकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम मिश्रकचिकित्सा (मिली जुली) चिकित्साकी व्याख्या करते हैं ।

कर्णपालीके रोग ।

पाल्यामयास्तु विस्राव्या इत्युक्तं प्राङ्निबोध तान् ॥ परिपोटस्तथोत्पात उन्मंथो दुःखवर्द्धनः ॥ पंचमः परिलेही च कर्णपाल्या गदाः स्मृताः ॥ १ ॥

पहले सूत्रस्थानमें यह कह चुके हैं कि कर्णपालीके रोग विस्रावण करने योग्य होते हैं उन्हें अब सुनो जैसे पालीगत रोग पांच प्रकारके होते हैं १ परिपोट, २ उत्पात, ३ उन्मंथ, ४ दुःखवर्द्धन, ५ परिलेही ॥ १ ॥

परिपोट ।

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाभिप्रवर्द्धिते ॥ कर्णे शोफो भवेत्पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ॥ २ ॥ कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात्परिपोटकः ॥ गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनोद्घर्षणादपि ॥ ३ ॥

यदि सुकुमारताके कारण बहुत दिन तक कानके छिद्रका बढाना छोड दिया जाय और फिर एकाएक बढाया जाय तो उससे कानकी पालीमें पीडा और परिपोटयुक्त सूजन होवे ॥ २ ॥ यह वायुसे होता है, रंग काला लाली लिये हो,

कडा हो, यह भारी भूषण (कर्णफूल झूमके आदि) के संयोगसे तथा ताडन (मलने या चोट लगने) से और घिसा जानेसे भी होजाता है ॥ ३ ॥

उत्पात।

शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ॥ ४ ॥

यदि कर्णपालीमें दाह, पाक और पीडा युक्त काला सोजा हो अथवा लाल-रंगका हो तो रक्त और पित्तसे उपजा उत्पातनामक रोग समझना चाहिये ॥ ४ ॥

उन्मंथक और दुःखवर्द्धन।

बलाद्वर्द्धयतः कर्णं पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ गृहीत्वा स कफं कुर्याच्छोफं तद्वर्णवेदनम् ॥ उन्मंथकः सकंडूको विकारः कफवा-तजः ॥५॥ वर्द्धमाने यदा कर्णे कण्डूदाहरुगान्विते ॥ शोफो भवति पाकश्च त्वक्स्थोऽसौ दुःखवर्द्धनः ॥ ६ ॥

बलपूर्वक कान बढानेसे कर्णपालीमें वायु कुपित होता है फिर वह कुपित वायु कफको ग्रहण करके कफ और वायुके वर्ण और वेदनावाला शोथ पैदा करता है और उसमें खाज भी आया करती है यह उन्मंथकनामक विकार कफ-वायु जनित होता है ॥ ५ ॥ यदि कानके बढानेमें खाज, दाह, पीडा युक्त शोथ होवे और पक भी जावे तो त्वचामें स्थित हुआ यह दुःखवर्द्धननामक रोग है ॥ ६ ॥

परिलेही।

कफासृक्कृमयः कुर्य्युः सर्षपाभा विकारिणीः॥ स्राविणीः पिडिकाः पाल्यां कंडूदाहरुगान्विताः ॥ ७॥ कफासृक्कृमिसंभूतः सविसर्पा-न्वितस्ततः॥ लिह्यात्सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥८॥

यदि कर्णपालीमें सरसोंके समान, विकार युक्त, झिरनेवाली फुन्सियोंको कफ, रुधिर और कृमि उत्पन्न करें, उनमें खाज, दाह और पीडा हो ॥ ७ ॥ तथा कफ रुधिर और कृमिसे पैदा हुआ विसर्प युक्त (फैलनेवाला) जो शष्कुली (कानकी ऊपरली पापडी) सहित पालीको लेहीभूत (लापसीसा) कर देवे वह परिलेही नामक रोग होता है ॥ ८ ॥

पाल्यामया ह्यमी घोरा नरस्याप्रतिकारिणः ॥ मिथ्याहारविहार-स्य पालीं हिंस्युरुपेक्षिताः ॥ ९ ॥ तस्मादाशु भिषक्तेषु स्नेहादि-क्रममाचरेत् ॥ तथाभ्यंगपरीषेकप्रदेहासृग्विमोक्षणम् ॥ १० ॥

ये कर्णपालीके रोग घोर होते हैं, प्रतिकार न करनेवाले और अयोग्य आहार, विहार करनेवाले मनुष्यके कानकी पाली विना चिकित्सा यूंही छोडदी जावे तो वे रोग उस पालीको गलाकर (सडाकर) नष्ट करदेते हैं ॥ ९ ॥ इस लिये इनमें वैद्य शीघ्रही स्नेहादिकसे उपचार करे तथा अभ्यंग, परिषेक, प्रदेह और रुधिर निकालना आदि यत्न करे ॥ १० ॥

कर्णपालीरोगचिकित्सा।

सामान्यतो विशेषाच्च वक्ष्याम्यभ्यंजनं प्रति ॥ खरमंजरियष्टयाह्वसैंधवामरदारुभिः ॥ ११ ॥ सुपिष्टैः साश्वगंधैश्च मूलकावल्गुजैः फलैः ॥ सर्पिस्तैलवसामज्जामधूच्छिष्टानि पाचयेत् ॥१२ ॥ सक्षीराण्यथ तैः पालीं प्रदिह्यात्परिपोटके ॥ १३ ॥

अब सामान्यता और विशेषतासे अभ्यंजन वर्णन करते हैं। खरमंजरी (ओंगा), मुलेठी, सैंधा नमक, देवदारु ॥ ११ ॥ इन्हें सुन्दर पीसकर असगंध, सहँजना और बावची मिलाकर घृत, तैल, चरबी और मज्जा तथा मोम इन सबको पकालेवे ॥१२॥ पकते समय दूधभी डाले और इसे परिपोटक रोगमें लगावे॥१३॥

मंजिष्ठातिलयष्टयाह्वसारिवोत्पलपद्मकैः ॥ सरोध्रैः सकदंबैश्च बलाजंब्वाम्रपल्लवैः ॥ सिद्धं धान्याम्लसंयुक्तं तैलमुत्पातनाशनम् ॥१४॥

मंजीठ, तिल, मुलेठी, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, कदंब, खिरैंटी, जामुन और आमके पत्ते इनमें धान्याम्ल संयुक्त करके सिद्ध किया हुआ तैल उत्पात नामक कर्णपालीके रोगका नाशक है ॥ १४ ॥

तालपत्र्यश्वगंधार्कवाकुचीफलसैंधवैः ॥ तैलं कुलीरगोधाभ्यां वसया सह पाचितम् ॥१५॥ सरलालांगलीभ्यां च हितमुन्मंथनाशनम् ॥ तथाश्मंतकजंब्वाम्रपत्रक्काथेन सेवनम् ॥१६॥ प्रपौंडरीकमधुकमंजिष्ठारजनीद्वयैः॥ चूर्णैरुद्वर्त्तनैः पालीं तैलाक्तामवचूर्णयेत्॥१७॥

तालपत्री, असगंध, आक, बावची, सैंधव इन सब औषधोंसे तैल पकावे और सरला, कलहारी तथा केकडे और गोहकी चरबी भी पकते समय मिलावे यह तैल उन्मंथ रोगके नाश करनेमें हित है तथा अश्मंतक, जामुन और आँबके पत्तोंके क्वाथसे सेचन करे ॥१५॥ १६ ॥ प्रपौंडरीक, मुलेठी, मँजीठ, दोनों हलदी इनका चूर्ण कर उबटनसे पालीपर तैल लगाकर बुरका देवे यह भी उन्मंथमें हित है ॥१७॥

(श्लो० १७) उद्वर्तनैस्तैलाक्तां पालीं चूर्णैरवचूर्णयेदित्यन्वयः ।

लाक्षाविडंगकल्केन तैलं पक्त्वावचारयेत् ॥ स्विन्नां गोमयपिंडेन प्रदिह्यात्परिलेहिके ॥ १८ ॥ पिष्टैर्विडंगैरथवा त्रिवृच्छ्यामार्कसंयुतैः ॥ करंजेंगुदिबीजैर्वा कुटजारग्वधायुतैः ॥ १९ ॥ सर्वैर्वा सार्षपं तैलं सिद्धं मरिचसंयुतम् ॥ सनिंबपत्रैरभ्यंगे मधूच्छिष्टान्वितं हितम् ॥ २० ॥

परिलेहीनामक रोगको पहले गोबरके पिंडसे स्वेदन करे और फिर उसपर लाख तथा विडंगके कल्कसे तैल पकाकर लगावे ॥ १८ ॥ अथवा विडंग, निसोथ, श्यामा (प्रियंगु), आक इनमें तैल पकाकर लगावे अथवा करंज वा हिंगोटके बीज कुडा और अमलतास इनमें तैल पकाकर लगावे ॥ १९ ॥ अथवा इन सबमें सरसोंका तैल पकावे और उसमें स्याह मिरच, नींबके पत्ते और मोम पकते समय मिलावे और अभ्यंग करे (लगावे) ॥ २० ॥

पालीषु व्याधियुक्तासु तन्वीषु कठिनासु च ॥ पुष्ट्यर्थं मार्दवार्थं च कुर्य्यादभ्यंजनं हितम् ॥ २१ ॥ लोपाकानूपमज्जानं वसा तैलं नवं घृतम् ॥ पचेद्दशगुणं क्षीरमावाप्य मधुरं गणम् ॥ २२ ॥ अपामार्गाश्वगंधे च तथा लाक्षारसं शुभम् ॥ तत्सिद्धं परिपूतं च स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥ २३ ॥ तेनाभ्यंज्यात्सदा पालीं सुस्विन्नामतिमर्दिताम् ॥२४॥ एतेन पाल्यो वर्द्धते निरुजो निरुपद्रवाः ॥ मृद्व्यः पुष्टाः समाः स्निग्धा जायंते भूषणक्षमाः ॥ २५ ॥

यदि कर्णपालीमें थोडी या बहुत किसी भांतिकी व्याधि हो तो उसमें पुष्टि और मृदुता (मुलायमी) होनेके लिये तैलादिका मलना हित है ॥ २१ ॥ लोमडी और जल किनारेके जीवोंकी मज्जा और चरबी, तैल और नया घृत इनमें दशगुणा दूध और मधुर (काकोल्यादि) डाले ॥ २२ ॥ (और पकते समय) ओंगा, असगंध तथा लाखका रसभी डाले और पकाले जब पकजावे तब छानकर (शीशीमें भर) मुँह बंद करके रक्खे ॥ २३ ॥ यदि पालीरोग हो तो उसे स्वेदित और मर्दित करके यह तैल लगावे ॥ २४ ॥ इससे कानके छिद्र, निरोग, निरुपद्रव, कोमल, पुष्ट, सम तथा स्निग्ध होते हैं और बढते हैं और भूषण (कर्णफूल, झूमके आदि) सहारनेकी शक्ति होजाती है ॥ २५ ॥

(श्लो० १८) परिलेहिके गोमयपिंडेन स्विन्ना पिष्टैर्विडंगैः प्रदिह्यादिति वा संयुज्यते ।

(श्लो० २२ । २३) अनयोर्मिलित्वान्वयः ।

पलितपर तैल।

नीलीदलं भृंगरजोऽर्जुनत्वक्पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च ॥ बीजोद्भवं साहचरं च पुष्पं पथ्याक्षधात्रीसहितं विचूर्ण्य ॥२६॥ एकीकृतं सर्वमिदं प्रमाय पंकेन तुल्यं नलिनीभवेन ॥ संयोज्य पक्षं कलशे निधाय लौहे घटे सद्मनि सापिधाने ॥ २७॥ अनेन तैलं विपचेद्विमिश्रं रसेन भृंगत्रिफलाभवेन ॥ आसन्नपाके च परीक्षणार्थं पत्रं बलाकाभवमाक्षिपेच्च ॥ २८ ॥ भवेद्यदा तद्भ्रमरांगनीलं तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे ॥ कृष्णायसे मासमवस्थितं तदभ्यंगयोगात्पलितानि हन्यात् ॥ २९ ॥

नीलके पत्ते, भृंगराज, कुहेकी छाल, काले फूलका मैनफल, लोहचून, आंबकी गुठली और फूल, हरडे, बहेडा, आंवले इन सबको चूर्ण करके ॥ २६ ॥ इकट्ठा करके कमोदनीके रसमें सानकर कीचडसा गाढा करके लोहेके घडेमें भर पंद्रह दिन तक ढके हुए मकानमें रक्खे ॥२७॥ फिर इससे तैल पकावे और पकते समय भाँगरा और त्रिफलाका रसभी डाले जब पकावपर आवे तब परीक्षाके लिये बगलेकी पंख उसमें डुबोकर देखे ॥ २८ ॥ जो काली भँवरे जैसी होजावे तो पक गया जाने (नहीं तो भँगरे और त्रिफलेका रस कम हो तो और डालकर पकावे) जब पक जावे तब लोहेके घडेमें रखकर एक महीना रहने दे फिर इसे सुपेद बालोंपर लगावे इससे पलित नष्ट होवे (सपेद बाल स्याह होजावें) ॥ २९ ॥

(वक्तव्य) श्लोक २७ में कई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि सब औषधोंके तुल्य कमलिनीके जडकी कीचड मिलाकर लोहकलशमें भरे। श्लोक २६ में " बीजोद्भवं " का अर्थ कई विजैसार और कई बीजपूर करते हैं ॥

सैरीयजम्ब्वर्जुनकाश्मरीजं पुष्पं तिलान्मार्कवचूतबीजे ॥ पुनर्नवाकर्दमकंटकार्यौ कासीसपिंडीतकबीजसारम् ॥३०॥ फलत्रयं लोहरजोऽञ्जनं च यष्ट्याह्वयं नीरजसारिवे च ॥ पिष्ट्वाऽथ सर्वं सह मोदयंत्याः सारांभसा बीजकसंभवेन ॥ ३१ ॥ सारांभसः सप्तभिरेव पश्चात् प्रस्थैः समालोड्य दशाहगुप्तम् ॥ लौहे सुपात्रे विनिधाय तैलमक्षोद्भवं तत्र पचेत्प्रयत्नात् ॥ ३२ ॥ पक्वं च लौहेऽभिनवे

(श्लो० २८) अनेन इति–पूर्वसंपादितनीलीदलादियोगेन ।

निधार्य नस्यं विदध्यात्परिशुद्धकायः ॥ अभ्यंगयोगैश्च नियुज्यमानं भुंजीत माषान् कृशरामथो वा ॥ ३३ ॥ मासोपरिष्टाद्घनकुंचिताग्राः केशा भवंति भ्रमरांजनाभाः ॥ केशास्तथान्ये खलतौ भवेयुर्जरा न चैनं सहसाभ्युपैति ॥ ३४ ॥ बलं परं संभवतींद्रियाणां भवेच्च वक्त्रं वलिभिर्विमुक्तम् ॥ नाकामिने नार्थिनि नाकृताय नैवारये तैलमिदं प्रदेयम् ॥ ३५ ॥

सैरीय (कुरंट), जामुन, कुहा खंभारी, तिलके फूल, भांगरा, आमकी गुठली, सांठी काली कीचड (समुद्र तटकी उत्तम होती है) दोनों कटेली, कसीस, मैनफल, बीजकसार ॥ ३० ॥ त्रिफला, लोहचूर्ण, अंजन, मुलेठी, कमल, सारिवा इन सबको पीसकर मोदयंती (मल्लिका) मिलाकर बीजक (पीतसार) के सार जलसे घोले ॥ ३१ ॥ पीतसारका जल सात प्रस्थ लेकर सबको मिला मथकर लोहेके घडेमें डाल मुँह बंदकर दश दिन रख दे फिर उसमें बहेडेकी मींगीका तेल यत्नसे पकावे ॥ ३२ ॥ और इसे भी लोहेके घडेमें भरकर रक्खे फिर वमन रेचनादिसे शुद्ध होकर इसका नास लेवे और बालोंपर मले. इसका उपयोग करते समय उडद तथा कृशरा (तिल, तंडुलकी खिचडी) खावे ॥ ३३ ॥ इसके एक महीना करनेसे बाल गहरे, धुँघराले, भ्रमरके समान काले होजाते हैं और खलति (गंज) में लगानेसे बाल पैदा होजाते हैं और शीघ्रही बुढापा नहीं आता ॥ ३४ ॥ इन्द्रियोंमें परम बल होजाता है और चेहरेकी झुरी पडगई हों तो मिट जाती हैं यह तैल जो कामी न हो उसे न देवे, अर्थरहित (कंगाल या अनर्थी) को भी न देवे तथा अकृत (अकृतज्ञ) को भी नहीं देवे एवं शत्रुको भी नहीं देवे ॥ ३५ ॥

व्यंगादिनाशक घृत ।

लाक्षारोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च ॥ मंजिष्ठोग्रा स्यात्सुराष्ट्रोद्भवा च पत्तंगो वै रोचना चांजनं च ॥ ३६ ॥ हेमांगत्वक् पांडुपत्रं वटस्य कालीयं स्यात्पद्मकं पद्ममध्यम् ॥ रक्तं श्वेतं चंदनं पारदं च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः ॥ ३७ ॥ मेदोमज्जासिक्थकं गोघृतं च दुग्धं क्वाथैः क्षीरिणां च द्रुमाणाम् ॥ एतत्सर्वं पक्वमैकध्यतस्तु वक्त्राभ्यंगे सर्पिरुक्तं प्रधानम् ॥ ३८ ॥ हन्याद्व्यंगं नीलिकां चातिवृद्धां वक्त्रे जाताः स्फोटिकाश्चापि काश्चित् ॥ पद्माकारं

निर्व्यलीकं च वक्त्रं कुर्यादेतत्पीनगंडं मनोज्ञम् ॥ ३९ ॥ राज्ञामेतद्योषितां चापि नित्यं कुर्य्याद्वैद्यस्तत्समानां नृणाञ्च ॥ कुष्ठघ्नं वै सर्पिरेतत्प्रधानं येषां पादे संति वैपादिकाश्च ॥ ४० ॥

लाख, लोध, दोनों हलदी, मैनसिल, हरताल, कूट, नागकेशर, गेरू, वरना, मंजीठ, वच, फटकडी, पतंग, गोरोचन, अंजन (सुरमा और कई रसांजन लेते-हैं) ॥ ३६ ॥ चोक, दालचीनी, वडके पीले पत्ते, अगुरु, पद्माख और कमलके बीचका जीरा, लाल चंदन, सपेद चंदन, पारा तथा काकोल्यादिक गण इन सब-को दूधमें पीस ले ॥ ३७ ॥ चरवी, मज्जा, मोम और गौका घृत तथा दूध और दूधवाले वृक्षों (वट, गूलर आदि) का क्काथ इन सबको इकट्ठा करके पका लेवे यह घृत मुखपर मलनेमें प्रधान है ॥ ३८ ॥ यह घृत व्यंग (झाई), नीलिका (काले धब्बे) जो बहुत बढे हैं तथा मुँहके ऊपर जो छोटी २ फुन्सियां (मुहांसे आदि) हों उन सबको साफ कर देता है, मुखको कमलके समान सलवट रहित कर देता-है और कपोलोंको पुष्ट और मनोहर बनादेता है ॥ ३९ ॥ वैद्य इसे राजों और स्त्रियोंको तथा इनके समान अन्य मनुष्यों (धनाढ्य रूपाभिलाषियों) को नित्य (मुखपर) अभ्यंग करावे यह घृत कुष्ठको नाश करनेमें भी प्रधान है तथा जिनके पावोंमें वैपादिका (बिवाई) अधिक हों उनको भी हित है ॥ ४० ॥

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृंतम् ॥
पत्रं च दद्यान्मदयंतिकाया लेपोंगरागो नरदेवयोग्यः ॥४१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

हरीतकीका चूर्ण, नींबके पत्ते, आँबकी छाल, अनारके पुष्पका नीचेका भाग (अनारकी कली) और मदयंतिका (मल्लिका) के पत्ते इन सबको पीसकर मुँह-पर (चेहरे पर) लेप करनेसे रंग गोरा और साफ (सुन्दर चमकीला) होजाता है यह लेप नरदेव (राजा) लोगोंके योग्य है ॥ ४१ ॥

इति पं०मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः २६.

अथातः क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अब यहांसे अगाडी हम क्षीणबलीय वाजीकरणचिकित्साका व्याख्यान करते हैं अर्थात् क्षीण (निर्बल) नपुंसक मनुष्योंके बलवान् होनेके उपाय वर्णन करते हैं।

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ॥
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो नानिवारितः ॥ १ ॥

पहले अध्यायमें यह कह चुके हैं कि सब ऋतुओंमें तीन तीन दिनमें और गरमीमें पन्द्रह पन्द्रह दिनमें स्त्रीसंग करना चाहिये इसपर यहां इतना विशेष कहते- हैं कि कल्य (निरोग) पुरुष उदग्रवय चढती जवानीवाले (बीससे तीस वर्षकी अवस्था तक) तथा वाजीकरण पदार्थोंका सेवन करनेवाले पुरुषोंको सब ऋतुओंमें नित्य मैथुन करना वर्जित (और हानिकारक) नहीं ॥ १ ॥

स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् ॥ योषित्प्रसंगात्क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥ २ ॥ विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् ॥ नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः॥३॥

स्थविर (जिनकी जवानी ढल गई हो चालीस वर्षसे ऊपरकी अवस्थावाले), रिरंसु (जिनकी रमणक्रीडाकी इच्छा अधिक हो), जो स्त्रियोंके प्यारे होनेकी इच्छा रक्खें, जो स्त्रीप्रसंगसे क्षीण हो गये हों, जो क्लीब (नपुंसक) हो गये हों अर्थात् जिनमें पुरुषार्थ नहीं रहा हो, चैतन्यता न होती हो तथा जिनके वीर्य अल्प हो (जिससे कम चैतन्यता होती हो या ध्वजभंग हो) ॥ २ ॥ विलासी (भोग विलास करनेवाले), द्रव्यवान्, सुन्दररूप और यौवनवाले जिनके घरमें बहुत स्त्री हों ऐसे मनुष्योंको वाजीकरण योग हितकारक होते हैं ॥ ३ ॥

वाजीकरणकी निरुक्ति ।

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान् ॥
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥ ४ ॥

जिस पदार्थके उचित प्रकारसे सेवन करनेसे मनुष्य घोडेकी तरह अत्यंत वेग और पराक्रमवाला होकर स्त्रियोंको (मैथुनसे) तृप्त करे उसे वाजीकरण कहते हैं॥४॥

वाजीकरण पदार्थ ।

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च ॥ वाचः श्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा ॥ ५ ॥ यामिनी सेंदुतिलका

(श्लो० १) कल्यस्य रोगरहितस्य । उदग्रवयसः उन्नतिशीलस्य तरुणवयसः । अहरहः इति–नित्यं रात्रौ रात्रावेवेत्यभिप्रायः । (श्लो० २) क्लीबानामिति सहजातिरिक्तानाम् । (श्लो० ३) वाजीकरा योगाः त्रिविधाः वीर्यजनकाः प्रवर्तका उभयगुणाश्च । तत्र स्थविराणां क्षीणानां अल्परेतसां च वीर्यजनका योगा हिताः । रिरंसूनां विलासिनां रूपयौवनशालिनां च प्रवर्तका उभयगुणाश्च हिताः ।

कामिनी नवयौवना ॥ गीतं श्रोत्रमनोहारि तांबूलं मदिरा स्रजः ॥
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वंति मानवम् ॥ ६ ॥

विचित्र भोजन, नाना प्रकारके पान (पीनेके पदार्थ), कानोंको प्रिय वाणी, स्पर्शमें आनंद देनेवाली नरम शरीरकी त्वचा ॥ ५ ॥ शिखर चांदकी चांदनी रात, नयी तरुण स्त्री, सुननेमें मनोहर गीत, पानखाना, मद्यपीना, पुष्पोंकी माला और मनका अप्रतिघात (उत्साह) ये सब समान मनुष्यको वाजीकरण हैं ॥ ६ ॥

नपुंसकताके लक्षण ।

१ मानसक्लैब्य ।

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते ॥
द्वेष्यस्त्रीसंप्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम् ॥ ७ ॥

रमणकी इच्छावाले पुरुषके उस समय हृदयको अहितकारक पदार्थ या वरताव होके मनमें खिन्नता होनेसे तथा द्वेषयुक्त खोटी (मुँह फट पाठाठी जबरदस्त) स्त्रीके संग समय मनके वेग नष्ट होनेसे जो चैतन्यता नहीं होवे या होकर नष्ट होजावे तो इसे मानसक्लैब्य कहते हैं ॥ ७ ॥

दूसरे प्रकारकी क्लीवता ।

कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः ॥
सौम्यधातुक्षयो दिष्टं क्लैब्यं तदपरं स्मृतम् ॥ ८ ॥

अति चरपरे पदार्थ (लाल मिरच आदि), अति खटाई, अति गरम पदार्थ, अति लवण (क्षार आदि) खानेसे (तथा कच्ची पक्की धातु विषादिक जो बल बढानेको अयोग्य रीतिसे खाजाते हैं उससे) सौम्य धातु (ओज) (जो वीर्य और बलका कारण है) के क्षीण होजानेसे (वीर्य क्षीण होकर) नपुंसकता हो जाती है यह दूसरे प्रकारका क्लैब्य है ॥ ८ ॥

(वक्तव्य) अति तीक्ष्ण वस्तुओंके सेवनसे वीर्य पतला और दूषित तथा दग्ध होजानेसे यह क्लीवता होती है इसका हेतु पित्त है ॥

तीसरे प्रकारकी क्लीबता ।

अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः ॥
ध्वजभंगमवाप्नोति स शुक्रक्षयहेतुकम् ॥ ९ ॥

(श्लो० ७) तैस्तैर्भावैरिति—योगविस्रंभदोषदर्शनादिभिः (इति डल्हनः) अन्ये तु शब्दस्पर्शरूपरसगंधाद्यैरिति । द्वेष्यस्त्री इत्यत्र बलवत्यैश्वर्यवतीप्रभृतीनामपि ग्रहणम् । मनसि क्षते मनोजस्यापि क्षतिरिति कार्यकारणसंबधः ।

जो पुरुष अत्यंत मैथुन करते हैं और वाजीकरण क्रिया करते नहीं वे वीर्यके क्षय होजानेसे ध्वजभंगताको प्राप्त होते हैं (अर्थात् या तो उन्हें चैतन्यता होती ही नहीं या होकर शिथिलता हो जाती है) यह तीसरे प्रकारकी क्लीबता है इसका हेतु वीर्यकी अल्पता है ॥ ९ ॥

चौथे प्रकारकी नपुंसकता ।

महता मेढ्ररोगेण मर्मच्छेदेन वा पुनः ॥

क्लैब्यमेतच्चतुर्थं स्यान्नृणां पुंस्त्वोपघातजम् ॥ १० ॥

मेढ्र इंद्रियमें महारोग होनेसे (कोई नस टूटने या शूकरोग, उग्र उपदंशरोग आदिके होनेसे) अथवा मर्मच्छेदसे मर्मस्थानमें चोट लगने, कटजाने आदिसे जो मनुष्योंके पुरुषत्वका नाशक क्लैब्य हो जाता है यह चौथे प्रकारकी नपुंसकता है ॥१०॥

पांचवें प्रकारकी नपुंसकता ।

जन्मप्रभृति यः क्लीबः क्लैब्यं तत्सहजं स्मृतम् ॥ ११ ॥

जो (माता पिताके वीर्यके विकार या स्वल्पता अथवा अनुचित आहार, विहार या गर्भवती माताके अयोग्य आहार, विहार या ईश्वरेच्छासे) जन्मसेही नपुंसक हो (हीजडा हो) वह सहज क्लीबता कहाती है यह पांचवें प्रकारकी नपुंसकता है (कुंभीक आसेक्य आदि जो शारीरकस्थानमें कहे हैं वे सब इसीके भेद हैं)॥११॥

छठे प्रकारकी नपुंसकता ।

बलिनः क्षुब्धमनसो विरोधाद्ब्रह्मचर्यतः ॥

षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु स्थिरशुक्रनिमित्तजम् ॥ १२ ॥

बलवान् पुरुषके भी मनके क्षोभसे (मनके रोकनेसे) मैथुन संबंधी सामग्री और बातों आदिके विरोध रखनेसे तथा ब्रह्मचर्य (विशेष) रखनेसे शुक्र स्थिर होजाता है (शरीरमेंसे संचालन होकर शुक्रधरा कलामें नहीं आता और ऊर्ध्वगामीही रहता है जिससे मनुष्यको चैतन्यता नही होती) यह छठे प्रकारकी नपुंसकता है ॥ १२ ॥

असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत् ॥

साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः ॥ १३ ॥

जन्मकी नपुंसकता और मर्मच्छेदसे जो होवे ये दोनों असाध्य हैं (और शेष चार साध्य हैं) इन साध्योंकी मुख्य चिकित्सा यही है कि इनके हेतुके विपरीत क्रिया करे (जैसे शुक्रकी अल्पतासे हो तो वीर्यवर्द्धन प्रयोग करे, वीर्यके विका-

(श्लो० १३) मर्मच्छेदात् शुक्रवहानाडीच्छेदादिति (नि० सं०)

रसे हो तो उसकी शुद्धि करे, मानस क्लैब्य हो तो मनकी शंकाको निकाल दे, स्थिर शुक्रसे हो तो स्त्रियोंके हावभाव तथा अन्य ऐसीही बातोंमें विशेष संपर्क रक्खे जिससे शुक्र द्रवीभूत होकर अधोगामी हो) इत्यादि ॥ १३ ॥

इन बातोंकी विशेष विवेचना और हरेक प्रकारकी क्लीबता आदिका यत्न और पौष्टिक योग अधिक देखने हों तो हमारे यहांकी "शरीरपुष्टिविधान" नामक पुस्तक देखिये ॥

वाजीकरणप्रयोग ।

विधिर्वाजीकरो यस्तु तं प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥ १४ ॥ तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा ॥ पौण्ड्रकेक्षुरसेनार्द्रमर्दितं सैंधवान्वितम् ॥ १५ ॥ वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत् ॥ तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम् ॥ १६ ॥

इससे अगाडी अब हम जो वाजीकरणकी विधि है उसे वर्णन करते हैं ॥१४॥ तिल, उडद और विदारीकंदका चूर्ण और शाली चावलोंका चून इन्हें पौंडेके रसमें सानकर सैंधा नमक मिला ॥ १५ ॥ शूकरकी चरबी (सांट) सहितकर घृतसे लपसी बनावे इसे खाकर पुरुष सौ स्त्रियोंसे संग कर सकता है ॥ १६ ॥

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ॥ शिशुमारवसापक्काः शष्कुल्यस्ते स्तिलैः कृताः ॥ यः खादेत्स पुमान्गच्छेत्स्त्रीणां शतमपूर्ववत् ॥ १७ ॥ पिप्पलीलवणोपेतं बस्तांडं क्षीरसर्पिषा ॥ साधितं भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत्प्रमदाशतम् ॥ १८ ॥ पिप्पलीमाषशालीनां यवगोधूमयोस्तथा ॥ चूर्णभागैः समैस्तैस्तु घृतैः पूपालिकां पचेत् ॥ १९ ॥ तां भक्षयित्वा पीत्वा तु शर्करामधुरं पयः ॥ नरश्चटकवद्गच्छेद्दशवारान्निरंतरम् ॥ २० ॥

बकरेके अंडकोशमें सिद्ध किये हुए दुग्धसे तिलोंको कईवार भावना देकर शिशुमार नाम जलजंतुकी चरबीसे पकाकर पूरियां बनावे फिर जो पुरुष इन्हें खावे वह सौ स्त्रियोंसे बेथकाव संग कर सकता है ॥ १७ ॥ पीपल, सैंधा नमक लगाकर बकरेके अंडोंको दूध और घृतमें साधन करे (घृतमें भून ले फिर गरम दूधमें छोड दे) इन्हे जो खावे वह सौ स्त्रियोंसे संग कर सकता है ॥ १८ ॥ पिप्पल, उडद, चावल, जौ और गेहूँ इनके चूनको सम भाग लेकर घृतमें पूरी बना लेवे

(श्लो० १७) शिशुमारनामा जलजंतुः सूस इति लोके ।

इन्हें खाकर दूध शर्करा युक्त पीवे तो पुरुष चिडेकी तरह निरंतर दशवार स्त्रीसंग कर सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

चूर्णं विदार्याः सुकृतं स्वरसेनैव भावितम् ॥ सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दशस्त्रीरधिगच्छति ॥ २१ ॥ एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम् ॥ शर्करामधुसर्पिर्भिर्युक्तं लीढ्वा पयः पिबेत् ॥ एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति ॥ २२ ॥

विदारीकंदके चूर्णमें विदारीकंदकेही स्वरसकी भावना दे और फिर उस (विदारीचूर्ण) में घृत तथा शहत मिलाकर (एक कर्ष) चाटे तो दश स्त्री संग कर सके ॥ २१ ॥ इसी प्रकार आंवलोंको आंवलोंके स्वरसकी भावना देकर उसे खांड, शहत और घृत मिलाकर चाटे, ऊपरसे दूध पीवे इससे अस्सी वरसका बुड्ढा भी जवानकी तरह हर्षित हो (स्त्रीसंग कर) सकता है ॥ २२ ॥

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते ॥ शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम् ॥ २३ ॥ कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ॥ महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ॥ २४ ॥ अश्वत्थफलमूलत्वक्छुंगासिद्धं पयो नरः ॥ पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिंग इव हृष्यति ॥ २५ ॥

पीपल और लवणसे मिलाकर घृतमें साधन किये हुए बकरेके अंडकोश अथवा शिशुमार (सूस नाम जंतु) के अंड खावे तो ये दोनों परम वाजीकरण हैं ॥ २३ ॥ कुलीर (केकडे), कछुवे और मगर इनके अंडोंको भी इसी प्रकार खावे तो वाजीकरण हो अथवा महिष, वृषभ (सांड) तथा बकरेका वीर्य पीवे (इससे भी परम पुरुषार्थ होता है) यह शुक्रपान आसेक्य नपुंसकोंको विशेष हित होता है) ॥ २४ ॥ अथवा पीपलके फल, जड, छाल और कोंपल इन सबमें सिद्ध किया हुआ दुग्ध शर्करा और शहतके संग पीवै तो चिडेकी तरह (कामदेवका) हर्ष होवे ॥ २५ ॥

विदारीमूलकल्कं तु घृतेन पयसा नरः ॥ उदुंबरसमं पीत्वा वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ २६ ॥ माषाणां पलमेकं तु संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा ॥

(श्लो० २४) कुलीरः कर्कटः गृहचटक इत्यन्ये मत्स्यविशेष इत्यपरे (इति नि० स०) अण्डमत्र प्राणाधानो वर्तुलः नतु मुष्कः (इति डल्हनः) (श्लो० २५) शुंगाः अग्रपल्लवाः ॥

अवलिंह्य पयः पीत्वा तेन वाजीभवेन्नरः ॥ २७ ॥ क्षीरपक्कांस्तु गोधूमानात्मगुप्ताफलैः सह ॥ शीतान्घृतयुतान्खादेत्ततः पश्चात्पयः पिबेत् ॥ २८ ॥

अथवा विदारीकंदका कल्क उदुंबर प्रमाण (कर्ष भर) घृत और दूधके साथ पीवे तो बूढा भी तरुणके समान हो जावे ॥ २६ ॥ अथवा एक पल उडदोंको पीसकर शहत और घृत मिलाकर चाटे, ऊपरसे दूध पीवे इससे पुरुष घोडेके तुल्य होजाता है ॥२७॥ अथवा गेहूं और कौंचके बीजोंकी दलिया बनाकर उनको दूधमें पकावे (खीर बनाले) और फिर ठंढा करके उसमें घृत मिलाकर खावे, ऊपरसे वही दूध पीवे (या गेहूं और कैंवचके बीज दूधमें उबालले और फिर ठंढाकरके घृत मिलाकर खावे ऊपरसे वही दूध पी जावे) (इसमें शर्करा या शहत, घृत मिला सकते हैं ॥ २८ ॥

पादाभ्यंगसे स्तंभन ।

नक्रमूषिकमंडूकचटकांडकृतं घृतम् ॥पादाभ्यंगेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत् ॥ यावत्स्पृशति नो भूमिं तावद्गच्छेन्निरंतरम् ॥ २९ ॥

नक्र (मगर), मूसा, मेंडक और चिडा इनके अंडेसे घृत सिद्ध करे और उस घृतको पावों (तलवों)में मले इससे बहुत बल और स्तंभन होता है परन्तु पृथ्वी पर पावँ नहीं रक्खे, जबतक पावोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करता तबतक बराबर गमनकी शक्ति स्थित रहे (वीर्यपात न होवे) ॥ २९ ॥

अन्य वाजीकरणयोग ।

स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम् ॥ धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥ ३० ॥ उच्चटाचूर्णमप्येवं क्षीरेणोत्तमिष्यते ॥ शतावर्य्युच्चटामूलं पेयमेवं बलार्थिना ॥ ३१ ॥ स्वयंगुप्ताफलैर्युक्तं माषसूपं पिबेन्नरः ॥ ३२ ॥

कौंचके बीज और तालमखानेका चूर्ण मिश्री मिलाकर (एक कर्षभर) धारोष्ण दूधके संग पीवे तो बल और वीर्यमें क्षीणता न हो (बलकी वृद्धि हो)॥३०॥ अथवा उच्चटाके चूर्णको भी इसी प्रकार (मिश्री मिलाकर) दूधके संग पान करना

(श्लो०३१) उच्चटा गुंजायां लशुनभेदे चूडालायां भूम्यामलक्या नागरमुस्तायां च (इतिश.स्तो.) केचित्तु उच्चटा चट्टंकणकमाहुः । डल्हनमते तु उच्चटा श्वेतदुर्वारिका स्वल्पविटपः प्रायशो नदीतीरे दृश्यते (इति नि. सं.)

उत्तम है अथवा शतावरी और उच्चटाकी जड इसी प्रकार बलकी इच्छा करनेवालोंको पीना चाहिये.(उच्चटा कोई चिरमठीको यहां मानते हैं कोई भूम्यामलकी कहते हैं, कोई उटंगनके बीज कहते हैं। हमारी समझमें उटंगनके बीज ठीक हैं) ॥ ३१ ॥ अथवा केंवचके बीजोंसे युक्तकर उडदकी दाल पकाकर पुरुष पीवे यह भी परम वाजीकरण है ॥ ३२ ॥

गुप्ताफलं गोक्षुरकाच्च बीजं तथोच्चटां गोपयसा विपाच्य ॥ खजाहतं शर्करया च युक्तं पीत्वा नरो हृष्यति सर्वरात्रम् ॥ ३३ ॥
माषान् विदारीमपि सोच्चटां च क्षीरे गवां क्षौद्रघृतोपयुक्ताम् ॥ पीत्वा नरः शर्करया सुयुक्तां कुलिंगवद्धृष्यति सर्वरात्रम् ॥ ३४ ॥

केंवचके बीज, गोखरू तथा उच्चटा इन्हे गायके दूधमें पकाकर रईसे मथे और फिर इसमें सुपेद शर्करा मिलाकर पीजावे इससे पुरुष रातभर मैथुनी शक्तिसे आनंदित रहे ॥ ३३ ॥ अथवा उडद, विदारीकंद और उच्चटा इन्हें गायके दूधमें पकाकर शहद और घृत मिलाकर शर्करा डालकर पीजावे तो पुरुष रातभर चिडेकी भांति मैथुन करनेमें आनन्दको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषपर्णभृतां गवाम् ॥ यत्क्षीरं तत्प्रशंसंति बलकामेषु जंतुषु ॥ ३५ ॥ क्षीरमांसगणः सर्वः काकोल्यादिश्च पूजितः ॥ वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तु प्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

प्रथम वारकी ब्याई गाय जिसका बच्छा बडा हो (चार पांच महीनेसे ज्यादा एक वर्षका हो)उसे उडदके पत्ते खिलावे उसका जो दूध हो वह बलाकांक्षी जीवों (पुरुषों) के लिये बहुत श्रेष्ठ है (उडदके हरे पत्र फली समेत खिलाने चाहिये॥ ॥ ३५ ॥ सब प्रकारके दूध और मांस तथा काकोल्यादिगण वाजीकरणके लिये श्रेष्ठ हैं इससे इनका सेवन करते रहे ॥ ३६ ॥

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः ॥
सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया ॥ ३७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

ये ऊपर कहे हुए वाजीकरणप्रयोग हर्ष, संतान और बलके देनेवाले हैं इन्हें विरेचनादिसे शुद्ध और अच्छे शरीरवालोंको समय विचारकर सेवन करना चाहिये ३७

इति पं० मुरलीधर वि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(श्लो० ३५) गृष्टी प्रथमप्रसूता गौः । वृद्धवत्सानामेकवर्षवत्सानाम् । माषपर्णभृतामिति–माषपर्णपोषितानां माषपर्णानि हरितानि फलसहितान्यभिप्रेतानि नतु शुष्काणीति (नि. सं.) ।

सप्तविंशतितमोऽध्यायः २७.

अथ रसायनतंत्रम् ।

अथातः सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम समस्त उपघातोंके शमन करनेवाली रसायनविधिका व्याख्यान करते हैं ॥

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम् ॥ प्रयुंजीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥ १ ॥ नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः ॥ न भाति वासांसि क्लिष्टे रंगयोग इवाहितः ॥ २ ॥

प्रथम अवस्थामें अथवा मध्यम अवस्थामें मनुष्यको बुद्धिमान् वैद्य रसायनका उपयोग करावे परंतु पहले स्नेहनसे स्निग्ध और विरेचनादिसे शुद्ध शरीर करके सदा रसायनका उपयोग करे ॥ १ ॥ क्योंकि विना शुद्ध शरीरके रसायनविधि योग्य नहीं होती जैसे मैले वस्त्रपर श्रेष्ठ रंगका योग नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

(वक्तव्य) रसायन शब्दका अर्थ यह है कि " रसादिधातूनामिदमाप्यायनं रसायनम्" रस, रक्त, मांस आदि सातों धातुओंकी जो पुष्टि करे उसे रसायन कहते हैं अथवा "वर्द्धकस्थापकमप्राप्तपाकं वेत्यर्थः" जो वृद्धि करे और स्थिति रक्खे तथा पाकको प्राप्त न हो उसे रसायन कहते हैं यह डल्हनमिश्रने लिखा है और शार्ङ्गधरमें ऐसा लिखा है कि "रसायनं तु तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्" जो द्रव्य जरा (बुढापा) और व्याधियोंका नाश करे अथवा बुढापेकी व्याधियों (पलितादि)को जो नष्ट करे वह रसायन है ॥

रसायनका प्रयोग दो प्रकारका होताहै १ कुटीप्रावेशिक, २ वातातपिक इन दोनोंमेंसे कुटीप्रावेशिक वह है जोकि धूमातपादिसे रहित कुटीमें विधिपूर्वक प्रवेश करके किया जाता है यह मुख्य है और जिसमें इसके विपरीत वायु तथा धूप आदिके सहनेका निषेध न हो वह वातातपिक कहाता है । फिर यह रसायन तीन प्रकारका होता है १ काम्य, २ नैमित्तिक, ३ आजस्रिक इनमेंसे जो बल और आयुकी कामनासे कियाजाय वह काम्य है और जो व्याधिके कारणसे कियाजाय वह नैमित्तिक है तथा जो क्षीरादिके अभ्याससे हो वह आजस्रिक है ॥

(श्लो० १) रसादिधातूनामिदमाप्यायनं रसायनं तद्विविधं कुटीप्रावेशिकं वातातपिकं च पुनस्त्रिविधं काम्यं नैमित्तिकम् आजस्रिकं च वामाद्याकामः श्रीकामः इत्यादिकं काम्यं नैमित्तिकं व्याधिनिमित्तम् आजस्रिकं क्षीरघृताभ्यासादिकम् (इति नि० स०) ।

शरीरस्योपघाता ये दोषजा मानसास्तथा ॥
उपदिष्टा प्रदेशेषु तेषां वक्ष्यामि वारणम् ॥ ३ ॥

वातादि दोषोंसे उपजे हुए (रोग आदि) तथा मानस (मनके विकार आदि) जो शरीरके उपघात (नाशक) पहले कहेगये हैं उनके निवारण करनेके अर्थ (रसायनविधिका) वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

साधारण रसायन योग ।

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः ॥
त्रिशः समस्तमथवा प्राक्पीतः स्थापयेद्वयः ॥ ४ ॥

ठंढा पानी, दूध, शहत, घृत ये एक एक अथवा कोईसे दो मिलाकर या तीन मिलाकर या चारों मिलाकर पहले पीनेसे अवस्थाकी स्थिति होती है ॥ ४ ॥

विडंगरसायन ।

तत्र विडंगतंडुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुंजीत शीततोयं चानुपिबेदेवमहरहर्मासं तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा मधुद्राक्षाक्वाथयुक्तं वा मध्वामलकरसाभ्यां वा गुडूचीक्वाथेन वा एवमेते पंच प्रयोगा भवंति जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवंतमोदनमश्नीयात् एते खल्वर्शांसि क्षपयंति कृमीनुपघ्नंति ग्रहणधारणशक्तिं जनयंति मासे मासे प्रयोगे वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

वायविडंगके चावल अर्थात् दोनोंकी गिरी निकाल ले उसका चूर्णकर मुलेठीका चूर्ण मिला बलके अनुसार ठंढे पानीके संग खावे और ऊपरसे भी ठंढा पानी पीवे इसीप्रकार नित्य एक महीनेतक करे अथवा इसीको शहत मिलाकर भिलावेंके क्वाथके संग पीवे अथवा शहत मुनक्काके और क्वाथमें मिलाकर पीजावे अथवा शहत और आंवलोंके रसके साथ पान करे अथवा गिलोयके क्वाथके साथ पीवे ऐसे ये पांच प्रयोग हैं इनके पच जाने पर मूंग और आंवलोंके अलोने तथा थोडे घृतसे युक्त यूषके संग घृतसे चिकने भातका भोजन करे ये प्रयोग सब भांतिकी बवासीरके मस्से गिरा देते हैं, कृमियोंको नष्ट करते हैं, ग्रहण और धारणकी शक्ति उत्पन्न करते हैं एक २ महीने प्रयोग करनेसे एक एक सौ वर्षकी आयु बढजाती है ॥ ५ ॥

विडंगकी उत्कृष्टविधि ।

विडंगतण्डुलानां द्रोणं पिष्टपचने पिष्टवदुस्वेद्य विगतकषायं

(वा० ६) पिष्टपचनमिति पिष्टं पच्यतेऽनेन पिष्टपाकपात्रं कटाहादिकम् (इति श० स्तो०)-

स्विन्नमवतार्य दृषदि पिष्टमायसे दृढे कुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि भस्मराशावंतर्गृहे चतुरो मासान्निदध्याद्वर्षाभिगमे चोद्धृत्योपसंस्कृतशरीरः सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा प्रातःप्रातर्यथाबलमुपयुंजीत् । जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवंतमोदनमश्नीयात्पांशुशय्यायां शयीत ॥ ६ ॥

वायविडंगकी मींगी निकालकर एक द्रोण भर लेवे और उसे कडाही या टोंकनीमें डालकर उबाले और फिर इसको दलियेकी तरह सिजावे जब पानी जल जावे और विडंग सीज जावे तब उतार ले और पत्थरपर डालकर पिट्ठीकी तरह पीस लेवे फिर इसे लोहेके दृढ घडेमें भरदेवे और ऊपर शहत पानी भर देवे फिर (मुँह बंदकर) वर्षा ऋतुमें राखके ढेरमें छाया युक्त मकानमें गाड दे और चार महीनेतक गडा रहने दे फिर वर्षाके व्यतीत होने पर उखाड लेवे और वमन, तथा विरेचनादिसे शरीरका संस्कार करके सहस्रसंपाताध्यायोक्त रोगनाशक मंत्रोंसे हवन करके नित्य प्रातःकाल बलके अनुसार उपयोग करे । जब यह पच जावे तब मूँग और आंवलोंके अलोने, कम चिकने यूषके साथ घृतयुक्त भात खावे और छाने हुए रेतके विछौना पर सोवे ॥ ६ ॥

तस्य मासादूर्द्धं सर्वांगेभ्यः कृमयो निःक्रामंति तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेद्द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूकास्तथैवापहरेच्चतुर्थे दंतनखरोमाण्यवशीर्यंते पंचमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायंते अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि चास्य भवंति रजस्तमसी चापोह्य सत्त्वमधितिष्ठति श्रुतिनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजबलोऽश्वजवः पुनर्युवाष्टौ वर्षशतान्यायुरवाप्नोति ॥ ७ ॥

ऐसा करनेसे एक महीनेके पीछे समस्त शरीरमेंसे कीडे निकलते हैं इनपर अणुतैल (जो पहले कहा गया है) मर्दन करे और बांसकी पच्चटसे या बांसकी चिमटीसे उन कीडोंको (उसका परिचारक) हटाता रहे फिर दूसरे महीनेमें

सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा इति–सहस्रसंपाताध्यायोक्तरुग्वधादिमंत्रैः सहस्रं होमं कृत्वोपयुंजीत तत्प्राक्तनकर्मक्षयार्थं विघ्नक्षयार्थं वा (इति नि० सं०) । (वा० ७) वंशविदलेन वंशचटिकया सदंशेन वा ।

चींटियां और तीसरे महीनेमें जूँ समस्त शरीरसे निकलते है इन्हें भी पूर्वोक्त प्रकारसे दूर करे। चौथे महीनेमें दांत नख और रोम (बाल) सब गिरजाते हैं फिर पांचवें महीनेमें श्रेष्ठ गुण, लक्षणवाले नये दांत, नख और रोम (बाल) पैदा होते हैं, अमानुष (दिव्य) और सूर्यके प्रकाशवाला सुंदर नवीन शरीर होजाता है और दूरकी वार्ता सुनने तथा दूरकी वस्तु देखनेकी शक्ति उसे प्राप्त होजाती है, रजोगुण और तमोगुण दूर होकर सत्त्वगुण उपस्थित होजाता है, वेद वक्ता तथा अपूर्वका उत्पन्नकर्ता होजाता है, हाथीकासा बल और घोडेकासा वेग होजाता है, फिर तरुण अवस्था (जवानी) आजाती है और आठसौ ८०० वर्षकी अवस्था(उमर) प्राप्त होजाती है ॥ ७ ॥

तस्याणुतैलमभ्यंगार्थे अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे चंदनमुपलेपार्थे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च॥ ॥ ८ ॥ काश्मर्याणां निष्कुलीकृतानामेष एव कल्पः पांशुशय्याभोजनवर्ज्यम्। अत्र हि पयसा शृतेन भोक्तव्यं आशिषश्च पूर्वेण समानाः शोणितपित्तनिमित्तेषु विकारेष्वेतेषामुपयोगः ॥ ९ ॥

इसके मलनेके लिये अणुतैल और उत्सादनके लिये अजकर्ण (महासर्ज) का क्वाथ और स्नानके लिये खसयुक्त कूवेका (ताजा) जल और लेपनके लिये चंदन चाहिये और सब आहार, परिहार भिलावेंकी विधिके समान रक्खे ॥ ८ ॥ इसी प्रकार खंभारीका छिलका उतारकर यही विधि करे उसमें रेतका सोना और पूर्वोक्त भोजन वर्जित है इसमें औटाये हुए दूधके संग भात खावे और सब उपदेश पूर्ववत जानों, रक्तपित्तजनित विकारोंमें इन खंभारियोंका (कल्प) उपयोग करे ॥ ९ ॥

बलादिरसायनविधि।

यथोक्तमागारं प्रविश्य बलामूलार्द्धपलं पलं वा पयसालोड्य पिबेज्जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः। एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य द्वादश-

---

(वा० ८) उत्सादनम् उत्सारणम् उद्वर्तनं च (इति श.स्तो.) (वा० १०) यथोक्तमागारमिति-कुटीरचनाविधि वृद्धवाग्भट आह-क्षेमसुभिक्षधार्मिकश्रद्धधानजननृपतिवैद्यविप्रे सुलभमहौषधिघृतक्षीरपथ्यभोजनोपकरणे ग्रामे नगरे वा पूर्वोत्तरस्यां दिशि प्रागुदक्प्रवणे सुविभक्तविहारोद्देशे देशे दृढघनसुमृष्टभित्तिमुत्सेधविस्तारसंपन्नां सूक्ष्मलोचना त्रिगर्भामृतुसुखा निवातां प्रवातैकदेशां प्राग्द्वारामुदग्द्वारां वा शमीबिल्वक्षीरिवृक्षपरिगृहीतामनिष्टेंद्रियार्थवातातपरजोधूमस्वेदक्लेददंशमशकसरीसृपव्यालबालस्त्रीदासांतावसायिनामगम्यां सन्निहितवैद्यपरिचारकोपकरणां कुटीं कारयेत् तस्यां रसायनार्थी शरदि वसते शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि पूजयित्वा यथार्थं देवगुरुवृद्धान्प्रणम्य दक्षाश्विप्रभृतीन्परिमृज्य सुवर्णघृतमधुसिद्धार्थकप्रियंगुरोचनाः प्रदक्षिणी कृत्य गोब्राह्मणमनुप्रविशेत्।

वर्षाणि वयस्तिष्ठति। एवं दिवसशतमुपयुज्य वर्षशतं वयस्तिष्ठति ॥ १० ॥ एवमेवातिबलानागबलाविदारीशतावरीणामुपयोगः विशेषतस्त्वतिबलामुदकेन नागबलाचूर्णं मधुना विदारीचूर्णं वा क्षीरेण शतावरीमप्येवं पूर्वेणान्यत्समानमाशिषश्च समाः। एतास्त्वौषधयो बलकामानां शोणितच्छर्दयतां विरिच्यमानानां चोपदिश्यंते॥ ११ ॥

यथोक्त स्थान (कुटी या घर) में प्रवेश होकर खिरेंटीकी जड आधेपल या एक पल दूधमें (-पीसकर) घोलकर पीवे और पचजानेपर दूध चावल घृतयुक्त खावे इस प्रकार बारह दिन करनेसे बारह वर्षकी अवस्था बढ जाती है और सौ १०० दिन इसी प्रकार करनेसे सौ १०० वर्षकी अवस्था हो जाती है ॥ १० ॥ इसी तरह अतिबला (कंघी), नागबला (गुलशकरी) और विदारी तथा शतावरीका भी उपयोग होता है परन्तु इतना विशेष है कि अतिबलाको जलके साथ पीना और नागबलाका चूर्ण शहतके साथ पान करना और विदारीका तथा शतावरीके चूर्णको दूधके साथ पीना चाहिये शेष सब पूर्वोक्तके समानही करना। ये औषधियाँ बलकी वांछावाले पुरुषोंको तथा रुधिरकी वमन एवं रक्त दस्तोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये उचित हैं ॥ ११ ॥

वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसालोड्य पिबेज्जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः। प्रतिषेधोत्र पूर्ववत्। क्रियाप्रयोगमुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम् ॥१२॥ एतेनैव चूर्णेन पयोवचूर्ण्य शृतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुंजीत सायं प्रातरेककालं वा जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः। एवं मासमुपयुज्य वर्षशतमायुर्भवति ॥ १३ ॥

वाराहीकंदका चूर्ण तुलाभर करलेवे फिर उसकी (यथाबल) मात्रा शहतमें मिलाकर दूधमे घोलकर पीजावे, पचजानेपर दूध और घृतसे युक्त भात खावे इसमें पथ्यादिक सब पहलेके अनुसार हैं। इस क्रियाका उपयोग करनेवाला सौ १०० वर्षकी अवस्था प्राप्त करता है और स्त्रीसंगमें क्षीण कभी नहीं होता ॥ १२ ॥ अथवा इस वाराहीकंदके चूर्णको दूधपर बुरका दे और उस दूधको औटावे, ठंढा होने (दही जमनेपर) मथकर घृत निकाल ले उस घृतमें शहत मिलाकर सन्ध्या, सवेरे दोनों वार अथवा एक ही समय पान करे जब यह पचजावे तब दूध और

घृतसे युक्त भात खावे इसप्रकार एक महीनातक उपयोग करनेसे सौ १०० वर्षकी आयु हो जाती है ॥ १३ ॥

चक्षुःकामः प्राणकामो वा बीजकसाराग्निमंथमूलं निःक्वाथ्य माषप्रस्थं साधयेत्तस्मिन्सिध्यति चित्रकमूलानामक्षमात्रं कल्कं दद्यादामलकरसचतुर्थभागं ततः स्विन्नमवतार्य सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा शीतीभूतं मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्योपयुंजीत यथाबलं लवणं परिहरन्भक्षयेज्जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवंतमोदनमश्नीयात्पयसा वा मासत्रयमेवाभ्यां प्रयोगाभ्यां चक्षुः सौपर्णवद्भवत्यनल्पबलो बलवांस्त्रीषु चाक्षयो वर्षशतायुर्भवतीति॥१४॥

भवति चात्र–

चक्षु (दृष्टि) स्थिर रहनेकी कामनावाला और बलकी कामनावाला मनुष्य बीजकसार और अरनीकी जड (पलभर आढक जलमें) क्वथित करे उसमें फिर प्रस्थभर उडद सिद्ध करे, सीजते समय चित्रककी जडका अक्षमात्र कल्क डालदे और उडदोंसे चौथाई आंवलेका रस डाले जब सीज जावें तब उतार लेवे और सहस्रपाताध्यायोक्त हवन करके उन्हें ठंढा होनेपर शहत और घृत मिलाकर बलके अनुसार खालेवे और इनके खानेमें लवणको त्याग दे जब ये पचजावें तब मूँग और आँवलेके अलोने यूषके साथ घृतयुक्त भात खावे अथवा दूधके संग खावे तीन महीने तक इन २ प्रयोगोंके करनेसे गरुडके समान दिव्य दृष्टि होजाती है और अत्यन्त बलवान् शरीर होजाता है तथा स्त्रीसंगमें क्षीण कभी नहीं होता और सौवर्षकी आयु होजाती है ॥ १४ ॥ इस विषयमें श्लोक है–

पयसा सह सिद्धानि नरः सनफलानि यः ॥
भक्षयेत्पयसा सार्द्धं वयस्तस्य न शीर्यते ॥ १५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

दूधसे सिद्ध किये हुए सनफल (घंटापारुलीके फल) जो मनुष्य दूधकेही संग खावे उसकी अवस्था क्षीण नहीं होवे जैसीकी जैसी बनी रहे ("नरः सनफलानि" की जगह "नरो सनफलानि" ऐसा भी पाठ कई मानते हैं वहां असनफल अर्थात् विजयसारके फलोंको दूधमें सिजाकर दूधसे खावे तो अवस्था क्षय न हो ऐसा अर्थ होता है और यह उचित भी है ॥ १५ ॥

इति पं०मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने रसायनविधौ सप्तविंशोऽध्यायः॥२७॥

(वा० १४) बीजकसारः विजयसार इति ।

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः २८.

अथातो मेधायुष्कामीयं रसायनं व्याख्यास्यामः।

अब यहांसे अगाडी हम मेधा (बुद्धि) और आयुके (बढानेकी) कामनावाली रसायनविधिका व्याख्यान करते हैं।

बाकुचीका प्रयोग।

मेधायुःकामः श्वेतावल्गुजफलान्यातपपरिशुष्काण्यादाय सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा गुडेन सह समालोड्य स्नेहकुंभे सप्तरात्रं धान्यराशौ निदध्यात्। सप्तरात्रादुद्धृत्य हृतदोषस्य यथाबलं पिंडं प्रयच्छेदनुदिते सूर्ये उष्णोदकं चानुपिबेद्भल्लातकविधानवच्चागारप्रवेशो जीर्णौषधश्चापराह्णे हिमाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रः शालीनां च षष्टिकानां पयसा शर्करामधुरेणौदनमश्नीयात्। एवं षण्मासानुपयुज्य विगतपाप्मा बलवर्णोपेतः श्रुतिनिगादी स्मृतिमानरोगी वर्षशतायुर्भवति॥ १॥

बुद्धि और आयुकी वांछावाला मनुष्य सुपेद बावचीके बीजोंको धूपमें सुखाकर महीन पीस ले और गुडमें मिलावे फिर घृतके चिकने घडेमें भरकर सात दिनरात धान्यके ढेरमें गाड देवे फिर सात दिनके पीछे निकालकर (वमन, रेचनादिसे) शरीरके दोष दूर करके बलके अनुसार सूर्य निकलनेसे पहले (प्रभात) उस पिंडमेंसे एक पल लेकर खालेवे, ऊपरसे गरम पानी पीवे और भल्लातकविधानकी भांति स्थानमें प्रविष्ट रहे जब औषध पचजावे तब तीसरे पहर ठंढे पानीसे शरीरका अभिषेक करे (स्नान करे) फिर शालि या षष्टिक चावलोंका भात दूध, खांडसे खावे इस प्रकार छः ६ महीनेतक करनेसे सब पाप दूर होकर बल और रूपसे युक्त वेदवक्ता (श्रुतिधारी), स्मृतिवाला रोगरहित होकर सौ बरसकी आयुवाला होजाता है॥ १॥

कुष्ठिनं[1] पांडुरोगिणमुदरिणं[2][3] वा[4] कृष्णाया[5] गोमूत्रेणालोड्यार्द्धपलिकं[6] पिं[7]डं विगतलौहि[10]त्ये सवि[11]तरि पाययेत[12] पराह्णे चालवणेनामलकयूषेण सर्पिष्मंतमोदनमश्नीयात्। एवं मासमुपयुज्य

(गद्य १) अवल्गुजा वाकुची (बावची इति लोके) अत्र सा श्वेता ग्राह्या (इति नि. सं.)

(गद्य २) कृष्णाया इति–कृष्णाया बाकुच्याः तेन कृष्णावल्गुजानां मूलेन पाययेत (इति डल्लनः) कृष्णाया पिप्पल्याः (इति जैज्जटः) केचित् कृष्णाया गोः मूत्रेणेति वदंति तत्तु न सम्यक्।

स्मृतिमानरोगी वर्षशतायुर्भवति॥२॥ एष एवोपयोगश्चित्रमूलानां रजन्याश्चित्रकमूले विशेषो द्विपलिकं पिंडं परं प्रमाणं शेषं पूर्ववत् ३॥

कुष्ठवालेको, पांडुरोगीको और उदररोगवालेको काली वाकुचीके बनाये हुए आधे पल पिण्डको गौके गोमूत्रमें घोलकर सूर्यकी सुरखी होजाने पर (दिन निकले) पिला दे और फिर पराह्ण कालमें (तीसरे पहर) अलोने आँवलोंके यूषसे घृतयुक्त भात खावे इस भांति एक महीनेतक करनेसे स्मृतिवाला (जो बातको कभी न भूले) निरोगी होकर सौ वर्षकी अवस्थावाला हो जावे ॥२॥ इसी तरह चित्रककी जडका और हलदीका भी प्रयोग होता है (ऐसे ही उन्हें भी गुडमें मिला घृतकुंभमें रख पिंड बनावे) विशेष इतना ही है कि चित्रककी जडका पिंडा दो पल प्रमाण (खाना) चाहिये शेष सब पहले (वाकुचीके प्रयोग) के समान करे॥३॥

मंडूकपर्णीके प्रयोग ।

हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागारं प्रविश्य मंडूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथावलं पयसालोड्य पिबेत्पयोनुपानं वा तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुंजीत। तिलैर्वा सह भक्षयित्वा त्रीन्मासान्पयोनुपानं जीर्णे पयसः सर्पिरोदन इत्याहारः। एवमुपयुंजानो ब्रह्मवर्चसी श्रुतिनिगादी भवति वर्षशतमायुरवाप्नोति॥४॥ त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनां भक्षयेत्त्रिरात्रादूर्ध्वं पयःसर्पिरिति चोपयुंजीत। बिल्वमात्रं पिंडं वा पयसालोड्य पिबेदेवं दशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥ ५॥

वमन, विरेचनादिसे शरीरके दोष नष्ट करके प्रतिसंसृष्ट भक्त होकर (प्रतिसंसृष्टभक्तका अर्थ पहले लिख चुके हैं) क्रमसे स्थानमें प्रविष्ट होकर मंडूकपर्णी (ब्राह्मीका भेद) का स्वरस निकालले और सहस्रसंपाताभिहुत करके बलके अनुसार दूधमें घोलकर पीजावे अथवा वह रस पीकर दूध पीजावे जब वह पचजावे तब जौका भोजन दूधके संग खावे अथवा ब्रह्ममांडूकीको तिलोंके संग मिलाकर खावे और ऊपरसे दूधका अनुपान करे ऐसे तीन महीने करे, पचजानेपर (नित्य) दूध और घृतसे युक्त भात खावे इसप्रकार उपयोग करनेसे ब्रह्मतेजवाला, वेदवक्ता होजाता है और सौ वर्षकी आयु होजाती है ॥ ४ ॥ अथवा तीन दिन निराहार रहकर तीन दिनतक केवल इसे (ब्रह्ममांडूकी) ही भोजन करे (और कुछ खावे पीवे नहीं) तीन दिन पीछे केवल दूध, घृतही पीवे अथवा एक

पल ब्रह्ममांडूकीको पीस दूधमें घोलके पीवे इस भांति दश दिन करनेसे बुद्धिमान् सौ वर्षकी आयुवाला होता है ॥ ५ ॥

ब्राह्मीके प्रयोग ।

हृतदोष एवागारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुंजीत जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्क्षीरसात्म्यो वा पयसा भुंजीत एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चसी मेधावी भवति ॥ ६ ॥ द्वितीयं सप्तरात्रमुपयुज्य ग्रंथमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारितं शतमप्यवधारयति । एवमेकविंशतिरात्रमुपयुज्यालक्ष्मीरपक्रामति मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति । सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठंति श्रुतधरः पंचवर्षशतायुर्भवति ॥ ७ ॥

वमन, रेचनादिसे शरीरके दोष हरण करके स्थानमें प्रविष्ट हो प्रतिसंसृष्ट भक्त होकर ब्राह्मीका स्वरस निकाल ले (कूटके रस निचोड ले) फिर सहस्रसंपाताभिहुत करके बलके अनुसार ब्राह्मीके रसको पीजावे जब यह औषध पकजावे तब तीसरे पहर अलोनी यवागू पीवे तथा दूधके अभ्यास वाला दूधके संग खावे ऐसे सात दिन करनेसे ब्रह्मतेजवाला बुद्धिमान् होजावे ॥ ६ ॥ फिर दूसरे सप्ताह (सात दिन) उपयोग करे तो मनोवांछित नया ग्रंथ रच दे तथा गुप्त बातें इसे प्रगट होजाती हैं और तीसरे सप्ताह सेवन करनेसे दो बारके उच्चारण हुएसे सौ श्लोक याद होजाते हैं । इस प्रकारसे जो इक्कीस दिन तक इस उपयोगको करे तो अलक्ष्मी (शरीरकी अकांति) नष्ट होजाती है और साक्षात् मूर्तिमती सरस्वती इसके शरीरमें प्रविष्ट होजाती है, सब श्रुतियां याद होजाती हैं और सुनी बातें सब याद रहती हैं तथा पांचसौ वर्षकी आयु होजाती है ॥ ७ ॥

ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडंगतंडुलानां कुडवं द्वे द्वे पले वचात्रिवृतयोर्द्वादश हरीतक्यामलकबिभीतकानि श्लक्ष्णपिष्टान्यावाप्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुंजीत जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः एतेनो-

र्ध्वमधस्तिर्यक्कृमयो निःक्रामंति अलक्ष्मीरपक्रामति पुष्करकर्णः स्थिरवयाः श्रुतिनिगादी त्रिवर्षशतायुर्भवत्येतदेव कुष्ठविषम-ज्वरापस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु च संशो-धनमादिशति ॥ ८ ॥

ब्राह्मीका स्वरस दो २ प्रस्थ, घृत १ प्रस्थ, विडंगके बीज एक १ कुडव लेवे तथा वच और निशोथ दो दो पल, त्रिफला बारह १२ पल ले सबको गीली पीस इकट्ठे करे और सिद्ध करके ढककर रख देवे फिर पूर्वोक्त विधानसे बलके अनुसार मात्रा लेवे जब यह पचजावे तब दूध और घृतसे युक्त भात खावे इससे वमन और दस्तोंमें तथा पसीनेमेंसे कीडे निकलते हैं और अलक्ष्मी (पापदोष) दूर होजाते हैं और कमलके सदृश रूप हो और अवस्था स्थिर होवे, वेदवक्ता होकर तीनसौ वर्षकी आयु होजावे । यह प्रयोग कुष्ठ, विषमज्वर, मृगी, उन्माद, विष, भूतदोष, ग्रहदोष इन व्याधियोंमें तथा अन्य महाव्याधियोंमें संशोधन (रूप होकर उन्हें नष्ट कर देता) है ॥ ८ ॥

वचके प्रयोग ।

हृतदोष एवागारं प्रविश्य हैमवत्या वचायाः पिंडमामलकमात्र-मभिहुतं पयसाऽऽलोड्य पिबेज्जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः । एवं नवद्वादशरात्रमुपयुंजीत ततोस्य श्रोत्रं विव्रियते द्विरभ्यासा-त्स्मृतिमान्भवति त्रिरभ्यासाच्छतमादत्ते चतुर्द्वादशरात्रमुपयुज्य सर्वं तरति किल्बिषं तार्क्ष्यदर्शनमुत्पद्यते शतायुश्च भवति ॥ ९ ॥ द्वे द्वे पले इतरस्या वचायाः निःक्राथ्य पिबेत् पयसा समानं भोजनं समाः पूर्वेणाशिषश्च ॥ १० ॥ वचाशतपाकं वा सर्पिर्द्रो-णमुपयुज्य पंचवर्षशतायुर्भवति गलगंडापचीश्लीपदस्वरभेदां-श्चापहंतीति ॥ ११ ॥

वमन, रेचनादिसे शरीरके दोष हरण करके स्थानमें प्रविष्ट होकर हैमवती (सुपेद) वच पीसकर आंवलेके बराबर पिंडा बना लेवे और पूर्वोक्त हवन करके उस वचके पिंडेको दूधमें घोलकर पीजावे जब वह पचजावे तब दूध और घृतसे

(गद्य ८) पुष्करकर्ण इति–पुष्करः सारसपक्षी तद्वत् कर्णौ यस्य सः पुष्करकर्णः दूरश्रवणे पुष्करः प्रसिद्धस्तस्माद्दूरश्रवणशील इत्यर्थः । अथवा 'पुष्करवर्ण' इति वा पाठस्तत्र पुष्करः कमल तद्वद्वर्ण इत्यर्थः ।

युक्त चावलोंका भात खावे इस भांति बारह दिन तक उपयोग करे तो उस मनुष्यके कर्ण इंद्रिय खुल जावें (दूरकी बात सुन सके) फिर दूसरे बारह दिन करे तो स्मरण-शक्तिवाला हो(कोई बात भूले नहीं)तीसरे बारह दिन करनेसे सौ श्लोक नित्य याद कर सके (अथवा "श्रुतमादत्ते" ऐसा पाठांतर होनेसे सुननेमात्रसे याद हो जावे ऐसा अर्थ होवे) तथा चौथे बारह दिन करनेसे सब पाप नष्ट होजावे, गरुडकीसी दृष्टि उत्पन्न हो और सौ वर्षकी आयु हो जावे ॥ ९ ॥ अन्य दूसरी भांतिकी वचको दो दो पल लेकर क्वाथ करके दूधके संग पीवे और भोजन पहलेके समान करे तथा अन्य उपदेश भी पूर्वके समानही जाने ॥ १० ॥ अथवा वचका शतपाक (सौवारका पकाया हुआ) द्रोणभर घृत नित्य बलके अनुसार उपयोग करे तो पांचसौ वर्षकी आयु हो जाती है तथा गलगंड अपची, श्लीपद और स्वरभंग आदि रोगोंको ये प्रयोग नष्ट कर देते हैं ॥ ११ ॥

(वक्तव्य) नव संख्याके गद्यमें जो "नवद्वादशरात्रं" लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि बारह बारह दिनके ९ प्रयोग तक करे अर्थात् इसे १०८ दिन तक कर सकते हैं इसमें १२ दिनका प्रथम प्रयोग है इसके पीछे फिर १२ दिनका दूसरा इसी भांति अन्योंको भी जानो जितने अधिक प्रयोग करे उतनाही अधिक फल हो, अधिक नहीं होसकनेसे यहां ४ ही प्रयोगतकका फल लिखा है।

अन्य प्रकीर्ण प्रयोग ।

अथायुःकामीयं वक्ष्यामः । मंत्रौषधसमायुक्तं संवत्सरफलप्रदम् ॥ बिल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान्सहस्रशः ॥ १२ ॥ श्रीसूक्तेन नरः काल्ये ससुवर्णं दिने दिने ॥ सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम् ॥ १३ ॥

यहांसे अगाडी अब हम आयुःकामीय (आयुके बढानेवाले, बल और कांति बढानेवाले) प्रयोग वर्णन करते हैं । बिल्व (फल) का चूर्ण पुष्य नक्षत्रमें बनाकर श्रीसूक्तसे हजार आहुतिकर सुवर्ण तथा शहत और घृत मिलाकर तरुण अवस्थामें मनुष्य नित्य चाटे यह प्रयोग मन्त्र और औषधसे मिला हुआ है, एक वर्ष दिन तक करनेसे फल देता है इससे शरीरकी अकांति नष्ट होकर दिव्यरूप हो-जाता है (पुष्य नक्षत्रसे इसका आरंभ करना चाहिये) ॥ १२ ॥ १३ ॥

(वक्तव्य) सुवर्णसे कई तो मृत सुवर्ण अर्थात् सुवर्णकी भस्म लेना ऐसा मानते हैं और कई सुवर्णके अतिसूक्ष्मपत्र वरक लेते हैं ॥

(श्लो० १३) काल्ये तरुणावस्थायामथवा 'कल्ये' इति पाठे तु प्रभाते इत्यर्थः ।

त्वचं बिल्वस्य मूलस्य मूलक्काथं दिने दिने ॥ प्राश्नीयात्पयसा सार्द्धं स्नात्वा हुत्वा समाहितः ॥ दशसाहस्रमायुष्यं स्मृतं युक्तरथं भवेत् ॥ १४ ॥

बिल्वकी जडके छाल और मूलका क्वाथ नित्य दूधके साथ खावे (और पीवे) परन्तु नित्य स्नान करके और हवन करके तब सेवन करे ऐसा नित्य करते रहनेसे दश हजार वर्षतककी आयु होजाती है और शरीर ठीक बना रहता है (यह प्रयोग सदैव निरन्तर करतेही रहनेसे फल होता है इसकी अवधि नहीं है) ॥ १४ ॥

हुत्वा बिशानां क्काथं तु मधुलाजैश्च संयुतम् ॥ अमोघं शतसाहस्रं युक्तं युक्तरथं स्मृतम् ॥ १५॥ सुवर्णं पद्मबीजानि मधुलाजाप्रियंगवः ॥ गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत् ॥ १६ ॥

हवन करके कमलकी जडका क्वाथ शहत और धानकी खील मिलाकर नित्य पान करे तो अक्षय लाख वर्षतक शरीर रह सकता है ॥ १५ ॥ सुवर्ण, कमलके बीज, शहत, धानकी खील और प्रियंगु इन्हें गौके दूधसे पीवे तो असुन्दरता दूर होकर दिव्य स्वरूप होजावे ॥ १६ ॥

नीलोत्पलदलक्काथो गव्येन पयसा शृतः ॥ ससुवर्णतिलैः सार्द्धमलक्ष्मीनाशनः स्मृतः ॥ १७ ॥ गव्यं पयः सुवर्णं च मधूच्छिष्टं च माक्षिकम् ॥ पीतं शतसहस्राभिहुतं युक्तरथं स्मृतम् ॥ १८ ॥

नीले कमलके पत्तोंका क्वाथ गौके दूधके संग उबालकर सुवर्ण और तिलोंके साथ सेवन करना अलक्ष्मीका परम नाशक है ॥ १७॥ गोदूग्ध, सुवर्ण, मोम और शहत इन्हें लक्ष आहुति देकर पान करे तो युक्तरथ हो (शरीर स्थिर रहे)॥१८॥

वचाघृतसुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम् ॥ मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्द्धनम् ॥ १९ ॥ वासामूलतुलाक्काथे तैलमावाप्य साधितम् । हुत्वा सहस्रमश्नीयान्मेध्यमायुष्यमुच्यते ॥ २० ॥ यावकांस्तावकान्भक्षेदभिभूय यवांस्तथा ॥ पिप्पलीमधुसंयुक्ता-

---

(श्लो० १४) रथः शरीरम् (इति श. स्तो.) युक्तरथमिति–युक्तश्चासौ रथश्च युक्तरथः। डल्हनस्तु युक्तरथं रसायनसमर्थ भवेदित्याह। (श्लो० २०) तुलापलगतयावकान् तावकान् अभिभूय कुट्टयित्वा तत्कृतान् यवान् भक्ष्यान् पिप्पलीमधुसयुक्तान् भक्षेत् खादेदित्यर्थः । शिक्षाचरणवद्भवेदिति-शिक्षा उपदेशापेक्षा शास्त्राभ्यासे नैकं गुप्त भवतीति (नि० स०)।

ञ्शिक्षाचरणवद्भवेत् ॥ २१ ॥ मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम् ॥ प्राश्यारिष्टगृहीतोपि मुच्यते प्राणसंशयात् ॥ २२ ॥

वचाघृत, सुवर्ण, बिल्वका चूर्ण इन तीनोंको मिलाकर से .न करना पवित्र,आयु-वृद्धिकारक, नीरोगताकारक तथा पुष्टि और सुभगताका वर्द्धक है ॥ १९ ॥ वासा (अडूसा) की जडको तुलाभर ले क्वाथ करे फिर उसमें तैल डालकर सिद्ध करे (पकावे) फिर सहस्र आहुति देकर इसे पान करे यह बुद्धि और आयुका बढानेवाला-है ॥ २० ॥ यवोंको कूट छिलका उतार उनके पदार्थ बना पिप्पली और शहतके संग खावे (और कुछ न खावे) तो शिक्षाचारी होजावे (जो उसे बतावे वही उसे आजावे ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि होजावे) ॥ २१ ॥ शहत, आंवलोंका चूर्ण और सुवर्ण इन तीनोंको अरिष्टसे ग्रसित मनुष्य खावे तो प्राणसंशय (प्राणोंके भय) से छूट जावे ॥ २२ ॥

शतावरीघृतं सम्यगुपयुक्तं दिने दिने ॥ सक्षौद्रं ससुवर्णं च नरेंद्रं स्थापयेद्वशे ॥ २३॥ गोचंदना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु ॥ सुवर्णमिति संयोगः पेयः सौभाग्यमिच्छता ॥ २४ ॥

शतावरीका घृत, शहत और सुवर्णसे उपयुक्त कर (मिला) के नित्य सेवन करानेसे राजा दीर्घायु होकर वैद्यके वश होजाता है ॥ २३ ॥ गोचंदना (प्रियंगु), मोहनिका (जीयापोता या अवाक्पुष्पी), मुलेठी, माक्षिक शहत और सुवर्ण यह प्रयोग सुभगता चाहनेवाले मनुष्यको पान करना चाहिये ॥ २४ ॥

पद्मनीलोत्पलक्काथे यष्टीमधुकसंयुते ॥ सर्पिरासादितं गव्यं ससुवर्णं सदा पिबेत् ॥ २५ ॥ पयश्चानुपिबेत्सिद्धं तेषामेव समुद्भवे ॥ अलक्ष्मीघ्नं सदायुष्यं राज्याय सुभगाय च ॥ २६ ॥

रक्त कमल (गुलाबी) तथा नील कमल इनके क्वाथमें मुलेठी मिलाकर गौका घृत सिद्ध करे और उसमें सुवर्णभस्म मिलाकर नित्य पीवे फिर ऊपरसे इन्हींके क्वाथसे सिद्ध किया दुग्ध पीवे यह अलक्ष्मीका नाशक, सदा आयु देनेवाला और दीप्ति तथा सुभगता कारक है ॥ २५ ॥ २६ ॥

(वक्तव्य) जहां जहां इन योगोंमें सुवर्णका ग्रहण है वहां २ सर्वत्र सुवर्णकी भस्म (मृगांक) लेना चाहिये ॥

(श्लो० २४) गोचदना प्रियगुः । मोहनिका पुत्रजीवः (इति डल्लनः) (श्लो० २६) तेषां समुद्भवे पद्मादीनां क्वाथे । राज्याय दीप्तये ।

यत्र नोदीरितो मंत्रो योगेष्वेतेषु साधने ॥ शब्दितो तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदी भवेत् ॥ २७ ॥ पाप्मानं नाशयंत्येता दद्युश्चौषधयः श्रियम् ॥ कुर्युर्नागबलं चापि मनुष्यममरोपमम् ॥ २८ ॥ सतताध्ययनं वादः परतंत्रावलोकनम् ॥ तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गणः ॥ २९ ॥ आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां च विधारणम् ॥ ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥ ३० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थानेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इन योगोंके साधनमें जहां मंत्र नहीं कहा वहां सब जगह त्रिपदा गायत्री समझे और उसीसे कार्य करे ॥ २७ ॥ ये औषधियां पाप (दोषों) को नष्ट करती- हैं और श्री (शोभा) को देती हैं तथा हाथीके तुल्य बल देती हैं और मनुष्यको देवताके समान कर देती हैं ॥ २८ ॥ नित्य पढते रहना, संवाद करना, अन्यर- चित पुस्तकोंका देखना, उस विद्याके आचार्यकी सेवा करना ये सब कार्य्य बुद्धि और मेधा (की वृद्धि) करनेवाले हैं ॥ २९ ॥ भोजनके पचजानेपर भोजन करना, वेगोंको न रोकना, ब्रह्मचर्य रखना (अति स्त्रीसंग न करना) तथा हिंसा न करना और साहस (फिकर) से बचे रहना इतने कार्य्य आयुको वढानेवालेहैं॥३०॥

इति पं० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थानेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः २९.

अथातः स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम स्वभावकी व्याधियों (क्षुधा, तृषा, निद्रा, जरा, मृत्यु आदि) के प्रतिषेधरूप रसायनका वर्णन करते हैं ।

ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम् ॥
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मादिक देवताओंने पूर्व (सृष्टिके आदि) कालमें सोम नामक अमृत (औषधि) को जरा (वृद्धता) और मृत्युके नाश करनेके लिये उत्पादन किया है उसका विधान यहां वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

सोमके भेद ।

एक एव खलु भगवान्सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंश- तिधा भिद्यते तद्यथा ॥ २ ॥

सोम नामक औषध अवश्य एक ही है परन्तु स्थान, नाम, आकृति और वीर्यके भेदोंसे यह चौवीस प्रकारका है जैसे- ॥ २ ॥

सोमके २४ भेद।

अंशुमान्मुंजवांश्चैव चंद्रमा रजतप्रभः ॥ दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥ ३ ॥ प्रतानवांस्तालवृंतकरवीरोंशवानपि॥ स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥ ४ ॥ गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पांक्तो जागतः शांकरस्तथा ॥ अग्निष्टोमो रेवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥ ५ ॥ गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते ॥ एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥ ६ ॥ सर्वेषा-मेव चैतेषामेको विधिरुपासने ॥ सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥ ७ ॥

१ अंशुमान, २ मुंजवान्, ३ चन्द्रमा, ४ रजतप्रभ, ५ दूर्वासोम, ६ कनीयान, ७ श्वेताक्ष, ८ कनकप्रभ ॥ ३ ॥ ९ प्रतानवान्, १० तालवृंत, ११ करवीर, १२ अंशवान्, १३ स्वयंप्रभ, १४ महासोम, १५ गरुडाहृत ॥ ४ ॥ १६ गायत्र्य, १७ त्रैष्टुभ, १८ पांक्त, १९ जागत, २० शांकर, २१ अग्निष्टोम, २२ रैवत, २३ यथोक्त ॥ ५ ॥ और त्रिपदा गायत्री युक्त २४ उडुपति इस भांति ये वेदोक्त शुभ नामोंसे २४ प्रकारके सोम वर्णन किये हैं ॥ ६ ॥ इन सबके उपयोग करनेकी एकही विधि है और सबका गुणभी एकसाही है अब इनका विधान वर्णन किया जाता है ॥ ७ ॥

सोमपानकी विधि।

अतोन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्त-देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रश-स्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमंतमादायाध्वरकल्पेनाहृत-मभिषुतमभिहुतं चांतरागारे कृतमंगलः सोमकंदं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्सौवर्णे पात्रेंजलिमात्रं ततः सकृदेवोपयुंजीत नास्वादयंस्तत उपस्पृश्य शेषमप्स्वासाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संनियोज्य वाग्यतोऽभ्यंतरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥ ८ ॥

(गद्य ८) अध्वरकल्पेनेति-अध्वरकल्पस्य विधानेन आहृतम् अग्निष्टोमविधानेन आनीतम्। अभि-षुतम् ऋत्विग्भि. क्ष्वेडितम्।

जो कोई मनुष्य इन सोमोंमेंसे किसी एकका उपयोग करना चाहे वह सब सामग्री और परिचारक समेत अच्छे स्थानमें तीन दरजेका मकान बनवावे और फिर वमन, रेचन आदिसे शरीरके दोप दूर करके भोजनका यथोक्त नियम करके श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्रोंमें अंशुमान् नामक सोमकंदको जो वेदोक्त रीति करके अध्वरोंसे लाया गया हो उसे मँगाकर, धुलवा छिलवाकर तयार करे फिर होम करके निर्मित स्थानके भीतरके दरजेमें जाकर मंगलपाठ करके उस सोमकंदको सुवर्णकी सींकसे चीरके सुवर्णके पात्रमें उसका दूध निचोडले फिर कुडवमात्र उसे विना स्वाद लिये एकवार गटगटाके पीजावे फिर आचमन करके शेप बचे हुएको पानीमें डालदे और अपने शरीर तथा मनको यम, नियम पूर्वक रक्खे, अधिक बोले नहीं, भीतरहीके मकानमें मित्रोंके साथमें विहार करे ॥ ८ ॥

रसायनं पीतवांस्तु निर्वाते तन्मनाः शुचिः ॥
आसीत तिष्ठेत्कामेच्च न कथंचन संविशेत् ॥ ९ ॥

रसायन औषध पीकर पवन रहित स्थानमें पवित्रतासे उसी तरफ मन लगाये हुए बैठा रहे, कभी टहलता रहे परन्तु सोना कदाचित् नहीं चाहिये ॥ ९॥

सायं वा भुक्तवाञ्छुतशांतिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिवेत्ततः प्रातरुत्थायोपश्रुतशांतिः कृतमंगलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत ॥ १० ॥

सामको (क्षुधा हो तो भोजनकर शांतिपाठ श्रवण करके कुशाकी शय्यापर काले मृगका चर्म विछाकर मित्रोंसे सेवित हुआ शयन करे, तृषा लगे तो थोडा ठंढा जल पीवे फिर (दूसरे दिन) प्रभात उठकर शांतिपाठ (या शांतिकारक वचन) श्रवणकर मंगलाचरण करके गौका स्पर्श करे और पहलेकी भांति बैठजावे ॥ १० ॥

(वक्तव्य) सामको भोजन करे तो क्या भोजन करे यह टीकाकार डल्हन महाराजने भी नहीं खोला ऐसे आवश्यक विपयपर तो विना खोले कभी नहीं छोडना चाहिये यदि कहो कि अगाडी इसके विधानमें जो भोजन लिखा है वही करना तो कई दिन इसमें भोजन लिखाही नहीं केवल दूध ही लिखा है और यहां ऋषिवाक्यमें 'भुक्तवान्' शब्द है यद्यपि दूधमें भोजनका वाक्यार्थ नहीं निकलता तो भी हमारी सम्मतिमें दूधही देना भोजन समझे ॥

तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते ततः शोणिताक्तं क्रिमिव्यामिश्रं छर्दितवतः सायं श्रृतशीतं क्षीरं वितरेत्ततस्तृतीयेऽहनि क्रिमिव्या-

मिश्रमतिसार्यते स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति ततः सायं स्नातस्य पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां चैनं शाययेत ॥ ११ ॥

जब उसके सोमरस पच जाता है तब वमन उत्पन्न होता है और रुधिर मिला कीडों सहित वमन करता है ऐसा होनेमें संध्याके समय औटाया हुआ दूध ठंढा करके पिलावे फिर तीसरे दिन कीडोंसे मिले दस्त आते हैं जिससे अनिष्ट और प्रतिग्रह भोजन आदिसे छूटकर शुद्ध शरीर होजाता है तब सायंकाल स्नान कराकर पूर्ववत् दूध पिलावे और रातको शणके वस्त्रसे बिछी शय्या पर सुलावे ॥ ११ ॥

ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते ततः सर्वांगेभ्यः कृमयो निःक्रामंति तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्। एवं पंचमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसत्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहा देवी श्वसिति तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचंदनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत् ॥ १२ ॥

फिर चौथे दिन उसके (शरीरमें) सोजा उत्पन्न होता है जिससे सब शरीरमेंसे कीडे निकलने लगते हैं उस दिन उसके बिछौने पर रेत बिछाकर सुलावे और संध्याके समय वही पहलेकी तरह दूध पिलावे । इसी प्रकार पांचवें और छठें दिनोंमें बरताव करे. केवल दोनों समय उसे दूध पिलादे फिर सातवें दिन उसका मांस और त्वचा गल जाते हैं, अस्थिमात्र शरीर रहजाता है, केवल सोमग्रहणकी शक्तिसे श्वास लेता रहता है उस दिन थोडे २ निवाये दूधसे परिषेक करे (शरीरपर छिडके) और तिल, मुलेठी, चंदन इनसे शरीरपर लेप करे और दूध पिलावे ॥ १२ ॥

ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमास्तृतायां शाययेत्ततो मांसमाप्यायते त्वक्चावदलति दंतनखरोमाणि चास्य पतंति तस्य नवमदिवसात्प्रभृत्यणुतैलाभ्यंगः सोमवल्ककषायपरिषेकः। ततो दशमेहन्येतदेव वितरेत्ततोस्य त्वक् स्थिरतामुपैति । एवमेका-

(गद्य ११) क्षौमवस्त्रास्तृताया शय्यायामिति—क्षुमाया अतस्या विकारः क्षौमः । अतसीवल्कलजातवस्त्र क्षौमं तदास्तृताया शय्यायामित्यर्थः । शणजं वस्त्र वा क्षौममिति (श. स्तो.)

दशद्वादशयोर्वर्तेत तत्र त्रयोदशात्प्रभृति सोमकल्ककषायपरिषेकः। एवमाषोडशाद्वर्तेत ॥ १३ ॥

फिर आठवें दिन प्रभात ही दूधसे शरीरका परिषेक करके चंदनका लेप करके दूध पिलाकर रेतका बिछौना उठा देवे और अतसीके (रेशमी) कपडासे बिछी हुई शय्या पर (बहुत धीरेसे उठाकर) लिटा दे तब मांस पुष्ट होने लगता है और त्वचा बदलने लगती है और दांत, नख तथा रोम (केश) गिर जाते हैं फिर नवें दिनमें इसके शरीरपर अणुतैल मल दिया करे और सोमके वक्कलके काथसे परिषेक (सेचन) करे और दशवें दिन भी यही वरताव करे तब त्वचा कुछ २ स्थिरताको प्राप्त होने लगती है इसी भांति ग्यारहवें और बारहवें दिन भी वरताव करते रहे और तेरहवें दिनसे सोमवक्कलके क्काथसे परिषेक किया करे ऐसे सोलहवें दिन तक करते रहे ॥ १३ ॥

ततः सप्तदशाष्टदशयोर्दिवसयोर्दशना जायंते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैडूर्यस्फटिकनिकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः तदाप्रभृति चानवैः शालितंडुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत्पंचविंशतिरिति१४॥

फिर सत्रहवें और अठारहवें दिनोंमें इसके नये दांत निकलते हैं वे दांत नुकीले, चिकने, हीरे, पन्ने और स्फटिक मणि जैसे चमकीले सब समान, स्थिर और सहनशील होते हैं इस अवस्थामें पुराने चावलोंकी क्षीरयवागू बनाकर भोजन करे और पच्चीसवें दिन तक ऐसाही करते रहे ॥ १४ ॥

ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा ततोऽस्य नखा जायंते विद्रुमेन्द्रगोपतरुणादित्यप्रकाशाः स्थिराः स्निग्धाः लक्षणसम्पन्नाः केशाश्च जायंते त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैडूर्यप्रकाशा ऊर्द्ध्वं च मासात्केशान्वापयेद्वापयित्वा चोशीरचंदनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात्पयसा वा स्नापयेत् ॥ १५ ॥

फिर पच्चीसवें दिनसे पीछे इसे दोनों समय कोमल शालि चावलोंका भात दूधके संग देवे तब इसके नये नख उत्पन्न होते हैं वे नख मूँगो, वीर बहोटी, निकलते सूर्य जैसे सुरख और चमकीले होते हैं, स्थिर, चिकने और लक्षणवाले होतेहैं और नये बाल उत्पन्न होते हैं तथा त्वचाभी नीलकमल, अलसीके फूल और वैडूर्य मणि जैसी श्याम (सुंदर) उत्पन्न होती है इस भांति जब एक महीना

(गद्य १४) वैडूर्यमणिः अभ्रशुभ्रः ।

होजावे तब इसके बाल मुँडवा देवे और खस, चन्दन, काले तिल इनको पीसकर शिरपर लेप करे और दूधसे स्नान करावे ॥ १५ ॥

ततोऽस्यानंतरं सप्तरात्रात्केशा जायंते भ्रमरांजननिभाः कुंचिताः स्निग्धास्ततस्त्रिरात्रात्प्रथमपरिसरान्निःक्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवांतः प्रविशेत् । ततोस्य बलातैलमभ्यंगार्थेवचार्यं यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे सुखोष्णं च पयः परिषेकार्थे अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे सौशीरं कूपोदकं स्नानार्थे चंदनमनुलेपार्थे आमलकरसविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थे । एवं दशरात्रं ततोन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत ॥१६॥

फिर सात दिन पीछे इसके नये बाल निकलते हैं वे बाल भ्रमर और काजलके समान काले, घुँघराले, चिकने होते हैं फिर इसके तीन दिन पीछे भीतरवाले दरजेसे निकलकर अगले दूसरे दरजेमें आवे और दो घडी ठहरकर फिर अन्दरही घुस जावे इस अवस्थामें बलातैल (पहले इसकी भी विधि कही गई है) मलनेके काममें लावे और जौकी पिट्ठी उबटन करनेको, निवाया दूध परिषेक करनेको, अजकर्ण (महासर्ज) का क्वाथ उत्सादनको, कूवेका जल खसयुक्त स्नान करनेको, चन्दन अनुलेपनको वरतावमें लाता रहे, खानेको आँवलेके रससे मिले हुए यूष अवथा मूँग आदिकी दाल आदि देवे और दूध तथा मुलेठीसे सिद्ध किये हुए काले तिलोंका अवचारण करे इसप्रकार दश दिन तक रहे (अंदरके तीसरे दरजेमें रहे जरा अगले दूसरेमें आया करे) फिर इसके पीछे दश दिन तक दूसरे बीचके दरजेमें रहे और पूर्वोक्त वरताव करे ॥ १६ ॥

ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत किंचिदातपपवनान्वा सेवेत पुनश्चांतः प्रविशेत् । न चात्मानमादर्शेषु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्ततोन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन्परिहरेदेवं सर्वेषामुपयोगः ॥ १७ ॥

फिर इसके पीछे और दश दिन तक आत्माको स्थिर करता हुआ सबसे अगले वाले तीसरे दरजेमें रहे और कुछ धूप तथा वायुका सेवन करे और फिर अन्दर घुस जाया करे अपने मुखको दर्पणमें नहीं देखे क्योंकि रूप बहुतही सुन्दर होता है

(गद्य १६) अजकर्णः महासर्जः ।

फिर इसके दश दिन पीछे तक क्रोध आदि न करे बस यही विधि सब प्रकारके सोमोंके सेवनकी है ॥ १७ ॥

विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपादयः सोमा भक्षयितव्याः तेषां तु प्रमाणमर्द्धचतुर्थमुष्टयः । अंशवंतं सौवर्णे पात्रेभिषुणुयात् चंद्रमसं राजते चोपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति शेषांस्तु ताम्रमये मृण्मये वा रोहिते चर्मणि वितते शूद्रवर्ज्यं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः । ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमंगलो निःक्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति॥१८॥

विशेष करके बेल और प्रतान तथा क्षुप जातिके सोम भक्षण करने चाहिये उनका प्रमाण साढेचार मुष्टिका (कुडवसे आधापल अधिक) है । अंशुमान् नामक सोमका रस सुवर्णके पात्रमें निचोडे और चन्द्रमा नामक सोमका रस चांदीके पात्रमें निचोडे इससे अष्टगुण ऐश्वर्य (अणिमादि अष्टसिद्धि) को प्राप्त हो जाता है और शिवमें मिल जाता है (अन्तमें शिवजीमें लय होता है) शेष सोमोंको तांबे या मिट्टीके पात्रमें निचोडे या रक्त चर्मके पात्रमें निचोडे और शूद्रके सिवाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण सोमका उपयोग कर सकते हैं । जब इसके कल्पारंभको चार महीने हो जावें तब नया शरीर स्थिर हो जावे फिर पूर्णमासीको शुद्ध जगह ब्राह्मणोंका पूजन कर मंगलाचरण करके रसायन स्थानसे बाहर निकलकर इच्छापूर्वक विचरे ॥ १८ ॥

सोमविधानका फल ।

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः ॥ दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥१९॥ नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च ॥ तस्यालमायुःक्षपणे समर्थाश्च भवंति हि ॥ २० ॥ भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रस्रुतानामनेकधा ॥ कुंजराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥ २१ ॥ क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि ॥ यत्रेच्छति स गंतुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥२२॥ कन्दर्प इव रूपेण कांत्या चंद्र इवापरः ॥ प्राह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः॥२३॥ सांगोपांगांश्च निखिलान्वेदान् विंदति तत्त्वतः ॥ चरत्यमोघसंकल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥ २४ ॥

ओषधियोंके पति सोमका जो बुद्धिमान् उपयोग करता है वह दश हजार वर्षकी अवस्थावाला नवीन शरीर प्राप्त करता है ॥ १९ ॥ अग्नि, जल, विष, शस्त्र, अस्त्र इनमेंसे कोई भी उसका आयु नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होते (अर्थात् किसीसे भी वह नहीं मर सकता) ॥२०॥ श्रेष्ठ जातिके, साठ वर्षकी अवस्थावाले, मद झिरते हुए ऐसे हजार हाथियोंका जितना बल प्राप्त होजाता है ॥२१॥ क्षीरसमुद्र, इन्द्र-लोक उत्तरापथ (कैलास आदि) और कुरुद्वीप इत्यादि स्थानोंमेंसे जहां जानेकी इच्छा करे वहांही जा सकता है ॥२२॥ रूपमें कामदेवके समान और कांतिमें दूसरा चंद्रमा जैसा महादीप्तिमान् होकर प्राणियोंके मनको परम आनन्द देनेवाला होजाता है ॥२३॥ सब वेदोंके सांगोपांग तत्त्वका जाननेवाला होता है और देव-ताओंकी भांति संपूर्ण जगत्में अमोघ संकल्प होकर विचर सकता है ॥ २४ ॥

सोमलताके लक्षण ।

सर्वेषामेवं सोमानां पत्राणि दशपंच च ॥ तानि शुक्ले च कृष्णे च जायंते निपतंति च ॥ २५ ॥ एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा ॥ शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पंचदशच्छदः ॥ २६ ॥ शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ॥ कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥ २७ ॥

सब सोमोंके पन्द्रहही पंद्रह पत्र होते हैं वे शुक्लपक्षमें उत्पन्न होते हैं और कृष्ण-पक्षमें झड जाते हैं ॥ २५ ॥ शुक्लपक्षमें एक एक दिनमें एक एक पत्र निकलता है इसप्रकार पूर्णमासीको पूरे पन्द्रह पत्र होजाते हैं ॥ २६ ॥ फिर कृष्णपक्ष आतेही एक एक दिनमें एक एक पत्र गिरने लगता है और अमावास्याके दिन विना पत्रकी केवल बेल रह जाती है ॥ २७ ॥

विशेष सोमोंके लक्षण ।

अंशुमानाज्यगंधस्तु कंदवान्रजतप्रभः ॥ कदल्याकारकंदस्तु मुंजवाँल्लशुनच्छदः ॥ २८ ॥ चंद्रमा कनकाभासो जले चरति सर्वदा ॥ गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पांडुरौ ॥ २९ ॥ सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलंबिनौ ॥ तथान्यैर्मंडलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भांति ते ॥ ३० ॥ सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पंचदशच्छदाः ॥ क्षीरकंदलतावंतः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥ ३१ ॥

अंशुमान् सोममें घृतकेसी सुगंध होती है और रजतप्रभ कंदवाला होता है तथा मुंजवानमें केलेकासा कंद और लहसनकेसे पत्ते होते हैं ॥ २८ ॥ चन्द्रमा नामक सोम सुवर्ण जैसी कांतिवाला सदा जलमें रहता है, गरुडाहृत और श्वेताक्ष ये दोनों पांडुरंगके सर्पकी कांचली जैसे वृक्षोंके अग्रभागमें लिपटे रहते हैं तथा अन्य और भी चित्र विचित्र मंडलोंसे शोभित हुआ करते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥ सब सोमोंकी मुख्य पहचान यह है कि सबमें १५ पत्ते होते हैं। कोई सोम दूधवाले, कोई कंदवाले, कोई लतावाले (कोई क्षुप जातिके) नाना प्रकारके पत्तोंवाले होते-हैं (पर सबमें पत्ते १५ ही होते हैं) ॥ ३१ ॥

सोमकी उत्पत्तिके स्थान।

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा ॥ श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥ ३२ ॥ पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुंदे ह्रदे तथा ॥ उत्तरेण[1] वितस्तायाः[2] प्रवृद्धा[4] ये[3] महीधराः ॥ ३३ ॥ पंच[6] तेषामधो[7] मध्ये सिंधुनामा महानदः ॥ हठवत्प्लवते तत्र *चन्द्रमाः सोम-सत्तमः ॥ ३४ ॥ तस्योद्देशेषु वाप्यस्ति मुंजवानंशुमानपि ॥ काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥ ३५॥ गायत्र्यस्त्रै-ष्टुभः पांक्तो जागतः शांकरस्तथा ॥ अत्र संत्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥ ३६ ॥

हिमालय पर्वतमें, अर्बुद (आबू पहाडमें), सह्याद्रिमें त'ा महेंद्र और मलयाचलमें तथा श्रीशैलमें, देवगिरिमें, देवसह पर्वतमें ये सोम होते हैं ॥ ३२ ॥ तथा पारियात्रमें, विंध्याचलमें, देवसुन्दसरोवरमें तथा वितस्ता नदीके उत्तरमें जो बडे बडे पांच पर्वत हैं उनकी जडमें तथा मध्यमें और सिंधु नाम महानद जहां है वहां चन्द्रमा नामक सोम तोंबीकी भांति तिरते हुए मिलते हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ उसीके पासमें मुंजवान् और अंशुमान ये दोनों भी हुआ करते हैं, काश्मीर देशमें एक दिव्य सरोवर है जिसका नाम छोटमान सरोवर है वहां गायत्र्य नामक तथा त्रैष्टुभ, जागत और पांक्त तथा शांकर नामक सोम होते हैं तथा यहां और सोम भी चंद्रके समान कांतिवाले होते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

न[12] तान्पश्यंत्यधर्मिष्ठाः[11][13] कृतघ्नाश्चापि[1][4] मानवाः[10] ॥ भेषजद्वेपिणश्चापि[6][7] ब्राह्मणद्वेपिणस्तथा ॥ ३७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥२९॥

(श्लो० ३४) हठवत् प्लवते इति—हठः प्लवमान, प्रश्नी कुम्भिका (इतिशब्दस्तो०)

इन सोमोंको अधर्मी, कृतघ्नी, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणोंके द्वेषी मनुष्य नहीं देख सकते अर्थात् इन्हें वह नहीं दिखाई दे सकता (जब ऐसे मनुष्योंको ये औषधें दिखाई ही नहीं देसकतीं तो फिर इनको रसायनका उपयोग भी फलदायक नहीं हो सकता) ॥ ३७ ॥

इति पं० मुरलीधरशर्मवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थान एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३०.

अथातो निवृत्तसंतापीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम निवृत्तसंतापीय रसायन (जिससे शारीरिक और मानसिक दुःख निवृत्त होवें ऐसी रसायनविधि) का व्याख्यान करते हैं ।

यथा निवृत्तसंतापा मोदंते दिवि देवताः ॥
तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदंते भुवि मानवाः ॥ १ ॥

जैसे सब संतापोंसे निवृत्त होकर स्वर्गमें देवता आनंद करते हैं उसी प्रकार इन औषधियोंका उपयोग करके पृथ्वीपर मनुष्य समस्त दुःखोंसे निवृत्त होकर आनंद करसकते हैं ॥ १ ॥

अथ सप्त पुरुषा रसायनं नोपयुंजीरन् । तद्यथा अनात्मवान् अलसी प्रमादी दरिद्रः व्यसनः पापकृद्भेषजापमानी चेति । सप्तभिरेव कारणैर्न संपद्यते अज्ञानादनारंभादस्थिरचित्तत्वाद्दारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्मादौषधाऽलाभाच्चेति ॥ २ ॥

नीचे लिखे हुए सात मनुष्योंको रसायनका उपयोग नहीं करना चाहिये जैसे अनात्मवान् (अजितेंद्रिय), आलसी, प्रमादी (जिसका चित्त स्थिर न हो), दरिद्री, व्यसनी (जिसे मद्य तथा वेश्यागमनादिका व्यसन हो), पापी, औषध (तथा वैद्य) का अपमान करनेवाला इन सातोंको सातही कारणोंसे रसायन संपादन नहीं होसकती ॥ १ ॥ १ अजितेंद्रियको अज्ञानसे, २ आलसीको कार्य आरंभ न करनेसे, ३ प्रमादीको चित्तकी स्थिरता न होनेसे, ४ दरिद्रीको दरिद्रके कारण, ५ व्यसनीको स्वतंत्र न होनेसे, ६ पापीको अधर्मके कारण, ७ भेषजापमानीको औषधका लाभ न होनेसे ॥ २ ॥

अथौषधीर्व्याख्यास्यामः । अजगरी श्वेतकापोती कृष्णकापोती गोनसी वाराही कन्या छत्राऽतिच्छत्रा करेणरजा चक्रिका आदि-

त्यपर्णिनी ब्रह्मसुवर्चला श्रावणी महाश्रावणी गोलोमी चाजलोमी महावेगवती चेत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः ॥ ३ ॥

अब यहांसे अगाडी हम (रसायनकी) औषधियोंका व्याख्यान करते हैं १ अजगरी, २ श्वेतकापोती, ३ कृष्णकापोती, ४ गोनसी, ५ वाराही, ६ कन्या, ७ छत्रा, ८ अतिच्छत्रा, ९ करेणु, १० अजा, ११ चक्रिका, १२ आदित्यपर्णिनी, १३ ब्रह्मसुवर्चला, १४ श्रावणी, १५ महाश्रावणी, १६ गोलोमी, १७ अजलोमी, १८ महावेगवती ये अठारह महौषधि सोमके तुल्य वीर्यवाली वर्णन कीगई हैं ॥ ३ ॥

तासां सोमवत्क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहितास्तासामागारेऽभिहुतानां याः क्षीरवत्यस्तासां क्षीरकुडवं सकृदेवोपयुंजीत । यास्त्वक्षीरा मूलवत्यस्तासां प्रदेशिनीप्रमाणानि त्रीणि कांडानि प्रमाणमुपयोगे । श्वेतकापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या । गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खंडशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्रावितमभिहुतं च सकृदेवोपयुंजीत । चक्रिकायाः पयः सकृदेव । ब्रह्मसुवर्चला सप्तरात्रमुपयोक्तव्या ॥ ४ ॥

इनके विधानकी क्रिया, आशिष और फल शास्त्रमें सोमके तुल्यही कहे हैं इन्हें निर्वात स्थानमें हवन करके जो दूधवाली हैं उनका दूध कुडव प्रमाण एकही वार पीजावे । जो विना दूधके जडवाली हैं उनकी अंगुली बराबर तीन जडेली उपयोगमें लावे । श्वेतकापोतीको जड, पत्तोंके समेत भक्षण करे । गोनसी, अजगरी और कृष्णकापोतीको काँटों समेत मुष्टि प्रमाण टुकडे २ करके दूधमें पकाकर छानकर होम करके एकवार पीजावे । चक्रिकाका दूध (कुडवभर) एकवारही पीवे । और ब्रह्मसुवर्चलाका उपयोग सात दिन तक करे ॥ ४ ॥

भक्ष्यकल्पने शेषाणां पंचपलानि क्षीराढकक्वथितानि प्रस्थेवशिष्टेऽवतार्य परिस्राव्य सकृदेवोपयुंजीत । सोमवदाहारविहारौ व्याख्यातौ केवलं तु नवनीतमभ्यंगार्थे शेषं सोमवदानिर्गमादिति ॥ ॥ ५ ॥ भवन्ति चात्र–

(गद्य ४) सनखमुष्टि खडशः कल्पयित्वा इत्यत्र सनखमुष्टिं खंडश इति पदस्य गूढस्य श्रीमता टीकाकारेण डल्हनेनापि विवेचन न कृत मम मतन्त्वत्रेत्थं नखः कंटकः तैः सह मुष्टिप्रमाण पलमात्रं खडशः कल्पयित्वेत्यर्थः । नखः कटकः (इति शब्दस्तोमः) नखपर्यंतमुष्टिप्रमाणमित्यन्ये तत्तु न सम्यक ।

अन्य शेष औषधोंको भक्ष्यकल्पके अनुसार पांच पल लेकर आढक भर दूधमें पकावे जब (चतुर्थभाग) प्रस्थभर रहे तब उतार कर छानले और एकही वार पीजावे । और इनपर आहार, विहार सोमविधानके तुल्यही कहे हैं, केवल मक्खन शरीरपर अभ्यंग करे बाकी सब सोमके समान विधि शास्त्रसे समझनी चाहिये ॥ ॥ ५ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

अजगरी आदिके सेवनका फल ।

युवानं सिंहविक्रांतं कांतं श्रुतिनिगादिनम् ॥ कुर्युरेताः क्रमेणैवं द्विसाहस्रायुषं नरम् ॥ ६ ॥ अंगदी कुंडली मौली दिव्यस्रक्च-न्दनांबरः ॥ चरत्यमोघसंकल्पो नभस्यंबुददुर्गमे ॥ ७ ॥ व्रजंति पक्षिणो येन जललंबाश्च तोयदाः ॥ गतिः सौषधिसिद्धस्य सोमसिद्धगतिः परा ॥ ८ ॥

ये औषधि मनुष्यको सदा तरुण, सिंहके समान बलवान्, सुन्दर रूपवान्, वेदवक्ता और दोहजार वर्षकी आयुवाला कर देती हैं ॥ ६ ॥ इनका उपयोग करनेवाला बाजूबंद, कुंडल, मुकुट, दिव्यमाला, चन्दन तथा अच्छे वस्त्र धारण करके अमोघ संकल्प हुआ दुर्गम आकाशमें बादलोंसे भी ऊपर विचर सकता है ॥ ७ ॥ जिस आकाशमार्गसे पक्षी विचरते हैं तथा जलवाले बादल फिरते हैं वही गति इन औषधोंके साधन करनेवालेकी होजाती है और सोमके उपयोग करनेवालेकी जैसी गति होजाती है ॥ ८ ॥

अजगर्यादि औषधोंके स्वरूप ।

अथ वक्ष्यामि विज्ञानमौषधीनां पृथक् पृथक् ॥९॥ मंडलैः कपि-लैश्चित्रैः सर्पाभा पंचपर्णिनी ॥ पंचारत्निप्रमाणा वा विज्ञेयाज-गरी बुधैः ॥ १० ॥ निष्पत्रा कनकाभासा मूले द्व्यंगुलसंमिता ॥ सर्पाकारा लोहितांता श्वेतकापोतिरुच्यते ॥ ११ ॥ द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमंडलाम् ॥ द्व्यरत्निमात्रां जानीयाद्गोनसीं गोनसाकृतिम् ॥ १२ ॥

(श्लो० ८) येन मार्गेण जललंबनशीलाः तोयदा. पक्षिणश्च व्रजंतीति । (श्लो० १०) अरत्निः विस्तृतकनिष्ठ बद्धमुष्टिहस्ते तत्परिमाणे च (इति वाचस्पतिः) बद्धमुष्टिकरोऽरत्निरिति निबंधसंग्रहे डल्हनः (श्लो० १२) गोनसः सर्पविशेषः (इति० श० स्तो०)

अब यहांसे अगाडी हम अजगरी आदि सब औषधोंकी पृथक् २ पहचान बताते हैं ॥ ९ ॥ जो कपिल (पीले) रंगके चित्रविचित्र मंडलोंसे युक्त सर्पसी वलदार, पांच पत्तोंवाली और पांच अरत्निके प्रमाणवाली हो उसे विद्वान् "अजगरी" बताते हैं (अरत्निका प्रमाण कनिष्ठिका अंगुली तक बँधी मुट्ठीका हाथ) ॥ ॥ १० ॥ जिसके पत्ते न हों, कनक (सुवर्ण) सी चमके, जडमें दो अंगुल जैसी हो, सर्पकेसे आकारवाली तथा किनारेपरसे लाल हो, वह " श्वेतकापोती " होती है ॥ ११ ॥ जिसके दो पत्ते हों, जडमेंसे लाल हो, काले मंडल हों, दो अरत्नि प्रमाण हो और गोनस (एक भांतिके सर्प) की आकृतिके समान हो उसे "गोनसी" जानों ॥ १२ ॥

सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम् ॥ एवं रूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत् ॥ १३ ॥ कृष्णसर्पस्वरूपेण वाराही कंदसंभवा ॥ एकपत्रा महावीर्या भिन्नांजनसमप्रभा ॥ १४ ॥ छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कंदसंभवे ॥ जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते ॥ १५ ॥

दूधवाली, रोमयुक्त, कोमल, रसमें ईखके रस जैसी ऐसे स्वरूप और रसवाली "कृष्णकापोती" होती है ॥ १३ ॥ काले सर्प जैसे स्वरूप कंदसे उत्पन्न होनेवाली, एक पत्रवाली, बिखरे कज्जल जैसी काली " वाराही " होती है ॥ १४ ॥ "छत्रा" और "अतिच्छत्रा" ये दोनों राक्षसोंका नाश करनेवाली, कंदसे उत्पन्न होती हैं और श्वेतकापोतीके समान होती हैं ये वृद्धता और मृत्युके निवारण करनेवाली हैं ॥ १५ ॥

कांतैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूरांगरुहोपमैः ॥ कंदजा कांचनक्षीरी कन्या नाम महौषधिः ॥ १६ ॥ करेणुः सुबहुक्षीरा कंदेन गजरूपिणी ॥ हस्तिकर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी ॥ १७ ॥

चमकीले मोर पंख जैसे बारह पत्तोंवाली, कंदसे पैदा होनेवाली, पीले दूधकी " कन्या " नामक महौषध होती है ॥ १६ ॥ "करेणु" में बहुत दूध होता है कंदमेंसे हाथीकेसी होती है, हस्तिकर्ण नामक पलाशकेसे दो पत्तोंवाली होती है ॥ १७ ॥

अजास्तनाभकंदा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ॥ अजा महौषधी ज्ञेया शंखकुंदेन्दुपांडुरा ॥ १८ ॥ श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्या समां क्षुपाम् ॥ चक्रिकामौषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम् ॥ १९ ॥

मूलिनी पंचभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः॥आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदादित्यानुगामिनी ॥२०॥ कनकाभा जलांतेषु सर्वतः परिसर्पति ॥ सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला ॥ २१ ॥

बकरीके स्तन जैसे कंदवाली, दूधयुक्त, क्षुप (पौदे) के रूपकी, शंख, कुंद और चंद्रमा जैसी उज्ज्वल, पांडुर रंगवाली " अजा " महौषधी जानो ॥ १८ ॥ सुपेद चित्रित पुष्पवाली, काकादनीके समान पौदेवाली, जरा और मृत्युको दूर करनेवाली " चक्रिका " महौषधि जानो ॥ १९ ॥ मूलवाली, सुरख वस्त्र जैसे कोमल पांच पत्तोंवाली, सदा सूर्यके अनुगत रहनेवाली "आदित्यपर्णिनी" जानो ॥ २० ॥ जलके निकट सुवर्णकी भांति चमकनेवाली, सब तरफ फैलजाती है और उसमें दूध होता है, कमलिनीके समान विदित होती है वह "ब्रह्मसुवर्चला" है ॥ २१ ॥

अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यंगुलसम्मितैः ॥ पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चांजनसन्निभैः ॥ २२ ॥ श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ॥ श्रावणी पांडुराभासा महाश्रावणिलक्षणा ॥ २३ ॥ गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कंदसंभवे ॥ २४ ॥ हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः ॥ अथवा शंखपुष्पी च समाना सर्वरूपतः ॥ २५ ॥ वेगेन महताविष्टा सर्पनिर्मोकसन्निभा । एषा वेगवती नाम जायते ह्यंबुदक्षये ॥ २६ ॥

जिसका पौदा अरत्निमात्र होता है और दो अंगुलके बराबर पत्ते होते हैं, पुष्प नीले कमल जैसा होता है और फल कज्जल जैसे काले २ लगते हैं, सुवर्ण जैसी चमकीली और दूधवाली "महाश्रावणी" होती है और महाश्रावणीके लक्षणोंवाली सुपेद "श्रावणी" होती है ॥ २२ ॥ २३ ॥ "गोलोमी" और "अजलोमी" दोनों रोमयुक्त होती हैं, कंदसे उपजती हैं ॥ २४ ॥ हंसपदीकी भांति फटे पत्तोंसे युक्त जो मूलसे उपजे अथवा सब रूपमें शंखपुष्पीके समान हो ॥ २५ ॥ जो बड़े वेगसे युक्त हो (बहुतसी आंटियाँ खाये हुए हो), सर्पकी कांचली जैसी चमकीली हो वह "वेगवती" होती है वह वर्षाकालकी समाप्तिके समय होती है ॥ २६ ॥

सर्वासां सर्वरूपिण्यो या ह्योषध्यः प्रकीर्तिताः ॥
तासामुद्धरणं कार्यं मंत्रेणानेन सर्वदा ॥ २७ ॥

(श्लो० २०) 'सदादित्यानुगामिनी' इत्यत्र सदादित्यानुवर्तिनीति वा पाठः ।

समस्त रूप और प्रभाववाली जो सात औषधें पहले कही हैं उनको सदा इस (वक्ष्यमाण) मन्त्रसे उखाडे ॥ २७ ॥

मन्त्र ।

महेंद्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि ॥
तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥ २८ ॥

महेंद्र, रामचन्द्र और श्रीकृष्ण इनके तथा ब्राह्मणोंके और गौवोंके तपसे, तेजसे (हे औषधियां तुम) कल्याणके अर्थ शांति करो ॥ २८ ॥

मंत्रेणानेन मतिमान् सर्वानप्यभिमंत्रयेत् ॥ २९ ॥ अश्रद्दधानै-रलसैः कृतघ्नैः पापकर्मभिः ॥ नैवासादयितुं शक्याः सोमाः सोमसमास्तथा ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त मन्त्रसे बुद्धिमान् सब औषधोंको अभिमंत्रित करे ॥ २९ ॥ जो मनुष्य श्रद्धारहित, आलसी, कृतघ्नी तथा पापी हैं वे सोम तथा सोमके तुल्य औषधोंको उखाडकर नहीं ला सकते ॥ ३० ॥

पीतावशेषममृतं देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः ॥
निहितं सोमवीर्यासु सोमे चाप्यौषधीपतौ ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा आदि देवताओंने जब अमृतका पान किया तब बचा हुआ अमृत सोम-नामक औषधिमें तथा सोमके समान वीर्यवाली अन्य औषधियोंमें और औषधी-पति चन्द्रमामें डाल दिया (इसीसे इनमें अमृतके गुण हैं) ॥ ३१ ॥

देवसुंदे ह्रदवरे तथा सिंधौ महानदे ॥ दृश्यते च जलांतेषु मध्ये ब्रह्मसुवर्चला ॥ ३२ ॥ आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हि हिमक्षये ॥ दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चांबुदागमे ॥ ३३ ॥ काश्मीरेषु सरो-दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥ करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छ-त्रके तथा ॥ ३४ ॥ गोलोमी चाजलोमी च महती श्रावणी तथा ॥ वसंते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते ॥ ३५ ॥

देवसुंद नामक सरोवरमें तथा सिंधु नामक महानदीमें जलके किनारे या मध्यमें ब्रह्मसुवर्चला पाई जाती है ॥ ३२ ॥ आदित्यपर्णिनी हेमन्तके क्षय (वसंत) में होती है, अजगरी सदा मिलती है और गोनसी प्रावृट् ऋतुमें पाई जाती है ॥ ३३ ॥ काश्मीरमें एक दिव्य सरोवर क्षुद्रमानसरोवर नामक है वहां पर करेणु, कन्या,

(श्लो० ३५) कृष्णसर्पाख्या वाराही (इति नि० सं०) अन्ये तु कृष्णसर्पाख्या गोनसी एवेत्याहुः ।

छत्रा तथा अतिच्छत्रा पाई जातीहैं ॥ ३४ ॥ तथा वहांही गोलोमी, अजलोमी, महाश्रावणी और श्रावणी भी होती हैं वसंत ऋतुमें कृष्णसर्पाख्या अर्थात् वाराहि और गोनसी पाई जाती हैं ॥३५॥

कौशिकीं सरितं तीर्त्वा संजयंत्यास्तु पूर्वतः ॥ क्षितिप्रदेशो वल्मीकैराचितो योजनत्रयम् ॥ ३६ ॥ विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्द्धसु ॥ मलये नलसेतौ च वेगवत्यौषधी ध्रुवा ॥ ३७ ॥

कौशिकीनदीको तरकर संजयंती नगरीके पूर्वको तीन योजन विस्तृत सर्पोकी बँबइयोंसे व्याप्त पृथ्वीका भाग (जंगल) है ॥ ३६ ॥ वहां श्वेतकापोती बँबइयोंके शिखरपर मिलती है और मलयगिरिमें तथा नलसेतु (सेतुबंधरामेश्वर) में वेगवती औषधी अवश्य होती है ॥ ३७ ॥

कार्तिक्यां पौर्णमास्यां च भक्षयेत्तामुपोषितः ॥
सोमवर्चात्र वर्तेत फलं तावच्च कीर्तितम् ॥ ३८ ॥

कार्तिककी पूर्णमासीको व्रत करके इन्हें भक्षण करे तो सोमके समान इनका फल होवे ऐसा कहा है ॥ ३८ ॥

सर्वा विज्ञेयास्त्वौषध्यः सोमे चाप्यर्बुदे गिरौ ॥ सशृंगैर्देवरचितैरभ्रानीकभेदिभिः ॥ ३९ ॥ व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितैः ॥ गुहाभिर्भीमरूपाभिः सिंहोन्नादितकुक्षिभिः ॥ ४० ॥ गजालोडिततोयाभिरापगाभिः समंततः ॥ विविधैर्धातुभिश्चित्रैः सर्वत्रैवोपशोभितः ॥ ४१ ॥

ये पूर्वोक्त सभी औषधें सामान्यतासे शीतल पहाडोंमें तथा आबूराजमें (अथवा शीतल अर्बुद पर्वतमें) मिलती हैं तथा ऊंचे बादलोंको भेदन करनेवाले शिखरयुक्त जो पर्वत हैं, विख्यात तीर्थोंसे व्याप्त हैं, जहां सिद्ध, ऋषि, देवता निवास करते, हैं, जिनमें बडी भयानक गुफायें हैं, जिनके भीतर सिंह गर्जा करते हैं ऐसे स्थानोंमें ये औषधें होती हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तथा जिन नदियोंमें हाथी कलोल करते हैं उनके आसपासमें और जो स्थान नाना प्रकारकी चित्र विचित्र धातुओंसे शोभित हैं ऐसे स्थानोंमें ये औषधें मिलती हैं (अथवा ये सब अर्बुदहीके विशेषण हो सकते हैं कि जो अर्बुद देवरचित ऊंचे शृंगोंसे, विख्यात तीर्थों आदिसे व्याप्त और शोभित है उसमें ये सब मिलती हैं ॥ ४१ ॥

(श्लो० ३६) संजयंतीनाम नगरी पूर्वकाले चासीत् । (श्लो० ३७) नलसेतुः नलनाम्ना वानरेण रचितः सेतुः नलसेतुः स चाद्य सेतुबंधरामेश्वरनाम्ना प्रसिद्धः ।

नदीषु शैलेषु सरस्सु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु ॥
सर्वत्र सर्वाःपरिमार्गितव्याः सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥४२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने त्रिंशोऽध्यायः॥३०॥

नदियोंमें पहाडोंमें सरोंवरोंमें पवित्र वनोंमें तथा आश्रमोंमें इन सब जगह इन सब औषधोंको तलास करना चाहिये यहांपर मिल जाना संभव है क्योंकि समस्त पृथिवीहि द्रव्य धारण करनेवाली है ॥ ४२ ॥

इति पण्डितमुरलीधरवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति रसायनतन्त्रम् ।

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ३१.

अथातः स्नेहोपयौगिकं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम स्नेहके उपयोग करने विषयक चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ॥

स्नेहसारोयं पुरुषः प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवंति । स्नेहो हि पानानुवासनमास्तिष्कशिरोवस्त्युत्तरवस्तिनस्यकर्णपूरण गात्राभ्यंगभोजनेषूपयोज्यः ॥ १ ॥

यह मनुष्यशरीर स्नेहकाही सार है और प्राणभी स्नेहभूयिष्ठ हैं अर्थात् प्राण अधिक स्नेहसे हैं और स्नेहहीसे साधन किये जाते हैं। स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) पीने, अनुवासन, मस्तिष्क, शिरोवस्ति और उत्तरवस्ति, नस्य (नास), कर्णपूरण (कानमें डालने), शरीरपर मलने तथा भोजन करनेमें उपयोग किया जाता है ॥ १ ॥

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पेऽभिहितः स्नेहः गुणाश्च तत्र जंगमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति ॥ २ ॥

उस स्नेह (चिकनाई) के उत्पत्तिस्थान दो हैं १ स्थावर पदार्थ, २ जंगम (जीव जंतु) इस स्नेहके चार भेद हैं (घृत, तैल, वसा, मज्जा) तथा गुण भी बहुत हैं ये सूत्रस्थानमें वर्णन पहले होचुके हैं। जंगम स्नेहोंमें गौका घृत प्रधान है और स्थावर स्नेहोंमें तिलका तैल प्रधान है ॥ २ ॥

अत ऊर्द्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाविधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः ॥३॥

(वा० २) जंगमेभ्यः गमनशीलेभ्यः स्थावरेभ्यः उद्भिज्जाकरजेभ्यः ।

यहांसे अगाडी हम प्रयोजनके और विधिके अनुसार स्थावर स्नेह (तैलों) का उपदेश करते हैं ॥ ३ ॥

तत्र तिल्वकैरण्डकोशाम्रदंतीद्रवंतीसप्तलाशंखिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकंपिल्लकसंपाकनीलिनीस्नेहा विरेचयंति ॥ ४ ॥ जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयंति ॥५॥ विडंगखरमंजरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुसिद्धार्थकज्योतिष्मतिस्नेहाः शिरो विरेचयंति ॥ ६ ॥

तिल्वक (पट्टिका लोध), एरंड, कोशाम्र, दंती (जयपाल), द्रवंती (जयपालका भेद), सप्तला (सातला थोहरका भेद), शंखिनी (थोहरका दूसरा भेद), पलाश, विषाणिका (मेढासींगी), गवाक्षी (द्रवकर्णी), कमेला, किरमाला और नीलनी (कालादाना) इनका तैल विरेचनकर्ता है (इनमें जिनके बीजोंमें तैल होवे उसका तो तज्जन्य तैल समझे और जिनमें तैल नहीं है उन्हें तिलके तैलमें साधन करनेसे जो बने वही समझे) ॥ ४ ॥ जीमूतक (देवदाली), कुडा (इंद्रजौ), कृतवेधन (कोशातकी), इक्ष्वाकु (कडुतुंबी), धामार्गव (महाकोशातकी) और मैनफल इनका तैल वमनकारक है ॥ ५ ॥ विडंग, खरमंजरी (अपामार्ग), मीठा सहँजना, सूर्यवल्ली (अर्कपुष्पी), पीलु, सिद्धार्थक (सुपेद सरसों या राई) और मालकांगनी इनका तैल शिरका विरेचन करता है ॥ ६ ॥

करंजपूतिकक्रुतमालमातुलुंगेंगुदीकिराततिक्तकस्नेहाः दुष्टव्रणेषूपयुज्यंते । तुवरककपित्थकंपिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहाः महाव्याधिषु ॥ ७ ॥ त्रपुसैर्वारुककर्कारुकतुम्बीकूष्मांडस्नेहाः मूत्रसंगेषु । कपोतवंकावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु । कुसुंभसर्षपातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहेषु ॥ ८ ॥

करंज, पूतिकरंज, किरमाला, विजौरा, हिंगोट, चिरायता इनका तैल बिगडे हुए घावों पर लगाना हित है । तुवरक (पश्चिमी समुद्रतटपर वृक्ष होता है),

---

(वा० ४.५.६.) तिल्वकः रोध्राकारः वृहत्पत्रः रक्तत्वक् । सप्तला यवतिक्ता, शंखिनी तद्भेदः, गवाक्षी द्रवकर्णी. जीमूतकः देवदाली, कृतवेधनः कोशातकी, इक्ष्वाकुः कटुतुंबी, सूर्यवल्ली अर्कपुष्पी (इति नि. स.)(वा० ८) पिचुमर्दः निंबः, अतिमुक्तकः तिंदुकः, भांडी भिंडीति लोक (इति नि० स०) कटभी ज्योतिष्मती (इति भा० प्र० निघंटुः) श्रवणः मुंडी इति निघंटुः ।

कैथ, कमेला, भिलावाँ और पटोल इनका तैल महाव्याधियोंमें उपयोग किय जाता है ॥ ७ ॥ ककडी, आरया खीरा, मीठीतुंबी (घीया) तथा कोहला इनव तैल मूत्रके रुकनेमें काम आता है। कपोतवंका (ब्राह्मी), बावची और हरीतव इनका तैल शर्करा रोग और पथरीमें लाभदायक है। कसूंभे (करड), सरसे अलसी, निबोली, अतिमुक्तक (तेंदु), भांडी (भिंडी), कटुतुंबी और कटभ (मालकांगनी) इनका तैल प्रमेहोंमें हित है ॥ ८ ॥

तालनारिकेलपनसमोचपियालविल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ । विभीतकभल्लातकपिंडीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे । श्रवणकंगुकटुंटुकस्नेहाः पांडुकरणे शिंशपागुरुसारस्नेहाः दद्रुकुष्ठकिटिभेषु सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नंति तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः ॥ ९ ॥

ताड, नारियल, कटहल, मोच (शाल्मली), चिरोंजी, विल्व, महुवा, श्लेष्मा तक (ल्हेसुवा), आमडा इनके फलोंका तेल पित्तसे मिले हुए वायुमें हितकारव है। बहेडा, भिलावां और मैनफल इनका तैल सुपेद व्रणको काला करनेमें श्रे है। श्रवण (मुंडी), कांगनी, टुंटुक (पाठ) इनका तैल काले दागको पांडुवर्ण करनेके काम आता है। शीशम, अगुरुसार इनका तैल दद्रुकुष्ठ और किटिभ रोगमें हित है। और सबही तैल वायुको शांत करते हैं, तैलोंके सामान्यतासे गुण वर्णन किये गये ॥ ९ ॥

अत ऊर्द्ध्वं कषायस्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः । तत्र केचिदाहुस्त्वक्पत्रमूलादीनां भागस्तच्चतुर्गुणजलमावाप्य चतुर्भागावशेषं निःक्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः स्नेहप्रसृतेषु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्चाक्षसमान्भेषजपिंडानित्येष स्नेहपाककल्पः । एतत्तु न सम्यक् कस्मादागमासिद्धत्वात् ॥ १० ॥

अब यहांसे अगाडी हम क्वाथ और स्नेहके पकानेका क्रम बताते हैं । इसमें कई ऐसा कहते हैं कि छाल, पत्ते, जड आदि औषधोंका एक भाग लेकर उससे चौगुने पानीमें डालकर औटावे और चौथाई भाग शेष रहनेपर अग्निसे उतारले यही क्वाथ बनानेकी विधि है । फिर छः प्रसृति स्नेह (तैलादिक) में चौगुना द्रव (क्वाथ, गोमूत्रादि) डाले और उसमें एक पल पिसी हुई औषध डालकर पका-

(वा० १०) प्रसृतेः प्रमाणं पलद्वयम् ।

ले (स्नेहमात्र शेष रहनेपर उतारले) यही स्नेहपाककी विधि है परंतु धन्वंतरिजी कहते हैं कि यह ठीक नहीं क्योंकि शास्त्रसे यह विधि सिद्ध नहीं है ॥ १० ॥

मान (तोल) की परिभाषा ।

पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः । तत्र द्वादशधान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः ते षोडश सुवर्णम् । अथ मध्यमनिष्पावा वा एकोनविंशतिर्धरणं तान्यर्द्धतृतीयानि कर्षः ततश्चोर्द्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्द्धयंतः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यंते तुला पलशतं तानि विंशतिर्भारः शुष्काणामिदं प्रमाणमार्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति ॥ ११ ॥

यहांसे अगाडी हम पल, कुडव आदि तोलके प्रमाणकी व्याख्या करते हैं। इसमें बारह साधारण उडद धान्यका १ सुवर्णमाष होता है और १६ सुवर्णमाषका एक सुवर्ण होता है । अथवा न बहुत छोटी न मोटी विचौधडी १९ निष्पाव (मटर समधान्य) का एक धरण (टंक) होता है फिर साढे तीन धरणका एक कर्ष होता-है इसके पीछे चौगुने चौगुने बढाकर पल, कुडव, प्रस्थ, आढक और द्रोण होते-हैं (जस चार कर्षका १ पल, चार पलका १ कुडव, चार कुडवका १ प्रस्थ, चार प्रस्थका १ आढक, चार आढकका १ द्रोण) सौ १०० पलकी एक तुला और बीस तुलाका १ भार होता है । सूखे पदार्थोंका प्रमाण इसके अनुसार लेना गीले और द्रव पदार्थोंका प्रमाण दुगुना करना ॥ ११ ॥

(वक्तव्य) मानपरिभाषाके कालिंग और मागध दो भेद हैं इसका विस्तार पूर्वक वर्णन हम इसके अन्तमें परिशिष्टरूपमें लिखेंगे वहां देखिये ॥

धन्वंतरिजीके मतसे क्वाथ और स्नेहपाकविधि ।

तत्रान्यतमपरिमाणसंमितानां यथायोगं त्वक्पत्रमूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खंडशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्वावकुट्याष्टगुणेन षोडशगुणेन वाम्भसाऽभिषिच्य स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वापहरेदित्येष कषायपाककल्पः । स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कस्तदैकध्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः ॥ १२ ॥

(वा० १२) अष्टगुणेन षोडशगुणेन वा जलेनेति । 'कर्षादौ तु पल यावत् दद्यात्षोडशिक जलम् । ततस्तु कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत् ॥ चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत्प्रस्थाधिक भवेत् ॥' इति । प्रकारांतरेणाह—

इसमेंसे किसी प्रमाणके अनुसार यथायोग छाल, पत्ते, जड आदिको धूपमें सुखाकर छेदन (टुकडे) करने योग्यके छोटे २ टुकडे करे और भेदन करने योग्यको बारीक भेदन करले फिर जरा कूटकर (कोमल वस्तु हो तो) आठ गुने और कठोर हो तो सोलह गुने जलमें डालकर हांडी या देगचीमें डाले और अग्निपर उबाले, उबलकर चौथाई रहनेपर अग्निसे उतार ले (और छान ले) यही क्वाथ बनानेकी विधि ठीक है । स्नेह पकानेमें स्नेह (तैलादि) से चौगुना द्रव (क्वाथ, गोमूत्रादि) डाले और स्नेहसे चतुर्थांश पिसी औषधें मिलाकर पकावे (तैल मात्र शेष रहनेपर उतार ले) यह स्नेहपाककी (उत्तम) विधि है ॥ १२ ॥

अथवा तत्रोदकद्रोणे त्वक्पत्रमूलादीनां तुलामावाप्यचतुर्भागावशिष्टे निःक्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः। स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रवमावाप्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः॥ ॥ १३ ॥ भवतश्चात्र—

अथवा द्रोणभर जलमें छाल, पत्ते जड आदि तुलाभर डालकर अग्निपर उबाले और चौथाई रहनेपर उतारकर छान ले यह भी क्वाथ बनानेकी विधि है । और कुडवभर स्नेहमें पिसी पलभर औषधका कल्क और स्नेहसे चौगुना द्रव (क्वाथादि) डालकर पकावे (स्नेह मात्र शेष रहनेपर उतार ले) यह स्नेहपाककी विधि है ॥ ॥ १३॥ इस विषयमें दो श्लोक हैं—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम् ॥ तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तत्तदेव तु ॥ १४ ॥ अनुक्तद्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्॥ कल्कक्वाथविनिर्देशे गणात्तस्मात्प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

जहांपर स्नेह, औषध और क्वाथ, जल आदिका प्रमाण नहीं लिखा हो वहां इस पूर्वोक्त विधिके अनुसार लेना और जहां प्रमाण लिखा हो वहां उस प्रमाणके अनुसार सब वस्तु लेवे ॥ १४ ॥ जहां कहीं द्रव पदार्थका नियम, नाम आदि नहीं लिखा हो वहां सब जगह जल ले लेना चाहिये और जहां जिन जिन औषधोंके कल्क तथा क्वाथ लिखे हों वहां उन्ही औषधोंके कल्क और क्वाथ लेकर स्नेह पकाना चाहिये ॥ १५ ॥

—'मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेष्टगुण जलम् ॥ कठिनात्कठिने देय जल षोडशिकं मतम्॥' इति । वस्तुतस्तु बाहुल्येन षोडशगुणेन जलेन क्वाथपानविषयस्नेहपाककल्पनं च (इति नि. सं.)

तीन भाँतिका स्नेहपाक ।

अत ऊर्द्ध्वं स्नेहपाकक्रमसुपदेक्ष्यामः । स तु त्रिविधस्तद्यथा मृदुर्मध्यमः खर इति । तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति । मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः । कृष्णमवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषजं स खर इति । अत ऊर्द्ध्वं दग्धस्नेहो भवति तं पुनः साधु साधयेत् ॥ १६ ॥ तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः नस्याभ्यंगयोर्मध्यमः वस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति ॥ १७ ॥

यहांसे अगाडी हम स्नेहपाक (तैल साधन करने) का उपदेश करते हैं । वह स्नेह पका हुआ तीन प्रकारका होताहै मृदु, मध्यम, खर (तीक्ष्ण) इनमेंसे जहां पके पीछे औषध और स्नेह न्यारा रहे (औषध जैसीकी तैसी बनी रहे घुले मिले और जले नही) वह मृदु है । जहां औषध पककर मोमके छत्तेके समान हो जावे परन्तु उज्ज्वल रहे और लिहस नहीं जावे वह मध्यम है । और जहां औषध पक कर काली पडजावे और नीचे जमजावे कुछ मैलीसी हो जावे और चिकनाई उसमें मिलजावे वह खर है । यदि इससे भी अधिक पकाया जावे तो स्नेह दग्ध होजाता है इस लिये इसे सावधानीसे ठीक पकावे ॥ १६ ॥ इनमेंसे पीने और खानेमें मृदु उपयोग करना चाहिये तथा नस्य और अभ्यंग (मर्दन करने) में मध्यम और वस्तिकर्म तथा कानोंमें डालनेको खर उपयोग करना चाहिये ॥ १७ ॥

स्नेहपक्वकी परीक्षा ।

शब्दस्योपशमे प्राप्ते फेनस्योपरमे तथा ॥ गंधवर्णरसादीनां संपत्तौ सिद्धिमादिशेत् ॥ १८ ॥ घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात्कुशलो भिषक् ॥ फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ॥ १९ ॥

खदबदका शब्द नष्ट होने और झाग बैठ जाने पर सुगंध, रंग और रसादिककी ठीक प्राप्ति होजावे तब स्नेहको सिद्ध हुआ जाने ॥ १८ ॥ यह घृतपक्वकी परीक्षा बुद्धिमान् वैद्य जाने । तैलमें झाग बहुतही उठते हैं (उनकी शांतिसे पका जाने) शेष सब बातें घृतके समान ही समझनी चाहिये ॥ १९ ॥

स्नेहपानकी विधि ।

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रमसुपदेक्ष्यामः । अथ लघुकोष्ठायातुराय कृतमंगलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रततकनक-

निकरपीतलौहिते सवितारि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत् ॥ २० ॥

इससे अगाडी हम स्नेहपान (घृत आदि पीने) की विधिका उपदेश करते हैं। हलके कोठेवाले रोगीको प्रभात जिस समय सूर्य उदयाचलके शिखरपर हो और तपाये सुवर्ण जैसी पीली सुरख किरणें फूटने लगी हों उस समय मंगलपाठ और स्वस्तिवाचन कराके बलके अनुसार तैल अथवा घृतकी मात्रा पिलावे और पीकर गरम पानीसे आचमन (कुल्ले) करके जूता पहनकर जैसे जी चाहे वैसे फिरे (टहले) ॥ २० ॥

घृतपान और तैलपानके योग्य रोगी।

रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम् ॥ हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥ २१ ॥ कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः ॥ पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये ॥ २२ ॥

जो रूखे हों, उरःक्षत रोगसे क्षीण हों, विषपीडित हों, जिन्हें वायु और पित्तके विकार हों, जिनकी बुद्धि और स्मरणशक्ति मंद हो उन्हें घृत पिलाना श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥ जिनके कोठेमें कृमि हों, जो वायुसे अवरुद्ध (रुके) हों जिनके कफ या मेद बढे हुए हों, जिन्हें तैल गुण करता हो, जो शरीरको दृढ करना चाहें वे तैलका पान करें ॥ २२ ॥

वसा और मज्जाके योग्य।

व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः ॥ महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नरा मताः ॥ २३ ॥ क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः ॥ मज्जानमाप्नुयुः सर्वे सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥ २४ ॥

जो श्रम (या डंड कसरत) से दुबले हुए हों, जिनका वीर्य और रुधिर सूख गया हो, जिनके महारोग हों, जिनका जठराग्नि बढा हो, जिनके वायु बढगया हो, जो अति प्राण (बल) वाले हों वे चरबी पान करने योग्य होते हैं ॥ २३ ॥ जिनके आशय कठोर हों, क्लेश सहनेवाले हों, जो वायुसे दुखी हों, जिनकी जठराग्नि अति दीप्त होवे वे सब मज्जापान करें अथवा औषधोंसे युक्त घृतका पान करें॥२४॥

दोषोंके अनुसार स्नेहपान।

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम् ॥ देयं बहुकफे चापि

ठ्योषक्षारसमायुतम् ॥ २५ ॥ दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च ॥ युंज्यात्त्रिषष्टिधाभिन्नैः समासव्यासतो रसैः ॥ २६ ॥

केवल पित्तकी व्याधिमें (या पित्तप्रकृतिमें) केवल घृतपान करना चाहिये और वायुके रोगमें (या वातप्रकृतिको) लवण मिलाकर पिलाना तथा कफके रोगमें या बहुत कफवालेको त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर पिलाना चाहिये ॥२५॥ दोषोंमें कमती बढती और मेल देखकर त्रेसठ ६३ प्रकारके जो रसके भेद (उत्तरतंत्रमें कहेंगे) उनके अनुसार संक्षेप और विस्तारसे रसभेदकी योजना करके स्नेहपान करावे ॥ २६ ॥

स्नेहपानका समय ।

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः कालेनात्युष्णशीतले ॥ अच्छमेव पिबेत्स्नेहमच्छपानं हि पूजितम् ॥ २७ ॥ शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि ॥ वातपित्ताधिके रात्रौ वातश्लेष्माधिके दिवा ॥ २८ ॥ वातपित्ताधिकस्योष्णे तृष्मूर्च्छोन्मादकारकः ॥ शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत् ॥ २९ ॥

जिसे स्नेह माफकत हों, जो क्लेश सह सके वह न गरमी और न सरदी ऐसे सामान्य समयमें स्वच्छ घृत और तैलादिका पान करे क्योंकि स्वच्छही पीना श्रेष्ठ होता है ॥ २७ ॥ शरदीकी ऋतुमें दिनके समय और गरमीकी ऋतुमें रात्रिके समय स्नेहपान करना उचित है तथा जिसके वायु और पित्तकी अधिकता हो वह रात्रिमें और जिसके कफ, वायुकी अधिकता हो वह दिनमें स्नेहपान करे ॥ २८ ॥ जिसके वायु, पित्त अधिक हो वह यदि गरमीके समय स्नेहपान करे तो उसको तृषा, मूर्च्छा और उन्माद रोग होजाते हैं तथा वायु, कफके रोगवाला सरदीमें स्नेह पीवे तो उससे भारीपन, अरुचि और शूल ऐसे रोग होते हैं ॥ २९ ॥

स्नेहपान पर अति तृषाका उपचार ।

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः ॥ एवं चानुपशाम्यंत्यां स्नेहमुष्णांबुना वमेत् ॥ दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत् ॥ ३० ॥

स्नेहपानपर यदि तृषा लगे तो गरम जल पीना चाहिये और जो ऐसा करनेसे तृषा शांत न हो (बल्कि बढे) तो गरम पानी पीकर स्नेहका वमन कर डालना चाहिये और ठंढी वस्तु शिरपर लगावे और ठंढे पानीमें घुसकर स्नान करे ॥ ३० ॥

स्नेहकी मात्रा और गुण।

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि ॥ सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता ॥ ३१ ॥ या मात्रा परिजीर्येत तथार्द्धदिवसे गते ॥ सा वृष्या बृंहणी चैव मध्यदोषे च पूजिता ॥३२॥ या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते ॥ स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषेषु पूजिता ॥ ३३ ॥ या मात्रा परिजीर्येत तथा परिणतेहनि ॥ ग्लानिमूर्च्छामदान्हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत् ॥ ॥ ३४ ॥ अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यते ॥ सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ ३५ ॥

जो घृत, तैलादिकी मात्रा एक पहर दिन चढे (पहरभरहीमें) पच जाती है वह जठराग्निको दीपन करती है और थोडे दोषवालेको श्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥ और जो मात्रा मध्याह्नतक (दो पहरमें) पचती है वह वृष्य और बृंहण (शरीर पुष्ट करनेवाली) है और मध्यम दोषवालेको श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥ जो मात्रा चतुर्थांश दिन रहे (तीन पहरमें) पचती है वह स्नेहनी (स्निग्धताकारक) है और अति दोषवालेको श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥ जो मात्रा दिन पीछे (चार पहरमें) पचती है वह ग्लानि, मूर्च्छा और मद इनको नाश करके श्रेष्ठ समझी जाती है ॥ ३४ ॥ और जो मात्रा किसी प्रकारका दोष विना उत्पन्न किये दिनरातमें (आठ पहरमें) पचती है वह कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह और अपस्मार इतने रोगोंको नाश करती है ॥३५॥

प्रथम मात्राकी विधि।

यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत विचक्षणः ॥
पीतो ह्यतिबहुस्नेहो जनयेत्प्राणसंशयम् ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् वैद्य जठराग्निके अनुसार पहली मात्रा स्नेहकी पिलावे (अथवा प्रथम मात्रा जो एक पहरमें पच जावे उतना पिलावे) क्योंकि बहुत अधिक स्नेह पिया हुआ प्राणोंका संदेह उत्पन्न करता है ॥ ३६ ॥

मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति ॥ विष्टभ्य चापि जीर्येत्तं वारिणोष्णेन वामयेत् ॥ ३७ ॥ जीर्णाजीर्णविशंकायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत् ॥ तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ॥ ३८ ॥

मिथ्या आचरण करनेसे अथवा बहुत पीजानेसे जिसको स्नेह पचे नहीं या पेटमें फुलावट कबजी करके पचे उसे गरम जलसे वमन करा देवे ॥ ३७ ॥ और स्नेह पचगया अथवा नहीं पचा ऐसी शंकामें गरम जल पीवे उससे शुद्ध डकार आजाती है और खाने पर रुचि होती है ॥ ३८ ॥

स्नेह पचनेके समय उपाधि ।

स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारुचिक्लमाः ॥ ३९ ॥

जब स्नेह (घृत, तैलादि) पचने लगते हैं तब तृषा, दाह, भ्रम, अनुत्साह, अरुचि और क्लम (ग्लानि) ये होते हैं (यदि ये स्वल्प हों तो कुछ बहुत चिंता नहीं परन्तु यदि उपद्रव अधिक बढे तो तत्कालही उसकी शांतिका उपाय करना चाहिये) ॥ ३९ ॥

परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम् ॥ यवागूं पाययेच्चोष्णां कामं क्लिन्नाल्पतंडुलाम् ॥४०॥ देयौ यूषरसौ वापि सुगंधी स्नेहवर्जितौ ॥ कृतौ वात्यल्पसर्पिष्कौ यवागूर्वा विधीयते ॥ ४१ ॥

जब स्नेह पच जावे तब मनुष्यको गरम पानीसे अभिषेक करके बहुत सीजे हुए थोडे चावलोंकी गरम यवागू यथारुचि पिलावे ॥ ४० ॥ अथवा विना चिकनाईका यूष तथा मांसरस सुगंधियुक्त देवे अथवा बहुत कम घृतके यूष रस देवे अथवा यवागू ही देवे ॥ ४१ ॥

स्नेहपान करनेकी अवधि ।

पिबेत्र्यहं चतुरहं पंचाहं षडहं तथा ॥
सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः ॥ ४२ ॥

घृत, तैलादिक तीन दिन, चार दिन, पांच दिन तथा छह दिन पीवे फिर सात दिन पीछे सेवन करना सात्म्य होजाता है अर्थात् आहारमें होजाता है ॥ ४२ ॥

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा ॥
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ॥ ४३ ॥

सुकुमार (नाजुक मनुष्य), दुबले, वृद्ध, बालक तथा जिसको स्नेह पीनेसे अरुचि (नफरत) हो उन मनुष्योंको तथा तृषासे पीडितको और गरमीके समय भोजनके साथ स्नेहपान करावे ॥ ४३ ॥

सद्यःस्नेहनकर्ता पांच प्रयोग ।

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकः ॥ पीतमेकध्यमेतद्धि

सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ ४४ ॥ भृष्टमांसरसे स्निग्धा यवागूः सूप-कल्पिता ॥ सक्षुद्रा पीयमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥४५॥ सर्पिष्मती पयःसिद्धा यवागूः स्वल्पतंडुला ॥ सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ ४६ ॥ शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम् ॥ दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ ४७ ॥ यव-कोलकुलत्थानां क्वाथो भागत्रयान्वितः ॥ पयोदधिसुराक्षीरघृत-भागैः समन्वितः ॥ ४८ ॥ सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद् घृतोत्तमम् ॥ ४९ ॥

पिप्पली, लवण, चारों स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा), दही, दहीका पानी इन सबको मिलाकर पिया हुआ सद्यही स्नेहन करनेवाला कहा है ॥ ४४ ॥ भुने हुए मांसके रसमें दालकी बनाई हुई चिकनी यवागूमें कटेली डालके पीना सद्यही स्नेहन करता है ॥ ४५ ॥ थोडे चावलोंकी दूधमें बनी हुई यवागू घृतयुक्त गरम गरम पीनेसे तत्कालही स्नेहन होता है ॥ ४६ ॥ दोहनीमें शर्करा (खांड) मिलाहुआ घृत डालकर उसमें गौका दूध निकाले और फिर उसे उसी समय (धारोष्ण) ही रूक्ष मनुष्य पान करे यह सद्यही स्नेहन करता है ॥ ४७ ॥ तथा जौ, बेर, कुलथी इन तीनोंको समान भाग लेकर क्वाथ करे फिर उस क्वाथमें दूध, दही, मद्य और जल समान भाग मिलाकर घृत सिद्ध करे वह घृत पीना सद्यही स्नेहन करता है, राजाको अथवा राजाके समान बडे आदमियोंको यह उत्तम घृत पिलाना योग्य है॥४८॥४९॥

बलहीनेषु वृद्धेषु मृद्वग्निस्त्रीमहात्मसु ॥
अल्पदोषेषु योज्या स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः ॥ ५० ॥

बलहीन मनुष्योंको, वृद्धोंको, जिनकी जठराग्नि कोमल हो, स्त्री तथा महात्मा (शांतस्वभाव) तथा जिनके अल्पदोष हों ऐसे मनुष्योंको पूर्वोक्त सद्यःस्नेहनकर्ता ५ प्रयोगोंमेंसे उपयोग करने चाहिये ॥ ५० ॥

स्नेहपानके अयोग्य रोगी ।

विवर्जयेत्स्नेहपानमजीर्णी चोदरी ज्वरी ॥ दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥ ५१ ॥ छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रांतः पान-क्लमान्वितः ॥ दंतवस्तिर्विरिक्तश्च वांतो यश्चापि मानवः ॥ ५२ ॥ अकाले दुर्दिने चैवं न च स्नेहं पिबेन्नरः ॥ अकाले च प्रसूता स्त्री

स्नेहपानं विवर्जयेत् ॥ ५३ ॥ स्नेहपानाद्भवंत्येषां नृणां नानाविधा गदाः ॥ गदा वा कृच्छ्रतां यांति न सिध्यंत्यथवा पुनः ॥ ५४ ॥

अजीर्णवाले, उदररोगी (जिन्हें जलोदर आदि हों), ज्वरवाले, दुर्बल, अरुचिवाले, स्थूलशरीरवाले, जिन्हें मूर्च्छा आती हो, जो मदसे पीडित हों उन्हें स्नेहपान नहीं करावे ॥५१॥ जिन्हें छर्दि (उलटी) आती हो, तृषायुक्त, थकाहुआ, मद्यपान और ग्लानियुक्त हो, जिसके वस्तिकर्म किया हो, जिसे विरेचन या वमन कराया हो उन्हें भी स्नेहपान नहीं करावे ॥ ५२ ॥ अकालमें (बे समय), अवर हुएमें मनुष्य स्नेह न पीवे तथा अकाल (बे समय) जिस स्त्रीके बालक हुआ हो या गर्भपात हुआ हो उसे भी स्नेह (चिकनाई) वर्जित है ॥ ५३ ॥ इन पूर्वोक्त मनुष्योंको स्नेहपान करनेसे नाना प्रकारके रोग होते हैं अथवा रोग कष्टसाध्य तथा असाध्य होजाते हैं ॥ ५४ ॥

गर्भाशये सशेषाः स्यू रक्तक्लेदमलास्ततः ॥ स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च ॥ दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत् ॥५५॥

अकालप्रसूता स्त्रीके गर्भाशयमें रुधिरक्लेद और मल दूषित शेष रहते हैं इससे स्नेह त्यागकर रूखी पाचनवस्तु सेवन करे और दश दिनके पीछे यथायोग्य चिकनाई देनेका प्रारम्भ करे ॥ ५५ ॥

रूक्षके लक्षण ।

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते ॥ उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ॥ दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥५६॥

रूक्ष मनुष्यके विष्ठा गांठरूप रूखा होता है और अन्न भी कठिनतासे पचता है, हृदयमें दाह होता है और कोष्ठसे वायु ऊपर ऊपरको चढता है, वर्ण विगडा (कुरूप) होता है और मनुष्य दुर्बल हो जाता है ॥ ५६ ॥

सम्यक्स्निग्धके लक्षण ।

ग्लानिः सदनमंगानामधस्तात्स्नेहदर्शनम् ॥ सम्यक्स्निग्धस्य लिंगानि स्नेहद्वेषस्तथैव च ॥ ५७ ॥

(श्लो० ५५) अकालप्रसूतास्त्रीणा गर्भाशये रक्तक्लेदमलाः सशेषाः स्युरतः सा स्नेहं जह्यात् । दशरात्रात्परं यथावत्स्नेहमवचारयेदित्यर्थः ।

(श्लो० ५६) कोष्ठादुपरि धावति वायुः ऊर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः । (श्लो० ५७) "सम्यक्स्निग्धस्य लिगानि स्नेहद्वेषस्तथैव च ॥" इत्यत्र 'स्नेहे जीर्यति लिगानि जीर्णस्तैः शांतिमागतैः ॥' इति वा पाठांतरं तत्र शांतिगतैः स्नेहो जीर्णो ज्ञायेत ।

जिसने प्रमाणसे उचित स्नेह पान किया हो उसके ग्लानि तथा अंगोंमें भारीपन होवे तथा विष्ठामें चिकनाई दीखे और चिकनाई पर रुचि न रहे ये सम्यकस्निग्धके लक्षण हैं ॥ ५७ ॥

अतिस्निग्धके लक्षण ।

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका ॥

पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम् ॥ ५८ ॥

जिसको प्रमाणसे अधिक स्नेह पान कराया गया हो उसको भोजनमें प्रेम हो, मुखमें (स्निग्धता युक्त) कुल्ले भर भर आवें, गुदामें गरमी हो, प्रवाहिका (मरोडे) हों, विष्ठाकी अधिक प्रवृत्ति हो (दस्त लगें) ये भृशस्निग्ध अर्थात् अतिस्निग्धके लक्षण हैं ॥ ५८ ॥

अतिरूक्ष और अतिस्निग्धका प्रतीकार ।

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम् ॥

श्यामाककोरदूषान्नतक्रपिण्याकसक्तुभिः ॥ ५९ ॥

रूक्ष मनुष्योंको स्नेहसे (घृत, तैलादिसे) स्निग्ध करना और अति स्निग्धोंको शामक, कोदों, छांछ, खली और सत्तू आदिसे रूक्षण (रूखापन) करना चाहिये ॥ ५९ ॥

स्नेहपानके गुण ।

दीप्तांतरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ॥ दृढेन्द्रियो मंदजरः शतायुः स्नेहोपयोगी पुरुषो भवेत्तु ॥ ६० ॥ स्नेहो हितो दुर्बलवह्निदेहसंधुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य ॥ बलान्वितौ भोजनदोषजातैः प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ ॥ ६१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थान एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

स्नेहपानका उपयोग करनेसे जठराग्नि दीप्त हो जाती है, कोठा शुद्ध होता है, धातु बढती है, बल और वर्णसे युक्त मनुष्य हो जाता है, इंद्रियां दृढ होती हैं, बुढापा मन्द होता है अर्थात् देरसे वृद्धता होती है और सौ वर्षकी अवस्था हो जाती है ॥ ६० ॥ व्याधिपीडित और दुर्बल मनुष्यके अग्नि और देहके संधुक्षण (तेज) करनेके लिये स्नेह परम हित है (और स्नेहपाकसे) बलवान् जठराग्नि और शरीरको भोजनादिसे उत्पन्न हुए दोष शीघ्रही पीडन करनेको समर्थ नहीं हो सकते (अथवा दुर्बल अग्निके चिनगारेके संधुक्षण (तेज) करनेके लिये जैसे घृतादिक स्नेह हित हैं वैसेही व्याधिपीडितके अग्नि और देहके संधुक्षण (तेज) करनेको स्नेह हित है क्योंकि बलवान् हुए अग्नि और शरीरको भोजनादिके दोष पीडित

करनेको समर्थ नहीं होते । सारांश यह है कि घृतादिसे तेज हुई अग्नि जैसे गीले ईंधनसे नहीं दबती इसी प्रकार स्नेहसे बलवान् हुई शारीरिक अग्नि भोजनके दोषसे पीडित नहीं होती) ॥ ६१ ॥

अथ परिशिष्टम् ।

औषधग्रहणमें मानके जाननेकी बडीही आवश्यकता है इस लिये इसे हम विस्तार पूर्वक तंत्रांतरसे लेकर यहां परिशिष्टरूपमें लिखते हैं, तंत्रांतरमें मानकी परिभाषा दो प्रकारकी है, एक मागधी परिभाषा, दूसरी कालिंगी परिभाषा । मागधीका तोल पुरातन है और कालिंगीसे कुछ अधिक हैं इन दोनों परिभाषाओंको आगे वर्णन करते हैं॥

मागधीपरिभाषा ।

श्लोक-तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ॥ यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुंजा स्यात्तच्चतुष्टयम् ॥ १ ॥ षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधान्ययोः ॥ माषैश्चतुर्भिशाणः स्याद्धरणः स निगद्यते ॥ २ ॥ टंकः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते ॥ क्षुद्रभो वटकश्चैव द्रंक्षणः स निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ-तीन राईके दानेके समान एक सरसोंका दाना होताहै और आठ सरसोंका १ जौ होता है और चार जौकी १ रत्ती (चिरमठी) होती है ॥ १ ॥ और छह रत्तियोंका १ माष होता है यह धान्य तथा सुवर्णादिके तौलका माष होता है फिर चार माषका १ शाण होता है उसे धरणभी कहते हैं ॥ २ ॥ और उसेही टंक भी कहते हैं, दो टंकका एक कोल होता है, इसे क्षुद्रभ, वटक और द्रंक्षण भी कहते हैं ॥ ३ ॥

श्लोक-कोलद्वयं च कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिका बुधैः ॥ अक्षः पिचुः पाणितलं किंचित्पाणिश्च तिंदुकम् ॥ ४ ॥ बिडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता ॥ करमध्यं हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहम् ॥ ५ ॥ उदुंबरं च पर्यायैः कर्ष एव निगद्यते ॥ स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ॥ ६ ॥

अर्थ-दो कोल (४ टंक) का १ कर्ष होताहै इसे पाणिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि तथा तिंदुक भी कहते हैं ॥ ४ ॥ और बिडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण और कवलग्रह ॥ ५ ॥ तथा उदुंबर ये सब कर्षहीके पर्यायवाची नाम हैं । दो कर्षका आधा पल होता है इसे शुक्ति और अष्टमिका भी कहते हैं ॥ ६ ॥

श्लोक-शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ॥ प्रकुंचः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥७॥ पलाभ्यां प्रसतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यत ॥ प्रसृतिभ्यामंजलिः

स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावकः ॥ ८ ॥ अष्टमानं च संज्ञेयं कुडवाभ्यां च मानिका ॥ शरावोष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥ ९ ॥

अर्थ-दो शुक्ति (४ कर्ष) का १ पल होताहै इसे मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुंच, षोडशी और बिल्व भी कहते हैं ॥ ७ ॥ दो पलकी १ प्रसृति होती है जिसे प्रसृत भी कहते हैं। दो प्रसृति (४ पल) की १ अंजलि होती है जिसे कुडव, अर्द्धशराव तथा अष्टमान भी कहते हैं फिर दो कुडवकी १ मानिका होती है जिसे शराव और अष्टपल भी पंडितजन कहते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

श्लोक-शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुःप्रस्थैस्तथाढकम् ॥ भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्टिपलंच तत् ॥ १० ॥ चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोन्मनौ ॥ उन्मानश्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञकाः ॥ ११ ॥ द्रोणाभ्यां शूर्पकुंभौ च चतुःषष्टिशरावकः ॥ शूर्पाभ्यां च भवेद्द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥ १२ ॥

अर्थ-दो शराव (४ कुडव) का १ प्रस्थ होता है और चार प्रस्थका १ आढक होताहै जिसे भाजन और कांस्यपात्र भी कहते हैं यह ६४ पलका होता है ॥ १० ॥ चार आढकका १ द्रोण होता है और कलश, नल्वण, उन्मन, उन्मान, घट, राशि ये सब द्रोणहीके पर्याय नाम हैं ॥ ११ ॥ दो द्रोणका १ शूर्प होता है इसे कुंभ भी कहतेहैं यह ६४ शरावका होता है फिर दो शूर्पकी १ द्रोणी होती है उसे वाह और गोणी भी कहते हैं ॥ १२ ॥

श्लोक-द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥ १३ ॥ पलानां द्विसहस्रं च भार एकः प्रकीर्तितः ॥ तुला पलशतं ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ १४ ॥

अर्थ-४ द्रोणीकी १ खारी होतीहै जिसमें ४०९६ पल होतेहैं ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है ॥ १३ ॥ फिर दो हजार पलका १ भार होता है और सौ १०० पलकी एक तुला होती है ऐसा सर्वत्र निश्चय है ॥ १४ ॥

कलिंगपरिभाषा।

श्लोक-यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्त्वा नराः कलौ ॥ अतस्तु मात्रा तद्योगाः प्रोच्यते शास्त्रसंमताः ॥ १५ ॥ यवो द्वादशभिर्गौरसर्षपैः प्रोच्यते बुधैः ॥ यवद्वयेन गुंजा स्यात्त्रिगुंजो वल्लमुच्यते ॥ १६ ॥ माषो गुंजाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत्क्वचित् ॥ स्याच्चतुर्माषकैः शाणः स निष्कष्टंक एव च ॥ १७ ॥ गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्दशमाषकः ॥ चतुःकर्षैः पलं प्रोक्तं दशशाणमितं बुधैः ॥ १८ ॥ चतुःपलैश्च कुडवः प्रस्थाद्याः पूर्ववन्मताः ॥ प्रमाणमेवं सर्वत्र ज्ञेयं बुद्धिविशारदैः ॥ १९ ॥

अर्थ-जिससे कलियुगके मनुष्य मन्दाग्नि, छोटे और हीनसत्त्व होते हैं इससे उनके योग्य मात्रा शास्त्रसंमित कहते हैं ॥ १५ ॥ बारह सुपेद सरसोंका १ जौ होता है

और दो जौकी १ चिरमठी होती है, तीन चिरमठीका १ वल्ल होता है ॥ १६ ॥ फिर ८ रत्ती (चिरमठी) का १ माष (मासा) होता है, कहीं १ रत्तीका भी मासा होता है और ४ माषका १ शाण होता है जिसे निष्क और टंक भी कहते हैं ॥ १७ ॥ छः माषका १ गद्याणक होता है और दश माष (मासे) का १ कर्ष होता है और ४ कर्षका १ पल होता है, इस (पल) में १० शाण होते हैं (अर्थात् १० टंकका यहां पल होता है) ॥ १८ ॥ फिर चार पलका १ कुडव होता है और अगाडी पूर्वोक्त हिसाबसे चौगुने २ प्रस्थादिक सब जानने इसप्रकार सर्वत्र बुद्धिमानोंको प्रमाण जानना चाहिये ॥ १९ ॥

श्लोक-माषटंकाक्षबिल्वानि कुडवः प्रस्थमाढकम् ॥
राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणम् ॥ २० ॥

अर्थ-मागधी परिभाषामें यह हिसाबहै कि माषसे लेकर खारी पर्यंत एकसे दूसरी चौगुनी समझे जैसे ४ माषका १ टंक । ४ टंकका १ अक्ष या कर्ष । ४ अक्षका १ बिल्व या पल । ४ पलका १ कुडव । ४ कुडवका १ प्रस्थ । ४ प्रस्थका १ आढक ४ आढककी १ राशि । ४ राशिकी १ गोणी । ४ गोणीकी १ खारी । (पलसे अगाडी खारीतक कलिंगी मानमेंभी यही हिसाब जानना और कलिंगी मानमेंभी उसके १०० पलकी १ तुला जाने) ॥ २० ॥ इति परिशिष्टम् ॥

इति पं० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ३२.

अथातः स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम स्वेदावचारण (पसीना दिलाने) की विधिरूप चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

स्वेदकर्मके ४ भेद ।

चतुर्विधः स्वेदस्तद्यथा तापस्वेद उष्मस्वेद उपनाहस्वेदो द्रवस्वेद इति अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः ॥ १ ॥

स्वेदकर्म चार प्रकारका होता है १ तापस्वेद, २ उष्मस्वेद, ३ उपनाहस्वेद, ४ द्रवस्वेद इनके अतिरिक्त अन्य सब भांतिके जो स्वेदोंके भेद हैं वे इन्हीं चारोंके अन्तर्गत आजाते हैं ॥ १ ॥

(वा० १) स्वेदावचारणीयं स्वेदप्रयोजनं तापः तापनमुष्मा वास्पः । उपनाह्यत इत्युपनाहः संशोधनमित्यर्थः । उपनाहः बन्धनं वा । द्रवतीति द्रवः कूपीहेतुकः स्वेदः अत्रांतर्भवति । उष्मस्वेदे प्रस्तराश्मघननाडीकुंभीभूस्वेदाः षडप्यन्तर्भवंति । द्रवस्वेदे परिषेकावगाही अंतर्भवतः (इति नि० सं०) ।

तापस्वेद ।

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकंदकपालवालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते शयानस्य चांगतापो बहुशः खादिरांगारैरिति ॥ २ ॥

तापस्वेद वह है जिसमें हाथ या कांसी आदि धातु या कंद या ठेकरा या बालू या वस्त्र इनमेंसे किसीको गरम करके सोये हुए (लेटे हुए) मनुष्यके अंगको तपावे और प्रायः खैरके अंगारोंसे तपावे ॥ २ ॥

उष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टिकालोहपिंडानग्निवर्णानद्भिरासिंचेदम्लद्रव्यैर्वा तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितमंगप्रदेशं स्वेदयेत् ॥ ३ ॥ मांसरसपयोदधिधान्याम्लवातहरपत्रभंगक्वाथपूर्णां वा कुंभीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात् ॥ ४ ॥ पार्श्वच्छिद्रेण वा कुंभेनाधोमुखेन तस्य मुखमभिसंधाय तस्मिञ्छिद्रे हस्तिशुंडाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत् ॥ ५ ॥

उष्मस्वेद वह है जिसमें ठेकरा, पत्थर, ईंट, लोहका पिंडा इत्यादिको अग्निमें लाल करके जलसे या अम्ल द्रव्यों (कांजी आदि) से बुझाकर अथवा उन्हीं अम्ल द्रव्योंसे भिगोकर गीला कपडा शरीरके ऊपर रखकर (या ईंट, पत्थर आदिको गीले कपडेसे लपेटकर) स्वेद करावे (सेंके) ॥ ३ ॥ अथवा मांसका रस, दूध, दही, कांजी, वायुनाशक वृक्षोंके पत्ते या क्वाथ घडेमें भरकर गरम करे और फिर घडेके मुखको कंबल आदिसे ढककर उसकी भाफ लेवे (भाफसे सेंके) ॥ ४ ॥ अथवा घडेके पेटमें छेद करके या घडेका मुख नीचा करके उसके मुहपर कपडा आदि ढककर छेदमें (या मुखमें) हाथीके सूँड जैसी नाडी (नली), लगाकर अंगको स्वेदन करे (भफारा लेवे)(इसे नाडीस्वेद भी कहते हैं) ॥ ५ ॥

नाडीस्वेद ।

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम् ॥ हस्तिशुंडिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥ ६ ॥ सुखा सर्वांगगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम् ॥ व्यामार्द्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः ॥ स्वेदनार्थे हिता नाडी कैलिंजी हस्तिशुंडिका ॥ ७ ॥

(वा० २) वाग्भटस्तापस्वेदमाह—तापस्वेदः पाणिकांस्यफालवालुकावस्त्रघटकादिभिश्च साक्षादग्निना च प्रयोक्तव्यः । (श्लो० ७) व्यामार्द्धमात्रा इति—व्यामः बाह्वोः संप्रसारितयोरंतरम् । कैलिंजीति किलिंजः कटविशेषः कटसाधनद्रव्याणि कुशकाशखर्जूरपत्रादीनि च (इति श० स्तो० डल्हनश्च) ।

सुखपूर्वक बैठे हुए या लेटे हुए, अच्छे प्रकार स्नेहाभ्यंग किये हुए, भारी वस्त्रसे शरीर ढके हुए वायुके रोगीको हाथीके सूंड जैसी नाडी (नली) से स्वेद करावे ॥ ॥ ६ ॥ यह नाडी सुखसे सब अंगोंके पास पहुँच सकती है और मनुष्यको क्लेश नहीं होता (जिस प्रत्यंगको चाहो उसीके पास नलीकी भाफ सुखसे पहुँच सकती-है) स्वेद करानेकी नाडी आधे व्याम (आधे पुरुष) के जितनी लम्बी और तीन खमवाली तथा हाथीके सूंड जैसी होनी चाहिये यह हाथीके सूंडके आकारकी नाडी किलिंज (चटाई आदि) की बनाई जानी चाहिये स्वेदनके लिये यह श्रेष्ठ होती है ॥७॥

भूस्वेद ।

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः॥ काष्ठैर्दग्ध्वा तथाभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥ ८ ॥ पत्रभंगैरवच्छाद्य शयानं स्वेदये-त्ततः ॥ पूर्ववत्स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम् ॥ ९ ॥

मनुष्यकी लंबाई चौडाईके समान पृथ्वीको अच्छी चौकोन खोदकर उसमें खैरकी लकडी जलावे (फिर उस अग्निको निकाल) दूध या धान्याम्ल (कांजी) जल छिडककर ॥ ८ ॥ (वायुनाशक एरंडादिके) पत्ते बिछाकर उसपर रोगीको लिटाकर वस्त्र उढा दे और स्वेदन करावे अथवा शिलाको इसी प्रकार गरम करके भस्मको उठाकर छिडककर पूर्वोक्त रीतिसे स्वेद करावे ॥ ९ ॥

कुटीस्वेद और प्रस्तरस्वेद ।

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यांतश्चतुर्द्वारेंगारा-नुपसंधाय तं स्वेदयेत् । धान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलि-जेऽन्यस्मिन्वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेदेवं पांशु-गोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् ॥ १० ॥

पूर्वोक्त मनुष्यकी लंबाई चौडाईके समान चार द्वारवाली कुटी बनावे उसमें रोगीको बिठा (या लिटा) कर चारों द्वारोंपर कोयले जलते हुए रख दे इस भांति स्वेद करावे अथवा धान्यको ठीक उबाल वाकली बनावे और उन्हें गरम २ पृथिवी पर बिछा दे फिर उसके ऊपर चटाई या और कोई ऐसी चीज बिछाकर उसपर रोगीको सुलाकर कपडा उढा देवे इसी भांति रेत, गोबर, तुष, भुस, पलाल (शूकधान्य) आदिको गरम करके स्वेद करावे (यह प्रस्तरस्वेद है) ॥ १० ॥

(वक्तव्य) ये सब कुंभीस्वेद, नाडीस्वेद, कुटीस्वेद, प्रस्तरस्वेद आदि उष्म-स्वेदहीके अंतर्गत हैं ॥

(वा० १०) पलाल: शूकधान्ये धान्यकांडे (इति शब्दस्तोम:) ।

उपनाहस्वेद।

उपनाहस्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत् । एवं काकोल्यादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः शाल्वणर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत् ॥ ११ ॥

उपनाहस्वेद उसे कहते हैं कि वायुनाशक जड आदिको (कांजी आदि) अम्लरससे पीसकर, लवण मिलाकर, चिकनाई डालकर गरम गरम गाढा लेप करके स्वेद करावे। इसी भांति काकोल्यादिक और सुरसादिक गण तथा तिल, अलसी, सरसों इनको पीसकर कृशरा (खिचडी) खीर या उत्कारिका (पुलटस) तथा वेसवार और सालन बनाकर बारीक कपडेपर रखकर बांध दे और उससे स्वेद करावे ॥ ११॥

द्रवस्वेद।

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्काथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वावगाह्य स्वेदयेत् । एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहेत सुखोष्णैः कषायैः परिषेचेदिति ॥ १२ ॥

द्रवस्वेद उसे कहते हैं कि वायुनाशक द्रव्योंके गरम क्काथसे भरे हुए कडाह या द्रोणी (बालटी) में बिठाकर स्नान कराकर स्वेद करावे। इसी प्रकार दूध, मांसरस, यूष, तैल, कांजी, घृत, चरबी और गोमूत्रादिसे कडाह भरकर उसमें बिठाकर स्वेद करावे अथवा निवाये (थोडेगरम) क्काथ आदिसे शरीरपर सिंचन करे (तरडे दे देकर डाले) ॥ १२ ॥

स्वेदका नियोजन और गुण।

तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ उपनाहस्वेदो वातघ्नः अन्यतरस्मिन्पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति। कफमेदोन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति ॥ १३ ॥ भवन्ति चात्र–

इनमेंसे तापस्वेद और उष्मस्वेद ये दोनों विशेषकर कफनाशक हैं और उपनाह स्वेद वायुनाशक है। कफ, पित्त मिले हुए वायुमें द्रवस्वेद ठीक है और कफ, मेदसे मिले हुए वायुमें निर्वातस्थानमें भारी वस्त्र उढाकर या युद्ध कराके, मार्ग चलाके, परिश्रम कराकर, बोझा उठवाकर तथा क्रोध कराकर पसीना दिलवावे ॥ १३ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं–

स्वेदके पुनः दो भेद ।

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते ॥
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ॥ १४ ॥

चार प्रकारका जो स्वेद वर्णन किया वह सब दो प्रकारसे उपयोग किया जा सकता है एक तो समस्त शरीरमें स्वेद कराना और दूसरे शरीरके किसी अंग, प्रत्यंगमें स्वेद कराना ॥ १४ ॥

पूर्व पश्चात् और मध्य स्वेद्य ।

येषां नस्यं विधातव्यं वस्तिश्चैव हि देहिनाम् ॥ शोधनीयाश्च ये केचित्पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥ १५ ॥ पश्चात्स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भानुपद्रवा ॥ सम्यक्प्रजाता काले या पश्चात्स्वेद्या विजानता ॥ १६ ॥ स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च भगंदर्यर्शसस्तथा ॥ अश्मर्यां चातुरो जंतुः शेषाञ्शास्त्रे प्रचक्ष्महे ॥ १७ ॥

जिनको नस्य दिलाना हो अथवा वास्तिकर्म करना हो अथवा वमन विरेचन, देकर शोधन करना हो उनको इन कर्मोंसे पहले स्वेद कराना चाहिये ॥ १५ ॥ जिनका शल्य निकाला गया हो, जिस स्त्रीके मूढगर्भ हो पर कोई उपद्रव न हो तथा समय पर जिस स्त्रीके अच्छा बालक जन्मा हो वे इनसे पीछे स्वेद कराने योग्य हैं ॥ ॥ १६ ॥ भगंदर, अर्श और पथरीके रोगीको शस्त्रसे निकालनेके पूर्व तथा पश्चात् स्वेद कराना ठीक है इनके सिवाय अन्य रोगोंमें कब स्वेद कराना यह शास्त्रमें उन रोगोंके विषयमें कहेंगे ॥ १७ ॥

विना स्नेहनके स्वेदका निषेध ।

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथंचित् ॥ दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु गच्छेद्भंगं स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥ १८ ॥

विना स्नेहाभ्यंग किये तथा रूक्ष शरीरमें स्वेद कर्म जाननेवाला वैद्य कभी स्वेद कर्म न करावे क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि विना चिकना किये काष्ठ भी स्वेद (तपाकर मोडने) से टूट जाता है ॥ १८ ॥

स्वेद (पसीना दिलाने) के गुण ।

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ॥
कुर्यात्स्वेदो हंति निद्रां सतंद्रां संधीस्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥१९॥

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः ॥ सम्यक्स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं प्राप्ताः कोष्ठं यांति देहादशेषात् ॥ २० ॥

स्वेदका उपयोग (पसीना दिलाना) जठराग्निको दीपन करता है. शरीरको नरम और त्वचाको प्रसन्न करता है, भोजनमें रुचि और इन्द्रियोंकी निर्मलता करता है, निद्रा और तन्द्राको नष्ट करता है (अतिनिद्राको कम करता है) और रुकी हुई संधियोंको खोलता है ॥ १९ ॥ स्नेह करके क्लेदित हुए (वातादि दोष) जो धातुओंमें स्थित होते हैं तथा जो अपने स्थानसे अध-ऊर्द्ध-तिर्यग्गामी होकर मार्गोंमें लीन होगये हैं वे यथायोग्य स्वेदकर्मके योगसे द्रवताको प्राप्त होकर सब शरीरसे कोष्ठ (कोठे) में आजाते हैं (और फिर वमन, रेचनादि द्वारा निकल जाते हैं) ॥ २० ॥

यथोचित स्वेदके लक्षण ।

स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य ॥
सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥ २१ ॥

जब पसीना आना बंद होजावे, व्याधि शांत होजावे, शरीरमें हलकापन हो, शीतकी वांछा हो, रोगीका शरीर कोमल हो तो जानना चाहिये कि ठीक स्वेद हुआ और जो इनके विपरीत लक्षण हों तो स्वेदमें अयोग्यता जाने ॥ २१ ॥

अतिस्वेदके उपद्रव ।

स्विन्नेत्यर्थं संधिपीडाविदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः ॥
मूर्च्छा भ्रांतिर्दाहतृष्णे क्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम् ॥ २२ ॥

अति स्वेद होनेसे संधियोंमें पीडा होती है (और शरीर तथा हृदयमें) दाह होता है, फोडे उत्पन्न होते हैं तथा पित्त, रक्त कुपित होते हैं, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, तृषा और थकाव होता है यदि ऐसे हो तो शीघ्र ही इसमें ठंढीक्रिया करनी चाहिये ॥ २२ ॥

स्वेदके अयोग्य रोगी ।

पांडुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः ॥
तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योतिसारी ॥ २३ ॥
स्वेदादेषां यांति देहा विनाशं चासाध्यत्वं यांति चैषां विकाराः ॥ २४ ॥

पांडुरोगी, प्रमेहवाला, पित्तरक्तका रोगी, क्षयसे पीडित, दुर्बल, अजीर्णका रोगी, उदररोगों (जलोदर आदि) से पीडित, जिसने विष खाया हो या विष चढा

हो, तृषा युक्त, छर्दिका रोगी, गर्भवती स्त्री तथा जिसने मद्य पिया हो (या मदात्ययी) तथा अतिसारका रोगी इतने मनुष्योंको जानकार वैद्य स्वेद कभी नहीं करावे ॥ २३ ॥ क्योंकि स्वेद करानेसे इनका देह नष्ट होजाता है तथा इनके विकार भी असाध्य होजाते हैं ॥ २४ ॥

एतेषां स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान् ॥
मृदून्स्वेदान्प्रयुंजीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त मनुष्योंके यदि स्वेदसाध्य व्याधि हो तो बुद्धिमान् वैद्य इनको मृदु (हलका) स्वेद करावे तथा हृदय, अंडकोश और नेत्रोंमें स्वेद कराना हो तो यहां भी हलकाही स्वेद करावे ॥ २५ ॥

सर्वान्स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत् ॥ स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ॥ २६ ॥ स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥ सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नातमुष्णांबुभिः शनैः ॥ ॥ २७ ॥ स्वभ्यक्तं प्रावृतांगं च निवातशरणस्थितम् ॥ भोजयेदनभिष्यंदि सर्वं वाऽऽचारमादिशेत् ॥ २८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

जिसे स्वेद कराना हो उसे पहला भोजन पचे पीछे शरीर पर तैलादि लगाकर निर्वात स्थानमें बिठा या लिटाकर स्वेद करावे और नेत्रोंपर ठंढी वस्तु ढाक देवे ॥ ॥ २६ ॥ स्वेद होते समय वार वार रोगीके हृदयको शीतल वस्तुओंका स्पर्श करावे और जब ठीक २ स्वेद होचुके तब धीरे धीरे मल २ कर गरम जलसे स्नान करावे ॥ २७ ॥ फिर यथोचित शरीरको स्निग्ध करके (थोडा तैलादिक लगाकर वस्त्रसे खूब साफ करके) फिर शरीरको वस्त्रसे ढककर निर्वात स्थानमें रहे और जो अभिष्यंदी न हो ऐसा भोजन करे इसके सिवाय और भी यथायोग्य आचार करावे ॥ २८ ॥

परिशिष्ट (वृद्धवाग्भटोक्त)

किन २ रोगोंमें स्वेद करना उचित है ।

श्लोक-श्वासकासप्रतिश्यायहिक्काध्मानविबंधिषु ॥ स्वरभेदानिलव्याधिपक्षाघातापतानके ॥ १ ॥ अंगमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ॥ महत्वे मुष्कयोः खल्यामायामे वातकंटके ॥ २ ॥ मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रंथिशुक्राघाताढ्यमारुते ॥ वेपथुश्वयथुस्वा-

(श्लो० २७) शीतलैः कमलपत्रादिभिः । अस्य श्लोकस्योत्तरार्द्धमग्रिमेण सहान्वेतव्यम् ।

पस्तंभजृंभांगगौरवे ॥ ३ ॥ कर्णमन्याशिरःकोष्ठजंघापादोरुरुक्षु च ॥ स्वेदं यथा-यथं कुर्य्यात्तदौषधविभागतः ॥ ४ ॥

अर्थ-आगे लिखे हुए रोगवालोंको स्वेद कराना उचित है-श्वास, खांसी, जुखाम, हिचकी, पेट अफरना, विबंध (दस्त या पेशाबका बंद होना), स्वर-भेद, वातव्याधि, पक्षाघात, अपतानक वायु ॥ १ ॥ अंगडाई अधिक आना, कमर, पसली, पीठ, कूख और ठोडीके अकडाव, फोते बढना, खल्ली नामक वायुरोग, बाह्यायाम, अन्तरायाम, वातकंटक रोग ॥ २ ॥ मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद (रसोली), गांठ, शुक्र रुकना, आढ्यवायु, कंप, शोथ, त्वचाका सुन्नपडना, कोई अंग रह-जाना, जँभाई अधिक आना, अंग भारी होना ॥ ३ ॥ कानके रोग, मन्यास्तंभ, शिरके रोग, कोठेके रोग, जंघा, पांव और साथलके रोग इन सबमें यथायोग्य उनके नाशक औषधादिसे तथा जैसा स्वेद जहां चाहिये वैसा करे (जैसे प्रति-श्यायमें भारी कपडा ओढना, कमर, पीठके दर्दमें सेकना, विबंधमें द्रवस्वेद तथा ग्रंथि आदिपर उपनाह स्वेद कराना, कोई गरम पुलटस आदि बांधना इत्यादि जहां जैसा उचित हो वैसा वहां उपयोग करे) ॥ ४ ॥

इति पं०मुरलीधरवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३३.

अथातो वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम वमन और विरेचनसे साध्य रोगोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं (वमन और विरेचनकी विधि वर्णन करते हैं)।

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमयितव्या वृद्धा निर्हर्त-व्याः समाः परिपाल्या इति सिद्धांतः । प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणां तस्मात्तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय ॥१॥

क्षीण (घटे हुए) दोषोंको बढाना योग्य है और कुपित हुओंको शांत करना और जो बहुतही बढ गये हों उन्हें निकाल देना तथा जो समान (ठीक) हों उनकी रक्षा करना (जैसेके तैसे ही रखना) यही सिद्धांत है अब निर्हरण(शोधन) अर्थात् दोषोंके निकालनेमें प्रधानतासे वमन और विरेचन ये दोनों मुख्य हैं इस कारण इनका विधान जो वर्णन होता है उसे सुनो और याद रक्खो ॥ १ ॥

(गद्य १) दोषाणा निर्हरणे पंचकर्माणि वमनं विरेचनं च प्रधानं पंचकर्माणि-"यथा प्रथम वमनं पश्चाद्विरेकश्चानुवासनम् ॥ एतानि पंच कर्माणि निरूहो नावनं तथा ॥ १ ॥ एतेषां कालः । "शरत्काले वसंते च प्रावृट्काले च देहिनाम् ॥ वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥ २ ॥ एषकालनियमस्तु स्वस्थानामल्पदोषाणां वा । दारुणव्याधिनिपीडितस्य बहुदोषस्य वा न कालनियम इति राद्धांतः ।

तथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यंदिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययितास्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्निं बलवंतं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च ॥ २ ॥ भवति चात्र-

जब रोगीको बलवान् और तीक्ष्णाग्नि बहुत दोषोंसे व्याप्त महाव्याधियोंसे पीडित और वमन सानुकूल देखे तब स्नेहन, स्वेदन कराकर ऐसा जाने कि कल इसे वमन करावेंगे तब उस रोगीको अभिष्यंदी आहार भोजनकरावे ॥ २॥ इस विषयमें श्लोक है-

पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः ॥
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

प्रथम नाना प्रकारके पतले भोजन कराके दोषोंको उखाडकर पतले करके स्नेहन, स्वेदन जिसे पहले दे चुके हों उसे वमन कारक औषध ठीक-प्रवृत्त होती-है (खूब वमन लाती है) ॥ ३ ॥

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेत् । यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्यासात्म्यबीभत्सदुर्गंधदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात् । अतो विपरीतानि विरेचनानि ॥ ४ ॥

फिर दूसरे दिन साधारण समय (प्रावृट्, शरद् और वसंत ऋतु) में पहर दिन चढे वमनकारक औषधोंके क्वाथ या कल्क या चूर्ण या घृत, तैलादिकमेंसे किसीकी मात्रा पिलाकर वमन करावे यथायोग कोठेको देखकर कि मृदु है या कडा फिर ग्लानिकारक दुर्गन्धित और जो बुरे दीखें ऐसे औषधादि वमनके लिये युक्त करने चाहिये । और विरेचनके लिये इनके विपरीत सुहावने सुगंधित और अच्छे औषधादि युक्त करे ॥ ४ ॥

तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकंठं पाययेत् ॥ पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रतप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत ॥ ५ ॥

यदि सुकुमार (हलके नाजुक) मनुष्यको तथा दुबले, बालक, वृद्ध, डरपोंक इनको ऐसे रोग हों और वे वमनसेही साध्य होसकें तो इन्हें दूध, दही, छाछ, यवागू इनमेंसे कोईसा कंठतक पेट भरकर पिलादे फिर औषध पिलाकर अग्निसे हाथ

(श्लो० ३) पेशलैः कोमलैः द्रवप्रायैरित्यर्थः । (गद्य ४) साधारणे काले नातिशीतोष्णयुक्ते प्रावृट्शरद्वसंते इति फलितोर्थः ।

तपाकर कुछ सेके और दो घडी वमनका राह देखे (इसमें कोई तो क्षीरादिमें वमनकी औषध मिलाकर पिलाना मानते हैं और कोई पृथक्) ॥ ५ ॥

तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेन शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात्ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कंठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमंगुलीगंधर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कंठमभिस्पृशंतं वामयेत्तावद्यावत्सम्यग्वांतलिंगानीति ॥ ६ ॥ भवतश्चात्र-

जब उसे पसीना आनेसे शिथिलता प्राप्त होने लगे और कुक्षि अपने स्थानसे उकसी हुई और उभरती हुई जानी जावे और उबकाई आती हुई जाने तब रोगीको घुटने मारकर बिठा देवे और दूसरा समझदार मनुष्य उसके शिर, पीठ तथा पसवाडे हाथोंसे थाम लेवे और अंगुली या अरंडके पत्तेकी डंडी या कमलकी नाली इनमेंसे किसीसे कंठमें स्पर्श (गुदगुदी) कर करके वमन कराते रहे जबतक ठीक २ वमन होचुकनेके लक्षण न जाने जावें तबतक कराते ही रहे॥६॥ इस विषयमें दो श्लोक हैं-

हीन अधिक और ठीक वमनके लक्षण।

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कंडूं च दुश्छर्दितलिंगमाहुः ॥
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च हृत्कंठपीडामपि चाऽतिवांते ॥ ७ ॥
पित्ते[1] कफस्या[2]नु[3] सुखं[4] प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कंठशिरःसु चापि ॥
लघौ[10] च देहे[11] कफसंस्रवे च स्थिते सुवांतं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ ८ ॥

मुखसे वार वार कफ गिरे, हृदय शुद्ध न हो अर्थात् भारी रहे और कंठनलकामें खाजसी चले ये दुर्वमन (हीन वमन) के लक्षण कहे हैं। तथा पित्तका अधिक योग हो, विसंज्ञता (मूर्च्छा) हो जावे हृदय और कंठमें पीडा होवे ये अतिवमनके लक्षण हैं ॥ ७ ॥ यदि कफके पीछे पित्त गिरे, हृदय, कंठ और शिर शुद्ध हो जावें, शरीर हलका होजावे और कफका आना बंद होजावे तो जाने कि इस मनुष्यको ठीक वमन होगया ॥ ८ ॥

सम्यग्वांतको धूमपान।

सम्यग्वान्तं चैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥ ९ ॥

(गद्य६) गन्धर्वहस्तः एरंडः। (श्लो०७) दुश्छर्दनं हीनवमनम्। (श्लो०८) सुवांत सम्यग्वांतम्।

जब ठीक वमन हुआ जाने तब स्नेहन औषधोंका तथा विरेचन द्रव्योंका तथा शमन द्रव्योंका यथायोग्य शक्तिके अनुसार धूमपान कराकर आचार (उचित आहार, विहार) का उपदेश करे ॥ ९ ॥

वमनके पीछे आहार।

ततोपराह्णे शुचिशुद्धदेहमुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम् ॥
कुलत्थमुद्गाढकिजांगलानां यूषै रसैर्वाप्युपभोजयेत्तु ॥ १० ॥

जब वमन ठीक हो चुके और देह शुद्ध होजावे तब दो पहर पीछे गरम जलसे हाथ, मुँह और शरीर धुलवाकर कुलथी, मूँग, अरहडका यूष अथवा जंगली जीवों- के मांसका रस खानेको दे ॥ १० ॥

वमन करनेके गुण।

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातंद्रास्यदौर्गंध्यविषोपसर्गाः ॥
कफप्रसेकग्रहणीविकारा न संति जंतोर्वमतः कदाचित् ॥११॥
छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति ॥
तथा हते श्लेष्मणि शोधनेन तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयांति॥१२॥

खांसी, कंठमें कफका लिहसना, स्वरभेद (आवाज बैठना), निद्रा, तंद्रा, मुखकी दुर्गंध और विषका संसर्ग, मुखसे कफ (लार) बहना, ग्रहणीके विकार ये सब वमन करनेवाले मनुष्यके कभी नहीं उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ जैसे वृक्षके काटनेसे उसके फूल, फल, टहनी सब शीघ्रही नाशको प्राप्त हो जाते हैं (सूख जाते हैं) इसी प्रकार शोधनद्वारा कफ दूर होजानेसे उसके समस्त विकार शांत होजाते हैं ॥ १२ ॥

वमनके अयोग्य मनुष्य।

न वामयेत्तैमिरिकोर्द्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्त्तान् ॥
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान्केवलवातरोगान् ॥ १३ ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान् ॥
ऊर्द्ध्वास्रपित्तिक्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च॥१४॥

इतने प्रकारके मनुष्योंको वमन कराना योग्य नहीं—तिमिर, ऊर्ध्ववात, गुल्म प्लीहा, कृमि इन रोगोंवाले तथा श्रमसे पीडित, अतिस्थूल, उरःक्षतवाले, क्षीण,

(श्लो० ११) 'ग्रहणीविकारा' इत्यत्र ग्रहणीप्रदोषा इति वा पाठः। 'न संति जतोर्वमतः कदाचित्' इत्यत्र नश्यंति जतोर्वमतः कदाचित् इति वा पाठः । (श्लो० १३–१४) एते श्लोकद्वयपठिता अवाम्याः स्मृताः । एतयोः श्लोकयोर्मिलित्वान्वयः ।

दुर्बल, अतिवृद्ध और मूत्ररोगवाले और जिन्हें केवल वायुके रोग हों ॥ १३ ॥ जिनका स्वर नष्ट होगया हो, जो पढते (घोखते) हों, जिन्हें दुःखसे वमन होता हो, जिनका कोठा कठोर हो, जिन्हें तृषा अधिक हो तथा जो बालक हों, जिन्हें ऊर्ध्वगत रक्त पित्त हो, क्षुधायुक्त, अतिरूक्ष, गर्भिणी स्त्री, जिनको उदावर्त हो तथा जिन्हें निरूहण वस्ति किया हो (इनको कभी वमन न करावे) ॥ १४ ॥

अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यांति देहिनाम् ॥ असाध्यतां वा गच्छंति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः ॥१५॥ एतेप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः ॥ अतीव चोल्वणकफास्ते च स्युर्मधुकांबुना ॥ १६ ॥

जो मनुष्य वमनके योग्य नहीं हैं उनको वमन करानेसे उनके रोगकष्टसाध्य हो जाते हैं अथवा असाध्य हो जाते हैं इस कारण ये पूर्वोक्त मनुष्य कभी वमन करानेके योग्य नही हैं ॥ १५ ॥ यदि ये मनुष्य अजीर्णसे पीडित अथवा विषसे पीडित हो जावें अथवा अति कफ उल्वण हो जावे जिससे वमन कराना आवश्यक हो तो इन्हें मुलेठीके क्वाथसे (हलके हलके) वमन करावे ॥ १६ ॥

वमनके योग्य ।

वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोषविषमंदाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतिनासकंठोष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुंडिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्येषु कफव्याधिपरीतेष्विति ॥ १७ ॥

आगे लिखे हुए मनुष्य वमन कराने योग्य हैं जैसे--विष खाये हुए (तत्काल), शोषरोग (के आरम्भ) में, स्त्रीके दुग्धमें दोष हो, विषमाग्नि तथा मंदाग्नि हो, उन्माद और मृगीका रोगी, जिनको श्लीपद (रसोली), विदारिका नाम दारुण फुन्सी, मेदोरोग, प्रमेह, गर (कृत्रिम विष), ज्वर, अरुचि, अपची, आमातिसार, हृद्रोग, चित्तभ्रम, विसर्प, विद्रधि, अजीर्ण, मुहसे लार बहना, उबकाई, श्वास, खाँसी, पीनस (नाकमें दुर्गंध आना), कंठ, होठ, मुख पकना, कान बहना, अधिजिह्व, उपजिह्व, गलशुंडी और अधोगत रक्तपित्त ये रोग हों तथा कफस्थानके अन्य रोगोंमें तथा कफकी व्याधियोंमें वमन कराना उचित है ॥ १७ ॥

विरेचनकी विधि।

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वांताय च देयमथातुरं श्वो विरेचनं पाययितास्मीति लघु भोजयेत्फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत् अपरेऽहनि विगतश्लेष्माणमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत् ॥ १८ ॥

विरेचन भी स्नेहन, स्वेदन कराकर तथा वमन कराकर देना चाहिये जब ऐसा जाने कि अब कल अमुक रोगीको विरेचन देना है तो उसे रातको लघु (नरम) भोजन करावे और फलोंकी खटाई खिलाके ऊपरसे गरम पानी पिलादे फिर दूसरे दिन जाने कि कफ नष्ट होगया (अथवा कोठेमें कफ प्राप्त होगया अर्थात् बलगम फूल आया) तब आतुरोपक्रमणीय अध्यायके अनुसार देखकर रोगीको विरेचनीय औषधकी मात्रा पिलानेका यत्न करे ॥ १८ ॥

तत्र मृदुः क्रूरो मध्य इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः स दुग्धेनापि विरिच्यते । बहुवातश्लेष्मा क्रूरः स दुर्विरेच्यः। समदोषो मध्यमः स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी तीक्ष्णा क्रूरे मध्ये मध्या कर्तव्येति पीतौषधश्च तन्मनाः शय्याभ्यासे विरिच्यते ॥ १९ ॥

कोठा मनुष्योंके तीन प्रकारका होता है १ मृदु, २ क्रूर, ३ मध्यम इनमेंसे जिसमें पित्तकी अधिकता होती है वह मृदु (मुलायम) होता है, जिसमें दूध (द्राक्षा आदि) से भी विरेचन होजाता है। और जिसमें वायु और कफकी अधिकता होतीहै वह क्रूर (कडा) तथा दुर्विरेच्य है अर्थात् कठिनतासे विरेचन होता है (दंतीफलादि तीक्ष्ण औषधोंसे विरेचन होता है) तथा जिसमें समान दोष होतेहैं वह मध्यम है और साधारण है । मृदु कोठेवालेको मृद्वी (हलकी और मुलायम मात्रा देनी चाहिये तथा क्रूर कोष्ठवालेको तीक्ष्ण (तेज) मात्रा देवे और मध्य कोष्ठ-

---

(वा० १८) स्निग्धस्विन्नाय वांताय विरेचनं देयमित्यत्रावधिः तथाहि चरकः-"एकाहात्परतः स्नेहाद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत् ॥ त्रिरात्रोपरतस्तद्वत् स्नेहात् प्रस्कन्दनं पिबेत् ॥" (इति नि० सं०) प्रस्कन्दन रेचनम् (इति श० स्तो०) ।

(वा० १९) वृद्धवाग्भटे कोष्ठस्तु त्रिविधः-मृदुः क्रूरो मध्यश्च तत्र बहुपित्तो मृदुः स विरिच्यते क्षीरेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडकृशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपलिद्राक्षादिभिः । बहुवातः क्रूरः स दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकात्रिवृन्नीलिनीफलादिभिरपि । बहुश्लेष्मा समदोषश्च मध्यः स साधारणः ॥

वालेको साधारण मात्रा दे। औषध पीकर उसी तरफ मन लगाय रहे और शय्याके पासही दस्त जावे॥ १९॥

(वक्तव्य) यहांपर "बहुवातश्लेष्मा क्रूरकोष्ठः स दुर्विरेच्यः" ऐसा लिखा है परंतु तंत्रांतरोंमें ऐसे लिखा है, देखो भावप्रकाश "बहुपित्तो मृदुः प्रोक्तो बहुश्लेष्मा च मध्यमः॥ बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते॥" अर्थात् बहुत पित्तवाला मृदुकोष्ठ होता है और बहुत कफवाला मध्यकोष्ठ तथा बहुत वायुवाला क्रूरकोष्ठ और दुर्विरेच्य है और वृद्धवाग्भट ऐसे लिखते हैं कि बहुत पित्तवाला मृद्ध तथा बहुत वायुवाला क्रूर और बहुत कफवाला तथा समान दोषोंवाला मध्यमहै देखो टिप्पणी॥

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान्धारयेद्बुधः॥
निवातशायी शीतांबु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत्॥ २०॥

विरेचनकी औषध पीकर दस्तोंके वेगको न रोके, निर्वात स्थानमें लेटे (सरहाने ऊँची तकिया लगाकर उसके सहारे बैठे) तथा ठंढा पानी या ठंढी वस्तुओंका स्पर्श नही करे और अधिक जोर लगाकर किनछें भी नही॥ २०॥

यथा च वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्त्येवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति॥ २१॥

जैसे वमनमें पहले लार फिर औषध फिर कफ फिर पित्त सबके पीछे वायु इस क्रमसे निकलते हैं इसी प्रकार विरेचनमें पहले मूत्र, मल फिर पित्त फिर औषध फिर कफ ऐसे निकलते हैं॥ २१॥

दुर्विरिक्त अतिविरिक्त और सम्यग्विरिक्तके लक्षण।

स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः। हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाहकंडूविण्मूत्रसंगाश्च न सद्विरेके॥२२॥ मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिंगम्॥ २३॥ गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु नाभ्यां लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ॥ गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत्॥ २४॥

जब विरेचन (जुलाब) बिगड जावे (ठीक ठीक दस्त न हों) तो ये लक्षण होतेहैं जैसे-कफ और पित्तका कोप, दाह, अरुचि, भारीपन, अग्निमें मंदता, हृदय और कूखोंमें अशुद्धि, जलन, खाज और मल, मूत्रका रुकना और जब ठीक विरेचन

(श्लो० २०) शीतांबु न स्पृशेदिति दंतीवर्ज्यविषयः अभयामोदकादिदंत्यादिविरेचनेषु तु 'शीतं चानुपिबेज्जलम्' इति शार्ङ्गधरभावमिश्रादिभिर्लिखितमनुभूतं चेति।

होजाता है तब इनमेंसे कोई विकार भी नहीं होता ॥ २२ ॥ और जब अधिक विरेचन होजाता है (अनुमानसे जादा दस्त होते हैं) तो मूर्च्छा, काँच निकल आना, कफ (और पित्त) अति निकलना, शूल होना ये लक्षण होते हैं ॥ २३ ॥ और विरेचन ठीक और उत्तम होवे तो कफके संग मिले सब दोष निकल जावें, नाभिके समीपमें हलकापन होवे, मन प्रसन्न हो और वायु अनुलोम होकर ठीक अधोवायुका निःसरण होवे यदि ये लक्षण होवें तो जानो कि इस मनुष्यको ठीक जुलाव होगया ॥ २४ ॥

मंदाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं न पाययेत्तदहनि तत्र पेयाम् ॥
क्षीणं तृडार्तं सुविरेचितं च तन्वीमशीतां लघु पाययेत ॥२५॥

जिसकी अग्नि मंद हो तथा जो बहुत क्षीण न हो, जिसे जुलाब ठीक न हुआ हो (जुलाबमें दस्त अच्छी तरह न आये हों) तो उसे उस दिन पेया (चौदह गुने जलमें रक्तशाल्यादिकोंसे पकाई हुई)नहीं पिलावे और जो क्षीण हो, तृषासे पीडित हो, जिसे अच्छा जुलाब होगया हो उसे हलकी निवाई थोडी पेया पिलादे ॥ २५ ॥

उत्तम विरेचनके गुण।

बुद्धेः प्रसादं बलमिंद्रियाणां धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम् ॥
चिराच्च पाकं वयसा करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम् ॥ २६ ॥
यथौदकानामुदकेऽपनीते चरस्थिराणां भवति प्रणाशः ॥
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः ॥२७॥

उत्तम विरेचनका उपयोग करना बुद्धिको प्रसन्न करता है, इंद्रियोंमें बल, धातुओंमें स्थिरता, शरीरके बल और जठराग्निको दीपन करता है और अवस्थाका पकाव (बुढापा) देरसे आने देता है ॥ २६ ॥ जैसे सरोवर आदि जलाशयोंका जल निकाल देनेसे उसके आश्रित चर (जलजीव) और स्थिर (वृक्षादि) सबका नाश होजाता है वैसेही पित्त (दुष्ट पित्त) के निकाल देनेसे पित्तात्मक उपद्रवोंका भी नाश होजाता है (जब दूषित दोषही नहीं तब उससे उत्पन्न होनेवाले विकार होही कैसे सकते हैं) ॥ २७ ॥

विरेचनसे वर्जित मनुष्य ।

मंदाग्न्यतिस्नेहितबालवृद्धस्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः ॥
श्रांतस्तृडार्तोऽपरिजीर्णभक्तो गर्भिण्यधोगच्छति यस्य चासृक्॥२८॥

(श्लो० २५) पेयालक्षणं-"चतुर्दशगुणे नीरे रक्तशाल्यादिभिः कृता ॥ द्रवाधिका स्वल्पसिक्था पेया प्रोक्ता भिषग्वरैः ॥ १ ॥" (इति भा० प्र०) ।

नवप्रतिश्यायमदात्ययी च नवज्वरी या च नवप्रसूता ॥
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च ॥२९॥
अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान्विरेचयेत्तानपि मंदवीर्यैः ॥
विरेचनैर्यांति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ॥ ३० ॥

इतने मनुष्योंको विरेचन करना (जुलाब देना) उचित नहीं जैसे-मंदाग्निवाले, अति चिकने (जिसने अत्यंत स्नेहपान कर लिया) हो, बालक, वृद्ध, स्थूल शरीरवाले, क्षतक्षीण, भयातुर, थके हुए, तृषासे पीडित, जिन्हें भोजन पचा न हो, गर्भवती स्त्री, जिसके अधोमार्गसे रुधिर गिरा हो ॥ २८॥ नये जुखामवाले, मदात्ययके रोगी, नवीन ज्वरवाले, थोडे दिनकी प्रसूता स्त्री, शल्यसे (चोट आदिसे) आतुर ये विरेचनके योग्य नहीं तथा जिन्होंने स्नेहन, स्वेदन आदि नहीं किये हों उन्हें भी विरेचन अयोग्य है ॥२९॥ परंतु यदि पूर्वोक्त मनुष्योंके शरीरमें पित्तका अत्यंत कोप होवे (और विना विरेचनके साध्य न हो सके) तो इन्हें भी हलकी औषधोंसे युक्तिपूर्वक विरेचन देवे क्योंकि जो विरेचनके अयोग्य हैं वे मनुष्य अज्ञानी लोगोंके दिये हुए विरेचनसे विनाशको प्राप्त हो जाते हैं (मरजाया करतेहैं) ३०॥

विरेचन योग्य मनुष्य ।

विरेच्यास्तु ज्वरगरारुच्यर्शोऽबुदोदरग्रंथिविद्रधिपांडुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगंदरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबंधविसूचिकालसकमूत्राघातकुष्ठविस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यंदशिरःकर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेषु विकारेष्वन्येषु च पैत्तिकव्याधिपरीता इति ॥ ३१ ॥

इतने मनुष्योंको विरेचन कराना (जुलाब देना) योग्य है जैसे-ज्वर (जीर्णज्वर) वाले, गर (कृत्रिम विष खायेपर), अरुचि, बवासीर, रसोली, उदररोग, (जलोदरादिक), ग्रंथि, विद्रधि, पांडुरोग, अपस्मार (मृगी), हृदयरोग, वातरक्त, भगंदर, छर्दि, स्त्रियोंके योनिके रोग, विसर्प, गुल्म, पक्वाशयके रोग, [illegible] पडना विसूचिका और अलससे मूत्र रुकना, कुष्ठ, विस्फोटक, प्रमेह, आनाह ([illegible]फारा), प्लीहवृद्धि, शोथ, अंडवृद्धि, शस्त्रका घाव इन रोगोंवाले, क्षार या अग्निसे जले हुए, दुष्ट व्रणवाले, आंख दुखना, काच, तिमिर (अंधेरी), अभिष्यंद (ढलका) इन

(श्लो० २९) स्नेहादिभिरनुपस्कृताः स्नेहनस्वेदनादिसंस्काररहिताः ।

रोगोंवाले शिर, कान, आंख, नाक, मुख, गुदा और लिंगके रोगवाले, दाहके रोगी तथा ऊर्द्धगत रक्तपित्ती, जिनके पेटमें कृमि हो इन रोगवालोंको विरेचन देना चाहिये तथा जिनके पित्तके स्थानसे उत्पन्न हुए कोई अन्य विकार हों या पित्तकी व्याधियोंसे पीडित हों उन्हें भी विरेचन देना योग्य है ॥ ३१ ॥

विरेचन और वमनके गुणमें युक्ति ।

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम् ॥ वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्यागतमन्यथा ॥ ३२ ॥ यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम् ॥ गुणोत्कर्षाद्व्रजत्यूर्द्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥ ३३ ॥

सर होनेसे, सूक्ष्म होनेसे, तीक्ष्ण और उष्ण होनेसे तथा विकाशि होनेसे विरेचन दोषोंको निकालता है (नीचेको गिराता है) तथा वमन अन्यथा प्रकृत्यागत होकर दोषोंको निकालता है अर्थात् ऊपरको निकालता है (सरका अर्थ भेदन करनेवाले या गमनशील अथवा रेचक वायु और मलको प्रवृत्त करनेवाला है । सूक्ष्म वह है जो सूक्ष्मतासे बारीक स्रोतोंमें अनुसरण करे । तीक्ष्ण वह है जो कि दाह और तेजी करनेवाला है । उष्णका अर्थ गरम है । विकाशी वह है जो संधिबंधादिको ढीला करे । देखो सूत्रस्थानका ४६ वां अध्याय) ॥ ३२ ॥ जो पके हुए दोषोंको लेकर नीचेको निकले वह विरेचन है तथा गुणकी उत्कर्षतासे विना पके (कच्चे) दोषोंको लेकर ऊपर निकलनेवाला वमन होता है ॥ ३३ ॥

विरेचनकी प्रकीर्ण बातें ।

मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतितीक्ष्णं विरेचनम् ॥ न सम्यग्निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितान् ॥ ३४ ॥ पीतं यदौषधं प्रातर्भुक्तपाकसमे क्षणे ॥ पक्तिं गच्छति दोषांश्च निर्हरेत्तत्प्रशस्यते ॥३५॥ दुर्बलस्य चलान्दोषानल्पानल्पान्पुनः पुनः ॥ हरेत्प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत्प्रच्युतानपि ॥ ३६ ॥ हरेद्दोषांश्चलान्पक्वान्बलिनो दुर्बलस्य च ॥ चला ह्युपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम् ॥ ३७ ॥

मृदु कोठेवालेके तथा जिसकी अग्नि दीप्त हो उसके तीक्ष्ण विरेचनसे ठीक २ दोष नहीं निकलते क्योंकि तीक्ष्ण विरेचनी औषधसे उसके दोष अत्यन्त वेगपूर्वक

(श्लो० ३२) सरत्वात् सूक्ष्मत्वात् तीक्ष्णत्वात् उष्णत्वात् विकाशित्वाच्च विरेचनं दोषं हरेत्, वमनं तु अन्यथा प्रकृत्यागतं दोषं हरेदित्यर्थः । प्रकृत्या वीर्येणान्यथागतमूर्ध्वं गच्छन्नपहरेदित्यभिप्रायः । अथवा प्रकृत्यागत दोषमपक्वदोषमन्यथा ऊर्ध्वमार्गेण वमनमपहरेदिति। (श्लो० ३६) प्रभूतान् कुपितान् समुत्थितान्।

चलायमान होजाते हैं (दस्त अधिक आते हैं और दोष ठीक नहीं निकलते जिससे बलक्षीण होजाता है) ॥ ३४ ॥ जो औषध प्रातःकाल पान की जावे और भोजनके पाकके समयतक पाकको प्राप्त होकर दोषोंको निकाल दे वह श्रेष्ठ होती है ॥ ३५ ॥ दुर्बल मनुष्यके चलायमान दोषोंको थोडा २ करके वार वार निकाले, उठे हुए थोडे थोडे दोषोंको निकालता रहे (थोडे थोडेको शांत करता रहे) (अर्थात् कमजोर मनुष्यको थोडा २ कई वार जुलाब दे, एक एक या दो दो दिन बीचमें छोडते जावे) ॥ ३६ ॥ बलवान् हो चाहे दुर्बल यदि उसके पके हुए दोष चलायमान हों तो उन्हें निकाल देनाही ठीक है क्योंकि चलायमान हुए दोष छोडदिये जावें तो मनुष्यको बहुत दिन तक क्लेश देते हैं (अर्थात् मवाद फूल रहा हो और जारी भी हो तो उसे रखना ठीक नहीं) ॥ ३७ ॥

मंदाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ॥ संधुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत् ॥ ३८ ॥ स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूर्त्क्लेशितो बलात् ॥ विलीयेत न मार्गेषु स्निग्धभांड इवोदकम् ॥ ३९॥

मंदाग्निवाले, क्रूरकोष्ठ मनुष्योंको क्षार लवण तथा घृत मिलाकर विरेचनी औषध देना और दीप्ताग्निवालेको स्नेहन, स्वेदन कराकर विरेचन देना उचित है ॥ ३८ ॥ क्योंकि स्नेहन, स्वेदनसे चिकने कोठेमें उठाहुआ दोष विरेचनी औषधके बलसे ठीक निकल जाता है रास्तेमें नहीं ठहरता जैसे चिकने पात्रमें जल नहीं ठहरता और नहीं लगता है ॥ ३९ ॥

न चातिस्नेहपीतस्तु पिबेत्स्नेहविरेचनम् ॥ दोषाः प्रचलिताः स्थानाद्भूयः श्लिष्यंति वर्त्मसु ॥ ४० ॥ विषाभिघातपिडकाशोफपांडुविसर्पिणः॥ नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथा कुष्ठप्रमेहिणः ॥ ॥ ४१ ॥ विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत् ॥ तेन दोषा हृतास्तस्य भवंति बलवर्द्धनाः ॥ ४२ ॥

जिसने अति स्नेह पिया हो वह मनुष्य चिकना विरेचन नहीं पीवे क्योंकि अति चिकनाईके कारण उसके दोष स्थानसे चलकर मार्गमें पुनः लिहसायमान होजाते हैं (लिस जाते हैं) ॥ ४० ॥ विषपीडित, जिसे चोट लगी हो, पिडकाका रोगी, शोथवाला, पांडुरोगी, विसर्परोगवाला तथा कुष्ठ और प्रमेहका रोगी इन्हें अतिस्निग्ध करके (या अतिस्निग्धता युक्त) विरेचन देना उचित नहीं ॥ ४१ ॥ जो स्नेहसात्म्य है अर्थात् नित्य खूब घृतादि खाने आदिका अभ्यास रखता है उसे पहले रुखाई करके (उसकी स्निग्धता एक वार दूर करके) फिर थोडा

स्नेहन करके शोधन करना (विरेचन देना) चाहिये जिससे उसके दोष दूर होकर बलकी वृद्धि करे ॥ ४२ ॥

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेतौषधं मृदु ॥ ततो विज्ञातकोष्टस्य कार्यं संशोधनं पुनः ॥ ४३ ॥ सुखं दृष्टफलं हृद्यमल्पमात्रं महा-गुणम् ॥ व्यापत्स्वल्पात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम् ॥ ४४ ॥

जिसने पहले औषध न पिया हो (जिसके कोठेका हाल मालूम न हो) उसे पहले मृदु औषध देनी चाहिये और फिर जब कोठेका हाल मालूम होजावे तब फिर शोधन करे (अच्छी तरह विरेचन देवे) ॥ ४३ ॥ और राजा लोगों (अमीरों) को ऐसी औषध पीना (और खाना) चाहिये जो सुखसे पियी या खाई जावे और जिसका फल देखा हुआ हो (आजमाई हुई हो), जो हृदयको हित हो (जिससे उकलाई आदि न आवे और दिल नही बिगडे), जिसकी मात्रा भी बहुत अधिक न हो और जिसका गुण बहुत अच्छा हो तथा व्याधियोंमें शीघ्र आराम करनेवाली हो ॥ ४४ ॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत् ॥ दारुशुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥ ४५ ॥ स्नेहस्वेदप्रचालिता रसैः स्निग्धैरुदी-रिताः ॥ दोषाः कोष्ठगता जंतोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

जो स्नेहन, स्वेदन विना किये शोधन (वमन, विरेचनकी औषध) पीतेहैं उनका देह इस प्रकार खंडित होजाता है जैसे सूखी लकडी मोडनेसे टूट जाया करती-है ॥ ४५ ॥ स्नेह और स्वेदसे प्रचालित हुए दोष और स्निग्ध रसोंसे प्रेरित मनुष्योंके कोठेमें प्राप्त हुए दोष शोधनसे सुखपूर्वक निकल जाते हैं ॥ ४६ ॥

परिशिष्ट १.

प्रसंगसे वैद्यकके कुछ योग लिखते हैं ।

यद्यपि विरेचनकी बहुतसी औषधोंके योग पहले सूत्रस्थानके ४४ वें अध्यायमें वणन होचुक हैं परन्तु प्रसंगसे कुछ योग यहांभी लिखते हैं ।

छहा ऋतुओंके विरेचन ।

श्लोक-त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ समृद्वीकारसं क्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ॥ १ ॥ त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचंदनम् ॥ द्राक्षांबुना सयष्ट्याह्वं शीतलं च घनात्यये ॥ २॥ पिप्पली नागरं स्निग्धं श्यामात्रिवृतया सह ॥ लिह्यात्क्षौद्रेण शिशिरे वसंते च विरेचनम् ॥ ३॥ त्रिवृता शर्करा तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम्॥४॥

अर्थ-निसोथ, इंद्रजौ, पिप्पली, सोंठ इन्हें मुनक्काके रस और शहतके संग लेना यह वर्षा ऋतुका विरेचन है ॥ १ ॥ निसोथ, दुरालभा, नागरमोथा, खांड और नेत्रवाला और चंदन इनमें मुलेठी मिलाकर मुनक्काके जलसे लेना शरदृऋतुके योग्य शीतल विरेचन है ॥ २ ॥ पिप्पली, सोंठ, चिकनाई (घृत), वृद्धदारु और निसोथ इन्हें शहतमें मिलाकर चाटना शिशिर और वसंत ऋतुका विरेचन है ॥ ३॥ निसोथका चूर्ण और समान भाग खांड मिलाकर सेवन करना ग्रीष्मका विरेचन है (निसोथके चूर्णको प्रथम घृतसे स्निग्ध कर लेना) ॥ ४ ॥

(वक्तव्य) इनमें निसोथकी मात्रा कोष्ठ और दोषोंके अनुसार १० माससे २॥ तोले तककी हो सकती है और अन्य औषधोंकी मात्रा इसके अनुरूप कल्पना करलेनी चाहिये ॥

अभयादिमोदक ।

श्लोक-अभया मरिचं शुंठी विडंगामलकानि च ॥ पिप्पली पिप्पलीमल त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ॥ ५॥ एतानि समभागानि दंती तु त्रिगुणा भवेत् ॥ त्रिवृताष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ॥ ६ ॥ मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रप्रमाणतः ॥ एकैकं भक्षयेत्प्रातः शीतं चानु पिबेज्जलम् ॥ ७ ॥ तावद्विरिच्यते जंतुर्यावदुष्ण न सेवते ॥ पानाहारविहारेषु भवेन्नियंत्रणः सदा ॥ ८ ॥

अर्थ-हरडेकी छाल, स्याह मिरच, सोंठ, विडंग, आंवले, पीपल, पीपलामूल, तज, पत्रज, नागरमोथा ॥ ५ ॥ इन सबको समान भाग एक एक कष लेवे और दंती (जमालगोटेकी जड) तीन भाग (३ कर्ष) ले और निसोथ आठगुनी (८ कर्ष) और खांड छः गुनी (६ कर्ष) लेवे ॥ ६ ॥ सबको कूट छान एकत्रकर शहतके साथ मोदक (बडी गोली) एक एक कर्ष (१० मासे) की बनावे (जब विरेचन लेना हो) एक एक प्रभातमें खावे ऊपरसे ठंढा पानी पीवे (और हर दस्तके पीछे थोडा ठंढा पानी पीवे) ॥ ७ ॥ इसमें जबतक गरम पानी या गरम वस्तु न सवन करे तबतक दस्त आते हैं (अर्थात् ठंढा पानी पीते रहनेसे दस्त आते हें और गरमसे बंद होते हैं) इसमें पान, आहार, विहारकी विशेष यंत्रणा नहीं है॥८॥

(वक्तव्य) यदि जमालगोटेकी जड नही मिले तो शुद्ध जमालगोटे इतने ही (३ कर्ष) डाल दे परन्तु जमालगोटे डाले तो मात्रा १ कर्षकी नहीं द किन्तु १ टंक अनुमानकी गोली बनावे इसकी चने प्रमाण गोली खानेसे साधारण दो एक दस्त भी हो जाते हैं) ॥

अभयादिमोदकके गुण ।

श्लोक-विषमज्वरमंदाग्निपांडुकासभगंदरान् ॥ दुर्नामकुष्ठगुल्मार्शोगलगंडादरभ्रमान् ॥ ९ ॥ विदाहप्लीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान् ॥ वातरोगांस्तथाध्मानं मूत्र-

कृच्छ्राणि चाश्मरीम् ॥ १० ॥ पृष्ठपार्श्वरुजं चैव जंघोदररुजं जयेत् ॥ स्नेहाभ्यंगं च रोषं च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ ११ ॥ सततं शीलनादेव पलितानि च नाशयेत् ॥ अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥ १२ ॥

अर्थ-यह विरेचन विषम ज्वर, मंदाग्नि, पांडु, खांसी, भगंदर, बवासीर, कुष्ठ, गुल्म, मस्सेकी बवासीर, गलगंड, उदररोग, भ्रम ॥ ९ ॥ विदाह, प्लीहा, प्रमेह, क्षयी, नेत्ररोग, वातारोग, अफरा, मूत्रकृच्छ्र, पथरी ॥ १० ॥ पीठ और पसलीके रोग, जंघा और पेटके रोग इतने रोगोंको दूर करता है इसके पीछे स्नेहाभ्यंग, रोष आदि कुपथ्य एक दिन त्याग देवे ॥ ११ ॥ निरंतर सेवन करनेसे ये पलित बुढापेकी झुरी, सपेद बाल होने आदिको नष्ट करते हैं ये अभयादि मोदक (निर्भय) रसायनमें श्रेष्ठ हैं ॥ १२ ॥

परिशिष्ट २.

यूनानी मतके ढंगसे जुल्लाब ।

दोषोंके शोधनमें विरेचन (जुल्लाब) सबसे प्रधान है और इस समयमें इसका प्रचार भी साधारणरूपसे देखें तो बहुतही है, विरेचनकी रीति उत्तम और लाभदायनी जैसी वैद्यक शास्त्रमें कही है वैसी यूनानी आदि किसी अन्यदेशीय चिकित्सा विद्यामें नहीं है परन्तु हमारे वैद्यकशास्त्रोक्त विरेचनका प्रचार इस समय सर्वतोभावसे नष्टप्राय होगया है । विरेचनके आरंभिक कम स्नेहन, स्वेदन तथा सामाप्तिक अंग निरूहण और अनुवासन वस्ति इत्यादिको इस समयके बहुधा वैद्यतक भी नहीं जानते ।

बहुत दिनसे इस देशमें यूनानी तिवावतका वरताव फैलनेसे उसकी रीतिके अनुसार विरेचन (जुलाब) का प्रचार बहुतही होगया है और अमीरसे गरीबतक बहुधा उसीके अनुसार जुलाबको ठीक समझते हैं इस लिये हम उसके अनुकूल संक्षेपसे जुलाबकी विधि लिखते हैं ॥

जैसे वैद्यकके मतसे मनुष्योंके शरीर तथा कोष्ठमें वायु, पित्त और कफ इन तीन दोषोंमेंस किसीकी उल्वणता होती है उसी तरह यूनानी मतसे भी मेदे और अंतडियों आदिमें सौदा, सफरा तथा बलगम इन तीनों खिलतोंमेंसे कोईसी खिल्त बढी हुई या बिगडी हुई होती है (जिसके निकालनेको जुलाब दिया जाता है) जैसे वैद्यकमतसे स्नेहपान कराकर तथा अभ्यंग कराकर फिर पसीना दिलाकर शरीरके सब अंग, प्रत्यंगको मुलायम करते हैं और शरीरके सब भागोंमेंसे दोषोंको निचोड़कर या जिस जगह दोष हों वहांके दोषोंको पतला करके खींचके आमाशयमें ले आते हैं कि जिससे वे विरेचनमें निर्दोष सरलता पूर्वक

निकल जावें वैसे यूनानी मतसे हरेक खिलतके मुलायम और पतला करने तथा पकाकर फुलानेके लिये उसीके मूजिब मुंजिश देकर मुलायम करते हैं सौदा आदि खिलतोंका हाल संक्षेपसे हम शारीरकके परिशिष्टमें लिख चुके हैं उससे देख लें कि इसके कौनसी खिलतका विकार है फिर उसीके पकाने और मुलायम करनेको मुंजिश देने चाहिये ॥

सफरा (पित्त)का मुंजिश ।

नीलोफर, कासनी, कासनीकी जड, परशावशां, खतमी, खुब्बाजी, बनफशा, शाहतरा, गुलाबके फूल इन सबको तीन २ मासे लेकर जरा कूटकर रातको गरम पानीमें भिगो दे फजर जरा मलकर तुरंजवीन तोला १ अलग भिगोकर डाल दे और गुलकंद तोला २ डालकर छानकर पीवे यदि सफरा खालिस हो तो ३ दिनमें पक जाता है और गैर खालिसके लिये ५ दिनतक पीवे गैर खालिस ४ दिनमें पकता है ।

बलगम (कफ) का मुंजिश ।

सौंफ, सौंफकी जड, मुनक्का, मुलेठी, बादरंज बोया, परसावशा, शकाई, बादियानरूमी, अंजीर, मकोह, तुखम करफस, उस्त खद्दूस, गुलाबके फूल इन सबको तीन २ मासे और मुनक्का ५, अंजीर १ दाना इन सबको रातको भिगो दे, फजर जोश दे आधा पानी रहे तब उतारले फिर गुलकंद २ तोला मिला मल छानकर पीवे ऐसे ९ दिनतक पीवे जिससे बलगम पकजावे ॥

सोदाका मुंजिश ।

सोदा सूखी जली हुई खिलत बलगम या सफरा होती है यह बहुत दिनमें मुलायम होती और पकती है इसके लिये अनुमान १५ दिन मुंजिश पीना पडता-है मुंजिशकी दवायें ये हैं-गावजुवां, ल्हेसुआ, उन्नाव, सौंफ, शाहतरा, उस्तखद्दूस, परशावशां, मुलेठी, विसफायज इन सबको रातको भिगोकर फजर जोश देकर गुलकंद ३ तोला डालकर पीवे ॥

इनके सिवाय किसी खास वजेपर या खास बीमारी, तावियत या मोसम या उमर वगैरहके लिये जो दवा हकीम मुनासिब समझे कम जादे कर देवे जैसे खून फसादवालेके मुंजिश तथा मुसहिलमें मुसप्फी खूनकी रियायत रक्खे इत्यादि और यह भी याद रक्खे कि जुल्लाबका मौसम मातदिल होना चाहिये जैसे चैत या आसोजके महीना पर सक्त बीमारीमें इसकी कैद नहीं और मुंजिशके दिनोंमें भी भोजन हलका खावे और कडा, वासी न खावे यदि सोदा हो तो चिकनाई भी भले ही खावे पर बलगम बढा हो तो चिकनाई बहुतही कम खावे ॥

जुल्लाबकी विधि।

जैसे वैद्यकमें मृदु, मध्य और क्रूर ये तीन भेद कोठेके कहे हैं ऐसे ही मेदा मुलायम है या कडा इस बातकी देख भाल यूनानीवाले भी करते हैं यदि मेदा मुलायम होताहै या खिलत खुद ही पककर मवाद रुजू हो तो ऐसे मौके पर जादा मुंजिशकी भी जरूरत नहीं और जुल्लाब भी इनको हलका ही दिया जाता है॥

हलके मेदेवालों और कमजोर आदमियोंको या जिनके थोडी खिलतका बिगाड हो उन्हें हलका जुलाब देना चाहिये और जिनका मेदा कडा हो उनको तथा बलवान् आदमियोंको और जिनकी खिलतमें जादा बिगाड हो उन्हें तेज जुल्लाब देना चाहिये इसके सिवाय जुलाब देनेम खिलतकाभी खयाल रखना होता है जैसे सफराके लिये हलकी मीठी और ठंढी दवा तजवीज करना और सौदा, बलगमके लिये उनके मूजिब। इन दिनोंमें मनुष्योंमें कम जोरी अकसर जादा होनेसे बहुधा लोग हलका साधारण जुल्लाब लेकर पांच सात दस्त हो जाना ही अच्छा समझते हैं अगरचे इससे बहुत कुछ फायदा नहीं होता तो भी कुछ न कुछ फायदा होताही है और साधारणमें नुकसानभी बहुत नहीं होते इसीसे इसका अधिकही प्रचार है॥

हलका जुल्लाब।

सनाय २ तोला, मुनक्का १५ दाने, इलायची १०, सौंफ छः मासे इन्हें रातको भिगोदे फजर जरा जोश देकर गुलकंद ३ तोला डालकर मलकर छानकर जरा निवाया पीजावे इससे हलके मेदेवालोंको ८ या १० दस्त होजाते हैं, हर दस्तके बाद थोडा सौंफका अरक या निवाया पानी पीवे और पान खावे (दूसरे दिन ठंढाई लेकर फिर इसी तरह पीवे (ऐसे ३ दिन तीन जुलाब लेवे और बीचमें ठंढाई पीता रहे)॥

नुकताव।

जुलाबके दिन दो पहर पीछे जब दस्त हो चुकें तब मूंगका नुकताव पीवे नुकताव उसे कहते हैं कि मूंग फजरहीसे पानीमें भिगो दे फिर दो पहर पीछे उन्हें दो सेर पानीमें जोश दे जब देखे कि मूंग खूब सीजकर फट गये तब उसे कपडेमें छान ले और उसमें थोडा नमक डालकर जी चाहता पीवे इसके पीनेके बाद एक आध दस्त साफ और होता है॥

इसके ४ या ६ घडी बाद पुराने चावलोंकी मूंगकी दाल मिली खिचडी मुलायम, विना घीके खावे और जुलाबके दिनोंमें ऊंचेपर न चढे फिरे भी नहीं, स्त्रीसंग न करे, बदपरहेजीकी चीज न खावे, जादा गरमी और सरदीसे बचे॥

जुल्लाबके बीचकी ठंढाई।

यद्यपि ठंढाई भी खिलत, मौसम और बीमारीके मूजिब बहुत तरह की हैं पर साधारण ये हैं कि सौदा हो तो रेशाखतमी और बीहदाना, खयारेन इन्हे पानीमें

भिगो दे और लुआब निकाल कर थोडी मिश्री डालकर पीवे अगर बलगम हो तो सौंफ, गुलाबके फूल, मुलेठी, स्याहमिर्च इनकी ठंढाई बनाकर पीवे और जो सरदीकी जादती हो तो ठंढाई पीवे ही नहीं अगर सफरा हो तो जरूरही ठंढाई पीनी चाहिये कासनी, खयारैन, गुलेगाजुबाँ, इलायची, मिश्री इनकी ठंढाई बनाकर पीवे अगर खूनका फिसाद हो तो उन्नाव, मुरेठी, मुनक्का, गोरखमुंडी, गुलेबनफशा, मिश्री इनकी ठंढाई बनाकर पीवे इनके सिवाय हकीम अपनी रायसे इनमें कम जादा करदेवे॥

मध्यम जुल्लाब।

सुपेद निशोथको छीलकर भीतरका ठंडल निकालकर एक तोला लेवे, बदाम रोगन छः मासे और मिश्री एक तोला लेवे इनको मिलाकर फंकी लेकर ऊपरसे पूर्वोक्त सनायका काढा पीजावे और हर दस्तके पीछे सौंफका और मकोहका अर्क आधपाव पिया करे और पान भी खाता रहे इससे १० या १२ दस्त होते हैं ॥

जुल्लाबपर मदद।

अगर किसीको दस्त सुरू न हों तो दो तोले गुलकंदमें छः मासे सौंफ मिलाकर खावे और ऊपरसे सौंफका अर्क जरा गरम करके पीवे, अगर किसीका मेदा कडा हो तो गुलकंद २ तोले, काला दाना ५ मासे मिलाकर खावे और जो बहुत ही कडे मेदेवाला हो तो उसे उसारा रेवन मासा भर देवे जिससे जरूर दस्त सुरू हो जावेंगे ॥

अमलतासका जुल्लाब।

यह जुल्लाब नामी है और फायदेमंदभी जादे है पर इसमें पहले ठीक मुंजिश होने चाहिये और इस जुल्लाबमें परहेजभी जादे चाहिये, अमलतासका गूदा उमदा २ तोले (यह ४ तोलेतक ले सकते हैं) पानीमें भिगोदे (इसे जोश नहीं देना) और सनाय १॥ तोले, बडी हरडेकी छाल ९ मासे मुनक्का १५, आलूबुखारे १५(या इमली २ तोले), खतमी, खुब्बाजी,बनफशा,सौंफ,चंदनचूरा,गोरखमुंडी ये छः छः मासे उन्नाव ७ दाने इन्हें अमलीके सिवाय जोश करे और इमलीकोभी भिगोदे फिर अमलतासको मलकर छान ले, खूब नितारकर साफ करले फिर उस कोटमें मिलाले और तुरंजबीन २ तोले और शीरखिश्त १ तोले अलग पानी या गुलाबमें भिगोकर छानकर मिलाले और गुलकंद २ तोले मिलाले और इसमें गुलाबके अर्ककी खुशबू देकर ऊपर बदामकी गिरीके टुकडे बुरकाकर गटगटाकर पीजावे ऊपरसे पान, इलायची खावे और हाथोंके बाजूपर कपडा बांधदे कि कै न होजावे और जुल्लाबकी दवा पीकर लेटना, सोना हरगिज नहीं चाहिये–इसमें भी ऊपरसे हरदस्तपर सौंफका अरक, गुलाबका अरक और मकोयका अरक मिलाकर आधपा-

वके अन्दाजसे पीते रहे और नुकताव, ठंढाई वगैरह पहलेकी तरह करते रहे इसी भांति यह तीन दिन तक तथा ४ दिन तक एक एक दिन बीचमें ठंढाई लेकर लेते रहें यह जुल्लाब ठीक हो जावे तो शरीरकी अनेक बीमारी दूर होजावें हाजमेंकी ताकत और बदनकी ताकत भी खूब बढ जावे ॥

जमालगोटे आदिका वरताव।

जिनका मेदा कडा जादे होता है उन्हें हलके जुलावसे दस्त नहीं आते उनके लिये यूनानी तवीबभी जमालगोटे या उसारे रेवन या इन्द्रावन वगैरह तेज चीजोंका वरताव करते है परन्तु जमालगोटेको विना शोधे नहीं वरतना चाहिये उसके शोधनकी यह विधि है कि जमालगोटोंको पहले तीन दिन तक गोबरमें दबा दे जिससे वे फूल जावें फिर उन्हें घुले हुए गोबरमें जोशदे फिर पानीसे धोकर उनका छिलका दूरकर दे और जरा हाथोंमें घी लगाकर उन्हें बीचसे चीरकर जीभी निकाल डाले फिर उनको बहुत बारीक कपडेमें बांधकर दूधमें खूब जोशदे यहांतक कि दूध गाढा होजावे फिर दूधको फेंक दे और उन्हें धोकर साफ कर ले और फिर दूधमें पीसकर मिट्टीके ठेकरपर लेपदे और धूपमें सुखा ले उनकी जहरीली चिकनाईको ठेकरा सोख लेगा फिर उसे चाकूसे खुरचकर काममें लावे ऐसे शुद्ध जमालगोटे छः मासे, इलायचीके बीज छः मासे, कत्था छः मासे, मिरच स्याह ३ मासे इन्हें पीस उडदके बराबर गोली बनावे उनमेंसे १ गोली खावे तो दो-तीन दस्त साफ होजाते हैं यदि ऐसी ६ गोली खावे तो अच्छा जुल्लाब होजाता है पर इसपर गरम पानी नहीं पीवे ठंढा पानी या सौंफका अरक पीवे वैद्यकके रसग्रंथोंमें इच्छाभेदी आदि अनेक रस इस जमालगोटे और शुद्धगंधक तथा शुद्धपारे आदि दवाओंसे बनाते हैं उनकी विधि उन्ही ग्रंथोंमें देखो ।

डाक्टरीमतसे जुल्लाब।

यद्यपि डाक्टर लोगभी जुल्लाब बहुत देते हैं परन्तु न तो वैद्यककी तरह वे स्नेहन, स्वेदन करते हैं और न यूनानीकी तरह मुंजिशही देते हैं किन्तु दस्तावर दवा देकर दस्त करा देनाही वे मुख्य बात समझते हैं, जुल्लाब डाक्टरीमें भी कई प्रकारका है परन्तु जादे वरतावमें यही है कि "कास्टर आइल" (एरंडीका तेल) अनुमान १ औंस (२॥ तोले) दूधमें डालकर या खाली ही पिला देना जिससे ८ या ७ दस्त होजाते हैं, खानेके लिये चावल, दाल या खिचडी वगैरह मुलायम पदार्थ देते हैं जादे परहेजका भी उनके यहां बहुत झगडा नहीं है इसी प्रकार जलप वगैरह पौंडरसे दस्त करा देते हैं ॥ इति परिशिष्ट समाप्त ॥

इति प्रं०मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३४.

अथातो वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम वमन और विरेचनमें जो उपाधियां होती हैं उनकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पंचदशधा व्यापद्यते तत्र वमनस्याधोगतिरूर्द्ध्वं विरेचनस्येति पृथक् सामान्यमुभयोः सावशेषौषधत्वं जीर्णौषधत्वं हीनाधिकदोषापहृतत्वं वातशूलमयोगातियोगौ जीवादानमाध्मानं परिकर्तिकापरिस्रावप्रवाहिकाहृदयोपसरणं विबन्ध इति ॥ १ ॥

वैद्य और रोगीके (प्रमाद, अज्ञान, हठादिके) कारणसे वमन और विरेचनमें १५ प्रकारकी व्यापत्ति (उपाधियां) होती हैं जिनमेंसे पहली १ व्यापत्ति वमनका नीचेको चला जाना और विरेचनका ऊर्ध्वगामी होना जुदा जुदा है और शेष व्यापत्तियां दोनोंमें सामान्यतासे हैं । दूसरी २ व्यापत्ति औषधोंका शेष रह जाना, ३ औषधोंका पच जाना, ४ दोषोंका पूरा न निकलना, ५ दोषोंका अधिक निकल जाना, ६ वायुशूल (दरद होना), ७ अयोग होना, ८ अतियोग, ९ जीवादान (जीवनीय रक्तादि निकलना), १० अफारा होना, ११ परिकर्तिका (कातन होना), १२ परिस्राव, १३ प्रवाहिका, १४ हृदयोपसरण और १५ विबंध ये उपाधि होती हैं (वैद्य और रोगीके ग्रहणसे औषध और परिचारकका भी ग्रहण समझना चाहिये क्योंकि औषध योग्यायोग्य, न्यूनाधिक तथा परिचारककी मूढता, भ्रमादिक भी उक्त व्याधियोंके कारण होते हैं) ॥ १ ॥

वमनके अधोगमनकी उपाधि ।

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद्वमनमधो गच्छति तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्कर्षश्च तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥ २ ॥

(वा० १) वैद्यातुरग्रहणेनैव भेषजपरिचारकयोर्ग्रहणमतस्तयोरपि व्यापन्निमित्तं स्यात् (इति डल्हनः) उभयोर्वमनविरेचनयोः सावशेषौषधादिकं तयोः चतुर्दशसंख्योपेतं व्यापत्त्वेन सामान्यम् (इति डल्हनः) जीवादानं जीवशोणितादानम् । (वा० २) क्षुत्पीडितस्य रिक्ताशयत्वात्पीतमात्रमेवाधोयाति । तीक्ष्णाग्नेरग्निबलात्पाकं याति । मृदुकोष्ठस्यापि कोष्ठमार्दवादधोयाति दुर्बलस्य च । अवतिष्ठमानं पाकप्राप्तम् । गुणसामान्यभावात् सामान्यगुणत्वात् । स्नेहयित्वेत्यत्र स्वेदयित्वेत्याक्षिप्तो बोद्धव्यः (इति नि. सं.)

इनमेंसे क्षुधासे पीडित, तीक्ष्णाग्नि, मृदुकोष्ठवाले तथा दुर्बल मनुष्यको उपयोग कीहुई वमनकी औषध गुणके सामान्यभाव होनेसे पचकर नीचेको चली जाती है जिससे इच्छापूर्वक वमन नही होते (या होते ही नहीं) और दोष बढ जाया करते हैं ऐसा होनेपर रोगीको शीघ्रही स्नेहन कराकर फिर अति तीक्ष्ण औषधोंसे वमन कराना चाहिये ॥ २ ॥

विरेचनका ऊर्द्धगमन ।

अपरिशुद्धामाशयस्योत्कृष्टश्लेष्मणः सशेषान्नस्य वाऽहृद्यमतिप्रभूतविरेचनं पीतमूर्द्धं गच्छति तत्राशुद्धमामाशयमुल्वणश्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेदामान्वयेत्वामवत्संविधानम् । अहृद्येतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणं युक्तं चात ऊर्द्धमुत्तिष्ठत्यौषधेन तृतीयं पाययेत्ततस्त्वेनं मधुघृतफाणितयुक्तैर्लेहैर्विरेचयेत् ॥ ३ ॥

जिसका आमाशय शुद्ध न हो, जिसके कफ अत्यन्त बढा हुआ हो, जिसके भोजन किया अन्न नही पच चुका हो ऐसे मनुष्योंको अथवा हृदयको अप्रिय और बहुतसी विरेचनीय औषध पियी जानेसे वह ऊपरको निकल जाया करती हैं (वमन होजाती हैं) ऐसा होनेपर अशुद्ध आमाशय और बढे कफवालेको और भी वमन कराकर फिर तीक्ष्ण विरेचन देवे । आमका दोष हो तो आम पकानेकी युक्ति (लंघन, पाचनादि) करे। अहृद्य और विशेष औषधसे वमन हुआ हो तो हृदयप्रिय और थोडी औषधका उपयोग करे और जो फिर भी ऊपरको निकल जावे तो फिर तीसरी वार नही पिलाना चाहिये फिर तो उसे शहत, घृत और फाणित (गुड या खांडकी राब) मिलाकर विरेचनी औषधोंका अवलेह खिलाकर विरेचन करावे ॥ ३ ॥

सावशेष आषधकी उपाधि ।

दोषविग्रथितमल्पमौषधमवस्थितमूर्द्धभागिकमधोभागिकं वा नस्रंसयति दोषान्तत्र तृष्णापार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासारत्युद्गाराविशुद्धिश्च भवति । तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेत्सावशेषौषधमतिप्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तमप्येवं वामयेत् ॥४॥

दोषोंसे मिली हुई थोडीसी वमन और विरेचनकी उपयुक्त औषध ऊर्द्धभागके

(वा० ३) आमवत्संविधानं लंघनपाचनादिकम् ।

दोषोंको तथा अधोभागके दोषोंको नहीं निकाल सकती जिससे तृषा, पसलीमें शूल, छर्दि, मूर्च्छा, संधियोंका भेदन, उबकाई, अरति (बेचैनी), डकारें विशेष आना, शुद्धि न होना (भारीपन) ये उपद्रव होते हैं ऐसा होनेपर रोगीको गरम जलसे शीघ्र वमन करावे और पेटमें औषध शेष रह जावे तथा जिसके दोष अति प्रधावित हों और रोगी बलवान् हो अथवा जिसे ठीक विरेचन नहीं हुआ हो उसे भी गरम जलसे वमन करावे (और जिसे ठीक विरेचन न हुआ हो उसे वमन कराके फिर विरेचन भी करावे) ॥ ४ ॥

औषध जीर्ण होने (पचजाने) के अवगुण।

क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत्पाकमुपैति। तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिह्रियमाणा व्याधिं बलविभ्रंशं चापादयंति तमनल्पममंदमौषधं च पाययेत् ॥ ५ ॥

कडे कोठेवाले तीक्ष्णाग्नि मनुष्यको थोडी और स्वल्प गुण करनेवाली (वमन, रेचनकी) औषध भोजनकी भांति पच जाती है इससे बडे और उभरे हुए दोष, समयपर नहीं निकले हुए व्याधिको और बलकी हानिको उत्पन्न करते हैं ऐसा होनेपर उसे बहुतसी तीक्ष्ण (तेज) औषधें पिलावे ॥ ५ ॥

स्वल्पदोषहरण।

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तमल्पान्दोषान्हंति। तत्र वमने दोषशेषः गौरवमुत्क्लेशं हृदयाविशुद्धिं व्याधिवृद्धिं करोति तत्र यथायोगं पाययित्वा वामयेद्दृढतरम्॥६॥ विरेचने गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोर्व्याधिवृद्धिं करोति तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद्दृढतरम्। दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति ॥ ७ ॥

विना स्नेहन, स्वेदन किये अल्प गुणवाली (वमन रेचनकी औषध उपयुक्त की हुई स्वल्प दोषोंको निकालती है (निःशेष सारे दोषोंको नहीं निकालती)। इसमेंसे वमनके शेष रहे दोष भारीपन, उत्क्लेश (जी मिचलाना, मुहमें पानी भर भर आना) तथा हृदयकी अशुद्धि और व्याधिमें वृद्धि करते हैं ऐसा होनेमें यथायोग वमनकी (तीक्ष्ण) औषध मिलाकर खूब वमन करावे ॥ ६ ॥ विरेचनमें शेष रहे दोष गुदामें परिकर्तन (काटनी), अफारा, शिरका भारीपन और अधोवायुका न निकलना तथा व्याधिकी वृद्धि करते हैं ऐसा होनेमें उसे फिर स्नेहन, स्वेदन कराकर

तीक्ष्ण विरेचन देवे और जो दृढ देहवाला (या दृढ व्याधिवाला) हो और उसके दोष चलायमान हों (अर्थात् मवाद फूला हुआ हो) तो उसे तीसरे दिन थोडे गुणवाली (हलकी) ही औषध फिर देवे (तीक्ष्ण न दे) ॥ ७ ॥

वातशूल ।

अस्निग्धास्विन्नेन रूक्षमौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति । तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं संज्ञानाशं च करोति तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्केन तैलेनानुवासयेत् ॥ ८ ॥

विना स्नेहन, स्वेदन किये रूक्ष औषध (वमन, विरेचनकी उपयोग करनेसे तथा इन दिनों स्त्रीसंग करनेसे वायु कुपित हो जाता है । तब कुपित हुआ वायु पसवाडे, पीठ, कमर, ग्रीवाके जोते तथा मर्म स्थानोंमें शूल पैदा करता है और मूर्च्छा, भ्रम तथा संज्ञाका नाश (बेसुधी) करता है ऐसा होनेपर उस रोगीको स्नेहाभ्यंग करके धान्यसे स्वेदन करके मुलेठीसे पके हुए तैलसे अनुवासन वस्ति करे ॥ ८ ॥

अयोग ।

स्नेहस्वेदाभ्यामतिभावितशरीरेणाल्पमौषधमल्पगुणं वा पीतमूर्द्ध्वमधो वा नाभ्येति दोषांश्चोत्क्लिश्य तैः सह बलक्षयमापादयति । तत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णामूर्च्छादाहश्च भवति तमयोगमित्याचक्षते । तमाशु वामयेन्मदनफललवणाम्बुभिर्विरेचयेत्तीक्ष्णतरैः कषायैश्च ॥ ९ ॥ दुर्वान्तस्य तु तमुत्क्लिष्टा दोषा व्याप्य शरीरं कंडूश्वयथुकुष्ठपिडकाज्वरांगमर्दनिस्तोदनानि कवति । ततस्तानवशेषान्महौषधेनापहरेत् ॥ १० ॥

जो स्नेहन, स्वेदनसे शरीर संस्कृत किया हुआ नहीं हो वह यदि अल्प औषध अथवा अल्प गुणवाली औषध पीवे और वह वमन, विरेचन नहीं करे (अर्थात वमनकी औषधसे वमन न हो और विरेचनकीसे दस्त न लगे) और दोषोंको उत्क्लेशित करके उनके साथ बलको नाश कर देवे जिससे अफारा, हृदय घिरासा रहना, तृषा, मूर्च्छा और दाह हो जाता है तो इसे "अयोग" ऐसा कहतेहैं ऐसा होनेमें रोगीको मैनफल, नमक पानीमें मिलाकर इससे वमन करावे और तीक्ष्ण काथोंसे विरेचन देवे ॥ ९ ॥ यदि वमन न हो तो उसके दोष उत्क्लिष्ट होकर

(गद्य ९) 'स्नेहस्वेदाभ्यामतिभावितशरीरेण' इत्यत्र स्नेहस्वेदाभ्यामभिभावितशरीरेणेति वा पाठः ।

सब शरीरमें फैलकर खाज, शोथ, कुष्ठ, फोडे, फुन्सी, ज्वर, अंगोंका टूटनासा और दर्द इन उपद्रवोंको उत्पन्न करते हैं ऐसा होनेमें उन दोषोंको उग्र औषधोंसे निकाले (और शांत करे) ॥ १० ॥

अस्निग्धस्विन्नस्य मृदुविरिक्तस्याधो नाभे स्तब्धपूर्णोदरता शूलं वातपुरीषसंगः कंडूमंडलप्रादुर्भावो भवति तमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्तीक्ष्णेन ॥ ११ ॥ नोति प्रवर्तमाने तिष्ठति वा दुष्टसंशोधने तत्संतेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत्पाणितापैश्च पार्श्वोदरमुपस्वेदयेत्ततः प्रवर्तंते दोषाः ॥ १२ ॥ अनुप्रवृत्ते चाल्पदोषे जीर्णौषधं बहुदोषमहःशेषं बलं चावेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात् । अप्रवृत्तदोषं दशरात्रादूर्ध्वमुपसंस्कृतदेहं स्नेहस्वेदाभ्यां भूयः शोधयेत्॥१३॥

विना स्नेहन, स्वेदन किये हलका विरेचन लेलेनेसे (कभी कभी) नाभिके नीचे रुकावट, पेटमें भारीपन, दरद, अधोवायु और दस्त रुकजाना, खाज और चकदे होजाते हैं ऐसा होनेमें उसे आस्थापन वस्ति देकर फिर स्नेहन कराके तीक्ष्ण विरेचन देवे ॥ ११॥ यदि रेचनी औषधके पीनेसे पीछे दस्त न लगे या शोधनी औषध दूषित हुई पेटमें ठहर जावे (गुडगुडाहट नहीं करे) तो उसके उत्तेजन करनेको गरम पानी पिलावे, हाथ सेक सेक कर रोगीके पँसवाडे और पेटको तपावे ऐसा करनेसे दस्त होने लगेंगे ॥ १२ ॥ यदि थोडेसे दस्त होकर औषध पच जावे तो देखे कि दोष बहुत रहे हैं और दिनभी बहुत बाकी है और बलभी है तब उसी समय ओर मात्रा देके साफ करे । यदि गरम जल पिलाने आदि उत्तेजन करनेपरभी दस्त न लगें तो दश दिन ठहर कर फिर स्नेहन, स्वेदनसे शरीरका संस्कार कर करके फिर शोधन करे (फिर जुल्लाब देवे) ॥ १३ ॥

दुर्विरेच्यमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत् । ह्रीभयलोभैर्वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजः श्रोत्रियाश्च भवंति तस्मादेते दुर्विरेच्या बहुवातत्वादत एव तानतिस्निग्धान् स्वेदोपपन्नान् शोधयेत् ॥ १४ ॥

दुर्विरेच्य मनुष्योंको पहले आस्थापन वस्ति करके फिर स्नेहन करके विरेचन कराना चाहिये । लज्जा, भय, लोभ आदिके कारण दस्तके वेग रोकनेवाले प्रायः स्त्री तथा राजाके पासवाले, दुकानदार और श्रोत्रिय (वेदपाठी विद्यार्थी, कर्मकांडी आदि) मनुष्य होतेहैं (अर्थात् पूर्वोक्त मनुष्य प्रायः दस्तोंके वेगको रोका

करते हैं) इससे वायु बढ कर (या ऊर्द्धगामी होके) वे मनुष्य दुर्विरेच्य होजाते हैं अर्थात् इन्हें ठीक दस्त नहीं आते इस वास्ते इनको अत्यंत स्नेहन और स्वेदन कराके विरेचन देवे ॥ १४ ॥

अतियोगके उपद्रव ।

स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रमतिमृदुकोष्ठस्य वा तीक्ष्णाधिकदत्तमौषधमतियोगं कुर्यात् ॥ १५ ॥ तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति तं घृतेनाभ्यज्यावगाह्य शीतास्वप्सु शर्करामधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वम् ॥ १६ ॥

अत्यन्त स्नेहन, स्वेदन किये हुए अतिमृदु कोठेवाले मनुष्यको तीक्ष्ण या अधिक औषध दी जानेसे वह अतियोग करती है (अनुमानसे जादा वमन, रेचन करती है) ॥ १५ ॥ इनमेंसे वमन जादे होनेसे पित्त अधिक निकल जाता है, बलका नाश होता है तथा अत्यन्त ही वायुका कोप होता है ऐसा होने पर उसे घृतसे अभ्यंग करके शीतल जलमें स्नान कराके मिश्री, शहतसे मिले हुए यथायोग्य अवलेहोंसे उपचार करे ॥ १६ ॥

विरेचनातियोगे कफस्यातिप्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान्भवति । तमतिशीतांबुभिः परिषिच्यावगाह्य वा शीतैस्तंडुलांबुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्। पिच्छावस्तिं चास्मै दद्यात्क्षीरसर्पिषा चैनमनुवासयेत्प्रियंग्वादि चास्मै तंडुलांबुना पातुं प्रयच्छेत्क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत् ॥ १७ ॥

विरेचनका अतियोग होनेसे कफ अधिक निकलता है और पीछे रक्तमिला कफ दस्तोंमें आता है इसमें भी बल नष्ट होता तथा अत्यन्तही वायुका कोप होता है ऐसा होनेमें खूब ठंडे पानीके तरडे देना या स्नान कराना चाहिये और शीतल चावलोंके जलमें शहत मिलाकर उससे वमन करावे और पिच्छल वस्ति देवे और दूध घृतकी अनुवासनवस्ति करावे और चावलोंके पानीके संग प्रियंग्वादि गणकी औषध पिलावे और दूध या रसके संग भोजन करावे (दूध भात खिलावे) ॥१७॥

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा तत्र जिह्वानिःसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञादीत्युपद्रवा भवन्ति । तमजासृक्चन्दनोशीरांजनलाजाचूर्णैः

सशर्करोदकैर्मंथं पाययेत्। फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुंगैर्भिर्वा वटादीनां पेयां सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा पयसा जांगलरसेन वा भोजयेत्। अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्॥ १८॥

वमनके अतियोगके बढजानेपर रुधिर थूकने और रुधिरकी वमन होने लगती है जिससे जीभ निकल आना, आंखें फटना, ठोडी अकड जाना, तृषा, हिचकी, ज्वर और बेहोशी आदि उपद्रव होते हैं ऐसा होनेमें बकरेका रुधिर, चन्दन, खस, रसोत, धानकी खीलका चूरा और खांड तथा जल इन सबको मथकर (छानकर) पिलावे (रुधिरसे घृणावाले मनुष्य बकरीका दूध लेकर मन्थ बनावें) फलोंके रसमें: घृत, शहत, खांड मिलाकर इससे या वटादि वृक्षोंकी कोपलोंसे अथवा मलको रोकनेवाली औषधोंके संग अथवा दूध या जंगली जीवोंके मांसके रसके संग सिद्ध की हुई पेयामें शहत मिलाकर भोजन करावे और अति रुधिर निकलनेके (रक्तपित्तोक्त) विधानसे उपचार करे ॥ १८ ॥

जिह्वामतिसर्पितां त्रिकटुकलवणचूर्णप्रधृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वा पीडयेत् प्रविष्टायामम्लमन्ये तस्य पुरस्तात्स्वादयेयुः। व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्। हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्। विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्॥ १९॥

जिह्वा जो अधिक बाहर निकल आई हो उसपर त्रिकटु और लवण घिसकर तिल और दाखका लेप करके पीडन करे (भीतरको प्रवेश करे) जब भीतर प्रवेश हो जावे तब और मनुष्य उसके सामने बैठकर दिखा दिखाकर अम्ल (नींबूमें नमक लगाकर) चूसे ऐसे करनेसे उसके मुँहमें पानीसा भरेगा जिससे जीभ मुलायम होगी। आखें फटें या निकलें तो उनपर घृत लगाकर मल दे या बांध दे। ठोडी अकड जावे तो वायुकफनाशक नास देवे या वायुकफनाशक द्रव्योंसे स्वेदित करे। संज्ञानाश (बेहोशी) हो तो वंशी या वीणाके गीत सुनावे ॥ १९ ॥

विरेचनातियोगे च सचंद्रकं सलिलमधः स्रवति ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं च जीवशोणितं च ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवंति तमपि निस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्॥ २०॥ निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यांतः पीडयेत्क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीतजिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः॥ २१॥

विरेचनका अतियोग बढ जानेपर मोरपंखके चंदे जैसा सुनहरा पानीही दस्तोंमें आता है (अथवा मोरपंखके चंदे जैसे छीछडेदार पानीही दस्तोंमें आते हैं) फिर मांसके धोवन सरीखा पानी आता है अन्तको जीवसंज्ञक रुधिर निकलता है और कांच निकल आना, कम्प होजाना तथा वमनके अतियोगके उपद्रव (जिह्वा निकलना, नेत्र फटजाना, बेहोशी आदि) भी होजाते हैं ऐसा होनेपर भी रुधिर अति निकलनेके विधानसे चिकित्सा करे (चंदन, लाजा आदिका मंथ पिलावे) ॥ २० ॥ यदि कांच निकल आवे तो उसपर चिकनाई लगाकर जरा गरम करके भीतरको प्रविष्ट कर दे अथवा क्षुद्ररोगोक्त गुदभ्रंशका यत्न करे। कंप होजावे तो वातव्याधिका विधान करे (कट्फल आदिका मर्दन करे) और जिह्वा निकलना आदि उपद्रव हों तो उनका विधान पहले अति वमनके योगमें अभी लिख चुके हैं उस भांति करे ॥ २१ ॥

जीवादान उपाधिका यत्न ।

अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते कश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमंडांजनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत्। न्यग्रोधादिकषायक्षीरेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं वस्तिभिरुपाचरेत्। शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातिसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्। न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात्पानभोजनेषु ॥ २२ ॥

यदि जीवशोणित अधिक निकलने लगे तो खंभारी फल, बेर, दूब, खस इनसे औटाये हुए दूधमें घृत, मांड, रसोत मिला ठंढाकर उससे आस्थापन वस्ति करे और न्यग्रोधादिकके क्वाथ, दूध ईखका रस, घृत, रुधिर मिलाकर वस्ति करे। रुधिर थूकनेमें रक्तपित्त और रक्तातिसारकी क्रिया करे और न्यग्रोधादिगण रोगीके पीने तथा भोजनकी वस्तुओंमें मिलावे ॥ २२ ॥

रक्तपित्त और जीवशोणितकी परीक्षा ।

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन्पिचुप्लोतं वा क्षिपेत्तद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रंजयति तज्जीवशोणितमवगंतव्यम्। सभक्तं च शुने दद्यात्सक्तुसंमिश्रं वा स यद्युपभुंजीत तज्जीवशोणितमवगंतव्यम् ॥ २३ ॥

जीवशोणित और रक्तपित्तके ज्ञानके लिये ऐसा करे कि उसमें रुईका (सुपेद) कपडा भिगो ले और फिर उसे गरम जलसे धोवे यदि वस्त्रमें सुरखी रहे तो उसे जीवशोणित जाने (और यदि रंग धुल जावे तो रक्तपित्त जाने) अथवा उस

रक्तको भात या: सत्तूमें मिलाकर कुत्तेको खिलावे अगर कुत्ता खाजावे तो उसे जीवशोणित जाने (जो नहीं खावे तो रक्तपित्त जाने)। जीवशोणितके अधिक निकलनेसे मनुष्य तत्काल मर जाता है और रक्तपित्तके रक्तसे नहीं मरता इस कारण जीवशोणितकी बहुत रक्षा करनी चाहिये ॥ २३ ॥

आध्मान।

सशेषान्नेन वहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधमाध्मापयति। तत्रानिलमूत्रपुरीषसंगः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभंगो गुदवस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति तं चाध्मानमित्याचक्षते। तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनवस्तिक्रियाभिरुपचरेत् २४॥

जिसका भोजन नहीं पचा हो और दोष बढे हुए हों तथा शरीर रूखा हो और कोठेमें वायु हो ऐसा मनुष्य यदि ठंढी और रूखी वमन, रेचनकी औषध पीलेवे तो उससे पेट अफर आता है जिससे अधोवायु, मूत्र और मल रुक जाते हैं और पेट ऊपरको फूल आता है पसवाडे फटने लगते हैं, गुदा और वस्तिमें दरद होता है, भोजनमें रुचि नहीं होती इसे आध्मान कहते हैं ऐसा होने पर उसे स्वेदन कराके आनाहवर्ति (उदररोगोक्त) और दीपन वस्तिकी क्रियेंमेंसे उपचार करे ॥ २४ ॥

परिकर्तिका।

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मंदाग्निना रूक्षेण वा तीक्ष्णोष्णातिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति तत्र गुदनाभिमेढ्रवस्तिशिरःसु परिकर्त्तनमनिलसंगो वायुविष्टंभो भक्तारुचिश्च भवति तत्र पिच्छावस्तिर्यष्टीमधुककृष्णातिलकल्कः मधुघृतयुक्तः शीतांबुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवंतं घृतमंडेन यष्टीमधूकासिद्धेन तैलेन वानुवासयेत् ॥ २५ ॥

दुर्बल मनुष्य, जिसका कोठा मृदु हो और अग्नि मंद हो तथा शरीर रूक्ष हो ऐसा मनुष्य अति तीक्ष्ण, गरम, अति लवण युक्त और अति रूखी (विना चिकनाईके) विरेचनकी औषध पी लेवे तो पित्त और वायुको दूषित करके परिकर्त्तिका (कतरनीसे काटनेके समान पीडा) उत्पन्न कर देती है इसमें गुदा, नाभि, लिंग, वस्ति, शिर इन स्थानोंमें कतरनीसे काटनेके समान पीडा होती है, वायुका

(वा० २५) क्षामो दुर्बलः। अतितीक्ष्णोष्णातिलवण पित्त प्रकोपयति अतिरूक्षं च वायुं प्रदूषयति शीतांबुपरिषेचनं पैत्तिके। पैत्तिके च घृतमडेनानुवासनं वातिके च यष्टीमधुकतैलेनानुवासनं विधातव्यम् ॥

वेग रुक जाता है और अधोवायु तथा मल स्तंभित होजाते हैं और भोजनमें अरुचि होती है ऐसा होनेमें पिच्छल वस्ति करावे और मुलेठी, काले तिल, पीसकर शहत, घृत मिलाकर देवे तथा ठंढे पानीसे परिषेक करे (तरडे दे;) और रोगीको दूधके संग भोजन कराके घृत, मंड अथवा मुलेठीसे सिद्ध किये हुए तैलकी अनुवासन वस्ति करे ॥ २५ ॥

परिस्रावका लक्षण और यत्न ।

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषा-न्न निःशेषानपहरति ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयंति । तत्र दौर्ब-ल्योदरविष्टंभारुचिगात्रसदनानि भवंति सवेदनौ चास्य पित्तश्ले-ष्माणौ परिस्रवतस्तं परिस्रावमित्याचक्षते । तमजकर्णधवतिनि-शपलाशकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेदुपशांतदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत् ॥ २६ ॥

जिसका कोठा कडा हो और दोष बढे हुए हों उसे मृदु (हलकी) विरेचनका औषध दी जावे तो वह दोषोंको उखाड (उठा) द्रव करके निःशेष नहीं निकाल सकती इससे वे दोष परिस्राव पैदा करते हैं (थोडे थोडे बहुत दिनतक निकल-तेही रहते हैं) इससे दुबलापन, उदररोग, मल रुकना (साफ दस्त न होना), अरुचि, अंगोंमें थकाव ये उपद्रव होते हैं और वेदना (मरोडे) सहित पित्त और कफके थोडे भागसे युक्त दस्त जारी होजाते हैं इसे परिस्राव कहते हैं ऐसा होने-पर रोगीको अजकर्ण, धव, तिनिश, पलाश इनके क्वाथमें शहत मिलाकर आस्था-पन वस्ति करे और जब दोष शांत हो तब स्नेहन(स्वेदन) कराके फिर शोधन करे (फिर जुलाब देवे) ॥ २६ ॥

प्रवाहिकाका लक्षण और यत्न ।

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वा वातवर्चे उदी-रयेद्वेगाघातेन वा प्रवाहिका भवति तत्र सवातं सदाहं सशूलं सश्वेतं सपिच्छलं कृष्णं रक्तं वा भृशं प्रवाहमाणः कफमुपविशति तं परिस्रावविधानेनोपचरेत् ॥ २७ ॥

अतिरूक्ष या अतिस्निग्ध मनुष्यको विरेचनकी औषध दी हुई न प्राप्त हो (कार्य न करे) तो वह वायु और मलको उत्पन्न कर देती है (उकसा देती है) और वेग रोकनेसेभी प्रवाहिका पैदा होती है इसमें वायुसहित, दाहसहित, शूलसहित

और सुपेदीसे युक्त, कुछ गाढापनसे मिला काला या लाल मल थोडा २ बारबार आता है और जब रोगी जोरसे किनछता है तो कफ भी थोडा निकलता है ऐसा होनेमें (प्रवाहिकामें) पूर्वोक्त परिस्रावके विधानसे उपचार करे ॥ २७ ॥

हृदयोपसरणका लक्षण और यत्न ।

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहंति तस्योपसरणं हृदि कुर्वंति दोषाः । तत्र प्रधानमर्मसंतापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दंतान् किटकिटायते उद्धृताक्षो जिह्वां खादति प्रताम्यत्यचेताश्च भवति तं परिवर्जयंति मूर्खाः । तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेद्यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत् । शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात् । ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तंडुलाम्बुना छर्दयेद्यथादोषोच्छ्रायेण चैनं वस्तिभिरुपाचरेत् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य वमन या विरेचनकी औषध पीसकर उससे आतेहुए वमन या दस्तोंको अज्ञानसे रोक लेते हैं उनके दोष हृदयकी तरफ गमन करते हैं तब प्रधान मर्म (हृदय) के सन्तापके कारण अत्यन्त वेदनासे पीडित हुआ मनुष्य दांतोंका किटकिटाता (चबाता) है, ऊपरको आंखें फाड देता है, जिह्वाको दांतोंसे काटता, है फिर अँधेरीसी आकर मूर्च्छित (बेहोश) होजाता है जिसे मूर्ख वैद्य असाध्य मानकर छोड देते हैं (परन्तु यह ठीक नहीं) ऐसा होनेपर रोगीको स्नेहाभ्यंग करके धान्यसे स्वेदित करे और मुलेठीसे सिद्ध किये तैलकी अनुवासन वस्ति करे तथा उसे तीक्ष्ण नास देकर शिरका रेचन करे और फिर मुलेठीसे मिले चावलोंके पानीसे वमन करावे और दोषोंके अनुसार वस्ति भी करे ॥ २८ ॥

विबंधका लक्षण और यत्न ।

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत तस्य दोषाः स्रोतस्स्ववलीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापाद्य विबध्यंते तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति तमाशु वासयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत ॥ २९ ॥ अधोभागे त्वधोभागहरद्रव्यसैंधवाम्लमूत्रसंसृष्टं विरेचनं पाययेदास्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्याद्यथादोषमाहारक्रमं चोभयतो भागे तूपद्रवविशेषान्यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥ ३० ॥

जिस मनुष्यने वमन अथवा विरेचन करनेवाले औषधका पान किया हो और उसे वमन या दस्त आनेवाले हों ऐसे समयमें यदि वह शीतल स्थानमें रहे या ठंढा पानी पीवे या ठंढी हवा जादा खावे या और कोई ऐसाही कारण होजावे तो उसके दोष मार्गोंमें लीनहोकर गाढे होजाते हैं और अधोवायु मूत्र, मल आदिकी रुकावट करके बंधा डाल देते हैं जिससे पेटपर अफारा, दाह, ज्वर और तीक्ष्ण वेदना होजाती है ऐसा होनेमें उसे शीघ्र वमन कराकर यथायोग्य समयानुसार क्रिया करे ॥ २९ ॥ यदि अधोभाग (पक्काशय, मलाशय) में उपद्रव हो तो अधोभाग शोधक द्रव्य और सैंधव तथा अम्लरस और गोमूत्र मिलाकर विरेचन देवे तथा आस्थापन वस्ति और अनुवासन वस्तिभी दोषोंके अनुसार करे और आहार भी दोषोंके अनुसारही देवे और यदि दोनों भागोंमें (पक्काशय और आमाशयमें) उपद्रव हो तो उनका यथायोग्य यत्न करे ॥ ३० ॥

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कंठक्षणनं यदधःपरिस्र-वणं स उर्द्धभागे श्लेष्मप्रसेको यात्वधः प्रवाहिका सा तूर्द्ध शुष्को-द्गारा इति ॥ ३१ ॥ भवति चात्र–

जैसे विरेचनमें गुदस्थानमें कतरनीसे काटनेके समान पीडा होती है वैसेही वमनमें कंठमें छीलनीसी होती है । जैसे गुदामार्गसे मलका परिस्रवण होता है वैसेही ऊर्द्धभागमें मुखसे कफका निस्सरण होता है। जैसे नीचेके भागमें प्रवाहिका होती है वैसेही ऊर्द्धभागमें सूखी डकारें आती हैं (अर्थात् जैसे विरेचनके दोषसे गुदपरिकर्तन, परिस्रवण और प्रवाहिका होती हैं वैसेही वमनके दोषसे कंठक्षणन, कफप्रसेक और शुष्कोद्गार होते हैं) ॥ ३१ ॥ इस विषयमें श्लोक है–

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दश पंच च तत्त्वतः ॥
एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः ॥३२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

ये जो १५ व्यापत्ति (उपाधि) कहीं वे वास्तवमें विरेचन (वमन) के अति-योग या दुर्योग अथवा अयोगसे होती हैं ॥ ३२ ॥

इति पण्डितमुरलीधरवि० सुश्रुतस० भा० टी० चिकित्सितस्थाने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४ ॥

पंचत्रिंशत्तमोऽध्यायः ३५.

अथातो नेत्रवस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम नेत्र (वस्तिकी नली) और वस्ति इनका प्रमाण और विभाग संबंधी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

तत्र स्नेहादीनां कर्मणां वस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः कस्मादनेककर्मकरत्वाद्वस्तेरिह वस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधनसंशमनसंग्राहणानि करोति क्षीणशुक्रं वाजीकरोति कृशं बृंहयति स्थूलं कर्षयति चक्षुः प्रीणयति वलीपलितमुपहंति वयः स्थापयति शरीरोपचयं वर्णबलमारोग्यमायुषः परिवृद्धिं च करोति वस्तिः सम्यगुपासितः ॥ १ ॥

सब स्नेहादि कर्मोंमें वस्तिकर्म आचार्योंने प्रधान कहा है क्योंकि एक वस्ति अनेक कार्य सिद्ध करसकती है यह वस्ति नानाप्रकारके द्रव्योंके संयोगसे दोषोंका संशोधन, शमन और संग्राहण सभी कर सकती है, क्षीणवीर्यवालेको वाजीकरण है, दुबलेको मोटा कर सकती है और स्थूलको हलका कर देती है, नेत्रोंकी तृप्ति करती है, शरीरमें बुढापेकी झुरी और सुपेद बाल होनेको दूर करती है तथा आयुको स्थिर करती है, यहांतक है कि वस्तिका ठीक उपयोग होना शरीरकी वृद्धि, रूप, बल, निरोगता और आयुकी वृद्धिभी कर सकता है ॥ १ ॥

वस्तिकर्मके योग्य रोगी।

तथा ज्वरातिसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमंथार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकांगसर्वांगरोगाध्मानोदरशर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशोणितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्धनुमन्याग्रहार्शोऽश्मरीमूढगर्भप्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते॥२॥

भवति चात्र–

ज्वर, अतीसार, तिमिर (अंधेरी आना), जुखाम, शिरके रोग, अधिमंथ नामक नेत्ररोग, अर्दित वायु, आक्षेपकवायु, पक्षाघात, एकांगरोग, सर्वांगरोग, अफारा, उदररोग, शर्करा, शूल, अंडवृद्धि, उपदंश, आनाह (पेट फूलना), मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वायुरोग, मूत्र और पुरीषके रोग, उदावर्त और वीर्य, स्त्रीका आर्तवरक्त तथा दूध इनका नाश (कम होना), हृदय, ठोडी और मन्याका रुकजाना, ववासीर, पथरी, मूढगर्भ इत्यादि रोगोंमें वस्तिका उपयोग अवश्य करना चाहिये ॥ २ ॥

इस विषयमें श्लोक है–

(वा० १) नीयतेऽनेनेति नेत्रं वस्तेर्नलिका यथा चौपध नीयते तन्नेत्रमित्यर्थः । स्नेहादीना स्नेहनस्वेदनवमनरेचनादीनाम् । नानाविधद्रव्यसयोगात् इति–संशोधनशमनग्राहणवाजीकरणबृंहण कर्षणप्रीणानादिकौषधसयोगात् । वस्तिरेणादीनां मूत्राधारः तेनैतत्कर्म साध्यतेऽतो वस्तिकर्मेति प्रसिद्धम् ।

वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते ॥
संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव हितः सदा ॥ ३ ॥

वायु (के रोगों) में, पित्तमें, कफमें तथा द्वंद्वज (रोगों) में अर्थात् वायुपित्त, कफवायु और कफपित्त दो दो मिले हुओंमें तथा सन्निपातमें (सब दोष मिले हुओंमें) सब जगह वस्तिकर्म श्रेष्ठ होता है ॥ ३ ॥

नेत्र और मात्रा आदिका प्रमाण ।

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशांगुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमांगुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्द्धांगुलद्व्यंगुलार्द्धतृतीयांगुलसंनिविष्टकर्णिकानि कंकश्येनबर्हिपत्रनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि ॥ ४ ॥ तेषु त्वास्थापनद्रव्यप्रमाणमातुरहस्तसंमितेन प्रसृतेन संमितौ प्रसृतौ द्वौ चत्वारोऽष्टौ विधेयाः ॥ ५ ॥

नलीका प्रमाण इस भांति जाने कि एक वर्षकी अवस्थावाले बालक तथा आठ वर्षकी अवस्थावाले और सोलह वर्षकी अवस्थावालेके लिये छः अंगुल, आठ अंगुल और दश अंगुल लंबी क्रमसे नली बनावे जो कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा अंगुलीकी मुटाईके समान (बीचसे) हो और उसके अगाडी आधे अंगुल, दो अंगुल और साढे तीन अंगुल क्रमसे प्रवेश करनेकी नली होकर वहां कर्णिका (निकसवाँ किनारे) हों (यह किनारा छत्राकार बीचमें इस लिये होता है कि इसके अगाडीहीका भाग भीतर प्रविष्ट हो) और कंक पक्षी, शिकरा और मोरकी पांख जैसी नली प्रवेशकी हो तथा मूँग, उडद और मटरके बराबर छिद्रवाली नली यथाक्रम बनावे ॥ ४ ॥ और आस्थापन द्रव्यका प्रमाण रोगीके हाथकी हथेलीमें जितना आवे वैसी प्रसृति प्रमाणसे दो प्रसृति, चार प्रसृति और आठ प्रसृति हों ॥ ५ ॥

वर्षोत्तरेषु नेत्राणां वस्तिमानस्य चैव हि ॥
वयोबलशरीराणि समीक्ष्य वर्द्धयेद्विधिम् ॥ ६ ॥

(वा० ४) सावत्सरिकेत्यादि–यथासख्येन सावत्सरिकबालस्य निरूहयंत्र षडगुलप्रमाणं तत्कनिष्ठिकापरिणाहमग्रेऽध्यर्द्धांगुलसनिविष्टकर्णिक कंकपत्रनाडीतुल्यप्रवेशमूलंमुद्गतुल्यस्रोतः इति क्रमेणाष्टवर्षषोडशवर्षयोरपि विदध्यात् । कर्णिका छत्राकारगुदत्रिकांतःप्रवेशरोधिनी (इति नि. सं.) । (वा० ५) प्रसृतोत्र कुंचितांगुलिपाणिमात्र न्तु पलद्वयम् (इति गयदासाचार्यः)

वर्षोंके अनुसार अवस्था बढनेपर नेत्रोंका प्रमाण और वस्तिका प्रमाण (तथा मात्राका प्रमाण) अवस्था, बल और शरीरको देखकर बढा लेना उचित है ॥६॥

पंचविंशतेरूर्द्ध्वं द्वादशांगुलमूलेंगुष्ठोदरपरिणाहमग्रे कनिष्ठिकोदरपरिणाहमग्रे त्र्यंगुलसंनिविष्टकर्णिकं गृध्रपत्रनाडीतुल्यप्रवेशं कोलास्थिमात्रं छिद्रं क्लिन्नकलायमात्रं छिद्रमित्येके सर्वाणि मूले वस्तिनिबंधनार्थं द्विकर्णिकानि। आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहिता द्वादशप्रसृताः सप्ततेरूर्द्ध्वं नेत्रप्रमाणमेतदेव द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत् ॥ ७ ॥

पच्चीस वर्षसे ऊपर नली बारह अंगुल लंबी चाहिये और पिछाडीसे अँगूठे जैसी मोटी और अगाडीसे कनिष्ठिका जैसी गोल होवे और तीन अंगुल प्रविष्ट नलीके पीछे कर्णिका (किनारा) होना चाहिये, गीधके पक्षकी डंडी जिसमें आजावे और बेरकी गुठली जितना छिद्र रहे, कई ऐसा कहते हैं कि भीगकर फूली हुई मटरके समान छिद्र होना चाहिये और सब नलियोंकी जडमें निबंधनके लिये दो किनारे चाहिये (अर्थात् नलीके पिछाडीमें उसके वस्ती बँधी रहे इसलिये दो किनारे या गढे होने चाहिये) और आस्थापन द्रव्यका प्रमाण तो बारह प्रसृत चाहिये तथा सत्तर वर्षसे ऊपर नेत्रका प्रमाण यही और औषधका प्रमाण सोलह वर्ष वालेके तुल्य है॥७॥

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदंतशृंगमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीनि ऋजूनि गुटिकामुखानि ॥ ॥ ८ ॥ वस्तयश्चावृद्धानां मृदवो नातिबहला दृढाः प्रमाणवंतो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम् ॥ ९ ॥

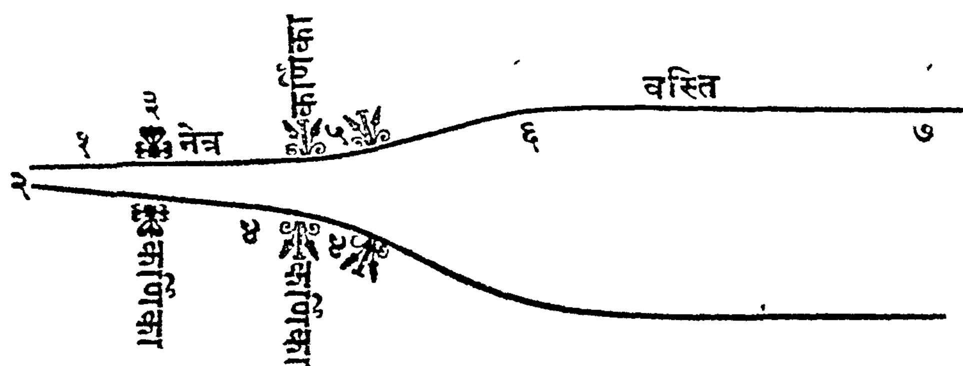
इसमें नेत्र (अर्थात् अगाडीकी नली) सुवर्ण, चाँदी, ताँबे, लोहे, पित्तलके अथवा हाथी दांतके सींगके, मणि (जवाहरात या काच) के तथा लकडीके होने चाहिये और वे साफ, दृढ, गावदुम, सीधे और गोल मुहवाले बनावे॥ ८ ॥ और वस्ति जो बूढे न हों ऐसे बैल, भैंसे, शूकर, बकरे तथा मेंढेकी (चर्ममय) (मूत्राधारस्थानकी) कोमल हो बहुत बडी न हो किन्तु मजबूत और प्रमाणकी होवे ॥९॥

नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसंभवा ॥ वस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तांतवं घनम् ॥ १० ॥ वस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं

(वा० ९) वस्तिविधौ भावमिश्रः-"मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत् ॥ मूत्रकोशस्य वस्तिस्तु तदलाभे तु चर्मणः ॥" इति।

सुपरिमार्जितम् ॥ मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम् ॥११॥ नेत्रमूले प्रविष्टाप्य न्युब्जं तु विवृताननम् ॥ बद्धा लोहेन तप्तेन चर्मस्रोतांसि निर्दहेत् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त सुवर्णादिकी नली न बन सके तो नरसलकी या बांसकी या हड्डीकी बना लेनी चाहिये और जो वृष, महिष आदिकी वस्ति (मूत्राधारचर्म) न मिल सके तो सूक्ष्म चर्म (पतले चमडे जैसे-बकरीके थन इत्यादिकी बनावे) या गाढे कपडे (मोमजामा आदि) की बनावे ॥ १० ॥ वह वस्ति किसी पदार्थसे लिहसी हुई न हो, शुद्ध हो, धुली हुई साफ हो, कोमल हो, कहींसे जादे उभरी या सुकडी न हो और बारबार तैल मलकर चिकनी कीहुई हो इस वस्तिको नेत्र (नली) के मूलमें औंधी इस प्रकार प्रवेश करे कि चौडा मुह ऊपरको खुला हुआ रहे और तंग मुह नलीसे बंध सके फिर उसे खूब कडा बांधकर गरम लोहसे उसके झिरावके छिद्र तप्त कर दे जिससे रिसे नहीं ॥ ११ ॥ १२ ॥



वस्तिका चित्र ऊपर लिखा है यद्यपि इस समयके लोग साधारण वस्तिको पिचकारी जानते हैं पर वस्ति पिचकारी नहीं होती, हां पिचकारीका काम देती है इसमें १ नेत्रका अग्रभाग है, २ छिद्र है, ३ कर्णिका है, ४ नेत्रका मूल है, ५ वह स्थान है जहां दो कर्णिका हैं और वहां वस्ति बँधी है, ६ ये चर्मवस्ति है, ७ वस्तिका ऊपरी मुख है इसमें औषध तैलादि भर कर दबानेसेही भीतर प्रविष्ट होता है और नेत्रका अग्रभाग भीतर प्रवेश किया जाता है जहांतक कर्णिका है वहांतक प्रवेश होता है ॥

परिवर्त्य ततो वस्तिं बद्धां गुप्तं निधापयेत् ॥ आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥ १३ ॥ मृदुर्वस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः ॥ तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु वस्तिर्हिंस्याद्बलायुषी ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त प्रकारकी वस्ति बनवाकर वैद्य उसे रक्षापूर्वक बांधकर रक्खे ओर आस्थापन द्रव्य तथा तैल इसके द्वारा प्रविष्ट करे ॥ १३ ॥ जहांतक हो कोमल द्रव्योंकी वस्ति करे, विशेषकर बालक और वृद्धको अवश्यमेव कोमल द्रव्योंकी वस्ति करना क्योंकि इनको तीक्ष्ण वस्तिके उपयोग करनेसे उनके बल और आयुका नाश कर देती है ॥ १४ ॥

तत्र द्विविधो वस्तिः नैरूहिकः स्नैहिकश्च आस्थापनं निरूह इत्यनर्थांतरं तस्य विकल्पो माधुतैलिकः । तस्य पर्यायशब्दोयापनो युक्तरथः सिद्धवस्तिरिति । स दोषनिर्हरणाच्छरीररोगहरणाद्वा निरूहः वयस्थापनादायुः स्थापनाद्वा स्थापनं माधुतैलिक विधानं च निरूहक्रमचिकित्सिते वक्ष्यामः ॥ १५ ॥

वस्ति दो प्रकारकी होती है १ निरूहवस्ति, २ स्नेहवस्ति, आस्थापन और निरूह इनका एकही अर्थ (मतलब) है और इसीका भेद माधुतैलिक है इसके पर्याय शब्द यापन, युक्तरथ और सिद्धवस्तिभी हैं । दोषोंके निकालनेसे अथवा शरीरके रोग हरण करनेसे इसे निरूह कहते हैं तथा अवस्थास्थापनसे अथवा आयुःस्थापनसे इसे आस्थापन कहते हैं । माधुतैलिकका विधान निरूहक्रम चिकित्सामें कहेंगे ॥ १५ ॥

अनुवासनवस्तिका वर्णन ।

तत्र यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहवस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादावकृष्टः अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयते इत्युनुवासनः तस्यापि विकल्पोऽर्द्धार्द्धमात्रावकृष्टोऽपारिहार्यो मात्रावस्तिरिति ॥ १६ ॥

इसी प्रकार प्रमाण और गुणके अनुसार स्नेहवस्तिका भेद अनुवासनवस्ति है उसमें निरूहकी अपेक्षा पौनी मात्रा दीजाती है । जो अनुवास (बासी हो) करके भी दूषित न हो अथवा दिन दिन प्रति दीजावे उसे अनुवासन कहते हैं उसके भी भेद हैं जैसे अर्द्धार्द्धमात्रा (आधी आधी करना) तथा अवकृष्ट (कुछ मात्रा घटा देना), अपरिहार्य (पूरी मात्रा रखना) तथा मात्रावस्ति (थोडी सी मात्रा लेनी) ॥ १६ ॥

निरूहः शोधनो लेखी स्नेहनो बृंहणो मतः ॥ निरूहशोधितान्मो-

(गद्य १५) वस्तिर्द्विविधः नैरूहिकः स्नैहिकश्च आस्थापन निरूह इति अनर्थांतरं न अर्थांतरमित्यर्थः एकार्थकमिति स्पष्टार्थः । (वा० १६) पादावकृष्टः पादेन चतुर्थांशेन अवकृष्टः हीनः ।

गर्तिसम्यक्स्नेहोनुगच्छति ॥ अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विवं वहज्जलम् ॥ १७ ॥ सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः ॥ तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहवस्तिर्विधीयते ॥ १८ ॥

निरूहणवास्ति शोधन, लेखन, स्नेहन, बृंहण सब होसकती है, निरूहणवास्तिसे शुद्ध किये हुए मार्गसे स्नेह ठीक गमन करता है जैसे नालीमेंसे सब दोष (कूडा कंकर) दूर कर देनेसे उसमें ठीक जल बहता है ॥ १७ ॥ इसी प्रकार जीवन और शरीरके सब दोष दूर करनेवाली निरूहणवास्ति करके तिससे पीछे शुद्धदेहवालेको स्नेहवस्ति करना चाहिये ॥ १८ ॥

वस्तिकर्मके अयोग्य ।

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शःपांडुरोगभ्रममदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकंठशोषशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः ॥१९॥

उन्माद, भय, शोक, तृषा, अरुचि, अजीर्ण, बवासीर, पांडुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, छर्दि, कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, स्थूलता, श्वास, कास, कंठशोष और शोथ इन रोगोंवाले तथा क्षतसे क्षीण, तीन चार महीनेकी गर्भवती, मन्दाग्निवाले, असमर्थ, बालक और वृद्ध तथा क्षीण ये सब वातव्याधिके सिवाय अनुवासन और आस्थापनवास्ति करनेके योग्य नहीं होते (अर्थात् इनको यदि वातरोग हो तो वस्ति करे नहीं तो न करे) ॥ १९ ॥

(वक्तव्य) पहले अर्श रोगवालेको वस्तिके योग्य लिख आये हैं फिर यहां अयोग्य क्यों लिखा इसका समाधान यही है कि वातप्रधान हो तो वस्तिकर्म करना चाहिये नहीं तो नहीं ऐसेही और कोई हो तो वहांभी यही समझे ॥

वस्तिकर्ममें विशेषता ।

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः ॥ अवश्यं स्थापनीयाश्च नानुवास्याः कथंचन ॥ २० ॥ असाध्यतां विकाराणां स्यादेषामनु-

---

(श्लो० १७) 'वहज्जलम्' इत्यत्र वहेज्जलमिति वा पाठातरम् । (श्लो० १८) असौ निरूहः सर्वदोषहरः तस्मात् निरूहणात् विशुद्धदेहस्य स्नेहवस्तिर्विधीयते विधातुं योग्य इति । (गद्य १९) कुष्ठिनामर्शसां च मूढवातानां प्रयोज्य निरूहस्य वर्षादर्वाक् बालस्य तत्पूर्व वृद्धस्य मृदुरपि वस्तिर्नि हितः अतोन्यथा तीक्ष्ण एव निषिद्ध इति दिक् । एतेन अवस्थावशात् निषिद्धमपि कार्य स्यात् (इति नि. सं.)

वासनात् ॥ असाध्यत्वेपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत् ॥ २१ ॥

उदररोगी, प्रमेहवाले, कुष्ठी और स्थूल मनुष्य ये अवश्य स्थापनवस्तिके योग्य होते हैं इन्हें अनुवासनवस्ति कभी नहीं देवे ॥ २० ॥ इनको अनुवासनवस्ति कर देनेसे इनके विकारोंमें असाध्यता हो जाती है और असाध्यता होकर शरीरमें बहुत शिथिलता हो जाती है ॥ २१ ॥

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः ॥ सम्यक्प्रणिहितो वस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति ॥ २२ ॥ पक्वाशयाद्वस्तिवीर्यं खै देह- मुपसर्पति ॥ वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम् ॥ २३ ॥ स चापि सहसा वस्तिः केवलः समलोपि वा ॥ प्रत्येति त्वनि- लैर्वीर्यमपानाद्यैर्विनीयते ॥ २४ ॥ वीर्येण वस्तिरादत्ते दोषा- नापादमस्तकात् ॥ पक्वाशयस्थोवरगो भूमेरर्को रसानिव ॥ २५ ॥

यथोक्त प्रकारसे उपयोग कीहुई वस्ति पक्वाशय तथा कमर, नाभिके नीचे सब जगह इन स्थानोंमें स्थित होती है ॥ २२ ॥ पक्वाशयसे वस्तिका पराक्रम सूक्ष्म छिद्रोंके द्वारा समस्त शरीरमें इस प्रकारसे पहुँचता है जैसे वृक्षकी जडमें सींचे हुए जलका गुण समस्त वृक्षमें पहुँचजाता है ॥ २३ ॥ वह वस्तिद्रव्य शीघ्रही केवल या मलसे मिलकर उलटा गिर जाता है, अपानादिक वायुओंसे वीर्यको (शरीरमें) प्राप्त कर देता है ॥ २४ ॥ वस्ति पक्वाशयमें स्थित (प्राप्त) होकर पैरोंसे लेकर मस्तक पर्यंतके दोषोंको खींच लेती है जैसे आकाशमें रहकर सूर्य पृथ्वीके रस (नमी) को खींचता है ॥ २५ ॥

स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान्वीर्येणालोड्य संचयान् ॥ उत्खातमूलान्हरति दोषाणां साधुयोजितः ॥ २६ ॥ दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः ॥ तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः ॥ २७ ॥ वायोर्विहन्ते वेगं नान्या वस्ते ऋते क्रिया ॥ पवनाविद्धतो- यस्य वेलावेगामिवोदधेः ॥ २८ ॥ शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्य- मायुषः ॥ कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः ॥ २९ ॥

अच्छे वैद्यकी उपयोग कीहुई वस्ति कटिप्रदेश, पीठ, कोष्ठ (पेट) इन स्थानोंमें हुए दोषोंके संचयको विलोडन करके जडसे उखाडकर नष्ट करदेती है ॥ २६ ॥

(श्लो० २३) खैः सूक्ष्मछिद्रैः ।

(श्लो० २७ । २८) अनयोर्मिलित्वान्वयः । ईश्वरः प्रधानः । वेला उत्तुंगकूलमर्यादा ।

क्योंकि तीनों दोषोंके कोप होनेमें प्रधान और प्रेरक वायु ही है इससे जब वायु चढकर शरीरका नाश करने लगे तब उस वायुके वेगको वस्तिकर्मके सिवाय कोई नहीं रोक सकता है जैसे पवनसे उलझते हुए समुद्रके वेगको वेला (ऊँचे तट) के सिवाय कोई नहीं रोक सकता है ॥ २७ ॥ २८ ॥ यथोक्त प्रकारसे उपयोग कीहुई वस्ति शरीरकी मुटाई, रूप, बल, आरोग्य तथा आयुकी वृद्धि करतीहै॥ २९॥

वस्तिकी व्यापत्तियां ।

प्रणिधान दोष और नेत्रदोष ।

अत ऊर्द्धं व्यापदो वक्ष्यामः तत्र नेत्रं चलितं विवर्तितं पार्श्वावपीडितमत्युत्क्षिप्तमवसन्नं तिर्यक्क्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः ॥ ॥ ३० ॥ अतिस्थूलं कर्कशमवनतमणुभिन्नं सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं सूक्ष्मातिच्छिद्रमतिदीर्घमतिह्रस्वमित्येकादशनेत्रदोषाः॥३१॥

इसके अगाडी हम वस्तिकी व्यापत्तियों (खराबियों तथा उपाधियों) का वर्णन करते हैं इनमेंसे ६ "प्रणिधानदोष" अर्थात् नाली प्रवेश करके लगानेके दोष होते हैं जैसे १ नेत्र (नली) कंपित होवे, २ उलट आवे, ३ एक पार्श्वमें रगडी जावे, ४ ऊपरकी तरफ झुकाव हो, ५ अवसन्न (नीचेको झुकाव हो), ६ टेढी तरफ झुकाव हो ॥ ३० ॥ "नेत्र(नली) दोष" १ अति मोटी हो, २ खरदरी हो, ३ टेढी हो, ४ पतली हो, ५ फटी या टूटी हो, ६ जिसके अति निकट किनारा हो, ७ दूर किनारा हो, ८ बारीक छिद्र हो, ९ अति चौडा छिद्र हो, १० नली अति लंबी हो, ११ अत्यंत छोटी हो ये ११ नेत्रके दोष हैं ॥ ३१ ॥

वस्ति और अवपीडनके दोष ।

बहुलताल्पता सच्छिद्रता प्रस्तीर्णता दुर्बद्धतेति पंच वस्तिदोषाः॥ ॥ ३२ ॥ अतिपीडितता शिथिलपीडितता भूयोभूयोऽवपीडनं कालातिक्रम इति चत्वारः पीडनदोषाः ॥ ३३ ॥

"वस्तिदोष" १ बहुत बडी होना, २ अति छोटी होना, ३ उसमें छिद्र होना, ४ बहुत फैली हुई होना, ५ ठीक बांधी न जाना ये पांच वस्तिके दोष होते हैं ॥ ॥ ३२ ॥ "अवपीडनदोष" १ अति दबा देना, २ शिथिलतासे दबाना, ३ बारबार या कईवार थोडा थोडा दबाना, ४ समय चूककर दबाना ये चार अवपीडन अर्थात् दबानेके दोष हैं ॥ ३३ ॥

द्रव्य और शय्याके दोष ।

आमताहीनतातिमात्रताऽतिशीततात्युष्णताऽतितीक्ष्णताऽतिमृदु-

ताऽतिस्निग्धताऽतिरूक्षताऽतिसांद्रताऽतिद्रवतेत्येकादश द्रव्य-दोषाः ॥ ३४ ॥ अवाक्शीर्षोच्छीर्षन्युब्जोत्तानसंकुचितदेहस्थितता दक्षिणपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्त शय्यादोषाः ॥ ३५ ॥

"द्रव्यदोष" १ कच्चा रहना, २ कम मात्रा होना, ३ अति मात्रा होना, ४ अति शीतलता, ५ अति उष्णता, ६ अति तीक्ष्णता, ७ अति मृदुता, ८ अति स्निग्धता, ९ अति रूक्षता, १० अति गाढापन, ११ अति पतलापन ये ग्यारह दोष द्रव्य अर्थात औषधके होते हैं ॥ ३४ ॥ "शय्यादोष" १ नीचा शिर करना, २ ऊंचा शिर करना, ३ ओंधा सोना, ४ ऊपरको पाँव करके सोना, ५ देह सकोडना, ६ स्थितता (बैठे होना), ७ दाहिनी करवट सोनेमें वस्ति देना ये सात शय्या अर्थात् वस्तिके समय सोनेके दोष हैं ॥ ३५ ॥

एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशद्व्यापदो वैद्यनिमित्ताः । आतुरनिमित्ताः पंचदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यंते ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ये पूर्वोक्त चवालीस व्यापत्तियां वस्तिकर्ममें वैद्यके कारणसे (वैद्यकी असावधानीसे) होती हैं और रोगीके कारण (असावधानी) से जो १५ व्याप-त्तियां वस्तिकर्ममें होती हैं वे अगाडी आतुरोपद्रव चिकित्साध्यायमें वर्णन की जावेंगी ॥ ३६ ॥

(वक्तव्य) शय्या (सोने) के दोष तो रोगीके कारणसे होते हैं वे वैद्यनिमित्त-व्यापत्तियोंमें क्यों लिखेगए इसका समाधान यह है कि सावधान वैद्यको चाहिये कि उस समय रोगीको यथोक्त प्रकारसे सुलावे ॥

स्नेहस्त्वष्टाभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैरशना-भिभूतो मलव्यामिश्रो दूरानुप्रविष्टोऽस्विन्नस्यानुष्णोऽल्पोऽभुक्त-वतोऽल्पाशनस्य चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति ॥ ३७ ॥

स्नेहवस्तिमें स्नेह आठ कारणोंसे अवरुद्ध होकर उलटा नहीं निकलता है । १ तीनों दोषोंसे, २ भोजनमें अभिभूत (प्राप्त) होनेसे, ३ मलमें मिलनेसे, ४ दूर पहुँच जानेसे, ५ विना स्वेद किये हुए, ६ ठंढा होनेसे, ७ कम होनेसे, ८ थोडा भोजन करनेसे (अर्थात् थोडासा भोजनकर वस्ति करानेसे) ये आठ ८ कारण स्नेह उलटा नहीं निकलनेके हैं ये वैद्य और रोगी दोनोंके कारणसे होते हैं ॥ ३७ ॥

अयोगस्तूभयोराध्मानं परिकर्तिका परिस्रावः प्रवाहिका हृदयोप-

(वा० ३५) अवाक्शीर्षं निम्नशिरस्कः । उच्छीर्षं ऊर्ध्वशिरस्कः । न्युब्ज अधोमुखः ।
(वा० ३७) प्रतिहतो रुद्धः । अभिभूतः मिश्रितः ।

सरणं अंगग्रहोऽतियोगो जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवंति ॥ ३८ ॥ भवति चात्र—

अयोग होना दोनोंके कारणसे होता है और आध्मान (अफारा), परिकर्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, अंगग्रह, अतियोग और जीवादान ये उपाधियां वस्तिकर्ममें भी होती हैं (इनके लक्षण और अर्थ पिछाडी वमनविरेचनव्यापच्चिकित्साध्यायमें कह चुकेहैं) ये वैद्यके कारणसे होती हैं ॥ ३८ ॥यहां श्लोक हैं—

षट्सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः ॥
तासां वक्ष्यामि विज्ञानं सिद्धिं च तदनंतरम् ॥ ३९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

वस्तिके और वस्तिकर्मके ७६ दोष (उपद्रव) संक्षेपतासे वर्णन किये अब अगाडी उनके विज्ञान (लक्षण) और उसके पीछे सिद्धि (यत्न) वर्णन करेंगे ॥ ३९ ॥

इति प० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ३६.

अथातो नेत्रवस्तिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम नेत्र और वस्तिकी व्यापत्तियोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

नेत्रप्रणिधानदोषके लक्षण और यत्न ।

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते ॥ गुदे क्षतं रुजा वा स्यात्तत्र सद्यःक्षतक्रिया ॥ १ ॥ अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा ॥ विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्च सेचनम् ॥ २ ॥ तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते ॥ मुखस्यावरणाद्वस्तिर्न सम्यक्प्रतिपद्यते ॥ ऋजुनेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग्विजानता ॥ ३ ॥

यदि नेत्र (नली) हिलजावे (कंपित हो) अथवा विवर्तित होवे तो गुदामें जखम और पीडा होती है इसमें सद्यःक्षतकी चिकित्सा करे ॥ १ ॥ यदि नली ऊपरको हो या नीचेको झुकजावे तो गुदामें पीडा होती है इसमें स्नेहका सेचन और पित्तनाशक विधि करनी चाहिये ॥ २ ॥ यदि तिरछी नली होजावे या पसवाडेकी तरफ झुक जावे तो मुख रुकजानेसे ठीक वस्तिकर्म नहीं होता (ठीक औषध नहीं पहुँचती) इस लिये बुद्धिमान्को चाहिये कि नली सावधानतासे सीधी रक्खे ॥ ३ ॥

नेत्रदोषके लक्षण और यत्न ।

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रे चावनते तथा ॥ गुदे भवेत्क्षतं रुक् च साधनं पूर्ववत्स्मृतम् ॥ ४ ॥ आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेणौ वाप्यपार्थकः ॥ अवसेको भवेद्वस्तेस्तस्माद्दोषान्विवर्जयेत् ॥ ५ ॥ प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात् ॥ क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्बस्तिश्च पिच्छलः ॥ ६ ॥ ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो वस्तिश्च पूर्ववत् ॥ प्रत्यागच्छंस्ततः कुर्याद्रोगान्वस्तिविघातजान् ॥ ७ ॥ दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत् ॥ ८ ॥

यदि नली अत्यन्त मोटी हो और खरदरी हो या टेढी हो तो गुदामें घाव और पीडा होवे इसमें भी पहलेके अनुसार सद्यःक्षतकी चिकित्सा करे ॥ ४ ॥ अतिनिकट किनारा हो या नली फटी टूटी हो या पतली हो तो वस्ति निरर्थक होतीहै औषध वस्तिके स्थानमें ठीक न पहुँचकर गिरजाती है) इससे इन दोषोंको दूर करे ॥ ५ ॥ यदि नलीमें किनारा दूर हो तो गुदाके मर्मस्थानमें नली पहुँचकर उसमें पीडा करनेसे रुधिर निकलता है इसमें पित्तघ्नक्रिया करे और पिच्छलबस्ति करे ॥ ६ ॥ नली बहुत छोटी हो या छिद्र छोटा हो तो पूर्ववत् (आसन्नकर्णिकाके तुल्य) क्लेश होना है उसमेंसे द्रव्य उलटा आनेमें वस्तिविघातजन्य (मूत्राघातादि) रोग पैदा करता है ॥ ७ ॥ यदि नली बहुत बडी या उसका छिद्र बहुत बडा हो तो अत्यवपीडनके समान दोष होता है ॥ ८ ॥

वस्तिदोषोंके लक्षण और यत्न ।

प्रस्तीर्णे बहले चापि वस्तौ दुर्बद्धदोषवत् ॥ वस्तावल्पेऽल्पता वापि द्रव्यस्याल्पगुणा मताः ॥ दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ॥ ९ ॥

यदि वस्ति चौडी (फैली) जादा हो या बडी हो तो दुर्बद्धके समान दोष होता है (औषध ठीक नहीं पहुँचती) और जो वस्ति छोटी हो तो उसमें औषध स्वल्प आवेगी और औषध स्वल्प आवेगी तो गुण भी अल्प होगा दुर्बद्ध (ठीक न बँधने) में या अणुभिन्न (छिद्र) होनेमें भिन्न नेत्रके समान निरर्थक होता है ॥ ९ ॥

पीडनदोषके लक्षण और यत्न ।

अतिप्रपीडितो वस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः ॥ वातेरितो नासिका-

भ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥ १० ॥ तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ॥ शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥ ११ ॥

अति जोरसे वस्ति दबानेसे औषध आमाशयमें चली जाती है वायुसे प्रेरित होकर नासिका और मुखसे निकलने लगती है ॥ १० ॥ इसमें शीघ्र गलेको मले और अवधूनन करे (बाल खोल कर फैलावे) और शिरोविरेचन और कायाका विरेचन कर तथा शीतल द्रव्योंका सेवन करे ॥ ११ ॥

शनैः प्रपीडितो वस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ॥ न च संपादयत्यर्थंस्तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत् ॥ १२ ॥ भूयो भूयोवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते ॥ तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र वस्तयः ॥ १३ ॥ कालातिक्रमणात्क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्द्धते ॥ तत्र व्याधिबलघ्नं तु भूयो वस्तिं निधापयेत् ॥ १४ ॥

धीरे वस्ति दबानेसे औषध पक्वाशयमें नहीं पहुँचती और प्रयोजन सिद्ध नहीं करती इस कारण यथायोग्य दबावे ॥ १२ ॥ बारबार दबानेसे वायु भीतर पीडित होती है जिससे अफारा और दारुण पीडा होती है इसमें यथायोग्य वस्ति करे ॥ ॥ १३ ॥ समय चूक कर (ठहरकर) वस्ति दबानेसे (वस्तिकर्म करनेसे) व्याधि बढती है । इसमें व्याधिका बल घटानेके लिये पुनः वस्ति करे ॥ १४ ॥

द्रव्य (औषधके) दोष ।

गुदोपदेहशोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि ॥ तत्र संशोधनो वस्तिः हितं चापि विरेचनम् ॥ १५ ॥ हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ॥ अतिमात्रौ तथानाहक्लमातीसारकारकौ ॥ १६ ॥ मूर्च्छादाहमतीसारं पित्तं चाप्युष्णतीक्ष्णकौ ॥ ॥ मृदुशीतावुभौ वातविबंधाध्मानकारकौ ॥ १७ ॥ तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकक्रियाविधिः ॥ तत्र सांद्रे तनुं वस्तिं तनौ सांद्रश्च दापयेत् ॥ १८ ॥ स्निग्धोतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तंभाध्मानकृदुच्यते ॥ वस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत् ॥ १९ ॥

(श्लो० ११) गलापीडं गलमर्दनम् । अवधूननं केशादि उत्क्षिप्य चालनम् ।
(श्लो० १३) अतः- प्रपीड्यते उदरे प्रपीड्यते । (श्लो० १५) गुदोपदेहः गुदलेपनम् ।
(श्लो० १६) उभौ वस्ती स्नेहवस्तिर्निरूहणवस्तिश्च । (श्लो० १८) सांद्रः घनः । तनु द्रवः ।

अपक्व (कच्चा) स्नेह या औषध गुदामें लिहस जाती है और शोथ पैदा करती-है ऐसा होनेमें शोधनवस्ति करना और विरेचन देना हित है ॥१५॥ हीन मात्राकी दोनों वस्ति (निरूहण और अनुवासन) ठीक कार्य नहीं करती तथा अतिमात्राकी दोनों वस्ति अफारा, क्लम और अतीसार पैदा करतीं हैं ॥ १६॥ जादे गरम और तीक्ष्ण औषध मूर्च्छा, दाह, अतीसार और पित्त कारक होती हैं तथा शीतल और मृदु औषध वस्तिमें उपयोग करनेसे वायु और मलका बंध तथा आध्मान(अफारा) करती हैं ॥१७॥ इनमें हीन मात्रा आदि दोष हों तो उनके प्रतिकूल क्रिया करनी चाहिये । यदि सांद्र (गाढी) औषधकी वस्ति दी गई हो तो पतली औषधकी वस्ति पुनः देवे और यदि पतली औषधकी दी गई हो तो गाढीकी पुनः देवे ॥ ॥ १८ ॥ अति स्निग्ध द्रव्य जडताकारक है और रूक्ष है, स्तम्भ (रुकावट) और अफारा करता है यदि अति स्निग्धवस्तिसे उपद्रव हो तो रूक्षवस्ति देनी चाहिये और जो रूक्ष हो तो स्निग्ध वस्ति देवे ॥ १९ ॥

शय्यादोषके लक्षण और यत्न ।

अतिपीडितवद्दोषान्विधिं चाप्यवशीर्षके ॥ उच्छीर्षके समुन्नाहं वस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ॥ २० ॥ तत्रोत्तरो हितो वस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः ॥ न्युब्जस्य वस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ॥ ॥२१॥ हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्ठमथापि वा ॥ उत्तानस्यावृते मार्गे वस्तिर्नातः प्रपद्यते ॥ २२ ॥ नेत्रसंवेजनभ्रांतो वायुश्चांतः प्रकुप्यति ॥ देहे संकुचिते दत्तः सक्थ्नोरप्युभयोस्तथा ॥ न सम्यगनिलाविष्टो वस्तिः प्रत्येति देहिनः ॥ २३ ॥

वस्तिकर्मके समय नीचा शिर करनेसे (कम्मर नवा देनेसे) अति पीडितके समान दोष होते हैं और उसीके समान यत्न करना तथा ऊपरको शिर करदेनेसे (धड़ आगेको उभार देनेसे), समुन्नाह मेहन (अर्थात् स्निग्धतायुक्त मूत्रता) करती है ॥ २०॥ इस लिये ठीक स्वेदन करके सुखपूर्वक यथोक्त शयन कराके उत्तर-वस्ति करावे । और औंधा होनेसे वस्ति पक्वाशयमें नहीं पहुँचती किन्तु कुमार्ग-गामी होजाती है ॥ २१ ॥ इससे हृदय और गुदामें पीडा होती है और वायुसे कोष्ठमें भी पीडा होती है तथा उत्तान (चित्त हो ऊपरको पावँ करनेसे) मार्ग

(श्लो० २०) उच्छीर्षे मेहनं समुन्नाह कुर्यात् । सस्नेहमेहन ससृष्टमूत्रप्रवर्द्धनम् (इति जैज्जटः) वृद्धमते चायं पाठोऽन्यथा "उच्छीर्षके समुन्नाहो वस्तेः कृच्छ्रत्वमेहनम्" इति वस्तेः समुन्नाहो वस्तेः सन्नद्धता कृच्छ्रमेहन कृच्छ्रमूत्रता (इति नि स) । (श्लो० २२) 'हृद्गुदम्' इत्यत्र हृद्दमिति वा पाठः ।

रुक जाता है और वस्ति भीतर नहीं पहुँचती ॥ २२ ॥ नेत्र (नली) के हिलनेसे भ्रमित हुआ वायु भीतर कुपित होता है । देह सकोड़ने तथा दोनों साथल संकोडनेसे वायुसे मिश्रित वस्ति ठीक उलटी नहीं आ सकती है ॥ २३ ॥

स्थितस्य वस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवाङ्मुखः ॥ न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः ॥ २४ ॥ नाप्नोति वस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्काशयं पुनः ॥ दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो हितः ॥ २५ ॥ न्युब्जादीनां प्रदानं च वस्तेर्नैव प्रशस्यते ॥ पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत् ॥ २६ ॥

बैठे हुए मनुष्यके वस्ति देनेसे औषध शीघ्रही उलटी निकल पडती है वह आशयोंको तृप्त नहीं करती इससे निरर्थक होजाती है ॥ २४ ॥ दाहिनी करवट लेटे हुए मनुष्यके वस्तिकर्म करनेसे पूर्ण पक्काशयमें नहीं प्राप्त होती इस वास्ते बाई करवटमें वस्तिकर्म करना हितकारक होता है ॥ २५ ॥ औंधे आदि मनुष्योंके वस्तिकर्म करना श्रेष्ठ नहीं क्योंकि इनमें पीछे वायुका कोप होता है इस कारण यथायोग्य रीतिसे वस्तिकर्म करना चाहिये ॥ २६ ॥

व्यापदः स्नेहवस्तेस्तु वक्ष्यन्तेऽत्र चिकित्सिते ॥
अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिताः ॥ २७ ॥

स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) की व्यापत्तियां (उपाधियां) यहांसे अगले अध्यायमें (अनुवासनवस्तिचिकित्सामें) वर्णन करेंगे यहां अब अयोगादिक व्यापत्तियोंको चिकित्सासहित कहते हैं ॥ २७ ॥

अयोगका लक्षण और यत्न ।

अनुष्णोल्पौषधो हीनो वस्तिर्नैति प्रयोजितः ॥ विष्टब्धाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते ॥ तत्र तीक्ष्णो हितो वस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ॥ २८ ॥

जो ठंढी, थोडी, हीन पराक्रमवाली औषध वस्तिमें उपयोग कीजावे वह ठीक नहीं होती, विष्टंभ, आध्मान (अफारा) और शूल पैदा करती है उसे अयोग कहते हैं इसमें फिर तीक्ष्ण वस्ति करना चाहिये और तीक्ष्ण विरेचन भी देवे ॥ २८ ॥

आध्मानका लक्षण और यत्न ।

सशेषान्ने तथा भुक्ते बहुदोषे च योजितः ॥ अत्याशितस्यातिबहुर्वस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥ २९ ॥ अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोथवा

पुनः ॥ तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥ ३० ॥ हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्राति दारुणम् ॥ तत्र तीक्ष्णतरो वस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम् ॥ ३१ ॥

उदरमें अन्न शेष रहने पर, भोजन करनेमें जिसके बहुत दोष बढे हों, जिसने बहुत भोजन किया हो उसके वस्तिकर्म करनेसे तथा बहुत वस्ति या कम गरम औषधी ॥ २९ ॥ ठंढी, विना लवण और चिकनाईकी तथा अधिक औषधकी वस्ति तथा जिसके विष्ठा बहुत हो ऐसे मनुष्यको वस्ति आध्मान (अफारा) करती है ॥ ३० ॥ इसमें हृदय, पसवाडा, पीठ इनमें अति दारुण शूल चलता है ऐसा होनेमें अति तीक्ष्ण वस्ति देना तथा अनुवासन भी करना हित होता है ॥ ३१ ॥

परिकर्तिका और परिस्रावके लक्षण तथा यत्न ।

अतितीक्ष्णोष्णलवणो रूक्षो वस्तिः प्रयोजितः ॥ सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥ ३२ ॥ नाभिवस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवाति देहिनः ॥ पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र स्नेहश्च मधुरैः शृतः ॥ ३३ ॥ अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते ॥ दौर्बल्यमंगसादश्च जायते तत्र देहिनः ॥ ३४ ॥ परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं संजनयेद्गुदे ॥ पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र वस्तिः क्षीरघृतस्य च ॥ ३५ ॥

अति तीक्ष्ण, अति गरम, अति लवणयुक्त रूक्ष औषधकी वस्ति उपयोग करनेसे पित्तयुक्त वायुको कुपित करती है तथा परिकर्तिका (काटनी) करती है ॥ ॥ ३२ ॥ इसमें नाभि वस्ति (मूत्राशय) और गुदामें कतरनीसी लगती है ऐसा होनेमें पिच्छल वस्ति करनी चाहिये और मधुर द्रव्योंसे सिद्ध किया हुआ स्नेह उपयोग करे ॥ ३३ ॥ अति खटाई, लवण, तीक्ष्ण औषध परिस्राव करनेवाली होती है इसमें मनुष्यको दुबलापन और अंगोंमें थकाव होता है ॥ ३४ ॥ तथा गुदासे पित्त बहने लगता है तथा गुदामें दाह होता है ऐसा होनेमें पिच्छल वस्ति हित होती है और दूध, घृतकी वस्ति हितकारक होती है ॥ ३५ ॥

प्रवाहिका और हृदयोपसरणके लक्षण तथा यत्न ।

प्रवाहिकां भवेत्तीक्ष्णो निरूहात्सानुवासनात् ॥ सदाहशूलं कृच्छ्रेण वासृक्तत्रोपवेश्यते ॥ ३६ ॥ पिच्छावस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ॥ सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥ ३७ ॥ अति-

तीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः ॥ हृदयस्योपसरणं कुरुते चांगपीडनम् ॥ ३८ ॥ दोषैस्तत्र रुजास्तास्ता मदो मूर्च्छा-गगौरवम् ॥ सर्वदोषहरं वस्तिं शोधनं तत्र दापयेत् ॥ ३९ ॥

तीक्ष्ण निरूहणके साथही अनुवासन देनेसे प्रवाहिका होजाती है इसमें दाह और शूल होता है, कृच्छ्रतासे रुधिर भी आने लगता है ॥ ३६ ॥ ऐसा होनेमें पिच्छल वस्ति करना चाहिये और दूधके संग भोजन देना तथा मधुर द्रव्योंसे सिद्ध किये घृतको उपयोग और तैलकी अनुवासन वस्ति करना योग्य है ॥ ३७ ॥ अतितीक्ष्ण निरूहण करने तथा वातयुक्तमें अनुवासन करनेसे हृदयमें उपसरण कर जाता है और अंगोंमें पीडन करता है ॥ ३८ ॥ इसमें तीनों दोषोंसे उनही उनकी व्याधियां होती हैं जैसे मद, मूर्च्छा और शरीरका भारीपन, ऐसा करनेमें सब दोषोंके हरने-वाली शोधनवस्ति करना चाहिये ॥ ३९ ॥

अंगग्रहका लक्षण और यत्न ।

रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशयितस्य च ॥ वस्तिरंगग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥ ४० ॥ तत्रांगसादः प्रस्तंभो जृंभोद्वेष्टनवेपकाः ॥ पर्वभेदश्च तत्रेष्टाः स्वेदाभ्यंजनवस्तयः ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य रूखा हो, जिसके बहुत वायु हो तथा जो अयोग्य सोकर वस्ति करावे उसके रूक्ष, मृदु तथा थोडी औषधवाली वस्ति की जावे तो वह अंगग्रह (अंगोंका अकडना) करती है ॥ ४० ॥ इसमें अंगमें थकाव और स्तंभ (अंगोंका रुकजाना), जमाही, उद्वेष्टन (हाथ, पाँव दे दे पटकना) कंप तथा संधियोंका भेदन होना ये उपाधियां होती हैं ऐसा होनेमें हितकारक स्वेद और अभ्यंग तथा पुनः वस्ति करना श्रेष्ठ है ॥ ४१ ॥

अतियोग और जीवादानके लक्षण तथा यत्न ।

अत्युष्णतीक्ष्णोतिबहुर्दत्तोतिस्वेदितस्य च ॥ अल्पदोषस्य वा वस्ति-रतियोगाय कल्पते ॥ ४२ ॥ विरेचनातियोगेन समानं तच्चिकि-त्सितम् ॥ पिच्छावस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतैः सुखावहः ॥ ४३ ॥ अतियोगात्परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत् ॥ देयस्तत्र हितश्चापि पिच्छावस्तिः सशोणितः ॥ ४४ ॥

जिस मनुष्यके अल्पदोष हो उसे अति स्वेद कराकर अति गरम तीक्ष्ण और बहुतसी औषधकी वस्ति दीजावे तो वह अतियोग करनेवाली होजाती है ॥४२॥

उसमें विरेचनके अतियोगके (लक्षण) होते हैं और उसीके समान चिकित्सा करनी चाहिये तथा पिच्छल वस्ति करना और शीतविधान सुखदायक होता है ॥ ॥ ४३ ॥ अतियोगके बढनेपर जीवादान (जीवशोणित निकलना) विरेचनकी भांति वस्तिमेंभी होता है ऐसा होनेमें रुधिरयुक्त पिच्छलवस्तिका देना श्रेष्ठ होताहै ॥ ४४ ॥

नवैता व्यापदो यास्तु निरूहं प्रत्युदाहृताः ॥ स्नेहवस्तिष्वपि हिता विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥ ४५ ॥ इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः ॥ भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवंति हि॥४६॥

ये पूर्व नौ व्यापत्तियां (उपाधियां) निरूहण वस्तिकी वर्णन की हैं इसी भांति ये ही स्नेहवस्ति (अनुवासन) में भी चतुर वैद्योंको समझ लेनी चाहिये ॥ ॥ ४५ ॥ इस प्रकारसे वस्तिकर्मकी सब उपाधियां लक्षण और चिकित्सा सहित वर्णन कीगई हैं, वैद्यको ऐसी रीतिसे काम करना चाहिये जिससे ये उपाधियां होनेही नहीं पावें ॥ ४६ ॥

वमन विरेचन और वस्तिमें दिनोंका अंतर ।

पक्षाद्विरेको वांतस्य ततश्चापि निरूहणम् ॥
सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥ ४७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

वमन करानेके १५ दिन पीछे विरेचन देना चाहिये और विरेचनके सात दिन पीछे निरूहणवस्ति करना तथा निरूहणके पीछे सद्यही अनुवासनवस्ति करना उचित है४७॥

इति पं० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ३७.

अथातोनुवासनोत्तरवस्तिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम अनुवासनवस्ति (स्नेहनवस्ति) तथा उत्तरवस्ति (शिश्नवस्ति) के विधानरूपक चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

अनुवासनका समय और मात्रा ।

विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च ॥ कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोनुवासनः ॥ १ ॥ यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः ॥ पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहवस्तिषु देहिनाम् ॥ २ ॥

(श्लो० ४७) निरूढः पुरुषः सद्य एव दिवसे एवानुवास्यः एतेन दत्तनिरूहोक्तं यथा भवति तथा भोजयित्वाद्रवान्नरेवानुवास्यः विरेचितस्य सप्तरात्रात् परतोऽनुवास्यः नार्वाक् (इति नि० स०)

विरेचनको सात दिन व्यतीत होजानेपर जब रोगीके बल आ जावे और अनुवासनके योग्य हो जावे तब योग्य पथ्य भोजन कराकर यथोचित अनुवासन वस्ति करना चाहिये ॥ १ ॥ जैसे अवस्थाके अनुसार निरूहणवस्तिमें औषधोंकी मात्रा वर्णन की हैं उससे एक चतुर्थांश कम (अर्थात् पौनी) मात्रा स्नेहवस्तिमें मनुष्योंको उपयोग करनी चाहिये ॥ २ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे वस्तिं विधापयेत् ॥ एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवांतः प्रतिपद्यते ॥३॥ स्नेहवस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः॥ स्नेहवीर्यं तथादत्ते देहं चानु विसर्पति ॥ ४ ॥

अधोवायु और विष्ठा, मूत्रको त्याग कर (पाखाने और पेशाबसे निश्चिन्त होकर) जब रोगी शुद्ध होजावे तब उसके वस्तिकर्म करना चाहिये क्योंकि इन मल, मूत्रादिके अवरोधसे स्नेह भीतर ठीक प्रवेश नहीं होसकता ॥ ३ ॥ विना (मल, मूत्रादिसे) शरीर शुद्ध किये स्नेहवस्तिका उपयोग नहीं करना क्योंकि स्नेहवस्ति स्नेहका गुण देकर देहमें फैल जाती है ॥ ४ ॥

(वक्तव्य) ' अविशुद्धशरीर ' का कई ऐसा अर्थ करते हैं कि वमन, रेचन, निरूहण आदिसे शरीर विना शुद्ध किये स्नेहवस्ति नहीं करना चाहिये ॥

वस्तियोग तैलोंका साधन ।

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलानीह यथाक्रमम् ॥
पानान्वासननस्येषु यानि हन्युर्गदान्बहून् ॥ ५ ॥

इसके अगाडी अब हम तैलोंका यथाक्रम वर्णन करते हैं जो पीने और अनुवासन करने तथा नस्य देनेमें बहुत रोगोंको नाश करें ॥ ५ ॥

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः ॥ शताह्वाकुष्ठयष्ट्याह्ववचाबिल्वहुताशनैः ॥ ६ ॥ सुपिष्टैर्द्विगुणं क्षीरं तैलं तोयचतुर्गुणम् ॥ पक्त्वा वस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम् ॥ ७ ॥ अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ॥ कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान्वातरोगांश्च नाशयेत् ॥ ८ ॥

कचूर, पुष्करमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सोया, कूठ, मुलेठी, वच, बिल्व और चित्रक ॥ ६ ॥ इन्हें पीसकर दूना दूध लेवे और चौगुना जल लेवे, जलसे चौथाई तैल डाले और पकाकर वस्तिमें उपयोग करे यह मूढवायु (प्रतिलोम-

(श्लो० ५) अन्वासनमित्यार्षः ।

वायु) को अनुलोमन करता है ॥ ७ ॥ तथा बवासीर, ग्रहणीके दोष, आनाह, विषमज्वर तथा कमर, साथल, पीठ और कोठेके वायुरोग इन्हें नष्ट करता है ॥ ८ ॥

वचापुष्करकुष्ठैलामदनामरसिंधुजैः ॥ काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥ ९ ॥ पाठाजीवकजीवंतीभार्ङ्गीचंदनकट्फलैः ॥ सरलागुरुबिल्वांबुवाजिगंधाग्निवृद्धिभिः ॥१०॥ विडंगारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकार्द्धिभिः ॥ पिष्टैस्तैलं पचेत्क्षीरं पंचमूलैरसान्वितम् ॥ ११ ॥ गुल्मानाहाग्निरवंगार्शोग्रहणीमूत्रसंगिताम् ॥ अन्वासनविधौ युक्तं शस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥ १२ ॥

वच, पुष्करमूल, कूट, इलायची, मैनफल, देवदारु, सैंधानमक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलेठी, मेदा, महामेदा, किरमाला ॥ ९ ॥ पाठा, जीवक, जीवंती, भारंगी, चंदन, कायफल, सरला (निशोथ), अगुरु, बिल्व, नेत्रवाला, असगंध, चित्रक, वृद्धि ॥ १० ॥ वायविडंग, अमलतास, वृद्धदारु, निसोथ, पीपल, ऋद्धि इन्हें पीस (कल्क बना) तैल पकावे उसमें पकतेमें दूध और बृहत्पंचमूलका क्वाथ डाल दे ॥ ११ ॥ यह तैल वस्तिमें उपयोग करनेसे गुल्म, अफारा, अग्निकी मंदता, बवासीर, ग्रहणी, मूत्ररुकना इनमें श्रेष्ठ है तथा वातरोगियोंके लिये श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

(वक्तव्य) जो औषधी किसी योगमें दो वार आवे उसे दुगुनी लेना जैसे पूर्वोक्त तैलमें कृतमाल और निशोथका दो वार पाठ है इससे इनकी द्विगुण मात्रा लेनी चाहिये ।

चित्रकातिविषापाठादंतीबिल्ववचामिषैः ॥ सरलांशुमतीरास्नानीलिनीचतुरंगुलैः ॥१३॥ चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः ॥ जीवकर्षभवर्षाभूवस्तगंधशताह्वयैः ॥ १४ ॥ रेणवश्वगंधामंजिष्ठाशटी पुष्करतस्करैः ॥ सक्षीरं विपचेत्तैलं मारुतामयनाशनम् ॥ ॥ १५ ॥ गृध्रसीखंजकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् ॥ शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां वस्तावाशुनियोजितम् ॥ १६ ॥

(श्लो० ९ । १२) नराधिपः कृतमालः, सरला त्रिवृत्, पंचमूलं बिल्वादि । अत्र तैले नामान्तरेण पुनःपठितयोश्चारग्वधसरलयोर्द्विगुणा मात्रा देया । उक्तं च-'घृते तैले च युक्ते यद्द्रव्यं तु पुनरुच्यते ॥ तज्ज्ञातव्यमिहाचार्यैर्भागतो द्विगुणं मतम् ॥१॥' (इति नि० सं०) । (श्लो० १३ । १६) आमिषः गुग्गुलुः । अंशुमती शालपर्णी, तस्करः चोरकः ।

चित्रक, अतीस, पाठा, दंती, बिल्व, वच, गुग्गुलु, निशोथ, अंशुमती (शालपर्णी), रास्ना, नीलनी, किरमाला ॥ १३ ॥ चव्य, अजमोद, काकोली, मेदा, महामेदा, देवदारु, जीवक, ऋषभक, पुनर्नवा, अजगंधा, शतावरी ॥ १४ ॥ रेणु (रेणुका या पित्तपापडा), असगंध, मंजीठ, कचूर, पुष्करमूल, तस्कर (चोरक) इन्हें (कल्ककर) दूध युक्त तेल पकावे यह तैल वायुके रोगोंको नाश करनेवाला है ॥ १५ ॥ इसको वस्तिमें उपयोग करनेसे गृध्रसीवायु, खंजवायु, कुबडापन, आढचवायु, मूत्रदोष, उदावर्त इन रोगवालोंको श्रेष्ठ है तथा मंदाग्निवालोंको भी हितकारक है ॥ १६ ॥

भूतिकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः ॥ दशमूलसहाभार्ङ्गीषड्ग्रंथासुरदारुभिः ॥ १७ ॥ बलानागबलामूर्वावाजिगंधामृताह्वयैः ॥ सहाचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥ १८ ॥ यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ॥ जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरचतुर्गुणम् ॥ १९ ॥ जंघोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरःस्थितान् ॥ हन्याद्वातविकारांस्तु वस्तियोगैर्निषेवितम् ॥ २० ॥

कायफल, अंरड, सांठी, रास्ना, अडूसा, रोहित (रोसा) दशमूल, सहा (शालपर्णी), भारंगी, पीपलीमूल, देवदारु ॥ १७ ॥ खिरेंटी, नागबला (गुलशकरी), मूर्वा, असगंध, गिलोय, कुरंट, शतावरी, सोंठ, काकनासा, विदारीकंद ॥ १८ ॥ जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलथी इनका क्वाथ करके तैल पकावे और पकतेमें जीवनीयगणका प्रतीवाप दे (डाल दे) तथा चौगुना दूधभी डाले ॥ १९ ॥ यह तैल वस्तिमें उपयोग करनेसे जंघा (पिंडली), ऊरु (साथल), त्रिकस्थान (कमर चूतडोंका जोड), पसवाड़े, अंस (खोंदे), हाथ, मन्या (गरदनके पट्टे) और शिर इतने स्थानोंके वायुरोगोंको नष्ट करता है ॥ २० ॥

जीवंत्यातिबलामेदाकाकोलीद्वयजीवकैः ॥ ऋषभातिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥ २१ ॥ रास्नामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचंदनैः ॥ स्वयंगुप्ताशटीशृंगीकलसीसारिवाह्वयैः ॥ २२ ॥ पिष्टैस्तैलं घृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु ॥ तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्द्धनम् ॥ २३ ॥

(श्लो० १७ । २०) भूतिकः कट्फलः । सहाचरः सहचरः कुरट इति । (श्लो० २१) अमरः देवदारुः । (श्लो० २२) भीरुः शतावरी, कलसी पृश्निपर्णी ।

बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् ॥ नस्ये पाने च संयुक्तमूर्द्ध्वजत्रुगदापहम् ॥ २४ ॥

जीवंती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पीपल, काकनासा, वच, देवदारु ॥ २१ ॥ रास्ना, मैनफल, मुलेठी, निसोथ, भीरु, (शतावरी), चंदनके बीज, कचूर, काकडासींगी, पृश्निपर्णी, सारिवा ॥ २२ ॥ इनको कल्ककी भांति पीसे और फिर इसमें तैल तथा घृत पकावे, पकते समय आठगुना दूध डाले फिर इसे अनुवासनवस्तिमें देवे यह वीर्य, जठराग्नि और बल बढानेवाले हैं ॥ २३ ॥ बृंहण हैं, वायु और पित्तके नाशक हैं, गुल्म, अफारा इनके परम नाशक हैं, इसे नस्यमें या पान करनेमें उपयोग करे तो ऊपरके जोतों (पट्ठों) के रोगोंको नाश करे ॥ २४ ॥

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचंदनैः ॥ श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषांबुभिः ॥ २५ ॥ तैलपादं पचेत्सर्पिः पयसाष्टगुणेन च ॥ न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं वस्तिषु योजितम् ॥ २६ ॥ दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन् ॥ पित्तरक्तज्वराद्यांश्च हन्यात्पित्तकृतान्गदान् ॥ २७ ॥

मुलेठी, खस, खँभारी, कुटकी, कमल, चंदन, प्रियंगु, पद्माख, नागरमोथा, इंद्रजौ, अतीस, नेत्रवाला ॥ २५ ॥ इन्हें पीसे और फिर इनसे घृत सिद्ध करे पकते समय घृतसे चौथाई तैल और आठ गुना दूध डाले फिर इसमें न्यग्रोधादिक गणका क्वाथ मिलाकर वस्तिकर्ममें उपयोग करे ॥ २६ ॥ यह दाह, रक्तप्रदर, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, पित्तरक्त, ज्वर (अथवा पित्तके और रक्तके ज्वर) इत्यादि पित्तके रोगोंको नष्ट करता है ॥ २७ ॥

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः ॥ चंदनद्वयभूनिंबपद्मबीजकसेरुकैः ॥ २८ ॥ पटोलकटुकारक्तागुंद्रापर्पटवासकैः ॥ पिष्टैस्तैलमिदं पक्वं तृणमूलरसेन च ॥ २९ ॥ क्षीरद्विगुणसंयुक्तं वस्तिकर्मणि योजितम् ॥ नस्येऽभ्यंजनपाने वा हन्यात्पित्तगदान्बहून् ३०॥

कमलकी नाल, कमल, कमलकंद, सारिवा और कृष्णसारिवा, नागकेसर, चंदन सुपेद और चन्दन रक्त, चिरायता, कमलगट्टे, कसेरू ॥ २८ ॥ पटोल (परवल), कुटकी, मंजीठ, प्रियंगु, पित्तपापडा, अडूसा इन्हें आर्द्र पीसकर तैल पकावे

(श्लो० २५) श्यामा प्रियंगुः ।

उसमें पकते समय तृणपंचमूलका क्काथ (तैलसे चौगुना) और तैलसे दूना दूध मिलावे इसे वस्तिकर्ममें उपयोग करे अथवा नस्यमें, मर्दनमें तथा पीनेमें भी उपयोग करे तो बहुतसे पित्तके रोगोंको नष्ट कर देवे ॥ २९ ॥ ३० ॥

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः॥ निंबारग्वधषड्ग्रंथासप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥ ३१ ॥ गुडूचीन्द्रसुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः ॥ तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥ ३२ ॥ पानाभ्यंजनगंडूषनस्यवस्तिषु योजितम् ॥ स्थूलतालस्यकंड्वादीञ्जयेत्कफकृतान्गदान् ॥ ३३ ॥

त्रिफला, अतीस, मूर्वा, निसोथ, चित्रक, अडूसा, नींब, किरमाला, पिपलीमूल, सातला, हलदी, दारुहलदी ॥ ३१ ॥ गिलोय, इंद्रसुरा (इंद्रवारुणी), पीपल, कूट, सरसों, सोंठ इन सबको समान भाग लेकर तैल पकावे और उसमें सुरसादि गणका क्काथ डाले ॥ ३२ ॥ यह तैल पीने, मलने, कुल्ले करने, नास लेने तथा वस्तिकर्म करनेमें उपयोग करनेसे स्थूलता, आलस्य, खाज आदि कफरोगोंको जीतनेवाला है ॥ ३३ ॥

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः ॥ सरलागुरुकालीयभार्ङ्गीचव्यामरद्रुमैः ॥ ३४ ॥ मरिचैलाभयाकट्वीशठीग्रंथिककट्फलैः ॥ तैलमेरंडतैलं वा पक्वमेभिः समायुतम् ॥३५॥ वल्लीकंटकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ॥ हन्यादन्वसनैर्दत्तं सर्वान्कफकृतान्गदान्॥३६॥

पाठा, अजमोद, शार्ङ्गेष्टा (महाकरंज), पिप्पली, गजपिप्पली, सोंठ, निसोथ, अगर, पीतचंदन, भारंगी, चव्य, देवदारु ॥ ३४ ॥ कालीमिरच, इलायची, हरडे, कुटकी, कचूर, पीपलामूल, कायफल इनसे तैल पकावे अथवा अरंडका तैल पकावे॥ ॥ ३५ ॥ और पकते समय वल्लीपंचमूल तथा कंटकपंचमूल इन दोनोंका क्काथ तैलसे दुगुना डाले इस तैलकी अनुवासनवस्ति करनेसे सब कफके रोग नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥

विडंगोदीच्यसिंधूत्थशटीपुष्करचित्रकैः ॥ कट्फलातिविषाभार्ङ्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥३७॥ मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः॥

(श्लो० ३२) इंद्रसुरा इंद्रवारुणी ।(श्लो० ३४) शार्ङ्गेष्टा महाकरंजः (इति निघंटुः) कालीयं पीतचंदनमिति स्वाभिनवनिघंटुः । शब्दस्तोमे तु कालीयं कालीयकं च दारुहरिद्रायां कृष्णचंदने च । केचिदत्र अगुरु कालीयं कृष्णागुरु इति मन्यते ॥ (श्लो० ३८) अत्र श्यामाशब्देन वृद्धदारुग्रहणं तस्य कफघ्नत्वात् ।

शताह्वानीलिनीरास्नाकदलीवृषरेणुभिः ॥ ३८ ॥ बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादंतीचव्यनराधिपैः ॥ तैलमेरंडतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥ ३९ ॥ प्लीहोदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् ॥ प्रमेहशर्करार्शांसि हन्यादाश्वनुवासनात् ॥ ४० ॥

वायविडंग, नेत्रवाला, सैंधानमक, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, कायफल, अतीस, भारंगी, वच, कूट, देवदारु ॥ ३७ ॥ मेदा, मैनफल, मुलेठी, श्यामा (वृद्धदारु), निचुल (जलवेतस), सोंठ, शतावर, नीलनी, रास्ना, केला, अडूसा, पित्तपापडा ॥ ॥ ३८ ॥ बिल्व, अजमोद, पीपल, दंती, चव्य, किरमाला इनसे तिलोंका तैल अथवा अरंडका तैल पकावे और पकते समय मुष्काकादिगणका क्वाथ डाले ॥ ३९ ॥ इस तैलकी अनुवासनवस्ति करनेसे प्लीहावृद्धि (तिल्ली), उदावर्त, वातरक्त, गुल्म, अफारा, कफके रोग, प्रमेह, शर्करा (मूत्रमें रेत आना) और बवासीर इतने रोग नष्ट होते हैं ॥ ४० ॥

वस्तिकर्ममें शिक्षायोग्य बातें ।

अशुद्धमपि वातेन केवलेनाति पीडितम् ॥ अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानुवासयेत् ॥ ४१ ॥ रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनम् ॥ दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ॥ ४२ ॥ अस्निग्धमपि वातेन केवलेनाति पीडितम् ॥ स्नेहप्रगाढैर्मतिमान्निरूहैः समुपाचरेत् ॥ ४३ ॥ अथ सम्यङ्निरूढं तु वातादिष्वनुवासयेत् ॥ बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रमम् ॥ ४४ ॥

जो मनुष्य केवल वायुसे अत्यंत पीडित हो उसे वमन और रेचनादिसे विना शुद्ध हुए भी अनुवासनवस्ति करना योग्य है तथा दिनरातके सब समयमें अनुवासन कराना ठीक है (इस मौकेपर समयकाभी नियम नहीं है) ॥४१॥ जो मनुष्य रूक्ष हो और बहुत वायुवाला हो उसे बुद्धिमान् दो तीन अनुवासनवस्ति देवे और जब जाने कि शरीर स्निग्ध होगया तब पीछे निरूहण करे ॥ ४२ ॥ तथा जो केवल वायुसे अत्यंत पीडित हो वह स्निग्ध न भी हो (कम स्निग्ध भी हो) तो भी उसे स्नेहसे मिली हुई निरूहणवस्ति देवे ॥ ४३ ॥ और जब ठीक निरूहण होजावे तब वात आदि दोषोंमें यथाक्रम बिल्वके तैलसे, मुलेठीके तैलसे और मैनफलके तैलसे अनु-

(श्लो० ३९) नराधिपः राजवृक्षः आरग्वध इति ।

(श्लो० ४१) वातेनार्तिपीडितम् अहोरात्रस्य सर्वेषु कालेषु अनुवासयेत् नात्र कालनियमः ।

वासन करे (अर्थात् वायुमें बिल्वतैलसे, पित्तमें मुलेठीके तैलसे, कफमें मैनफलके तैलसे अनुवासन करे) ॥ ४४ ॥

रात्रिमें वस्तिका निषेध।

रात्रौ वस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः ॥ स्नेहो वीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥ ४५ ॥ अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ वान्नरसान्विते ॥ स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति ॥ ४६ ॥

रात्रिको वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये क्योंकि रात्रिमें दोषोंका उत्क्लेश होता है रातको स्नेह पराक्रमी होकर आध्मान, भारीपन और ज्वर कर देता है ॥ ४५ ॥ दिनमें दोष सब अपने २ स्थानमें स्थित रहते हैं और अग्नि अन्नरससे युक्त होती-है तथा स्रोतों (द्वारों) के मुख स्फुट (खुले) होते हैं इससे स्नेहका बल सर्वत्र गमन करके (गुणदायक होता है) ॥ ४६ ॥

रात्रिमें भी वस्तिकी आज्ञा।

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते ॥ नरे रात्रौ च दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम् ॥ ४७ ॥ उष्णे पित्ताधिके वापि दिवा दाहादयो गदाः ॥ संभवंति यतस्तस्मात्प्रदोषे योजयेद्भिषक् ॥४८॥

जिसके पित्त अधिक हो, कफ क्षीण हो, रूक्ष मनुष्य हो, वायुके रोगसे पीडित हो ऐसे मनुष्यको रात्रिमें वस्ति करना उचित है और उष्णकाल (गरमीकी ऋतु) में रातको (पहले पहरमें) वस्ति करना योग्य है ॥ ४७ ॥ उष्णकालमें और अधिक पित्तवालेको दिनमें (वस्तिसे) दाह आदिक रोग होते हैं इस वास्ते इन अवस्थाओंमें प्रदोष (संध्यासमय) में वस्ति करना चाहिये ॥ ४८ ॥

दिन और रात्रिमें वस्तिका नियम।

शीते वसंते च दिवा ग्रीष्मे प्रावृड्घनात्यये ॥ स्नेहो दिनांते पानोक्तान्दोषान्परिजिहीर्षता ॥ ४९ ॥ अहोरात्रेषु कालेषु सर्वेष्वेवानिलाधिकम् ॥ तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वानुवासयेत् ॥ ५० ॥

स्नेहपानके विषयमें पहले ऋतुओंके अनुसार दिन रात्रिमें स्नेहपानका विधान

(श्लो० ४५) दोषोत्क्लेश इति–कालशैत्यान्मुखसंवृतत्वेन दोषधातुमलेषु विक्लेदनलक्षण उत्क्लेशो भवति। (श्लो० ४६) स्नेहौजः स्नेहस्य वीर्यं शरीरं परिसर्पति।

(श्लो० ४७) रात्रिशब्दोत्र प्रथमप्रहरवाचकः प्रदोषे योजयेदिति वक्ष्यमाणवचनात् (इति डल्हनः)

(श्लो० ४९) स्नेहपानोक्तान् दोषान् परिजिहीर्षता त्यक्तुमिच्छता वैद्येन शीते वसंते दिवा तथा ग्रीष्मे प्रावृड्घनात्यये दिनांते स्नेहो स्नेहवस्तिर्देय इत्यन्वयः।

और अन्यथाके दोष कह आये हैं वेही दोष वस्ति (स्नेहवस्ति) मेंभी जानने चाहियें अस्तु, जो मनुष्य उन दोषोंको दूर रखना चाहे वह शीतकालमें और वसंतमें दिनके समय (स्नेहवस्ति) करे तथा ग्रीष्म, प्रावृट् और शरद् ऋतुमें संध्यासमयमें (स्नेहवस्ति) करे ॥ ४९ ॥ जिनको वायुकी अधिक तीव्र वेदना हो उनको दिन रातके सभी समयमें जीर्णान्न भोजन कराके वस्तिकर्म करना चाहिये ॥ ५० ॥

भोजनका नियम ।

न वाऽभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथंचन ॥ शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्द्ध्वमथोत्पतेत् ॥ ५१ ॥ सदानुवासयेच्चापि भोजयित्वार्द्रपाणिनम् ॥ ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्य्यात्स्नेहः प्रयोजितः ॥५२॥ न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत् ॥ मदं मूर्च्छां च जनयेद्द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥ ५३ ॥

विना भोजन कराये कदाचित् (स्नेहवस्ति) करना योग्य नहीं क्योंकि खाली कोठा शुद्ध होनेसे स्नेह ऊपरको गमन कर जाता है ॥ ५१ ॥ सदा अनुवासनवस्ति भोजन कराकर, हाथ गीले कराके (धुलाके) करनी चाहिये (और विदग्ध भोजन भी नहीं करना चाहिये क्योंकि) विदग्ध भोजन किये हुएको स्नेहवस्ति करनेसे ज्वर होता है ॥ ५२ ॥ अतिस्निग्ध भोजन कराकर भी अनुवासन (स्नेहवस्ति) करना योग्य नहीं क्योंकि दोनों तरफ (भोजनमें और वस्तिमें अर्थात् मुखकी तरफसे ,और गुदाकी तरफसे) स्नेहका प्रयोग करना मद और मूर्च्छा उत्पन्न करता है ॥ ५३ ॥

रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत् ॥ युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वानुवासयेत् ॥ ५४ ॥ यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधिमवेक्ष्य वा ॥ यथोचितात्पादहीनं भोजयित्वानुवासयेत् ॥ ५५ ॥

(रूखा अन्न भी नहीं खाना क्योंकि) रूखा भोजन करके वास्तिकर्मसे बल और रूपका नाश होता है इस लिये मनुष्यको कम चिकना भोजन कराकर अनुवासन वस्ति करना चाहिये ॥ ५४ ॥ यूष, दूध या मांसरस अथवा रोगको देखकर उसके अनुकूल भोजन करावे और भोजनभी भूखसे पौना कराके अनुवासन करे ॥ ५५ ॥

(श्लो० ५१) अत्र वा शब्दो अवधारणेर्थे वर्त्तते नतु विकल्पार्थे ।(श्लो०५४) युक्तस्नेहमल्पस्नेहम् ।(श्लो० ५५) यूषोत्र मुद्गयूषः क्षीरं गव्यं रसो मांसरसः तैर्यथासंख्यं कफपित्तानिलप्रत्यनीकैः (इति डल्हनः)

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः ॥ भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचंक्रमणं ततः ॥ ५६ ॥ विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत्स्नेहबस्तिना ॥ प्रणिधानविधानं तु निरूहे च प्रवक्ष्यते ॥ ५७ ॥ ततः प्रणिहिते स्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत् ॥ प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति ॥५८ ॥ ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन्वारान्शनैःशनैः ॥ स्फिजोश्चैनं ततः शय्यांत्रीन्वारानुत्क्षिपेत्ततः ॥ ५९ ॥ एवं प्रणिहिते बस्तौ मंदायासोथ मंदवाक् ॥ स्वास्तीर्णे शयने कामंमासीताचारिके रतः ॥ ६० ॥

अनुवासन करने योग्य मनुष्यको ठीक स्नेहाभ्यंग कराकर गरम जलसे धीरे धीरे स्वेदित करके शास्त्रोक्त (यूषादिक) भोजन कराके फिर धीरे धीरे टहलावे ॥ ५६ ॥ (यदि दस्त, पेशाबकी हाजत हो तो) दस्त, पेशाबसे निवृत्त होकर स्नेहवस्ति करना चाहिये इसके प्रवेश करने आदिकी विधि निरूहणवस्तिके प्रकरणमें कही जावेगी ॥ ५७ ॥ जब वस्तिद्वारा स्नेह भीतर प्रवेश करचुके तब जितने समयमें सौ गिने उतने समयतक अंगोंको पसारकर लेटे जिससे वस्तिके स्नेहका प्रभाव सब शरीरमें पहुँच जावे ॥ ५८ ॥ फिर वैद्यको चाहिये कि रोगीके तलवोंको तीन तीन बार थपेडे और चूतडों पर भी तीन तीन थपेडे धीरे धीरे लगावे तथा तीन वार शय्यासे उठे और लेटे ॥ ५९ ॥ इस प्रकार वस्तिकर्मकी क्रिया होचुके तब विना श्रम किये चुपचाप अच्छे बिछौने पर बैठ जावे और उचित आचार विचारका आचरण करे ॥ ६० ॥

स तु सैंधवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः ॥
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥ ६१ ॥

वस्ति देते समय विचार रक्खे उसमें सैंधानमक और सौंफ बारीक पीसकर मिला दे और कुछ गरम गरम औषध उपयोग करे जिससे सहजमें सुखपूर्वक उलटी निकल आवे ॥ ६१ ॥

यस्यानुवासने दत्तः सकृदन्वक्षमाव्रजेत् ॥ अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः ॥ ६२ ॥ सवातोधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा स भेषजः ॥ तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति ॥ ६३ ॥

जो अनुवासन द्रव्य अति गरम होनेसे, अतितीक्ष्ण होनेसे या वायुके धक्केलेसे ॥ ॥ ६२ ॥ या वायुसे मिलकर या अधिक मात्रा होनेसे या भारीपनसे शीघ्रही सब उलटा निकल पडे तो उसके थोडी मात्राकी दूसरी वस्ति देनी चाहिये क्योंकि विना कुछ देर ठहरे द्रव्य स्निग्धता नहीं कर सकता ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

न्यूनाधिक स्नेहवस्तिके दोष ।

विष्टब्धानिलविण्मूत्रं स्नेहहीनोनुवासनः ॥
दाहक्लमप्रवाहार्तिकरश्चात्यनुवासनः ॥ ६४ ॥

यदि अनुवासन स्नेहसे हीन हो (थोडा स्नेह हो) तो अधोवायु और मल, मूत्रमें रुकाव कर देता है और जो अत्यंत अनुवासन हो तो दाह, क्लम और प्रवाहिका करता है ॥ ६४ ॥

सम्यगनुवासितके लक्षण ।

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ॥
ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ॥ ६५ ॥

वायुसहित और विष्ठायुक्त जिसके अनुवासनकी स्निग्ध औषध थोडी देर ठहर कर उलटी निकल आवे और दाह, पीडा आदि कुछ उपद्रव नहीं करे तो ठीक अनुवासन होगया जानना ॥ ६५ ॥

वस्तिकर्मके उत्तर क्रिया ।

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः । लघ्वन्नं भोजयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥६६॥ प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यं नागरसाधितम् ॥ तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्तकांक्षा च जायते ॥ ६७ ॥ स्नेहवस्तिक्रमेष्वेवं विधिमाहुर्मनीषिणः ॥ अनेन विधिना षड्वा सप्त वाष्टौ नवैव वा ॥ विधेया वस्तयस्तेषामंतरा तु निरूहणम् ॥६८॥

जब वस्तिका स्नेह पीछे उलटकर निकल चुके तब संध्याके समय पुराने अन्नका बना हुआ हलका भोजन यदि जठराग्नि दीप्त हो तो इच्छापूर्वक खिलावे ॥ ६८ ॥

(श्लो० ६८) अतरा निरूहणं दद्याद्दोषसंचयसाधनाय तथाह चरकः-"त्रीन्पञ्चवारांश्चतुरोथ षड्वा वातादिकेभ्यस्त्वनुवासनीयान् ॥ स्नेहान्प्रदायाशु भिषग्विदध्यात्स्रोतोऽविशुद्ध्यर्थमतो निरूहम् ॥ १ ॥" इति । 'अतरा तु निरूहणम्' इत्यत्र अंते चैव निरूहणम् इति पाठान्तरं भावमिश्रेण कृतं तन्मतेन अंते निरूहणं कुर्यादिति सिद्धांतः । अत्र वृद्धवाग्भट इत्याह-"एवं कफे स्नेहवस्तिमेकं त्रीन्वा प्रयोजयेत् ॥ पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वानिले ॥ पुनस्ततोप्ययुग्मास्तु पुनरास्थापनं ततः ॥ १ ॥"

फिर प्रभातमें धनियाँ और सोंठसे साधन किया हुआ गरम जल पिलावे जिससे उस मनुष्यकी जठराग्नि दीप्त होती है और भोजनपर रुचि होती है ॥ ६७ ॥ बुद्धिमानोंने जो स्नेहवस्तिका क्रम कहा यही क्रम सर्वत्र जानना इसी विधिसे छः अथवा सात या आठ या नौ स्नेहवस्ति करना और बीचमें (यदि मलादिका संचय हो) निरूहण करके साफ करते रहना चाहिये ॥ ६८ ॥

दत्तस्तु प्रथमो वस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवंक्षणौ ॥ सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्द्धस्थमनिलं जयेत् ॥६९॥ जनयेद्बलवर्णौच तृतीयस्तु प्रयोजितः ॥ रसं चतुर्थो रक्तं तु पंचमः स्नेहयेत्तथा ॥ ७० ॥ षष्ठस्तु स्नेहयेन्मांसं मेदः सप्तम एव च ॥ अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम् ॥ ७१ ॥ एवं शुक्रगतान्दोषान्द्विगुणः साधु साधयेत् ॥ अष्टादशाष्टदशकान्वस्तीनां यो निषेवते ॥७२॥ यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण तु ॥ स कुंजरबलोऽश्वस्य जवे तुल्योमरप्रभः ॥ ७३ ॥ वीतपाप्मा श्रुतिधरः सहस्रायुर्नरो भवेत् ॥ ७४ ॥

प्रथमकी एक वस्ति उपयोग करनेसे वस्तिस्थान और वंक्षण (नलों)को स्निग्ध करती है और यथोक्त दूसरी वस्ति ऊपर (मूर्द्धा) के वायुको (वायुरोगको) जीतती है ॥ ६९ ॥ तीसरी वस्ति बल और सुन्दर रूप उत्पन्न करती है । चौथी स्नेहवस्ति रसमें चिक्कणता करती है और पांचवीं रुधिरमें चिक्कणता करती है ॥ ॥ ७० ॥ छठी मांसको स्निग्ध कर देती है और सातवीं मेदको स्निग्ध करती है। आठवीं और नवीं वस्ति अस्थि और मज्जाको क्रमसे स्निग्ध करती है ॥ ७१ ॥ तथा इनसे दूनी १८ वस्ति शुक्रगत सब दोषोंको दूर कर देती हैं जो इस प्रकार रीतिपूर्वक अठारह अठारह वस्तियोंको सेवन करता है और यथोचित विधि और पथ्यादि सहित उपयोग करता है वह हाथीके समान बलवान् तथा घोडेके समान वेगवाला हो जाता है और देवताओं जैसी कांतिवाला हो जाता है ॥ ७२॥७३॥ और सब प्रकारके पापों (दोषों)से छूटकर वेदका धारण करनेवाला अथवा श्रुतवातको विस्मरण नहीं करनेवाला ऐसा होकर हजार वर्षकी आयुवाला हो जाता है ॥ ७४ ॥

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवाति शीलयेत् ॥ स्नेहादग्निवधोत्क्लेशो निरूहात्पवनाद्भयम् ॥ ७५ ॥ तस्मान्निरूढोनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः ॥ न च पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥७६॥

स्नेहवस्ति, निरूहणवस्ति एक अकेली कभी नहीं देनी चाहिये, अकेली स्नेहवस्तिसे जठराग्निका नाश और उत्क्लेश होता है तथा अकेली निरूहणसे वायु (के कोप) का भय होता है ॥ ७५ ॥ इससे निरूहण करे तो पीछे अनुवासनवस्ति अवश्य करनी चाहिये तथा अनुवासन पहले करे तो पीछे अवश्य निरूहण करनी उचित है ऐसा करनेसे न तो पित्त और कफका उत्क्लेश होता है और न वायुका भय७६

वस्तिके अंतरका समय।

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने ॥ दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्त्र्यहात् ॥७७॥ स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां सर्वकालमनत्ययः ॥ तथा निरूहः स्निग्धानां स्वल्पमात्रः प्रशस्यते॥७८॥

रूक्ष और अधिक वायुवाले मनुष्यको नित्य प्रतिदिन स्नेहवस्ति देनी चाहिये और अन्य मनुष्योंको जठराग्निकी बाधाके भयसे तीन तीन दिनके अन्तरसे अनुवासन वस्ति देनी चाहिये ॥७७॥ रूक्ष मनुष्योंको थोडी मात्राकी स्नेहवस्ति सर्वदा हानिकारक नहीं (किंतु गुणकारक ही होती है) इसी भांति स्निग्ध मनुष्योंको थोडी मात्रावाली निरूहणवस्ति भी सदा हित है (चाहे जब करे) ॥७८॥

स्नेहवस्तिकी व्यापद्।

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेहवस्तिजाः ॥ बलवंतो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः ॥ ७९ ॥ अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान् ॥ कुर्वन्त्युपद्रवान्स्नेहः स चापि न निवर्तते ॥ ८० ॥

इसके अगाडी अब हम स्नेहवस्तिसे होनेवाली व्यापदों (उपाधियों) का वर्णन करते हैं। यदि कोठेमें वातादि दोष बलवान् हों और थोडे पराक्रमवाले स्नेहकी वस्ति दी जावे तो वे दोष स्नेहसे मिलकर नाना प्रकारके उपद्रव करते हैं और वह स्नेह भी पीछे पलटकर नहीं निकलता ॥ ७९ ॥ ८० ॥

वातादिदोषोंसे अभिभूत स्नेहके उपद्रव।

तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता ॥ जृंभा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः ॥ ८१ ॥ पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत् ॥ दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्रांगपीतता ॥ ८२ ॥ श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता॥ गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः

(श्लो० ७८) अनत्ययः निर्दोषः। (श्लो० ८०) अभिभूय पराजित' कृत्वा, तिरस्कृत्य स्वाधीनं कृत्वा मिलित्वा वा।

कृच्छ्रः शीतज्वरोरुचिः ॥८३॥ तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे वस्तिं नि-धापयेत् ॥ यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च ॥ ८४ ॥

यदि वायुसे पराजित स्नेह होवे (अर्थात् वायुके आधीन) स्नेह होजावे तो मुखमें कषायता, जृंभा तथा अन्य वायुके रोग कंप और विषमज्वर होते हैं ॥८१॥ पित्तसे पराजित स्नेह होनेमें मुखमें कटुकता होती है तथा दाह, तृष्णा, ज्वर, पसीना अधिक आना तथा नेत्रोंमें, मूत्रमें और देहमें पीलापन होजाता है ॥ ८२ ॥ यदि कफसे पराजित स्नेह होवे तो मुखसे लार बहना, मुख मीठा रहना, भारीपन, छर्दि, उच्छ्वास कष्ट और शीतज्वर ये लक्षण होते हैं ॥८३॥ जिस जिस दोषसे अभिभूत (पराजित या आधीन होकर या मिलकर) स्नेह जो व्याधि करे उसीके अनुसार वस्ति करना तथा उसी दोषकी शांतिके अन्य उपायभी करने चाहिये ॥ ८४ ॥

अन्नाभिभूत स्नेहके उपद्रव ।

अत्याशितेऽन्नाऽभिभवात्स्नेहो नैति यदा तदा ॥ गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिमंचरः ॥ ८५ ॥ हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोरुचिः ॥ तत्रापतर्पणस्यांते दीपनो विधिरिष्यते ॥ ८६ ॥

बहुत भोजन करलेनेपर स्नेह अन्नसे पराजित होता है और ठीक जगह नहीं पहुँचता तब आमाशय भारी होजाता है और शूल होता है तथा ठीक वायुका संचारभी नहीं होता ॥ ८५ ॥ हृदयमें पीडा, मुखकी विरसता, श्वास, मूर्च्छा, भ्रम और अरुचि ये उपद्रव होते हैं ऐसा होनेमें अपतर्पण करना (तृप्ति न करना अर्थात् लंघन करना) चाहिये और उसके पीछे दीपनविधि करना ॥ ८६ ॥

अशुद्धके मलमिश्रित स्नेहके उपद्रव ।

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ॥ तदांगसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते ॥ ८७ ॥ पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्या-न्निरूहणम् ॥ अतितीक्ष्णौषधैरेवं सिद्धं चाप्यनुवासनम् ॥ ८८ ॥

जिसका पक्वाशय शुद्ध न हो उसके स्नेह मलसे मिलकर ठीक स्थानपर नहीं पहुँचे तो उस मनुष्यके अंगोंमें थकाव, अफारा, श्वास तथा शूल ये उपद्रव होते हैं ॥८७॥ और पक्वाशयमें भारीपन होता है ऐसा होनेमें रोगीको निरूहणवस्ति करना चाहिये अथवा अतितीक्ष्ण औषधोंसे सिद्ध अनुवासन ही फिर करना चाहिये ॥८८॥

दूरानुसृत स्नेहके दोष ।

शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् ॥ गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणा-

र्गुर्पलेपोवसादनम् ॥ ८९ ॥ स्नेहगंधिर्मुखं तत्र कासश्वासावरोचकः ॥ अतिपीडितवत्तत्र विधिरास्थापनं तथा ॥ ९० ॥

शुद्ध कोष्ठवाले मनुष्यके यदि स्नेह दूर (ज्यादे भीतरको) पहुँच जावे तो शरीरमें स्नेह चमकने लगता है और सब इंद्रियोंमें उपलेप (ल्हेस)सा मालूम होता है तथा थकावसी होती है ॥ ८९ ॥ मुखकी तरफसे स्नेह (चिकनाई) की बास आने लगती है और इसमें खांसी, श्वास, अरुचिभी होजाती है ऐसा होनेमें अतिपीडित व्यापदके अनुसार विधि करना चाहिये और निरूहणवस्ति करना ॥ ९० ॥

प्रवाहण ।

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः संप्रयोजितः ॥ शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मंदं प्रवाहयेत् ॥९१॥ विबंधगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति ॥ तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्य सानुवासनम् ॥ ९२ ॥

विना स्वेद कराये अशुद्ध देहवाले मनुष्यके थोडा या ठंढा या हलका स्नेह वस्तिमें उपयोग किया जावे तो वह ठीक गमन नहीं करता और मंद प्रवाह (बहाव) उत्पन्न करता है ॥ ९१ ॥ और विबंध, भारीपन तथा पक्वाशयमें अफारा और शूल करता है ऐसा होनेमें शीघ्रही अनुवासनके संग आस्थापन वस्तिका उपयोग करना चाहिये ॥ ९२ ॥

मंदानुसरण ।

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मंदगुणस्तथा ॥ दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं वाऽरतिमावहेत् ॥ ९३ ॥ तत्र वाऽऽस्थापनं कार्यं शोधनीयेन वस्तिना ॥ अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते ॥९४॥

थोडा भोजन किये हुए मनुष्यके थोडा स्नेह तथा मंद गुणवाला स्नेह वस्तिमें उपयुक्त किया जावे तो वह ठीक जगह नहीं पहुँचता या उलटा नहीं निकलता और ग्लानि तथा उत्क्लेश और दारुण अरति (बेचैनी) करता है ॥ ९३ ॥ इसमें शोधनी आस्थापनवस्ति करना अथवा शोधनीय स्नेहोंसे पुनः अनुवासनवस्ति करना चाहिये ॥ ९४ ॥

स्नेहका उलट न आना ।

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छेन्न दूष्यति ॥ कुर्याद्वस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत् ॥९५॥ यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहवस्तिर-

निःसृतः ॥ सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥९६॥
अनायातं त्वहोरात्रात्स्नेहं संशोधनैर्जयेत् ॥ स्नेहवस्तावनायाते
नान्यः स्नेहो विधीयते ॥९७॥ इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षण-
चिकित्सिताः ॥ वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ॥९८॥

यदि एक दिन रात (२४ घंटे) में भी जो वस्तिका दिया स्नेह उलटा निकले तो भी कुछ दोष नहीं किंतु वस्तिके गुणही करता है परंतु यह यदि पच जावे तो अल्प गुण करता है (कुछ ठीक गुण नहीं करता ॥ ९५ ॥ और वस्तिका दिया हुआ स्नेह सबका सब या कुछ थोडा रूक्षताके कारण नहीं निकले और कुछ उपद्रव भी नहीं करे तो समझदार वैद्यको उसे छोड देना (रहने देना) चाहिये ॥ ॥ ९६ ॥ (पर ठीक तो यही है कि) जो एक दिन रातमें स्नेहवस्तिका स्नेह नहीं निकले तो उसे शोधन द्रव्योंसे निकालही डाले जो वस्तिका स्नेह नहीं निकले तो फिर और स्नेहवस्ति कदाचित् नहीं देना ॥ ९७ ॥ इस प्रकारसे वस्तिकी (स्नेह वस्तिकी) सब व्यापत (उपाधियां) लक्षण और चिकित्सा सहित वर्णन की गई इससे अगाडी हम उत्तरवस्ति (शिश्नवस्ति) की विधि वर्णन करते हैं ॥ ९८ ॥

उत्तरवस्तिमें नेत्र और मात्राका प्रमाण ।

चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुलसंमितम् ॥ मालतीपुष्पवृंताग्रं छिद्रं
सर्षपनिर्गमम् ॥९९॥ मेढ्रायामसमं केचिदिच्छंति खलु तद्विदः॥
स्नेहप्रमाणं परमं कुंचश्चात्र प्रकीर्तितः ॥ १०० ॥ पंचविंशादधो
मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम् ॥ निविष्टकर्णिकं मध्ये नारीणां
चतुरंगुले ॥ १०१ ॥ मूत्रस्रोतःपरीणाहं मुद्गवाहि दशांगुलम् ॥
तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरंगुलम् ॥ १०२ ॥ द्व्यंगुलं मूत्र-
मार्गे तु कन्यानां त्वेकमंगुलम् ॥ विधेयं चांगुलं तासां विधिवद्व-
क्ष्यते यथा ॥ १०३ ॥ स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसंमितम् ॥
देयं प्रमाणं परममर्वाग्बुद्धिविकल्पितम् ॥ १०४ ॥

उत्तरवस्ति (मेढ्रवस्ति यह पुरुषोंके मेढ्रमार्गमें तथा स्त्रियोंके गर्भाशय और मूत्रमार्गमें दी जाती है) इसमें पुरुषोंकी उत्तरवस्तिकी नेत्र (नली) १४ अंगुल लंबी रोगीकी अंगुलोंसे चाहिये और मालतीके पुष्पकी डंडी जैसी पतली चाहिये

(श्लो० ९९ से १०४) उत्तरवस्तौ भावमिश्र आह–'निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञकः ।'

और जिसमें सरसोंका दाना आसके उतना चौडा छिद्र चाहिये ॥ ९९ ॥ कोई वस्तिके ज्ञाता ऐसा कहते हैं कि नली रोगीके मेढ़ जितनी लंबी चाहिये और स्नेहकी मात्राका प्रमाण १ कुंच (पलभर) चाहिये ॥ १०० ॥ पच्चीस वर्ष-वालेको १पल मात्रा है और पच्चीस वर्षसे कम अवस्थावालेको बुद्धिसे कल्पना कर ले (प्रति वर्ष पलका पच्चीसवां भाग कम कर ले) स्त्रियोंकी उत्तरवस्तिकी नलीमें चार अंगुल परिकार्णिका (किनारा) चाहिये ॥ १०१ ॥ और नली मूत्रद्वार जितनी मोटी जिसमेंसे मूँग आजावे ऐसी दश अंगुल लंबी चाहिये इसे गर्भाशयमें चार अंगुल प्रवेश करना चाहिये ॥ १०२ ॥ और मूत्रमार्गमें प्रवेश करनी हो तो दो अंगुल प्रवेश करे तथा कन्याओंके १ अंगुल ही प्रवेश करे और उन्हींके अंगु-लोंसे नापे ऐसी विधि है ॥ १०३ ॥ और स्नेहकी मात्रा १ प्रसृति अपनी अंगु-लियोंके मूलसे लेनी यह परम प्रमाण है इसके सिवाय कमती बढती बुद्धिसे वैद्य कल्पना कर लेवे (प्रसृति तथा प्रसृत २ पलको कहते हैं पर यहां अंगुलियोंकी जडसे हथेली भर प्रसृत समझना यह स्त्रियोंके गर्भाशयके लिये मात्र है (यह उत्तर-वस्ति निरूहके उत्तर अर्थात् पीछे उपयोग की जाती है इसीकारण इसे उत्तरवस्ति कहते हैं, देखो टिप्पणी) ॥ १०४ ॥

उत्तरवस्तिके योग्य वस्ति ।

औरभ्रः शौकरो वापि वस्तिराजश्च पूजितः ॥ तदलाभे प्रयु-ञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम् ॥ अस्यालाभे दृतेः पादो मृदुचर्म ततोपि वा ॥ १०५ ॥

उत्तरवस्तिके लिये वस्ति मेंढेकी या शूकर या बकरेकी चाहिये इनके न मिलनेपर पक्षि-योंके गलेका चर्म लेना, यह भी न हो तो मशकके पांवकी बनानी या इससे भी जो कोमल चर्म हो, उसकी बनवानी (इस समयमें रबरकी बनवा लेना बहुत ठीक है)१०५॥

उत्तरवस्तिकर्मकी विधि ।

अथातुरमुपस्निग्धं सुस्विन्नं प्रथिताशयम् ॥ यवागूं सघृतक्षीरां पीतवंतं यथाबलम् ॥ १०६ ॥ निषण्णमाजानुसमे पीठे स्थाना-श्रये समे ॥ स्वभ्यक्तवस्तिमूर्द्धानं तैलेनोष्णेन मानवम् ॥१०७॥ ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम् ॥ पूर्वं शलाकया-न्विष्य ततो नेत्रमनंतरम् ॥ १०८ ॥ शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विद-

(श्लो० १०८) अस्य प्रहर्षित नालं पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य इति–अस्य स्फुट नेत्रप्रणिधानमार्गं पूर्वं शलाकया अन्वेषणं कृत्वा इत्यर्थः ।

दद्यादंगुलानि षट् ॥ ततोवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ॥ १०९॥ ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः ॥ भोजयेत्पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा ॥ ११० ॥ अनेन विधिना दद्याद्वस्तीं-स्त्रींश्चतुरोपि वा ॥ १११ ॥

रोगीको स्नेहन और स्वेदन कराके जब आशय स्फुट होजावे तब दूध और घृतसे युक्त यवागू बलके अनुसार पिलाकर ॥ १०६ ॥ जानुके समान ऊँचे स्थानपर जिसके पीछेको सहारा हो उसपर (समानभावसे दोनों घुटने पसारकर) स्थित होवे मनुष्यके वस्तिके शिरको (नाभिसे नीचे) गरम तेलसे अभ्यंग करे (खूब चुपड दे) ॥ १०७ ॥ फिर समानभावसे विठाकर उसके छिद्रको सलाई डालकर देखले फिर वस्तिकी नलीको घृतसे चुपडकर धीरे धीरे छह अंगुलके अनुमान मेढ्रमें प्रवेशकरे फिर वस्तिको दबावे (जिससे स्नेहादि द्रव्य भीतर पहुँचे) फिर धीरे धीरे नलीको मेढ्रसे बाहर निकालले ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ और जब स्नेह पीछे उलटा निकल आवे तब अपराह्णमें (तीसरे पहर) दूध या मुद्गयूष अथवा मांस-रसके संग (हलका) भोजन करावे ॥ ११० ॥ इस विधिके अनुसार तीन या चार वस्ति (उत्तरवस्ति) उपयोग करे ॥ १११ ॥

स्त्रियोंके उत्तरवस्ति देनेकी विधि ।

ऊर्द्ध्वजान्वै स्त्रियै दद्यादुत्तानायै विचक्षणः ॥ कल्पेतरस्यै कन्यायै दद्यात्सुमृदुपीडितः ॥ ११२॥ त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद्योनिमुखं प्रति ॥ गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु ॥ ११३ ॥

यदि स्त्रियोंका उत्तरवस्ति देनी हो तो स्त्रीके दोनों घुटने ऊँचेकरके, दोनों पावँ ऊंचे उठाये हुए, सीधी लेटीहुईके उत्तरवस्ति चतुर वैद्य देवे और जो तरुण न हुई ऐसी कन्याके उत्तरवस्ति देनी हो तो बहुत कोमल वस्ति देवे, वस्तिका दबावभी कोमल ही रक्खे ॥ ११२ ॥ और तीन किनारेवाले ही नेत्रसे योनिके मुखमें उत्तर-वस्ति करे और गर्भाशयकी शुद्धिके लिये दुगुने स्नेहकी मात्रासे वस्तिकर्म करे॥ ११३॥

उत्तरवस्तिका स्नेह उलटा न आवे तो क्रिया ।

अप्रत्यागच्छति भिषग्वस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥ भूयो वस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गणैः ॥ ११४ ॥ गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्य-

---

(श्लो० ११२) कल्पेतरस्यै इति–रजोभूता युवतिःकल्या तदितरस्यै कन्यायै ।

संभृताम् ॥ प्रवेशयेद्वा मतिमान्वस्तिद्वारमथैषणीम् ॥ पीडयेद्वा-प्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ॥ ११५ ॥

यदि उत्तरवस्तिका स्नेहद्रव्यादि उलटा नहीं निकले तो फिर वैद्य शोधन द्रव्योंसे युक्त दूसरी वस्ति देवे ॥ ११४ ॥ अथवा शोधन द्रव्योंसे सानी हुई बत्ती (कपडेकी मोटी बत्ती) गुदामें प्रवेश करे अथवा वस्ति (मूत्रमार्ग) के द्वारपर बुद्धिमान् वैद्य शलाका प्रवेश करे अथवा नाभिके नीचे बलपूर्वक उत्तरमुष्टिसे पीडन करे ॥ ११५ ॥

वर्तिविधान ।

आरग्वधस्य पत्रेषु निर्गुंड्याः स्वरसेषु च ॥ कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैंधवाः ॥११६॥ मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ॥ वस्तेरागमनार्थाय तां निदध्याच्छलाकया ॥ ११७ ॥

किरमालेके पत्ते और निर्गुंडी (सँभालू) का रस इन्हें गोमूत्रसे पीसकर सैंधानमक मिलाकर बत्तियां (जरा जरासी) बनावे ॥ ११६ ॥ अवस्थाको विचार कर मूँग, इलायचीके बीज और सरसों जैसी बनावे उत्तरवस्तिके उलटा आनेकेलिये इन्हें शलाकासे (वस्तिके द्वारपर) पहुँचावे (यही बत्ती यदि स्त्रियोंके गर्भाशयमें देनी हो तो मोटी चार अंगुलकी बनावे, देखो टिप्पणी) ॥ ११७ ॥

आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैंधवैः ॥ कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनागरैः ॥ ११८ ॥ अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत् ॥ शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकांबुना ॥ ११९ ॥ दह्यमाने तदा वस्तौ दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ॥ क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥ १२० ॥

घरका धुवां, बडी कटेली, पिप्पली, मैनफल, और सैंधानमक इन्हें सिरका (या कांजी) या गोमूत्र या मदिरामें पीस सोंठ मिलाकर बत्ती बनावे ॥ ११८ ॥ अनुवासनकी सिद्धि देखकर (अर्थात् उसका स्नेह उलटा नही निकले तो) इस बत्तीका उपयोग करे (इसे प्रवेश करे) और जो वस्तिमें जलन हो तो मुलेठीका क्वाथ ठंढा कर उसमें खांड, शहत मिलाकर उसकी वस्ति देवे अथवा दूधवाले वृक्षों (गूलर

(श्लो० ११७) मुद्गैलासर्षपसमा मूत्रमार्गे स्नेहापकर्षणार्थमपत्यमार्गे स्थूलवर्तिश्चतुरंगुला प्रणिधेया (इति नि० स०) (श्लो० ११८) अगारधूमादिसाधिता वर्तिः अनुवासनस्य स्नेहस्य अनागमने योज्या न तूत्तरवस्तेः । फल मदनफलम् ।

आदि) के क्राथकी वस्ति करे अथवा ठंढे दूधकी वस्ति करे (इससे वस्तिका दाह शांत हो जाता है) ॥ ११९ ॥ १२० ॥

उत्तरवस्तिके गुण ।

शुक्रं दुष्टं शोणितं चांगनानां पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम् ॥ मूत्राघातान्मूत्रदोषान्प्रवृद्धान्योनिव्याधिं संस्थितिं चापरायाः ॥१२१॥ शुक्रोत्सेकं शर्कराश्मरीं च शूलं वस्तौ वंक्षणे मेहने च ॥ घोरानन्यान्वस्तिजांश्चापि रोगान्हित्वा मेहानुत्तरो हंति वस्तिः १२२॥

पुरुषका वीर्य दूषित हो, स्त्रियोंका आर्तव रक्त दूषित होना, अधिक रजोधर्म होना, रजोधर्म नहीं होना तथा कष्टसे होना मूत्राघात बढेहुए मूत्रदोष तथा योनिके रोग और प्रसूति होकर अफरा (जरायु) नहीं पडना ॥ १२१ ॥ पुरुषोंके वीर्य गिरना, शर्करा और पथरीरोग तथा वस्तिस्थान, वंक्षण (नलों) और मेढ्र इनमें शूल होना तथा और अनेक वस्तिके रोग इन सबको यह उत्तरवस्ति दूर कर देती है और नष्ट करती है ॥ १२२ ॥

सम्यग्दत्तस्य लिंगानि व्यापदः कर्म एव च ॥
वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहवस्तिना ॥ १२३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

उत्तरवस्तिके ठीक हुएके लक्षण तथा इसकी व्यापद् और क्रम सब स्नेहवस्ति (अनुवासनवस्ति) के समान ही जानने चाहिये ॥ १२३ ॥

इति पं०मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थाने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशत्तमोऽध्यायः ३८.

अथातो निरूढोपक्रमचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम निरूढोपक्रम अर्थात् निरूहणवस्तिके क्रमविषयक चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

वस्ति देनेकी विधि ।

अथानुवासितमास्थापयेत्स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टबहिर्वेगमप्रवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधः सुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशव्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुंचितदक्षिणसक्थिमितरप्रसारितसक्थि सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं

सुनिषण्णदेहं विदित्वा ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादांगुष्ठांगुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य सव्यपाणिकनिष्ठिकानामिकाभ्यां वस्तेर्मुखार्द्धं संकोच्य मध्यमप्रदेशिन्यंगुष्ठैरर्द्धं तु विवृतास्यं कृत्वा वस्तावौषधं प्रक्षिप्य दक्षिणहस्तांगुष्ठप्रदेशिनीभ्यां चानुसिक्तमनायतमबुद्बुदमसंकुचितमवातमौषधासन्नमुपसंगृह्य पुनरितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिंचेत्ततः सूत्रेणैवौषधांते द्विस्त्रिर्वावेष्ट्य बध्नीयात् ॥ १ ॥

अनुवासनवस्तिके पीछे आस्थापनवस्ति करना चाहिये रोगीको स्नेहाभ्यंग कराके, स्वेद दिलाकर, मलमूत्रके वेगसे निवृत्त कराके, निर्वात पवित्र स्थानमें मध्याह्नके समय अच्छी लंबी चौडी, अच्छे दृढ पायोंवाली, जो बीचसे खूब खींची हो (ढीली झटोल नहीं हो), जिसपर तकिया न हो ऐसी शय्यापर बायें करवट लिटाकर, दाहिनी साथल सकोडकर और बाई पसारकर, प्रसन्नचित्त, भोजन पचेपर चुपके हुए, सीधा शरीर किये ऐसा जाने तब वैद्य अपने बायें पांवपर वस्तिकी नली रखकर, दूसरे पांवके अँगूठे और अंगुलीसे कर्णिकाके ऊपरसे दबाकर, बायें हाथकी कनिष्ठिका और अनामिकासे वस्तिके आधे मुखको संकुचित करके, मध्यमा, तर्जनी और अँगूठेसे आधे मुखको चौडा करके वस्तिके भीतर दाहिने हाथके अँगूठे और तर्जनीसे औषध डाले, कैसी औषध हो जो वस्तिद्वारा ठीक सेचन योग्य हो तथा बहुत ज्यादे न हो, जिसमें बुल्बुले न हों तथा संकोच (गांठे) न हों और औषधके संग वस्तिमें वायु न भर जावे ऐसी औषध डालकर ऊपर औषधके पाससे बायें हाथसे थामकर दाहिनेहीसे डालता रहे (औषध वस्तिमें यथायोग भरकर) औषधके अन्तमें दोरेसे दो तीन लपेटे देकर (वस्तिके ऊपरले मुखको भी) बांध देवे ॥ १ ॥

अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना वस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमांगुलिप्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्यांगुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तगुदाय प्रयच्छेदनुपृष्ठवंशं सममुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात् ॥ २ ॥

फिर दाहिना हाथ ऊँचा करके उससे वस्तिको थामके बायें हाथकी मध्यमा और तर्जनीसे नेत्र (नली) को पकडके उसी अँगूठेसे नेत्र (नली) के मुखको रोककर नलीके अग्रभाग पर घृत चुपडकर और गुदाको भी घृतसे चिकनी

करके पीठके बांसकी सीधमें सीधा ऊपरको मुख (छिद्र) रखकर कर्णिका तक नलीको गुदामें धारण करो (अर्थात् गुदामें जाने दो) ऐसा रोगीसे कहे ॥ २ ॥

वस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ॥
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलंबितम् ॥ ३ ॥

जब नली कर्णिकातक गुदामें प्रविष्ट होजावे तब बायें हाथसे वैद्य वस्तिको पकडे और दाहिने हाथसे उसे दबावे और एकहीवार युक्तिसे इसप्रकार दबावे कि औषध भीतर पहुँच जावे, बहुत जलदी भी न दबावे और बहुत विलंब (धीरे) से भी न दबावे ॥ ३ ॥

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात् । आतुरमुपवेशयेदुत्कटकं वस्त्यागमनार्थं निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति ॥ ४ ॥

फिर नेत्र (नली) को गुदासे बाहर निकाल कर तीस गिने जावें इतनी देर औषध पहुँचनेसे पीछेतक रहने दे और रोगीसे कहे कि 'उठो' और फिर रोगीको वस्तिकी मात्रा उलटी निकलनेके अर्थ ऊकडू बिठावे, निरूहणकी औषध उलटी निकलनेके समयकी अवधि अनुमान एक मुहूर्त होती है ॥ ४ ॥

अनेन विधिना वस्तिं दद्याद्वस्तिविशारदः ॥ द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः ॥ ५ ॥ सम्यङ्निरूढलिंगे तु प्राप्ते वस्तिं निवारयेत् ॥ अपि हीनक्रमं कुर्यान्नतु कुर्यादतिक्रमम् ॥ ६ ॥ विशेषात्सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः ॥ ७ ॥

वस्तिकर्मका जाननेवाला वैद्य इसी विधिसे वस्तिप्रणिधान करे और एकके सिवाय दूसरी अथवा तीसरी अथवा चौथी वस्तिका भी यथार्थ हो तो उपयोग करे ॥ ५ ॥ और जब ठीक निरूहण हुएके लक्षण मालूम देवें तब वस्तिकर्म बन्द कर देवे और यह ध्यान रक्खे कि वस्तिमें हीन क्रम तो भलेही हो (अर्थात् थोडी कमी तो भले ही रह जावे) परन्तु अतिक्रम (जादती) कभी नहीं करना ॥ ६ ॥ और बालकों तथा कोमल आदमियोंको अवश्य कम वस्तिकर्म करना उचित है॥७॥

दुर्निरूढ अतिनिरूढ और सम्यङ्निरूढके लक्षण ।

यस्य स्याद्वस्तिरत्यल्पवेगो हीनमलानिलः ॥ दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान् ॥ ८ ॥ यान्येवं प्राक् प्रयुक्तानि लिंगा-

न्यति विरेचिते ॥ तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता ॥
॥ ९॥ यस्य क्रमेण गच्छंति विट्पित्तकफवायवः॥ लाघवं चोप-
जायेत सुनिरूढं तमादिशेत् ॥ १० ॥

जिसके वस्तिका बहुतही अल्पवेग होवे और मल तथा वायु बहुतही कम प्रवृत्त हों तो उसे दुर्निरूढ कहते हैं इससे मूत्रकी पीडा तथा अरुचि और जडता होती है ॥ ॥८॥ जो पहले अतिविरेचनके लक्षण कहे गये हैं वही लक्षण अतिनिरूढमें (निरूहणवास्तिकी अधिकतामें) विद्वान वैद्यको समझ लेने चाहिये ॥ ९ ॥ जिस मनुष्यके मल, पित्त और कफ क्रमसे ठीक निकल जावें और शरीरमें हलकापन होजावे तो उसे सुनिरूढ (अच्छी निरूहणवस्ति हुआ) समझना चाहिये ॥ १० ॥

सुनिरूढं ततो जंतुं स्नानवंतं तु भोजयेत् ॥ पित्तश्लेष्मानिला-
विष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् ॥ ११ ॥ सर्वं वा जांगलरसैर्भोजयेद-
विकारिभिः ॥ त्रिभागहीनमर्द्धं वा हीनमात्रमथाऽपि वा ॥ यथा-
ग्निदोषं मात्रैवं भोजनस्य विधीयते ॥ १२ ॥

जब अच्छे प्रकारसे निरूहणवस्ति हो चुके तब स्नान करावे और पित्तवालेको गोदुग्धसे, कफवालेको मूँगके यूषसे और वायुवालेको मांसके रस (शोरवे) के संग भोजन करावे ॥ ११ ॥ अथवा सबको विकार रहित जंगली जीवोंके मांसके रसहीसे भोजन करावे और भोजनभी तृतीयांश कम या आधा या थोडी मात्राका करावे और भोजनकी मात्रा रोगीकी जठराग्नि तथा दोष विचारकर कल्पना करनी चाहिये ॥ १२ ॥

अनंतरं ततो युंज्याद्यथास्वं स्नेहवस्तिना ॥१३॥ विविक्तता मन-
स्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः ॥ आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्य-
ग्दाने तु लक्षणम् ॥ १४ ॥

इसके पीछे (ठीक निरूहणके पीछे) यथायोग्य स्नेहवस्तिका उपयोग करना चाहिये ॥ १३ ॥ आस्थापन तथा स्नेहवस्तिके ठीक उपयोग हुएके ये लक्षण हैं कि विविक्तता (इंद्रियोंमें विवेचन्न शक्ति), मनकी प्रसन्नता, स्निग्धता और जिस व्याधिके लिये कीजावे उसका निग्रह (रुकाव) होजावे ॥ १४ ॥

(श्लो० ११) स्नानवंतमिति–उष्णवारिणा स्नानवंतमित्यर्थः । तदुक्तं–'ततः प्रत्यागते वस्तौ वाप्युष्ण नागरैः शृतम् ॥ पाययेत्कृतशौच च स्नापयेदुष्णवारिणा ॥ १ ॥' (इति डल्हनः) भावप्रकाशेपि–'स्नान-मुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णतां वर्जयेत्' इति । (श्लो० १४) विविक्तता दत्तौपधिनिःसरणम् (इति भावमिश्रः)

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते ॥ रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम् ॥ १५ ॥ पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम् ॥ अन्नोपस्तंभिते कोष्ठे स्नेहवस्तिर्विधीयते ॥ १६ ॥

उस दिन (निरूहणवस्तिके पीछे) रोगीको वायु (के उपद्रवों) का बडा भारी भय होता है इसलिये मांसरस और भातका भोजन करावे और उसी दिन अनुवासन (स्नेहवस्ति) करे ॥ १५ ॥ फिर रोगीकी अग्नि, बल और वायुकी गति देखकर (उचित हो तो) भोजन खिलाकर (औरभी) स्नेहकी वस्ति करे ॥ १६ ॥

अनायांतं मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥ तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान्क्षारमूत्राम्लसंयुतैः ॥ १७ ॥ विगुणानिलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम् ॥ शूलारतिज्वरानाहं मरणं वा प्रवर्तयेत् ॥ १८ ॥

यदि दो घडीमें निरूहणवास्ति उलटी नहीं निकले तो उसे बुद्धिमान् वैद्य निरूहणकी तीक्ष्ण औषधोंसे जिनमें क्षार (यवक्षारादि), गोमूत्र और कांजी आदि मिले हों पुनः वस्ति देकर निकाल ही देवे ॥ १७ ॥ क्योंकि जो निरूहणकी औषध देरतक भीतर ठहरे तो वायुकी विगुणता, विष्टब्धता, शूल, अरति (बेचैनी), ज्वर और अफारा तथा मृत्यु करती है ॥ १८ ॥

न हि भुक्तवते देयमास्थापनमिति स्थितिः ॥ विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम् ॥ १९ ॥ कोपयेत्सर्वदोषान्वा तस्माद्द्याद्भोजिते ॥ जीर्णान्नस्याशये दोषाः पुंसः प्रव्यक्तिमागताः ॥ ॥ २० ॥ निःशेषाः सुखमायांति भोजनेनाप्रपीडिताः ॥ न वास्थापनविक्षिप्तमन्नमग्निः प्रधावति ॥ २१ ॥ तस्मादास्थापनं देयं निराहाराय जानता ॥ २२ ॥

भोजन करने पर आस्थापनवास्ति कभी न देना यह सिद्धांत है क्योंकि इससे विसूचिका पैदा होजाती है या तीक्ष्ण वमन होता है ॥ १९ ॥ अथवा सब दोष कुपित होजाते हैं इससे निरूहणवास्ति विनाही भोजन कराये देनी चाहिये और भोजन पचेपर मनुष्यके दोष प्रगट (उत्कट) ताको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥ और जो दोष भोजनसे पीडित नहीं हैं वे सुखसे निःशेष होजाते हैं। और आस्थापनसे विगडने पर जठराग्नि अन्नकी तरफ नहीं दौडती (अर्थात् भोजन पर रुचि नहीं होती) ॥ २१ ॥ इस कारणसे विना भोजन किये निराहार मनुष्यको आस्थापनवस्ति देनी उचित है ॥ २२ ॥

आवस्थिकं[1] क्रमं[2] चापि[3][4] मत्वा कार्यं[5] निरूहणम् ॥
मलेऽपकृष्टे दोषाणां बलवत्त्वं न विद्यते ॥ २३ ॥

अवस्थाका क्रम विचार कर भी निरूहणवस्ति करनी चाहिये क्योंकि मलके क्षीण होजानेसे दोषोंमें बलवत्ता नहीं रहती है ॥ २३ ॥

निरूहणके द्रव्य ।

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसास्तथा ॥ लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचा ॥ २४ ॥ एला त्रिकटुकं रास्ना सरलं देवदारु च ॥ रजनी मधुकं हिंगु कुष्ठं संशोधनानि च ॥२५॥ कटुका शर्करा मुस्तमुशीरं चंदनं शटी ॥ मंजिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसांजनम् ॥ २६ ॥ बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजा यवाः ॥ काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ॥२७॥ तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका ॥ निरूहेषु यथालाभमेषवर्गो विधीयते ॥ २८ ॥

अनेक दुग्ध, कांजी आदि खटाई, गोमूत्रादि मूत्र, अनेक स्नेह (तैल, घृतादि), औषधोंके क्वाथ तथा स्वरस, लवण, फल (फलत्रय), शहत, शताह्वा (सोया अथवा सौंफ), सरसों, वच ॥ २४ ॥ इलायची, त्रिकटु, रास्ना, सरल (तारपीन), देवदारु, हलदी, मुलेठी, हींग, कूट, शोधनद्रव्य (निशोथ आदि) ॥ २५ ॥ कुटकी, खांड, नागरमोथा, खस, चंदन, कचूर, मंजीठ, मैनफल, चंडा (चोरक नाम गंधद्रव्य), त्रायमाण, रसोत ॥ २६ ॥ बिल्वमध्य (बेलगिरी), अजवायन, फलिनी (प्रियंगु), इंद्रजौ, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक ॥ २७ ॥ मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका (तृणविशेष अथवा मूर्वा) इनमेंसे जो जहां योग्य हों तथा जो मिलसकें वे निरूहणमें युक्त करे यह वर्ग निरूहणके लिये कहा है ॥ २८ ॥

वस्तिद्रव्योंके भागोंकी कल्पना ।

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पंचमः ॥ क्रुद्धेऽनिले चतु-

---

(श्लो० २५) सरलः धूपकाष्ठे पीतदारुणि सरलद्रवः तारपीननाम्ना प्रसिद्धः (इति शब्दस्तोमः) संशोधनानि त्रिवृदादीनि (इति नि० सं०) (श्लो० २६) चडा चोरकनामगन्धद्रव्ये शखपुष्पा च (इति श० स्तो०) (श्लो० २७) फलिनी प्रियंगुः 'प्रियगुः फलिनी कांता' (इति निघंटुः) (श्लो०२८) मधूलिका डल्लनमते तु तृणविशेषः । शब्दस्तोमे तु मधूलिका मूर्वा । निघंटावपि मधूलिका मूर्वा पठिता ।

र्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥२९॥ सर्वेषु चाऽष्टमो भागः कल्कानां लवणं पुनः ॥ क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥ युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान्निरूहे कल्पना त्वियम् ॥ ३० ॥ कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः ॥ वस्तिस्तु कल्पितः सम्यक् तस्यादानं यथार्थकृत् ॥ ३१ ॥

स्वस्थ मनुष्यके लिये चार भाग क्वाथ और एक भाग पांचवां स्नेह लेना और जो वायुका कोप हो तो तीन भाग क्वाथमे एक चौथा भाग स्नेह लेवे और पित्तके कोपमें छठा भाग तथा कफके कोपमें आठवां भाग स्नेहका डालना चाहिये ॥ २९ ॥ और सब दोष हों तो आठवाँही भाग लेवे तथा कल्क, लवण, शहत, गोमूत्र, फल, दूध, खटाई, मांसरस इन सबके भाग बुद्धिमान् वैद्य युक्तिसे कल्पना कर लेवे, निरूहणमें कल्पनाकी यही विधि है ॥ ३० ॥ कल्क, स्नेह, क्वाथ इनको वैद्योंने विना विभाग-विवेचनके ही (यथादोष, यथा अवसर) कल्पना करके वस्तिकी कल्पना की है, वैद्यकी युक्तिसे उपयोग करना यथार्थ ही होता है ॥ ३१ ॥

योजनका प्रकार ।

दत्त्वादौ सैंधवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम् ॥ पात्रे तलेन मथ्नीयादनुस्नेहं शनैः शनैः ॥ ३२ ॥ सम्यक्सुमथिते दद्यात्फलकल्कमतः परम् ॥ ततो यथोचितान्कल्कान्भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान् ॥३३॥ गंभीरे भाजनेन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च ॥ यथा च साधु मन्येत न सांद्रो न तनुः समः ॥ ३४ ॥ कषायप्रसृतान्पंच सुपूतांस्तत्र दापयेत् ॥ रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ॥३५॥

पहले एक कर्ष भर सैंधानमक और चार पल शहत एक पात्रमें डालकर हथेलीसे धीरे धीरे मथे और मथते समय स्नेहभी डालता जावे ॥ ३२ ॥ जब मथजावे तब उसमें मैनफलका कल्क मिला दे और जो यथोचित कल्क हों उनको भी नरम पीसकर अपने भागोंके अनुसार डालदे ॥ ३३ ॥ फिर दूसरे बडे पात्रमें डालकर रईसे मथे और देखले कि न बहुत गाढा होवे और न बहुत पतला किंतु ठीक एकसा हो ॥ ३४ ॥ फिर इसमें छने हुए क्वाथ पाँच प्रसृत (१० पल) डालदे और रोगीके दोषोंको विचार कर उसके अनुसार रस (मांसरस), दूध, कांजी, गोमूत्र आदि अनुमानसे कल्पना करके डालदे ॥ ३५ ॥

अत ऊर्द्ध्वं द्वादशप्रसृतान्वक्ष्यामः ।

दत्त्वादौ सैंधवस्याऽक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ॥ विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥ ३६ ॥ एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् ॥ संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥ ३७ ॥ वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम् ॥ एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥ ३८ ॥

अब हम बारह प्रसृति योजनाके विभाग बताते हैं वे ऐसे हों कि सबसे पहले एक कर्ष सैंधानमक और दो प्रसृति (४ पल) शहत डालके मथे और उसमें तीन प्रसृत (६ पल) स्नेह डाले ॥ ३६ ॥ जब शहत और स्नेह मिल जावे तब १ प्रसृत (२ पल) कल्क डाले जब कल्क भी मिल जावे तब ४ प्रसृत (८ पल) क्काथ डाले ॥ ३७ ॥ और फिर दो प्रसृत (४ पल) अन्य डालनेकी वस्तु (दूध, कांजी, मांसरस, गोमूत्र आदि) डाले ऐसे विभागकल्पना करनेसे वस्तिद्रव्य १२ प्रसृत हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

ज्येष्ठायाः खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम् ॥ अप्रह्रासे भिषकुर्यात्तद्वत्प्रसृतिहापनम् ॥ ३९ ॥ यथावयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता ॥ सैंधवादिद्रवांतानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः ॥ ४० ॥

यह प्रमाण १२ प्रसृतिका जो ऊपर कहा है यह बडेसे बडी मात्राका प्रमाण कहा है, वैद्य इसमेंसे घटाकर यथोचित जितनी प्रसृति ठीक समझे उतनी (इसी हिसाबसे) कम कर लेवे ॥ ३९ ॥ अवस्थाके अनुसार सिद्धि चाहनेवाले वैद्यवरोंने सैंधवसे लेकर द्रव (क्काथ, मूत्रादि) तक की निरूहणवस्तिमें यह कल्पना की है (सद्वैद्य इसमें भी अपनी बुद्धिसे न्यूनाधिक कल्पना कर सकता है) ॥ ४० ॥

अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यंते वस्तयोत्र विभागशः ॥
यथादोषं प्रयुक्ता ये हन्युर्नानाविधान्गदान् ॥ ४१ ॥

यहांसे अगाडी अब वस्तियोंके विभाग (भेद) वर्णन करते हैं जो दोषोंके अनुसार उपयोग किये जानेसे नाना प्रकारके रोगोंको नष्ट कर सकें ॥ ४१ ॥

आस्थापनके योग ।

शंपाकोरुबुवर्षाभूवाजिगंधानिशाच्छदैः ॥ पंचमूलीबलारास्नागु-

(श्लो० ३६) प्रसृतिः प्रसृतं च पलद्वयप्रमाणम् ।

डूचीसुरदारुभिः ॥४२॥ क्वथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः ॥ कल्कैर्मागधिकाम्भोदहवुषामिसिसैंधवैः ॥ ४३ ॥ वत्साह्वयप्रियंगूग्रायष्ट्याह्वयरसांजनैः ॥ दद्यादास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम् ॥ ४४ ॥ पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसंगिनाम् ॥ ग्रहणीमारुतार्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम् ॥ ४५ ॥

किरमाला, अरंड, सांठी, असगंध, हलदी (अथवा कचूर), पंचमूल (लघु), खिरेंटी, रास्ना, गिलोय, देवदारु ॥ ४२ ॥ इन सबको पल पल भर लेवे और आठ मैनफल डालकर क्वाथ करले और पीपल, नागरमोथा, हाऊबेर, सोया, सैंधानमक॥ ॥ ४३ ॥ इंद्रजौ, प्रियंगु, वच, मुलेठी और रसोत इनका कल्क करे इस कल्कको और क्वाथको मिलाकर थोडा गरम कर, शहत आदि मिलाकर आस्थापन करे ॥ ॥ ४४ ॥ यह योग पीठ, साथल, त्रिक इन स्थानोंके शूल, पथरी, मल, मूत्र और वायुकी रुकावट, ग्रहणी, वायुरोग, बवासीर इतने रोगोंको नष्ट करता है रुधिर और मांसको बल देता है ॥ ४५ ॥

(वक्तव्य) इन योगोंमें अन्वयकी विशेष आवश्यकता नहीं है और न कोई अन्वयके योग्य बात ही है ॥

गुडूचीत्रिफलारास्नादशमूलबलापलैः ॥ क्वथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियंग्वंजनसैंधवैः ॥ ४६॥ शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठविल्वजैः ॥ सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्द्धपलान्वितैः ॥ ४७ ॥ क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्लकांजिकमस्तुभिः ॥ समालोड्य च मूत्रैस्तु दद्यादास्थापनं परम् ॥ ४८ ॥ तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्निप्राणवर्द्धनम् ॥ सर्वमारुतरोगघ्नं वयःस्थापनमुत्तमम् ॥ ४९ ॥

गिलोय, त्रिफला, रास्ना, दशमूल, खिरेंटी इनको पल पल लेकर क्वाथ बनावे और प्रियंगु, रसोत, सैंधानमक ॥ ४६ ॥ सौंफ, वच, पीपल, अजवायन, कूट, बेलगिरि- और गुड इनको कर्ष भर लेकर और दो कर्ष मैनफल मिलाकर सजल पीसकर कल्क बनावे ॥ ४७ ॥ फिर शहत, तैल, घृत, दूध, सिरका, कांजी और दहीका पानी सबको इकट्ठा करके गोमूत्र मिलाकर मथ डाले इससे आस्थापन वस्ति करे ॥४८॥ यह तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, जठराग्नि और प्राण (जीवन) इन सबकी

(श्लो० ४३) चतुर्दशद्रव्याणा चतुर्दशपलेऽष्टगुणं जलं दत्त्वा क्वाथयेत् । (श्लो० ४४) क्षौद्राद्यैरित्यत्र आद्यशब्देन मूत्रस्नेहादयो ग्राह्याः निरूहस्यांगत्वात् ।

वृद्धि करती है तथा सब वायुके रोगोंका नाश करती है यह आस्थापनवस्ति परम उत्तम है ॥ ४९ ॥

कुशादिपंचमूलाब्दत्रिफलोत्पलवासकैः ॥ सारिवोशीरमंजिष्ठारास्नारेणुपरूषकैः ॥ ५० ॥ पालिकैः कथितैः सम्यग्द्रव्यैरेभिश्च पेषितैः ॥ शृंगाटकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचंदनैः ॥ ५१ ॥ विदारीमिसिमंजिष्ठाश्यामेंद्रयवसिंधुजैः ॥ फलपद्मकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः ॥ ५२ ॥ दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः ॥ दाहासृग्दरपित्तासृक्पित्तगुल्मज्वराञ्जयेत् ॥ ५३ ॥

कुशादिक (तृण) पंचमूल, नागरमोथा, त्रिफला, कमल, अडूसा, सारिवा, खस, मंजीठ, रास्ना, पित्तपापडा, फालसे ॥ ५० ॥ इन सबको एक एक पल लेकर क्वाथ कर लेवे और फिर सिंघाडे, कवँचके बीज, नागकेसर, अगर, चंदन ॥ ५१ ॥ विदारीकंद, सौंफ, मंजीठ, प्रियंगु, इंद्रजौ, सैंधानमक, मैनफल, पद्माख और मुलेठी इन्हें पीसकर कल्क बनावे और उसमें शहत, दूध तथा घृत भी मिलावे और खटाई (युक्त कांजी आदि) नहीं डाले, इसे कुछेक पतली रक्खे और इससे ठंढा आस्थापन करे यह प्रयोग दाह, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, पित्तगुल्म और ज्वर इन्हे नाश करता है ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

(वक्तव्य) इस योगकी टीकामें डल्लनमिश्रजीने शृंगाटादि १९ द्रव्य कल्क बनानेमें लिखे हैं पर मूलपाठमें १४ ही हैं जिनका पृथक् २ नाम टीकामें नहीं लिखा कोई १९ पूरे करनेके लिये 'इभकेसर' इस नागकेसरवाची एक पदमेंसे 'इभ' और 'केसर'को पृथक् द्रव्यवाचक मानकर इभका अर्थ गजपीपल और केसर मानते हैं परंतु हमारी समझमें यह अनुचित है क्योंकि गजपीपल पित्तनाशक नहीं॥

रोध्रचंदनमंजिष्ठारास्नानंताबलर्द्धिभिः ॥ सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः ॥ ५४ ॥ स्थिरादितृणमूलैश्च क्वाथैः कर्षत्रयोन्मितैः ॥ पिष्टैर्जीवककाकोलीयुगर्द्धिमधुकोत्पलैः ॥ ५५ ॥ प्रपौंडरीकजीवंतीमेदारेणुपरूषकैः॥ अभीरुमिसिसिंधूत्थवत्सकोशीरपद्मकैः॥५६॥ कसेरुशर्करायुक्तैः सर्पिर्मधुपयःप्लुतैः॥ द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो

(श्लो० ५०) रेणुः पर्पटः नतु रेणुका पर्पटस्य पित्तघ्नत्वात्, तथाच रेणुकाया रेणुनामापि नास्ति केनचिद्भ्रांत्यैव रेणुका लिखिता । (श्लो० ५२) अत्र मधुनश्चत्वारिपलानि पित्ते नातिबहुक्षौद्रमित्युक्तत्वात् ।

वस्तिः सुशीतलैः ॥ ५७ ॥ गुल्मासृग्दरहृत्पांडुरोगान्सविषमज्वरान्॥ असृक्पित्तातिसारौ च हन्यात्पित्तकृतान्गदान् ॥ ५८ ॥

लोध, चंदन, मँजीठ, रास्ना, अनंता (उत्पलसारिवा), खिरेंटी, ऋद्धि, सारिवा, अडूसा, खंभारी, मेदा, मुलेठी, पद्माख ॥ ५४ ॥ स्थिरादि (शालपर्णी आदि लघु पंचमूल), तृणमूल (तृणपंचमूल) इन सबको तीन २ कर्ष लेकर काथ बनावे और जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, मुलेठी, कमल ॥ ५५ ॥ प्रपौंडरीक, जीवंती, मेदा, पित्तपापडा, फालसा, अभीरु (शतावरी), सौंफ, सैंधानमक, इंद्रजौ, खस, पद्माख ॥ ५६ ॥ कसेरु तथा खांड इन्हें पीसकर डाले और उसमें घृत, शहत तथा दूधभी मिलावे, तीक्ष्ण और खटाई नहीं मिलावे (किंतु इक्षुरस आदि शीतल द्रव वस्तु मिलावे) फिर इससे वस्तिकर्म करे ॥ ५७ ॥ यह गुल्म, रक्तप्रदर, हृदयरोग, पांडुरोग, विषमज्वर, रक्तपित्त, अतिसार तथा पित्तके रोगोंको दूर करता है ॥ ५८ ॥

भद्रानिम्बकुलत्थार्ककोशातक्यमृतामरैः ॥ सारिवाबृहतीपाठामूर्वारग्वधवत्सकैः ॥ ५९ ॥ काथः कल्कस्तु कर्तव्यो बलामदनसर्षपैः ॥ सैंधवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥ ६० ॥ कटुतैलमधुक्षारसूत्रतैलांबुसंयुतैः ॥ कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापांडुमेहिनाम् ॥ ६१ ॥ मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम् ॥ गलगंडगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥ ६२ ॥

भद्रा (भद्रमुस्ता या भद्रदारु), निंब, कुलथी, आक, तोरई, गिलोय, देवदारु, सारिवा, बडी कटेली, पाठा, मूर्वा, किरमाला, कुडा ॥ ५९ ॥ इनका तो काथ करे और खिरेंटी, मैनफल, सरसों, सैंधानमक, देवदारु, कूट, इलायची, पीपल, बेलगिरी, सोंठ इनको पीसकर कल्क बनावे ॥ ६० ॥ कडुवा तैल, शहत, यवक्षार, गोमूत्र, तिलका तैल और जल सबको मिलाकर इससे आस्थापन करे। इतने रोगोंवालोंको यह हितकारक है जैसे कामला, पांडुरोग, प्रमेहरोगवाले ॥ ६१॥ जिनके मेद बढा हो, जिनकी जठराग्नि नष्ट हो, जिनके कफके रोग हों, जिनको भोजनसे द्वेष हो (अरुचि हो) तथा गलगंडके रोगी, गरसे व्याप्त, जिन्हें अंगग्लानि हो, श्लीपद हो तथा कफोदर आदि उदरके रोग हों ॥ ६२ ॥

(श्लो० ५९) भद्रा भद्रमुस्ता देवदारु च (इति शब्दस्तोमः)।

दशमलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः ॥ क्वथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैंधवदारुभिः ॥ ६३ ॥ पाठामागधिकेंद्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः ॥ कुर्यादास्थापनं सम्यग्मूत्राम्लफलयोजितम् ॥ ६४ ॥ कफपांडुमदालस्यमूत्रमारुतसंज्ञिनाम् ॥ आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मकृमिविकारिणाम् ॥ ६५ ॥

दशमूल, हलदी, बिल्व, पटोल, त्रिफला, देवदारु इनका क्वाथ करे और नागरमोथा, सैंधानमक, देवदारु, ॥ ६३ ॥ पाठा, पीपल, इन्द्रजौ इनका कल्क कर ले और तैल, क्षार (यवक्षार) और शहतसे प्लुत करके गोमूत्र, कांजी तथा मैनफल युक्त करके आस्थापनवस्ति करे (इसमें तैल और मधु चार चार पल डाले क्षार दो कर्ष गोमूत्र डेढ पल, कांजी आधापल, मैनफल दो कर्ष लेवे) ॥ ६४ ॥ यह कफ, पांडु, मद, आलस्य तथा मूत्र और अधोवायुका रुकना, आमका विकार, आटोप, अपची, कफका गुल्म और कृमिरोगवालोंको हितकारी है ॥ ६५ ॥

वृषाश्मभेदवर्षाभूधान्यगंधर्वहस्तकैः ॥ दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः ॥ ६६ ॥ कुलत्थबिल्वभूनिंबैः क्वथितैः पलसंमितैः॥ कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वषड्ग्रंथामरसर्षपैः ॥ ६७ ॥ पिप्पलीमूलसिंधूत्थयवानीमिसिवत्सकैः॥ क्षौद्रेक्षुरसगोमूत्रसर्पिस्तैलरसप्लुतैः ॥६८॥ तर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्टं बहुरोगिणाम् ॥ गृध्रसीशर्कराष्ठीलातूणीगुल्मगदापहम् ॥ ६९ ॥

अडूसा, पाषाणभेद, सांठी, धनियाँ, अरंड, दशमूल, खिरेंटी, मूर्वा, जौ, बेर, कचूर ॥ ६६ ॥ कुलथी, बिल्व, चिरायता इन तेईस द्रव्योंको पलपल भर ले अठगुने जलमें क्वाथ करे और मैनफल, मुलेठी, वच, देवदारु, सरसों, पीपलामूल, सैंधानमक, अजवायन, सौंफ, इंद्रजौ इन्हें पीसकर कल्क बनावे फिर शहत, ईखका रस, गोमूत्र, घृत, तैल, मांसरस भी मिलादे ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ और शीघ्र इसकी आस्थापनवस्ति देवे जो बहुत रोगोंसे व्याप्त हो, गृध्रसी वायु, शर्करा, अष्ठीला, तूणी और गुल्म इतने रोगोंवालेको हित है ॥ ६९ ॥ (इसमें शहत तीन पल, ईखका रस, दूध और गोमूत्र डेढ डेढ पल, घृत २ पल, तैल २ पल, मांसरस आधे पल लेना तथा दोषोंकी न्यूनाधिकतासे वैद्य कम ज्यादा भी कर लेवे) ॥

(श्लो० ६३) अत्र जलमष्टगुणं योजयित्वा क्वाथं कुर्यात् । (श्लो० ६६) निशाच्छदः शटी (इति डल्हनः)

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः ॥ त्रायमाणामृतारक्तापंचमूलविभीतकैः ॥ ७० ॥ सवलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः ॥ यष्ट्याह्वमिसिसिंधूत्थफलिनींद्रयवाह्वयैः ॥ ७१ ॥ रसांजनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः ॥ युक्तो वस्तिः सुखोष्णोयं मांसशुक्रवलौजसाम् ॥ ७२ ॥ आयुष्योग्नेश्च संस्कर्ता हंति चाशुगदानिमान् ॥ गुल्मासृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान् ॥ ७३ ॥ विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुंडलीम् ॥ जानुजंघाशिरोवस्तिग्रहोदावर्तमारुतान् ॥ ७४ ॥ वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचीः ॥ रक्तपित्तकफोन्मादप्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान् ॥ ७५ ॥

रास्ना, किरमाला, सांठी, कुटकी, खस, नागरमोथा, त्रायमाण, गिलोय, मँजीठ, पंचमूल (आद्य पंचमूल), बहेडा ॥७०॥ और खिरेंटी इन सबको पलपल लेकर अठगुने जलमें क्वाथ करे और मैनफल, मुलेठी, सौंफ, सैंधानमक, प्रियंगु, इन्द्रजौ॥७१॥ इन्हें पीसकर कल्क बनावे और रसौत, मांसरस, शहत, दाख (मुनक्का), कांजी मिलाकर निवाया करके वस्ति देवे यह मांस, वीर्य, बल और ओजवालोंको (स्वस्थको भी) हित है ॥ ७२ ॥ आयु देनेवाली है, अग्निको संस्कार करके शुद्ध करनेवाली है और वक्ष्यमाण रोगोंको नष्ट करती है जैसे गुल्म, रक्तप्रदर, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, क्षत, क्षय ॥ ७३ ॥ विषमज्वर, बवासीर, संग्रहणी, वातकुंडली और जानु, जंघा, शिर, वस्ति इनका ग्रह (अकडना), उदावर्त, वायुके रोग ॥ ७४ ॥ वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला, कूखकी शूल, उदररोग, अरुचि, रक्तपित्त, कफके रोग, उन्माद, प्रमेह, अफारा, हृदयका रुकना ॥ ७५ ॥

(वक्तव्य) इसमें मैनफलसे लेकर इंद्रजौ तक छः द्रव्योंका कल्क ३ पल लेना और यद्यपि स्नेह इसमें नहीं लिखा तो भी निरूहणका मुख्य अंग होनेसे स्नेह ६ पल, शहत ३ पल और रसौत, मांसरस, क्षीर, सौवीर ये पलपल भर लेवे (तथा दाखका रसभी १ पल लेवे और कई 'द्राक्षासौवीरसंयुतैः' के स्थानमें 'क्षीरसौवीरसंयुतैः' ऐसा पाठ मानते हैं–देखो टिप्पणी) ॥

(श्लो० ७१) सवलैः बलासहितैः । (श्लो० ७२) 'द्राक्षासौवीरसंयुतैः' इत्यत्र क्षीरसौवीरसंयुतैरिति पाठ मन्यते । स्नेहस्य निरूहस्य निरूहणांगत्वात् अतोप्यत्र षट्पलप्रमाणानि निक्षेपणीयानि अत्र कल्कस्य त्रीणि पलानि मधुनस्त्रीणि पलानि रसांजनमांसरसक्षीरसौवीराणां प्रत्येकमेकपलमित्येवम् (इति डल्हनः)

(विशेष वक्तव्य) इन योगोंमें क्राथका यह नियम जानना कि द्रव्योंसे अठगुने जलमें कथित करे और चतुर्थांश शेष रहनेपर उतारले उसमेंसे छानकर आठ पल अनुमान लेकर कल्क क्षौद्रादिमें डालना और सब मिलकर अनुमान १२ प्रसृत (२४ पल) होजावे ऐसा हिसाब लगा लेना और जो अल्प मात्रा करनी हो तो उसी हिसाबसे अनुमान तीसरा भाग क्राथका रखना, पहलेके मनुष्योंका शरीर विशाल, बलवान् और शक्तिमान् होता था इससे उस समय १२ प्रसृति अर्थात् २४ पल जो सवासेरके अनुमान हुई इतनी औषध वस्तिद्वारा पक्वाशयमें प्रणिधान होसकती होगी परंतु इस समय क्षुद्र मनुष्योंका शरीर क्षुद्र, बल और शक्ति बहुत अल्प तथा पक्वाशयादिक आशय भी उतने विस्तृत नहीं इस कारण इस समयके लिये वस्तिके द्रव्योंकी मात्रा आधी अर्थात् १२ पलहीकी बडी मात्रा रखनी चाहिये और सुकुमार, बाल, वृद्धों आदिके लिये इससे भी अल्प औषधकी वस्ति देना चाहिये ॥

वातादि दोषोंमें वस्ति ।

वातघ्नौषधनिःक्वाथाः सैंधवत्रैवृतैर्युताः॥ साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्वस्तयः कुपितेऽनिले॥ ७६॥ न्यग्रोधादिगणक्वाथाः काकोल्यादिसमायुताः॥ विधेया वस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः॥७७॥ आरग्वधादिनिःक्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः॥ सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्वस्तयः कुपिते कफे ॥ ७८॥ शर्करेक्षुरसक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः॥ क्षीरवृक्षकषायाढ्या वस्तयः शोणिते हिताः॥ ७९ ॥

वायुके कोपमें वायुनाशक औषधोंका क्काथ कर उसमें सैंधानमक और त्रैवृत स्नेह डाल, कांजी मिलाकर सुहाते २ निवायेकी वस्ति करना (इसमें वायुनाशक भद्रदारु आदि द्रव्य १६ पलका क्काथ कर उसमेंसे ८ पल लेना) ॥ ७६ ॥ पित्तके कोपमें न्यग्रोधादिगणका क्काथ कर उसमें काकोल्यादिका कल्क मिला और घृत तथा शर्करा मिलाकर वस्ति करना (इसमें कल्क २ पल, घृत ४ पल, शर्करा १ पल और अनुक्त मधु, सैंधव, क्षीरादि भी मिलावे) ॥ ७७ ॥ कफके कोपमें आरग्वधादिगणकी १६ पल औषधोंका क्काथ कर इसमेंसे ८ पल ले और पिप्पल्यादिका कल्क ३ पल डाले, शहत ६ पल, गोमूत्र ३॥ पल मिलाकर वस्ति करे ॥ ॥ ७८ ॥ रक्तके कोपमें शर्करा, ईखका रस, दूध, घृत और दूधवाले वृक्षोंका क्काथ मिलाकर वस्ति करे (इसमेंभी क्काथ ८ पल लेकर क्षीरादि बुद्धिसे अनुमान करले ॥७९॥

(वक्तव्य) इसमें डल्हनमिश्रजीने हरेक योगमें मात्राका बडा झगडा वारवार लिखा है इसे तो वैद्य पूर्वोक्त (द्वादशप्रसृतोक्त आदि) बीजोंसे स्वयंही कल्पना

कर सकता है तथा वैद्य देश, काल, अवस्था, व्याधि और दोषका विचार करके स्वयं समयोचित कल्पना करे वही ठीक होता है क्योंकि जो प्रमाणके भाग उन्होंने लिखे वे २४ पलके पूरा करनेको लिखे हैं सो इस समय ठीक नहीं तथा बहुतसी अनुक्त योजना भी लिखी है जो पाठसे सर्वथा असिद्ध है इसलिये हमने सब जगह यह झगडा नहीं लिखा परंतु कहीं २ लिखभी दिया है पर वैद्य सदा अपनी बुद्धिसे विचारकर काम करे ॥

शोधनवस्ति और लेखनवस्ति ।

शोधनद्रव्यनिःक्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैंधवैः ॥ युक्ताः खजेन मथिता वस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥ ८० ॥ त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारस-मायुताः ॥ उषकादिप्रतीवापा वस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥ ८१ ॥

शोधन द्रव्यों (निशोथ आदि) का क्वाथ करे और उन्हींका कल्क तथा स्नेह, सैंधानमक मिलाकर रईसे मथे ये शोधन करनेवाली वस्ति हैं ॥ ८० ॥ त्रिफलाका क्वाथ, गोमूत्र, शहत और जवाखार तथा उषकादि गणका कल्क डालकर वस्ति करना लेखन है ॥ ८१ ॥

बृंहणवस्ति और वाजीकरणवस्ति ।

बृंहणद्रव्यनिःक्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः ॥ सर्पिर्मांसरसोपेता वस्तयो बृंहणाःस्मृताः ॥ ८२ ॥ चटकांडोच्चटाक्वाथाः सक्षीरघृत-शर्कराः ॥ आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम् ॥ ८३ ॥

विदारिकंदादि बृंहण द्रव्योंके क्वाथमें काकोल्यादि मधुर द्रव्योंका कल्क मिला, घृत, मांसरस डालकर वस्ति करना बृंहण है ॥ ८२ ॥ चिडियाके अंडे, उच्चटा (चिरमठी या उटंगनके बीज) का क्वाथ तथा दूध, घृत, खांड मिला कवँचके बीजोंका कल्क डाल वस्ति करना वाजीकरण है, पुरुषोंको यह परमबलदायक है॥ ८३॥

पिच्छलवस्ति ।

विदार्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनांकुराः ॥ क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छलवस्तयः ॥ ८४ ॥ वाराहमाहिषौरभ्रबैडालैणेयकौ-क्कुटम् ॥ सद्यस्कमसृगंडं वा देयं पिच्छलवस्तिषु ॥ ८५ ॥

(श्लो० ८५) सद्यस्कमसृग्देयमित्यत्र सद्यस्कं तत्कालानीतं तं प्रजीवितमेव ग्राह्यं जीवानुसाधनार्थम् (इति नि, सं.)

विदारीकंद, ऐरावती (नागबला), शेलू (श्लेष्मातक अर्थात् ल्हेसुवा), शाल्मली (सिंभल या सेमल) तथा धन्वन वृक्षके अंकुर इन्हें दूधमें पकाकर, शहत और रुधिर मिलाकर वस्ति करना पिच्छल (गाढा करनेवाला तथा रक्तादि रोकनेवाला) है ॥ ८४ ॥ इस पिच्छलवस्तिमें शूकर, भैंसें, मेंढे, बिलाव, हिरन तथा मुरगे इनका ताजा रुधिर लेना (अर्थात् जीवते हुएका रुधिरही जीवको साधता है इससे सजीवका ही रुधिर लेना) अथवा अंडे लेना (अंडे केवल कुक्कुट पक्षीके ही लेना) ॥ ८५ ॥

संग्रहणवस्ति ।

प्रियंग्वादिगणक्काथा अंबष्ठाद्येन संयुताः ॥
सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो वस्तयः स्मृताः ॥ ८६ ॥

प्रियंग्वादि गणका क्काथ लेके अंबष्ठादि गणके कल्कमें मिला शहत और घृतसे युक्त करके वस्ति करना संग्रहण है ॥ ८६ ॥

एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक्पृथक् ॥
समस्तेष्वथ वा सम्यग्विधेयाः स्नेहवस्तयः ॥ ८७ ॥

इन योगोंमेंसे पृथक् पृथक्से सिद्ध किये हुए अथवा समस्त योगसे सिद्ध किये हुए स्नेहसे ठीक वस्ति करना यह स्नेहवस्ति कहाती है ॥ ८७ ॥

वंध्यात्वनाशकवस्ति ।

वंध्यानां शतपाकेन शोधितानां यथाक्रमम् ॥
बलातैलेन देयाः स्युर्वस्तयस्त्रैवृतेन च ॥ ८८ ॥

वंध्या स्त्रियोंको स्नेहन, स्वेदन, वमन, रेचनादिसे शुद्ध करके शतपाकविधानसे सिद्ध किये बलातैलकी वस्ति देवे तथा त्रैवृत घृतकी वस्ति देवे तो वन्ध्यापन नष्ट होवे ॥ ८८ ॥

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं वस्तिं निधापयेत् ॥ मध्यमं मध्यसत्त्वस्य विपरीतस्य वै मृदुः ॥ ८९ ॥ एवं कालं बलं दोषं विकारं च विकारवित् ॥ वस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य वस्तीन्प्रयोजयेत् ॥ ॥ ९० ॥ दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः ॥ पश्चात्संशमनीयं च दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ॥ ९१ ॥

उत्तम सत्त्ववाले (अति बलवान्) को तीक्ष्ण (तेज) वस्ति देनी चाहिये, मध्यम सत्त्ववालेको मध्यम तथा हीन सत्त्ववाले (दुर्बल) को मृदु वस्ति देनी उचित है ॥ ८९ ॥ इसी प्रकार काल (समय), बल, दोष तथा व्याधिको देख (विचार) कर रोगोंका जाननेवाला वैद्य वस्तिका प्रयोग करे (और वस्तिके द्रव्योंको भी समय, दोष आदिसे अनुकूल देख लेवे) तथा वस्तिकी औषधोंका बल भी समझ लेवे तब उपयोग करे ॥ ९० ॥ सबसे पहले उत्क्लेशन (दोषोंको उठानेवाली) वस्ति देवे फिर दोषोंको निकालनेवाली देवे इससे पीछे संशमन (बचे रहे दोषोंको शांत करनेवाली वस्तिका उपयोग करे) ॥ ९१ ॥

एरंडबीजं मधुकं पिप्पली सैंधवं वचा ॥ हबुषाफलकल्कश्च वस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥ ९२ ॥ शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च ॥ सकांजिकः सगोमूत्रो वस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥ ९३ ॥ प्रियंगुमधुकं मुस्ता तथैव च रसांजनम् ॥ सक्षीरः शस्यते वस्तिर्दोषाणां शमनः परः ॥ ९४ ॥

एरंडके बीज, मुलेठी, पीपल, सैंधानमक, वच, हाऊबेर और मैनफलका कल्क करके वस्ति देनेसे उत्क्लेश (दोषोंका उठाया पतलापन) होताहै ॥ ९२ ॥ शताह्वा (सौंफ या सोया), मुलेठी, कुडेके बीज (इंद्रजौ) और मैनफल इनका कल्क करके कांजी और गोमूत्र मिलाकर वस्ति करनेसे दोष निकल जातेहैं यह दोषोंको निकालनेवाली उत्क्लेशन वस्ति है ॥ ९३ ॥ प्रियंगु, मुलेठी, नागरमोथा और रसोत इनमें दूध मिलाकर वस्ति करनेसे (शेष रहे) दोष शांत होते हैं यह दोषोंको शमन करनेवाली वस्ति है ॥ ९४ ॥

माधुतैलिकवस्ति।

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि ॥ नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि ॥९५॥ दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च ॥ समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम् ॥ ९६ ॥ यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र नोच्यते ॥ फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसंभवः ॥ ९७ ॥ योज्यस्त्वतः सुखेनैव निरूहक्रममिच्छता ॥ यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता ॥ ९८ ॥

राजोंके लिये तथा राजाओंके समान बडे आदमियोंके लिये तथा स्त्रियों और कोमल (नाजुक) मनुष्यों तथा बालकों और वृद्धोंके लिये ॥ ९५ ॥ दोषोंके

निकालनेके वास्ते और बल, रूप आदिके उदय होनेके वास्ते माधुतैलिकवस्तिका विधान विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ॥ ९६ ॥ इसमें सवारी, स्त्रीसंग, भोजन, पान इत्यादिका कुछ भी नियम नहीं है और फल (फायदा) बहुत विशेष है और व्याधियां भी इससे नहीं होतीं (अर्थात् कुछ उपद्रव भी इसमें नहीं होते) ॥ ९७ ॥ इस कारणसे निरूहणके क्रमकी इच्छावाले विद्वान् वैद्यको सुखपूर्वक जब इच्छा हो तब इसीका उपयोग करना चाहिये ॥ ९८ ॥

मधुतैले समे स्यातां क्काथश्चैरंडमूलजः ॥ पलार्द्धं शतपुष्पायास्त-तोर्द्धं सैंधवस्य च ॥ ९९ ॥ फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलो-डितः ॥ देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः ॥ १०० ॥

इसमें शहत और तैल समान भाग लेना और इतनाही एरंडकी जडका क्काथ तथा आधे पल सौंफ और सौंफसे आधा सैंधानमक लेना ॥ ९९ ॥ इसमें १ मैन-फल पीसकर मिला देवे और रईसे मथ डाले फिर सुहाता गरम करके वैद्य इसकी वस्ति देवे इसका नाम माधुतैलिकवस्ति है ॥ १०० ॥

☞ (वक्तव्य) इसमें द्रव्योंकी समष्टि मात्रा ९ प्रसृत अर्थात् १८ पल पूरी लिखी है जिसमें ४ पल शहत, ४ पल तैल, ८ पल क्काथ लेना टीकाकारने लिखा है पर इस समय इसकी मात्रा भी आधी आधी ही रखनी उचित है अर्थात् सब मिला-कर ९ पल हो इसी हिसाबसे द्रव्योंको लेकर वस्ति देना समयानुसार ठीक प्रतीत होता है ॥

वचा मधुकतैलं च क्काथः सरससैंधवः ॥ पिप्पलीफलसंयुक्तो व-स्तिर्युक्तरथः स्मृतः ॥ १०१ ॥ सुरदारु वरा रास्ना शतपुष्पा वचा मधु ॥ हिंगुसैंधवसंयुक्तो वस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥ १०२ ॥ पंचमू-लीकषायं च तैलं मागधिका मधु ॥ वस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैंधवः ॥ १०३ ॥ यवकोलकुलत्थानां क्काथो मागधिका मधु ॥ ससैंधवः समधुकः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ॥ १०४ ॥

वच, शहत, तैल, और क्काथ (अरंडमूलका क्काथ), मांसरस, सैंधानमक, पिप्पली और मैनफल इनकी वस्ति करना युक्तरथ (माधुतैलिक युक्तरथ) वस्ति है (इसमें 'पिप्पलीफलसंयुक्तो' की जगह 'पिप्पलीमूलसंयुक्तो' ऐसा भी पाठ है) ॥ ॥ १०१ ॥ देवदारु, त्रिफला, रास्ना, सौंफ, वच, शहत, हींग और सैंधानमक (और तैल अनुक्त भी लेना) इन सबको मिलाके वस्ति करना यह दोषहरवस्ति

कहलाता है ॥१०२॥ पंचमूलका क्वाथ, तेल, पीपल, शहत, सौंफ और सेंधानमक इनको मिलाकर वस्ति करना भी श्रेष्ठ है ॥ १०३ ॥ जौ बेर, कुलथी इनका क्वाथ पीपल, शहत, सैंधानमक, मुलेठी (और तैल अनुक्त भी लेना क्योंकि ये सब माधुतैलिकहीके भेद हैं) इनकी वस्ति करना सिद्धवस्ति कहलाता है ॥ १०४ ॥

मुस्तादिकवस्ति ।

मुस्तापाठामृतातिक्ताबलारास्नापुनर्नवाः ॥ मंजिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान् ॥ १०५ ॥ पालिकान्पंचमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम् ॥ जलाढके पचेत्क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत् ॥ १०६॥ क्षीरप्रस्थेन संयुक्तं क्षीरशेषं परिस्रुतम् ॥ पादेन जांगलरसस्तथा मधुघृतं समम् ॥१०७॥ शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसांजनैः ॥ कार्षिकैः सैंधवयुतैः कल्कैर्वस्तिः प्रयोजितः ॥ १०८ ॥ वातासृङ्मोहशोफार्शोगुल्ममूत्रविबंधनुत् ॥ विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः॥ १०९ ॥ बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः ॥ स्थापनानामयं राजा वस्तिर्मुस्तादिको मतः ॥ ११० ॥

नागरमोथा, पाठा, गिलोय, कुटकी, खिरेंटी, रास्ना, सांठी, मंजीठ, किरमाला, खस, त्रायमाण, गोखरू ॥ १०५ ॥ और लघुपंचमूल इन सबको पल पल भर लेवे और आठ मैनफल लेवे इन सबको आढकभर जलमें क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहनेपर उतार ले फिर उसको छानकर १ प्रस्थ दूधमें पकावे और जब दूध शेष रहे तब उतार लेवे फिर इसमें १ चौथाई जंगली जीवोंके मांसका रस तथा उतना २ ही शहत और घृत डाले ॥ १०६॥ १०७॥ और सौंफ, प्रियंगु, मुलेठी, इंद्रजौ, रसोत, सैंधानमक इन सबको कर्ष कर्ष ले कल्क कर मिला दे फिर इसकी वस्ति उपयोग करे ॥ १०८ ॥ यह वातरक्त, मोह (मूर्च्छा), शोथ, बवासीर, गुल्म, मूत्रदोष और बंधा पडना इन रोगोंको नाश करता है तथा विसर्प, ज्वर, विड्भेद, रक्तपित्त इनको भी नष्ट करनेवाला है ॥ १०९ ॥ बलकारक, जीवन, वृष्य, नेत्रोंको हितकारक और शूलनाशक है यह मुस्तादिक वस्तिका प्रयोग सब आस्थापनके प्रयोगोंमें राजाके तुल्य है ॥ ११० ॥

अवेक्ष्य भेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित् ॥ बीजेनानेन मति-

मान्कुर्याद्वस्तिशतान्यपि ॥ १११ ॥ अजीर्णे न प्रयुंजीत दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥ आहाराचारिकं शेषमन्ययुक्तं समाचरेत् ॥ ११२ ॥

रोगोंको जाननेवाला बुद्धिमान् वैद्य औषधको देख लेवे (विचार लेवे) और रोगको विचारले फिर इसी बीजके अनुसार सैकडों वस्तिके प्रयोग बुद्धिसे कल्पना कर सकता है ॥ १११ ॥ अजीर्णमें वस्तिकर्म नहीं करना तथा वस्तिकर्म किये जानेपर दिनमें सोना भी उचित नहीं इसके सिवाय और आहार,विहारभी यथायोग्यही करने चाहिये ॥ ११२ ॥

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते ॥ माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्वस्तिरुच्यते ॥११३॥ रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते ॥ यस्मान्न प्रतिषिद्धोयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥ ११४॥ बलोपचयवर्णानां यस्माद्व्याधिशतस्य च ॥ भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धवस्तिरतो मतः ॥ ११५ ॥

जिससे मधु और तैल प्रधानतासे दिये जाते हैं इससे वैद्य इसे माधुतैलिक वस्ति कहते हैं ॥ ११३ ॥ रथमें नियुक्त होनेपर तथा हाथी और घोडेकी कल्पनामें जो नहीं थके या नहीं रुके इससे इसे युक्तरथ कहते हैं ॥ ११४ ॥ जिससे शरीरको बल, वृद्धि और रूपकी तथा सैकडों व्याधियोंकी एकहीसे सिद्धि होजावे इससे इसे सिद्धवस्ति कहतेहैं ॥ ११५ ॥

सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाश्च ये नराः ॥ मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ॥ ११६ ॥ मृदुत्वात्पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात् ॥ एकवस्तिप्रदानाच्च सिद्धवस्तिष्वयंत्रणा ॥११७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थानेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

सुखी आदमियोंको जिनके अल्प दोष हो उन्हें तथा जो नित्यही स्निग्ध रहतेहैं तथा जो नरम कोठेवाले हों उन सबको माधुतैलिकवस्तिका उपयोग करना चाहिये ॥ ११६ ॥ और मृदु होनेसे, पौनी मात्रा होनेसे तथा वमनादिक सब विधियोंका सेवन नहीं होनेसे और केवल १ ही वस्ति प्रयोग किया जानेसे सिद्धवस्ति सबसे श्रेष्ठ है (अर्थात इसमें स्नेहन, स्वेदन, वमन, रेचनकीभी आवश्यकता

(श्लो० ११२) "अन्ययुक्तं समाचरेत्" इत्यत्र अन्यत्कामं समाचरेदिति वा पाठः तत्र कामं यथेष्टं समाचरेत् (इति नि. सं.) (श्लो० ११७) अकृत्स्नविधिसेवनात् वमनादिसंस्कारवर्जितात् (इति नि० सं०) ।

नहीं और एकही वस्ति दीजावे इससे यह अयन्त्रणा (निर्बंधन) सिद्ध है और श्रेष्ठ है ॥ ११७ ॥

इति पण्डितमुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० चिकित्सितस्थानेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ३९.

अथात आतुरोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

यहांसे अगाडी हम रोगीके उपद्रवोंकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं।

पंचकर्मके पीछे जठराग्निकी रक्षा।

स्नेहपीतस्य वांतस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः॥ निरूढस्य च कायाग्निर्मंदो भवति देहिनः ॥ १ ॥ सोन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तैः प्रशाम्यति ॥अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः॥२॥ स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्द्धते ॥ काष्ठैरणुभिरल्पैश्च संधुक्षित इवानलः ॥ ३ ॥

स्नेहपान करने, वमन करने, विरेचन लेने, रुधिर निकलवाने तथा निरूहणवस्ति-कराने (इन पांच कर्मों) के पीछे मनुष्यकी शारीरिक अग्नि मंद होजाया करती है ॥१॥ और इस समयमें अत्यन्त भारी (गरिष्ठ) भोजनसे वह अग्नि शांतही होजाता (अर्थात् नष्टप्राय होजाती) है जैसे छोटी अग्निकी चिनगारी बहुत भारी ईंधनसे दब (बुझ) जाया करती है ॥ २ ॥ और यदि इन पांच कर्मोंके पीछे थोडा और हलका उचित भोजन करे तो जठराग्नि बढती है जैसे छोटे २ हलके काठके टुकडोंसे (थोडी) अग्नि भी (प्रचंड होजाती है) जलने लगती है ॥ ३ ॥

दोषहरणके अनुसार भोजन।

हृतदोषप्रमाणेन सदाहारविधिः स्मृतः॥त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोर्द्धाढकमाढकम् ॥ ४ ॥ तत्रावरं प्रस्थमात्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे ॥५॥ प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतंदुला ॥ द्वे चैवार्द्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते ॥ ६ ॥

(श्लो० १)आतुरोपद्रव इति-रोगः तेनात्र पंचकर्मनिमित्ताः व्यापदः प्रायेणेति । डल्हनमते तु एतानि पचकर्माणि यथा-स्नेहपानं गमनं रेचनं रक्तस्रुतिः निरूहणं च। (श्लो० ६) 'यवागू' इत्यत्र एकवचननिर्देशादेकवारामिति बोध्यम्। 'द्वे चैवार्द्धाढके' इत्यत्र द्वे पेये द्वौ वारौ इति वोद्धव्यम्। तिस्र इति-वारत्रयं दद्यात् (इति नि. सं.)।

दोषोंके निकलनेके प्रमाणसे सदा आहारविधि करनी चाहिये इसके तीन प्रमाण हैं १ प्रस्थ, २ आधे आढक, ३ आढक ॥४॥ इनमेंसे प्रस्थका हीन प्रमाण है तथा आधे आढक दोष निकल जाना मध्यम और आढक उत्तम है ॥५॥ इसमें प्रस्थभर दोष निकलेपर थोडे चावलोंकी यवागू एक वार देवे, आधे आढक निकल जानेपर दो समय, आढक भर निकलनेपर तीन वार यवागू दे (प्रस्थभर निकलनेसे कई रुधिर निकलनाही अर्थ करते हैं) ॥ ६ ॥

विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः ॥ दर्व्योद्युक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छलाम् ॥ ७ ॥ अस्निग्धलवणां स्वच्छमुद्गयूषयुतां ततः ॥ अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात्सुस्निग्धमोदनम् ॥ ८ ॥ ततः सघृतमंडेन हृद्येनेंद्रियबोधिना ॥ त्रीनंशान्वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदु ॥ ९ ॥

जो उचित चावलोंके चौथाई भागसे बनाई हुई हो, जिसमें चावल खूब सीजे हों और जो गाढी न हो गई हो ऐसी विलेपी जिसमें चिकनाई और नमक न हो उसे अच्छे मूँगके यूषके संग भोजन करावे इसके कुछ दिन पीछे आधे भाग चावलोंका कोमल भात चिकनाई युक्त देवे (अथवा "अंशद्वय"से यह भी अभिप्राय कई लेते हैं कि स्निग्ध भात आधे भूख देवे) ॥ ७ ॥ ८ ॥ इसके पीछे घृत और मंडके संग इंद्रियोंका बोध करनेवाला चावलोंका कोमल भात रोगीको तीन भाग खानेको देवे (अर्थात एक भागकी क्षुधा रहने दे) ॥ ९ ॥

ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः ॥ लवणैर्हरिणादीनां रसैर्दद्यात्सुसंस्कृतैः ॥१०॥ हीनमध्योत्तमेष्वेव विरेकेषु विधिः स्मृतः ॥ एकद्वित्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमो हितः ॥ ११ ॥

इसके पीछे यथोचित भात, लवणयुक्त, हरिणादिक जीवोंके मासरसके संग रोगीके लिये खानेको वैद्य देवे तथा उस मांसरसमें जीरकादिका संस्कार भी कर देवे ॥१०॥ हीन, मध्य और उत्तम विरेचनमें भी यही विधि है कि हीन विरेचनवालेको (प्रथम वही पूर्वोक्त यवागू) एक वार, मध्य विरेचनवालेको दो वार, उत्तम विरेचनवालेको तीन वार (फिर पूर्वोक्त क्रमसे विलेपी भात आदि देवे) ॥११॥

कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान्हीनविशोधितान् ॥ पेयाभिष्यंदयेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ॥ १२ ॥ वेदनालाभनियमशोकवैचि-

(श्लो० ७) क्लिन्नसिक्थामिति-क्लिन्नं सिक्थं यत्र ताम् । सिक्थं भक्तपुलाक ग्रासं च (इति श० स्तो०)

त्यहेतुभिः ॥ नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत् ॥ १३ ॥

जिसके कफ और पित्त अधिक हो, जो नित्य मद्य पीते हों, जिनका हीन शोधन हुआ हो उनको पेया (पेय भोजन) अभिष्यंदकारक होता है उनको तर्पण भोजन हित होता है ॥ १२ ॥ वेदना प्राप्त होनेसे, नियम (व्रतादि करने) से शोकसे चित्त विगड जानेसे जिन मनुष्योंने लंघन किया हो उनको भी विरेचन किये मनुष्यके तुल्य ही भोजनआदि सब उपचार कराने चाहिये ॥ १३ ॥

आढकार्द्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने ॥ एको विरेकः श्लेष्मांतो न द्वितीयोस्ति कश्चन ॥ १४ ॥ वलं यत्त्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा ॥ तत्रानुक्रममेकं तु वलस्थः सकृदाचरेत् ॥ द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन्वारान्दुर्वलस्तथा ॥ १५ ॥ केचिदेवं क्रमं प्राहुर्मन्दमध्योत्तमाग्निषु ॥ १६ ॥

विरेचनमें आढक, अर्द्ध आढक तथा प्रस्थ यह संख्या (दोषोंके निकलनेकी) है और जिसके एकही विरेचनके अंतमें कफ गिर जावे तो दूसरा कदापि न देवे (और कई यह भी अर्थ करते हैं कि एक विरेचनही कफका अंतकारक होता है और दूसरा कोई यत्न नहीं है) ॥ १४ ॥ जब कि बल तीन प्रकारका कहा है (हीनबल, मध्यबल, उत्तमबल) तो फिर उसके लिये क्रमभी तीनही प्रकारका है इसमें बलवान्‌को एक एक वारही अनुक्रमण करना चाहिये और मध्यम बलवालेको दो वार तथा दुर्बलको तीन वार करना चाहिये ॥ १५ ॥ कोई इस क्रमको मन्दाग्नि, मध्याग्नि और उत्तमाग्निके लिये वर्णन करते हैं ॥ १६ ॥

(वक्तव्य) अभिप्राय इसमें यह है कि बलवान्‌को एकही वार (एकही दिनमें) पूर्ण कफांतकृत विरेचन दे देना चाहिये और मध्य बलवालेको थोडा २ करके दो वार (दो दिन) देना और दुर्बल मनुष्योंको तीन वार करके (तीन दिनमें जुलाब) देना चाहिये, वस्ति मलसंचयके लिये एक २ दिनका अंतर करे तो भी ठीक है जैसे इन दिनों एक दिन जुलाब, दूसरे दिन ठंढाई ऐसे तीन ३ दिन जुलाब देते हैं ॥

(श्लो० १४) 'आढकार्द्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषाविरेचने' इत्यनेनात्र निर्गतमलपरिमाणेन संख्या निर्मिता नतु प्रवाहणगणनया, भावमिश्रादिभिस्तु प्रवाहणवेगैरेव संख्या कृता तदुक्तं च-'मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफांतका ॥ वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका ॥ १ ॥ इति । तत्तु न सम्यक् । तत्राह डल्लनः यद्यपि-पित्तस्यांतस्तदनंतरं तत्परमामरूपःकफः प्रवर्तते तस्मात् कफान्वितत्वाद्विरेकस्य तां प्रवाहिकां संख्या विरेचनविदो नेच्छति इति ।

रसभेदसे भोजन ।

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्व्रजेत् ॥ प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान्कटुकं ततः ॥ १७ ॥ स्वाद्वम्ललवणान्भूयः स्वादुतिक्तावतः परम् ॥ स्निग्धरूक्षान्रसांश्चैव व्यत्यासात्स्वस्थवत्ततः ॥ १८ ॥

पंचकर्मके पीछे अन्नादिके संसर्गसे जब अग्नि बढ जावे तब दोषोंके कोपके भयसे (अर्थात् इस अवस्थामें जैसा जैसा आहार विशेष किया जावे उसी दोषकी अधिक वृद्धि और कोप होकर अनेक भयंकर रोग चिरस्थायी उत्पन्न होजाते हैं जैसे अधिक मधुर स्निग्धसे स्थूलता, मेदोवृद्धि तथा अतिरूक्ष कटुकके खानेसे शोष, कृशता इत्यादि । इसी लिये भोजनका ऐसा विचार रक्खे जिससे कोई दोष बढकर कोपको प्राप्त न हो) प्रथम बढी हुई अग्निकी वा पित्तकी समताके लिये मधुर और तिक्त (कडवे) रस भोजन करने फिर वायुकी शांतिके लिये स्निग्ध अम्ल और लवण रस भोजन करने फिर कफकी शांतिके लिये कटुक (चरपरे) रसके पदार्थ भोजन करे ॥ १७ ॥ फिर इसके पीछे मीठे, खट्टे और लवणके पदार्थ भोजन करे और फिर मीठे और तिक्त भोजन करे और स्निग्ध, रूक्ष रस उलट पलटकर खावे (अर्थात् स्निग्धके पीछे रूक्ष और रूक्षके पीछे स्निग्ध खाते रहे) (ऐसा क्रम करते रहनेसे कोई दोष वृद्धि और कोपको प्राप्त नहीं होता) और फिर स्वस्थ मनुष्यकी तरह यथेच्छ भोजन करे ॥ १८ ॥

केवलं स्नेहपीतो वा वांतो यश्चापि केवलम् ॥ स सप्तरात्रं मनुजो भुंजीत लघुभोजनम् ॥ १९ ॥ कृतः शिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम् ॥ स नो परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान्भवेत् ॥ ॥ २० ॥ एकैकस्मिन्परिहरेद्बस्तौ बस्तौ त्र्यहं त्र्यहम् ॥ तृतीये तु परिहरेद्यथायोगं समाचरेत् ॥२१ ॥

जिसने केवल स्नेहपान ही किया हो या केवल वमन ही किया हो वह मनुष्य सात दिन पीछे तक हलका भोजन करे ॥ १९ ॥ जिसकी फस्त खोली गई हो या जिसका शोधन किया हो अर्थात् जिसे जुलाब दिया हो वह मनुष्य १ महीनेतक या जबतक पूरा २ बलवान् हो तबतक लघु भोजन करे (और पथ्यसे रहे) ॥ ॥ २० ॥ एक एक बस्तिकर्ममें तीन तीन दिन पथ्य करे और तीसरे परिहारक पीछे यथायोग्य आचरण करे ॥ २१ ॥

रोगीके कुपथ्यसे होनेवाले उपद्रव ।

तैलपूर्णामसृद्भांडसधर्माणो व्रणातुराः ॥ स्निग्धशुद्धाक्षिरोगार्ता ज्वरातीसारिणश्च ये ॥ २२ ॥ क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान् ॥ आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति ॥ २३ ॥

तैलसे भरे हुए मिट्टीके कच्चे घडेके समान ये रोगी होते हैं जैसे-व्रणातुर, स्नेहपान किये हुए, शुद्ध वमन, विरेचन और बस्ति किये हुए, नेत्र रोगवाले, ज्वरवाले और अतिसारके रोगी ॥ २२ ॥ यदि ये क्रोध करें तो पित्त कुपित होकर उसी उसी प्रकारके उपद्रव करता है इससे इन्हें क्रोधादि करना उचित नहीं और परिश्रम करनेसे तथा शोच करनेसे चित्तमें भ्रम होता है ॥ २३ ॥

मैथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः ॥ आक्षेपकं पक्षघातमंगप्रग्रहमेव च ॥ २४ ॥ गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ ॥ शुक्रवच्चापि रुधिरं सरजस्कं प्रवर्तते ॥ २५ ॥ लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान्व्याधीन्कफात्मिकान् ॥ प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पांडुतां श्वयथुं ज्वरम् ॥ २६ ॥ मोहं सदनमंगानामविपाकं तथारुचिम् ॥ तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनंदति ॥ २७ ॥

वमन, रेचनके पीछे मैथुन करनेसे दुर्मति मनुष्य आक्षेपक, पक्षाघात, अंगग्रह आदि घोर व्याधियोंको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ गुह्यदेशमें शोथ और दारुण श्वास, कास हो जाते हैं और प्रमेह होता है तथा स्त्रीके रुधिर (रज) में मिलके निकलने लगता है (स्त्री भी वमन, रेचनादिके पीछे उक्त कुपथ्य न करे) ॥ २५ ॥ वमन, रेचनादिके पीछे दिनमें सोनेसे कफकी व्याधियां, प्लीहवृद्धि, जुखाम, पांडुता, शोथ और ज्वर हो जाता है ॥ २६ ॥ तथा मूर्च्छा, अंगोंका थकाव, भोजन न पचना तथा अरुचि होती है और तमोगुणसे व्याप्त होकर नींद ज्यादे आने लगती है (अर्थात् निद्रा बढ जाती है) ॥ २७ ॥

उच्चैःसंभाषणाद्वायुः शिरस्यापादयेद्रुजम् ॥ आंध्यं जाड्यमजिघ्रत्वं बाधिर्यं मूकतां तथा ॥ २८ ॥ हनुमोक्षमधीमंथमर्दितं च सुदारुणम् ॥ नेत्रस्तंभं निमेषं वा तृष्णां कासं प्रजागरम् ॥ २९ ॥ लभते दंतचालं च तांस्तांश्चान्यानुपद्रवान् ॥ ३० ॥ यानयानात्तु लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान् ॥ तथैवांगग्रहं घोरमिंद्रियाणां च विभ्रमम् ॥ ३१ ॥

ऊंचे (पुकार २ के) ज्यादा बोलनेसे वायु शिरमें रोग उत्पन्न करता है तथा अन्धापन, मूर्खता, गंधका अज्ञान, वहरापन और गूंगापन इतने रोग पैदा करता-है ॥ २८ ॥ ठोडी (जवडा) खुला रहना या बंद रहना, अधिमंथ, अर्दितवायु तथा नेत्र ठठराजाना या पलक बंद न होना, तृषा, खांसी और निद्रा नहीं आना इतने दारुण रोग पैदा करता है ॥ २९ ॥ तथा दातोंका चलायमान होना और उसी भांतिके अन्य उपद्रव उस मनुष्यको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ और सवारी करनेसे वमन, मूर्च्छा, भ्रम, थकाव तथा शरीरका जकडना और इंद्रियोंका विभ्रम इन रोगोंको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

चिरासनात्तथा स्नानाच्छ्रोण्यां भवंति वेदना ॥ ३२ ॥ अतिचंक्र-मणाद्वायुर्जंघयोः कुरुते रुजम् ॥ सक्थिप्रशोषं शोफं वा पादहर्ष-मथापि वा ॥ ३३ ॥ शीतसंभोगतोयानां सेवा मारुतवृद्धये ॥ ततोंगमर्दविष्टंभशूलाध्मानप्रवेपकाः ॥ ३४ ॥ वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात् ॥ विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति ॥ ३५ ॥

बहुत देरतक एक आसनसे बैठनेसे तथा स्नान करनेसे (ठंढे पानीके न्हानेसे) कमरमें दरद होता है ॥ ३२ ॥ अत्यन्त फिरनेसे वायु साथलोंमें पीडा करता है, साथलें सूख जाती हैं या सूज जाती हैं अथवा पावोंमें झन्नाटा होने लगता है ॥ ॥ ३३ ॥ शीतल वस्तुओंका वरताव करने या जलकी सेवा (फुहारे आदिके पास बैठनेसे) वायुकी वृद्धि होती है, जिससे अँगडाई ज्यादे आना, विष्टंभ होना, शूल, अफारा, कंप होजाता है ॥ ३४ ॥ प्रचण्ड हवामें रहने या धूपमें रहनेसे विवर्णता (रूप विगड जाना), ज्वर ये होते हैं और विरुद्ध भोजनसे या भोजन पर भोजन करनेसे (या ज्यादे खानेसे) मृत्यु हो जाती है या घोर उपाधियां होती हैं ॥३५॥

असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसंशयम् ॥ अनात्मवंतः पशुवद्भुं-जंते येऽप्रमाणतः ॥ रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवंति हि ॥३६॥

जो असात्म्य (बे माफकतकी वस्तु) भोजन करे तो निःसन्देह बल और वर्णका नाश होवे तथा अजितेंद्रिय (बे परहेज) मनुष्य जो अप्रमाणसे पशुओंके तुल्य बहुत भोजन करते रहें वे रोगसमूहके मूल अजीर्णको प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

व्यापदां कारणं वीक्ष्य व्यापत्स्वेतासु बुद्धिमान् ॥
प्रयतेतातुरारोग्ये प्रत्यनीकेन हेतुना ॥ ३७ ॥

इन व्यापदोंमेंसे हरेक व्यापद् और उसके कारणको बुद्धिमान् वैद्य विचारकर उसके विपरीत औषध, आहार और विहारसे रोगीकी आरोग्यताके लिये यत्न करे॥ ३७॥

(वक्तव्य) पहले जो पैंतीसवें अध्यायमें यह वर्णन किया था कि "आतुर अर्थात् रोगीकी असावधानी आदि से १५ उपद्रव होते हैं उन्हे आतुरोपद्रवचिकित्सित अध्यायमें कहेंगे" सो वे येही पन्द्रह उपद्रव पूर्व वर्णन किये गये हैं ॥

विरिक्तवांतैर्हरिणैणलावकास्ततश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः ॥
सषष्टिकाश्चैव पुराणशालयस्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम् ॥ ३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थान एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ३९ ॥

विरेचन और वमन किये पीछे मनुष्य हरिण, एण, लवा, मोर, तीतर इनका मांस तथा षष्टिक (साठी चावल और शालीचावल पुराने) तथा मूँग ये सेवन करे तथा अन्य हलके पदार्थ भी सेवन करे ॥ ३८ ॥

इति प० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा०टी० चिकित्सितस्थान एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः ४०.

अथाऽतो धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम धूमपान और नस्य तथा कवलधारण करनेकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं ।

धूमः पंचविधो भवति । तद्यथा प्रायोगिकः स्नेहनः वैरेचनः कासघ्नो वामनीयश्चेति ॥ १ ॥

धूम पांच प्रकारका होता है जैसे १ प्रायोगिक (जिसके प्रयोग रखनेसे वायु और कफ शांत हों), २ स्नेहन (स्निग्धताके अंशांश पहुँचानेवाला), ३ वैरेचन (जिससे शिरके या शरीरके दोषोंका रेचन होवे), ४ कासनाशक (जिससे खांसी, कंठके रोग तथा हिक्का आदि नष्ट होवें), ५ वामनीय (वमनकारक) ॥ १॥

पांच प्रकारकी धूमकी बत्तियां ।

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येण श्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशांगुलं शरकांडं क्षौमेणाऽष्टांगुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके । स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलुप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः स्नेहने । शिरोविरेचनद्रव्यैर्वैरेचने । बृहतीकंटकारिकात्रिकटुककासमर्दहिंगिंगुदीत्वङ्मनःशिलाच्छिन्नरुहाकर्कटशृंगीप्रभृतिभिः कासहरैश्च

कासघ्ने। स्नायुचर्मखुरशृंगकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये ॥ २ ॥

इसमेंसे १ प्रायोगिक धूमपानके लिये ऐसा करे कि एलादिगणकी औषधोंमेंसे-कूट और तगर छोडकर सबको गीला पीस ले और बारह अंगुलकी तुली लेकर उसपर आठ अंगुलतक क्षौम (सण या अतसीका पतला वस्त्र) लपेटकर उसपर वह कल्क लेपन कर दे यह वर्ति (सींख) प्रायोगिक धूमके लिये है। और २ चिकने फलोंकी गिरी, मोंम, राल, गूगल आदिमें घृत मिलाकर उपयोग करना स्नेहनमें चाहिये। ३ शिरोविरेचन द्रव्यों (अपामार्ग, कायफल आदि) से वैरेचन धूमपानमें बत्ती बनावे। ४ कासघ्नके लिये बडी कटेली, छोटी कटेली, त्रिकटु, कासमर्द (कसोंधी), हींग, हिंगोट, तज, मैनफल, गिलोय, काकडासींगी आदि खांसी नष्ट करनेवाले द्रव्योंसे बनावे। ५ वामनीय (वमन करानेके लिये) स्नायु, चर्म, खुर, सींग, ककेडेके अस्थि, सूखी मछली, सूखा मांस तथा कीडे इन्हें काममें लावे (इनका बीभत्स सूगला धूम उपयोग करे) ॥ २ ॥

धूमपानकी नली।

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्राणि व्याख्यातानि भवंति । धूमनेत्रं तु कनिष्ठिकापरिणाहमग्रे कलायमात्रं स्रोतो मूलेऽगुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोंगुलान्यष्टचत्वारिंशत्प्रायोगिके । द्वात्रिंशत्स्नेहने। चतुर्विंशतिर्वैरेचने । षोडशांगुलं कासघ्ने वामनीये च । एते अपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टांगुलं धूपनार्थं कलायपरिमंडलं कुलत्थवाहिस्रोत इति ॥ ३ ॥

जिन पदार्थोंसे वस्ति नेत्र (नली) बनाना पहले लिख चुके हैं उन्हीसे धूमपानकी नली बनानी चाहिये। धूमपानकी नली कनिष्ठिका अँगुली जैसी मोटी हो, अगाडीसे मटर जितना छिद्र होवे और जडमेंसे अंगूठे जितनी मोटी और जिसमें धूम द्रव्योंकी बत्ती आसके उतना छिद्र चाहिये, यह नली प्रायोगिक धूमके लिये ४८ अंगुल लंबी चाहिये। और स्नेहनके लिये ३२ अंगुल। तथा वैरेचन धूमक लिये २४ अंगुल लंबी। और कासघ्न तथा वामनीय १७ अंगुलकी चाहिये। और ये दोनों बेरकी गुठली सम छिद्रवाली चाहिये । व्रणके धूनी देनेके लिय नली आठ अंगुलकी मटर समान मोटी जिसमें कुलथी आजावे इतनी छिद्रवाली चाहिये ॥ ३ ॥

धूमपानकी विधि ।

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतंद्रितः स्नेहाक्तां प्रदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत् ॥ ४ ॥

रोगी सुखपूर्वक बैठकर, प्रसन्न चित्त, सीधा नीचेको दृष्टि करके, आलस्यको त्यागकर, पूर्वोक्त धूम द्रव्योंकी बत्तीमें जरा चिकनाई (घृत) लगाकर, उसकी नोकको अग्निसे जलाकर, उसे नली (नै) के छिद्रमें लगाकर धूमपान करे (धुवाँको पीवे) ॥ ४ ॥

मुखेन तं पिबेत्पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत् ॥ मुखपीतं मुखेनैव वमेत्पीतं च नासया ॥५॥ मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत् ॥ तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ॥ ६ ॥

पहले उस नलीको मुखमें लगाकर धुवाँ खींचे और फिर नाकमें लगाकर नाकसेभी धुवाँ खींचे और मुखसे खींचा हुआ धुवाँ तथा नाकसे खींचा हुआ धुवाँ दोनोंको मुखहीमेंसे निकाले ॥ ५ ॥ मुखसे पिया हुआ धुवाँ कदापि नाकसे नहीं निकाले क्योंकि इस प्रतिलोमसे दृष्टि नष्ट होजाती है ॥ ६ ॥

विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत स्नेहनं मुखनासाभ्यां नासिकया वैरेचनं मुखेनैवेतरौ ॥७॥ तत्र प्रायोगिके वर्तिं व्यपगतशरकांडां निवातातपशुष्कामंगारेष्ववदीप्य नेत्रमूलस्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेति ब्रूयात् । एवं स्नेहनं वैरेचनिकं च कुर्यात् ॥ ८ ॥

प्रायोगिक धूमपान विशेषकर नाकसे करे, स्नेहन मुख और नाक दोनोंसे पीवे, वैरेचन (शिरोविरेचन) धूम नाकसेही लेवे और वामनीय तथा कासघ्न ये दोनों मुखसे ही पीवे ॥ ७ ॥ इसमेंसे प्रायोगिक धूमपानकी वर्तिमेंसे तुली निकाल लेवे और उसे निर्वात जगह और छायामें सुखाकर अंगारोंसे जलाकर नलीकी जडके छिद्रसे लगाकर धुवाँ खींचो ऐसा कहे और इसी भांति स्नेहन और वैरेचनमें करे ॥ ८ ॥

(वक्तव्य) शरकांडका अर्थ कई मुंजा अर्थात् मूँज करते हैं और उसे सिल्हाकर उसके भीतर कल्क भरकर सुखावे पर हमारी समझमें बत्ती पोली होनी चाहिये तुली पर द्रव्य लगाकर तुली निकाल डालनेसे होजाती है ॥

(वा० ८) यथास्वं च धूमद्रव्याणां कल्केन श्लक्ष्णेनाक्षमात्रेण द्वादशांगुलायतामिषीकामंभस्यहोरात्रोषिता लेपयेत् (इति वृ वा.)

इतरयोर्व्यपेतधूमांगारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्तिं मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिञ्छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत ॥ ९ ॥ प्रशांते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोषविशुद्धेरेष धूमपानोपायविधिः ॥ १० ॥

अन्य कासघ्न आदि धूमपानमें ऐसा करे कि एक सकोरा लेकर उसमें विना धुवांके अंगारे डालकर उन अंगारोंपर वर्ति (वत्तीकी औषध) डाले और एक दूसरे सकोरेके नीचे छेद करके इसे उसपर ढक दे और उस छेदसे नलीकी जड लगाकर धूमपान करे ॥ ९ ॥ जब इसका धुवाँ पिया जाचुके तब फिर बची हुई बत्ती (औषध) इसी प्रकारसे डालकर धूमपान करे जबतक दोषकी शुद्धि न हो तबतक कई वार धूमपान करे, बस यही धूमपानकी विधि है ॥ १० ॥

धूमपानके अयोग्य मनुष्य ।

तत्र शोकश्रमभयामर्षौष्ण्यविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापांडुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोभिघातोद्गारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्द्ध्ववातार्त्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीताल्पकफाश्च न धूममासेवेरन् ॥ ११ ॥

तहां शोक, श्रम, भय, क्रोध, उष्णता और विषसे व्याप्त, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, तृषा, पांडुरोग, तालु सूखना, छर्दि, शिरका अभिघात, डकार, लंघन, तिमिर, प्रमेह, उदररोग, अफारा तथा ऊर्द्ध्ववायु, इतने रोगोंवाले और बालक, वृद्ध, दुर्बल, विरेचन लिये पर आस्थापन वस्ति कराके, रात्रिको जागरण करके, गर्भवती स्त्री, रूखा मनुष्य, क्षीण, उरःक्षतवाले तथा जिसने शहत, घृत, दही, दूध, मछली, मद्य, यवागू ये तत्काल ही खाये पिये हों तथा जिनके शरीरमें कफ थोडा रह गया हो ये इतने मनुष्य धूम पान नहीं सेवन करें (इन्हें धूमपान वर्जित है) ॥ ११ ॥

अकालमें धूमपानका निषेध ।

अकालेपीतः कुरुते भ्रममूर्च्छाशिरोरुजः ॥
घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥ १२ ॥

अकालमें (बेसमय) धूमपान करना भ्रम, मूर्च्छा, शिरमें पीडा, नासिका–इंद्रिय, श्रोत्र–इंद्रिय और नेत्र तथा जिह्वा इनमें दारुण उपघात करता है ॥ १२ ॥

धूमपानका समय ।

आद्यास्तु त्रयो धूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः । तद्यथा क्षुतदंत-प्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चाररुषितशस्त्रकर्मांतेष्विति ॥ १३ ॥ तत्र मूत्रोच्चारक्षवथुरुषितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः ॥ स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नांतेषु वैरेचनः ॥ दन्तप्रक्षालन-नस्यस्नानभोजनशस्त्रकर्मांतेषु प्रायोगिक इति ॥ १४ ॥

आद्यके तीन धूमपान (प्रायोगिक, स्नेहन, वैरेचन) के लिये बारह समय कहे हैं जैसे छींक, दांतोंको धोना, नस्य लेना, स्नान, भोजन, दिनमें सोना, मैथुन करना, वमन करना, पेशाब करना, दस्त जाना, क्रोध और शस्त्रकर्म इनके अंतमें धूमपान करना उचित है अन्यथा उचित नहीं ॥ १३ ॥ जिनमेंसे दस्त, पेशाव, छींक, क्रोध और मैथुन इनके पीछे स्नेहन धूमपान करना और स्नान, वमन, दिनमें सोना इनके पीछे वैरेचन धूम पीना चाहिये और दांत(मुख) धोना, नास लेना, स्नान, भोजन और शस्त्रकर्म इनकेपीछे प्रायोगिक मपान करना चाहिये ॥ १४ ॥

(वक्तव्य) इन समयोंमें कफ और वायुका उत्क्लेश होता है इससे इन समयाम ये धूम पीने चाहिये वृद्धवाग्भटमें लिखा है कि " एषु हि कालेषु वातकफोत्क्लेशो भवति " अर्थात् इन्हीं समयोंमें वायुकफका उत्क्लेश (उफान या द्रवत्व) होता है । और कासघ्न तथा वामनीयका समय नियत नहीं किया, कास आदि रोगोंमें कासघ्न तथा वमन करानेके उचित समय वामनीय धूमपान करना ॥

तत्र स्नेहनो वातं शमयति स्नेहादुपलेपाच्च । वैरेचनः श्लेष्माण-मुत्क्लेश्यापकर्षति रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च । प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षति साधारणत्वात्पूर्वाभ्या-मिति ॥ १५ ॥ भवति चात्र–

इनमेंसे स्नेहन धूम चिकनाईके कारण तथा ल्हेस पैदा करनेसे वायुको शांत करता है । वैरेचन धूम रूखेपनसे, तीक्ष्णतासे, उष्ण होनेसे और विशद (हलका पतला) होनेसे कफको पिघलाकर (पतला करके) निकाल देता है और प्रायोगिक धूम पहलेवालेसे साधारण होनेके कारण कफको पतला भी करता है और जो पतला उभरा हुआ होता है उसे निकाल देता है ॥१५॥ इस विषयमें श्लोक है–

धूमपानके गुण ।

नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेंद्रियवाङ्मनाः ॥ दृढकेशद्विजश्मश्रुसुगं-

धिविशदाननः ॥ १६ ॥ कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेदमुखास्रावववमथुतंद्रानिद्राहनुमन्यास्तंभपीनसशिरोरोगकर्णाक्षिशूलवातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवंति ॥ १७ ॥

धूमपानका उपयोग करनेसे मनुष्यकी इंद्रियाँ प्रसन्न रहती हैं वाणी और मनभी अच्छे रहते हैं। केश, दांत, दाढी, मूछ दृढ रहते हैं तथा मुख सुगंधित और साफ रहता है ॥ १६ ॥ इसके सिवाय धूमपान करनेवाले मनुष्यके खांसी, श्वास, अरुचि, मुखमें ल्हेस, स्वरभंग (अवाज बैठना), मुखसे लार बहना, मुखमें पानी भर भर आना या वमन होना, तंद्रा, अतिनिद्रा और जकड तथा मन्याका स्तंभ, पीनस, शिरके रोग, कान और आँखोंमें शूल तथा वायु, कफके अन्य रोग और मुखके रोग भी नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

धूमपानके योगायोग।

तस्य योगातियोगौ विज्ञातव्यो तत्र योगो रोगप्रशमनोतियोगो रोगाप्रशमनस्तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णाक्षिदृष्टिनासारोगदौर्बल्यानीत्ययोगो जनयति ॥ १८ ॥

धूमपानका सम्यग्योग और अतियोगभी जानना चाहिये इसमें रोगकी ठीक शांति होना (और कोई उपद्रव न होना) यह सम्यक् योग जानना और रोगकी शांति नहीं होना, तालु सूखना, गल सूखना, दाह, तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कान, नेत्र और दृष्टि तथा नासिका इनमें रोग हो जाना और दुर्बलता होना ये लक्षण हों तो अतियोग जानना (या अयोग जानना) ॥ १८ ॥

प्रायोगिकं[1] त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत[२][३][४][६]। मुखंनासिकाभ्यां च । पर्य्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति । स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः । वैरेचनिकमादोषदर्शनात् । तिलतंडुलयवागूपीतेन[1] पातव्यो[३] वामनीयः[२] । ग्रासांतरेषु कासघ्न इति ॥ १९ ॥

(वा० १९) पर्य्यायान् क्रमागतानन्यान् । स्नैहिके निबंधसंग्रहे भोजः—'प्रमाणं स्नैहिके धूमे कृशो मात्रां पिबेन्नरः । सबलस्तु पिबेत्तावद्यावदश्रुर्न गच्छति ॥' वैरेचनिकमादोषदर्शनादिति—दोषस्य विकृतस्य दर्शनादतएव तंत्रांतरे शोधनस्यैकस्मिन्दिने त्रिचतुःपानं प्रतिपादितं तथा चोक्तं—'सकृत्पिबेत्स्नेहनीय यौगिकं सकृदेव च । द्विभावितं रेचनीयं त्रिचतुर्वा पिबेन्नरः' ॥ ग्रासांतरे इति—कवलमंतर भोजनस्योत्तरमित्यन्ये ।

(अत्र वृद्धवाग्भटः) तत्र प्रायोगिकं द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वाऽऽपानांस्त्रींश्च पर्यायान्कंठाच्चोर्ध्वमुत्क्लिष्टे दोषे पूर्वं नासया ततो मुखेन कंठे तु पूर्वमास्येन परं चाहोरात्रस्य द्विः पिबेत् । स्नैहिकं त्रींस्त्रींश्चतुरश्चतुरो वाऽऽपानान्यावद्वाश्रुप्रवृत्तिस्तथाहोरात्रस्य । तीक्ष्णं नासाभ्यामेव चतुरश्चतुरश्चाऽऽपानान्यावद्वा स्रोतोलाघवं तथा—

प्रायोगिक धूमको मुख और नासिकासे तीन २ श्वास खींचे । और दूसरे प्रकारके धूमोंको तीन या चार श्वास खींचकर पीवे । तथा स्नैहिक धूमको अश्रु(आंसू) आनेतक पीवे । और वैरेचन धूमको जबतक दोष टपके तबतक पीवे । और वामनीय धूमको तिल चावलोंकी यवागूको पिलाकर पिलावे और कासघ्न धूमको ग्रासोंके बीचमें पिलाना चाहिये ॥ १९ ॥

(वक्तव्य) उक्त धूमपानके बदले आजकल तमाखू आदिका धूमपान (हुक्का पीना, सिगरेट पीना आदि) बहुतही प्रचलित होगया है ॥

व्रणधूपन ।

व्रणधूमं शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत् । धूमनाद्वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति ॥ २० ॥

व्रणको धूनी देनेकी यह विधि है कि शरावसम्पुटमें अग्नि रख, द्रव्य डाल उसके छिद्रमें नली लगाकर व्रणपर धुवाँ पहुँचावे (अथवा अंगारोंपर द्रव्य डालकर ही धूनी देवे) व्रणको धूनी देनेसे पीडाकी शांति होती है व्रण साफ होजाता है स्राव भी सूख जाता है ॥ २० ॥

(वक्तव्य) "प्रायोगिकके नामांतर" शमन और मध्यम भी हैं इसी भांति "स्नेहनके नामांतर" बृंहण मौर मृदु भी हैं तथा "वैरेचनके नामांतर" शोधन और तीक्ष्ण भी हैं–देखो टिप्पणी ।

विधि[3]रे[4]ष समासेन धूम[2]स्याभिहि[6]तो मया[5] ॥
नस्य[8]स्यात[7]ः प्रवक्ष्या[11]मि विधिं[9] निरवशे[10]षतः ॥ २१ ॥

श्रीधन्वंतरिजी कहते हैं कि धूमपानकी विधि हमने विस्तारपूर्वक वर्णन किया अब अगाडी नस्यकी संपूर्ण विधि वर्णन करते हैं ॥ २१ ॥

अथ नस्यविधि ।

औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यं तद्विविधं शिरोविरेचनं स्नेहनं च ॥२२॥ तद्विविधमपि पंचधा तद्यथा नस्यं शिरोविरेचनं प्रतिमर्शोऽवपीडः प्रधमनं च । तेषु नस्यं

–त्रिश्चतुर्वाहोरात्रस्येति (एतेषा पर्यायाः) तत्र शमनः प्रायोगिको मध्यम इति पर्यायाः । बृंहणः स्नेहनो मृदुरिति शोधनो विरेचनस्तीक्ष्ण इति च (इति बृ. वा.) । भावप्रकाशेपि–'शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा । बृंहणस्य च पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेव च ॥ रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च ॥' (इति भा. प्र.)

(वा० २२) नस्यस्य नामांतरं नावनं च ।

प्रधानं शिरोविरेचनं च नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च ॥ ततो नस्यशब्दः पंचधा निपातितः॥२३॥

औषध अथवा औषधोंसे सिद्ध किया हुआ स्नेह नासिका द्वारा दिया जाता है इस लिये इसे नस्य कहते हैं यह नस्य (नास देना) दो प्रकारका है एक शिरोविरेचन, दूसरा स्नेहन ॥ २२ ॥ यह कर्म दो प्रकारका होकर भी इसके पांच भेद हैं जैसे १ नस्य, २ शिरोविरेचन, ३ प्रतिमर्श, ४ अवपीड, ५ प्रधमन । इन सबमें नस्य और शिरोविरेचन प्रधान हैं, नस्यका भेद प्रतिमर्श है और शिरोविरेचनका भेद अवपीड और प्रधमन है इसीसे नस्य शब्द पांच प्रकारका कहा है (अथवा पांच प्रकारसे प्रयुक्त किया जाता है) ॥ २३ ॥

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कंधोरसां बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननाथ वा स्नेहो विधीयते तस्मिन्वैशेषिको नस्यशब्दः॥२४॥

इसमें शून्य शिरवालोंको स्नेहन (तरावट) के लिये तथा ग्रीवा कंधे और छातीमें बल उत्पन्न करनेके लिये अथवा दृष्टिमें प्रसन्नता पैदा करनेके लिये जो स्नेहका उपयोग (नासिकाद्वारा) किया जाता है उसी अर्थमें विशेष करके नस्य शब्द उपयुक्त है ॥ २४ ॥

स्नेहन नस्यके योग्य रोगी ।

तत्तु नस्यं देयं वाताभिभूते शिरसि दंतकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्ष्वेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषापबाहुकाकालजवलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबाधेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति ॥ २५ ॥

वह स्नेहन नस्य इतने प्रकारके मनुष्योंको देना चाहिये जैसे-जिनका शिर वायुरोगसे व्याप्त हो, दांत, शिरके बाल, डाढी, मूछोंके बाल झडने लगे हों, कानमें तीक्ष्ण शूल हो तथा कर्णक्ष्वेड, तिमिर, स्वरभंग, नासिकारोग, मुख सूखना, अपबाहुक (हाथ वायुसे स्तंभित होना), बेसमय शरीरमें झुरी पडना और बाल सुपेद होना तथा अन्य दारुण व्याधि होना तथा वायु और पित्तके रोगोंमें और मुखके रोगोंमें वात और पित्तके नाशक द्रव्योंसे सिद्ध किये हुए स्नेह (घृत, तैल आदि) से नस्य देना ॥ २५ ॥

शिरोविरेचनके योग्य ।

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकंठशिरसामरोचकशिरोगौ-

रवशूलपीनसार्द्धावभेदकक्रिमिप्रतिश्यायापस्मारगंधाज्ञानेष्वन्येषु चोर्द्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति ॥ २६ ॥

शिरोविरेचन (नस्य) उन्हें देना चाहिये जिनका तालु, कंठ और शिर कफसे व्याप्त हो तथा अरुचि, शिरमें भारीपन, शूल, पीनस, आधाशीशी, कृमिरोग (शिरमें कृमि हों), जुखाम, मृगी, गंधज्ञान नष्ट होना इतने रोगवालोंको तथा जिनके ऊपरके जोतोंमें कफके और कोई रोग हों उन्हें शिरोविरेचनी द्रव्यों (कायफल आदि) से अथवा इनसे सिद्ध किये हुए स्नेहसे शिरोविरेचन कराना चाहिये ॥ २६ ॥

नस्यका समय ।

तत्रैतद्द्विविधमभुक्तवतोऽन्नकाले पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां मध्याह्ने पित्तरोगिणामपराह्णे वातरोगिणाम् ॥ २७ ॥

यह दोनों प्रकारका नस्य (स्नेहन तथा शिरोविरेचन) विना भोजन कराये अन्नके समय देना चाहिये इसमें कफके रोगियोंको पूर्वाह्णमें (१० बजे दुपहर पहले) देना तथा पित्तके रोगवालोंको मध्याह्नमें और वायुके रोगवालोंको अपराह्णमें (तीसरे पहर पीछे) नस्य देना चाहिये (इन समयोंमें ये दोष उत्क्लेशित होते हैं और अन्य समयमें धात्वादिमें प्रायः लीन रहते हैं) ॥ २७ ॥

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय दंतकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीनवेश्मन्युत्तानशायिने प्रसारितकरचरणाय किंचित्प्रविलंबितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णानुतप्तं रजतसुवर्णताम्रमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्यां पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमर्द्धुतमासिंचेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति ॥ २८ ॥

(वा० २६) शिरोविरेचनद्रव्यैः खरमंजरिकाद्यैः । (वा० २७) कालनिर्देशे वृद्धवाग्भटोपीत्याह वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसंतयोः प्राह्णे ग्रीष्मेऽपराह्णे वर्षास्वादित्यदर्शने (इति वृ. वा.)

(वा० २८) दत्तमात्रे नस्ये कर्णललाटकेशभ्रूगंडगलस्कंधपाणिपादतलान्यनुसुखं मर्द्दयेत् शनैःशनैः श्वोच्छ्वस्यात् (इति निबंधसंग्रहे वृद्धवाग्भटमतम्) ।

शिरोविरेचनीय नस्य देने योग्य मनुष्यको दातोन कराके धूमपान कराके (हुक्का पिलाके) जब उसका मुख और कंठ आदि शुद्ध (साफ) हो जावें तब हाथोंको गरम कर करके रोगीके गल, कपोल और शिरको तपा तपाकर स्वेदित और नरम करे फिर जहां विशेष हवा और धूप तथा धूल न हो ऐसे स्थानमें उसे चित्त सुलादे और हाथ, पावोंको फैलवादे और शिरको जराही पीछेको झुकवादे और नेत्रोंपर वस्त्र ढक दे फिर शुद्ध किये हुए रोगीके नाकमें चांदी या सोने, तांबे या मिट्टीके पात्र या सीपीमें रक्खे हुए स्नेहको जो सुहाता हुआ कुछ गरम हो सीपीसे या रुईके फोहेसे टपकावे और टपकाते समय तार टूटने नहीं पावे झट टपका देवे और यह विचार रक्खे कि आँखोंमें औषध न चली जावे (स्नेह यहां उपलक्षण मात्र कहा है इसी रीतिसे स्वरस, क्काथ आदि भी टपकाये जाते हैं नस्य देते ही उसी समय कान, शिर, केश, भ्रुकुटी, कपोल, गल, कंधे, हाथ और पावोंके तलुवे इन्हें धीरे धीरे मर्दन करे तथा जरा हिलावे, देखो टिप्पणी)॥ २८ ॥

नस्यके समयका बरताव।

स्नेहेवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकंपयेत् ॥ न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षणुयान्न हसेत्तथा ॥ २९ ॥ एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते ॥ ततः कासप्रतिश्यायशिरोक्षिगदसंभवः ॥ ३० ॥

जब स्नेह नासिकामें टपकाया जावे उस समय रोगी शिर नहीं हिलावे और क्रोध नहीं करे, पुकारे नहीं, छींक भी न ले और हँसे भी नही ॥ २९॥ इन बातोंसे दुर्युक्त हुआ स्नेह ठीक उपयुक्त नहीं होता किंतु उसी समय खांसी, जुखाम, शिर तथा नेत्रोंमें रोग होजाते हैं ॥ ३० ॥

नस्यमें स्नेहका प्रमाण।

तस्य प्रमाणमष्टौ बिंदवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रथमंमात्रा द्वितीया शुक्तिस्तृतीया पाणिशुक्तिरित्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः। स्नेहनस्यं न चोपगिलेत्कथंचिदपि ॥ ३१ ॥

नस्यमें स्नेहका प्रमाण आठ बिंदुका है वह बिंदु तर्जनी अंगुलीके दो पोरवे स्नेहमें डुबोकर जितनी मोटी बिंदु गिरे वह एक बिंदु जानो ऐसी आठ बिंदु (और डल्हनामिश्र टीकाकारके मतसे दोनों नाकके छिद्रोंमें आठ आठ बिंदु) देना यह

(वा० ३१) प्रदेशिन्यगुलीपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत्पतति स बिंदुः। अमी दशाष्टौ षड् बिंदवः उत्तम-मध्यमकनीयस्यो मात्राः (इति वृ० वा०)।

प्रथम मात्रा है, दूसरी मात्रा एक शुक्ति (अर्थात् २ कर्ष) की होती है तथा तीसरी सबसे अधिक मात्रा दो शुक्तिकी होती है इनमेंसे बलके अनुसार नस्यकी मात्रा उपयोग करनी चाहिये और नस्यका स्नेह मुखमें आजावे तो उसे कदापि निगलना उचित नहीं ॥ ३१ ॥

मुखागत स्नेहका निष्ठीवन ।

शृंगाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा ॥
कफोत्क्लेशभयाच्चैवं निष्ठीवेदविधारयन् ॥ ३२ ॥

शृंगाटक स्थानको खूब स्निग्ध करके यदि नस्यका स्नेह मुखके तरफ आजावे तो उसे कफके उत्क्लेशित होनेके भयसे थूकताही जावे, निगले कदापि नहीं (और थूके सो दोनों तरफ दाहिनी तरफ भी थूके और बाईं तरफ भी थूके, देखो टिप्पणी) ॥ ३२ ॥

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन्धूममासेवेत भोजयेच्चैनमभिष्यंदि ततोऽस्याचारिकमादिशेत् । रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत् ॥ ३३ ॥

नस्य देकर फिरभी गल, कपोल आदिको स्वेदित करके धूमपान करावे और खानेको अभिष्यंदी भोजन देवे और रोगीको उचित आहार, विहारका उपदेश करे तथा धूल धुवाँ, चिकनाई, धूप, मदिरा, पतली चीज पीना, शिर भिगोकर, स्नान करना, अति सवारी करना और क्रोध आदि इतने कार्य्योंको त्याग देवे ॥ ३३ ॥

तस्य योगातियोगा-(ऽयोगा)-नां विज्ञानं भवति ।

उस नस्यके योग, अतियोग और अयोगका विज्ञान (वक्ष्यमाण लक्षणोंसे) होता है ॥

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नप्रबोधनम् ॥ विकारोपशमः शुद्धिरिंद्रियाणां मनःसुखम् ॥ ३४ ॥ कफप्रसेकः शिरसो गुरुत्वेंद्रियविभ्रमः ॥ लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत् ॥ ३५ ॥ अयोगे चैवं वैगुण्यमिंद्रियाणां च रूक्षता ॥ रोगाशांतिश्च तंत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

(वा० ३२) वामदक्षिणपार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत्स कफं हि तदभ्यवहृतमग्निबलमवसादयेद्दोषं च संवर्द्धयेत् । एकपार्श्वनिष्ठीवनेन सर्वाः शिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यते (इति वृद्धवाग्भटः)।

शिरमें हलकापन, सुखपूर्वक सोना और जागना (अर्थात् ठीक ठीक निद्रा आना), विकारकी शांति, इंद्रियोंमें शुद्धि होना और चित्तमें आनन्द होना ये नस्य (स्नेह) के सम्यक् योग होनेके लक्षण हैं ॥ ३४ ॥ मुखसे कफ (लार) बहना, शिरका भारी होना, इंद्रियोंमें विभ्रम होना ये लक्षण हों तो मूर्द्धामें स्नेहका अत्यन्त (अनुमानसे अधिक) योग हुआ जाने और ऐसा होनेमें रूक्ष द्रव्योंका उपयोग करे ॥ ३५ ॥ नस्यद्वारा स्नेहका अयोग (हीनयोग) हो तो ये लक्षण होते हैं जैसे इंद्रियोंमें विगुणता होना तथा रूक्षता और रोगकी शांति न होना ऐसे होनेमें फिर यथोक्त स्नेहन नस्यका उपयोग करना चाहिये ॥ ३६ ॥

शिरोविरेचनकी मात्रा।

चत्वारो बिंदवः षड्वा तथाष्टौ वा यथाबलम् ॥ शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत् ॥ ३७ ॥ नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ॥ शुद्धहीनातिसंज्ञानि विशेषाच्छास्त्रचिंतकैः ॥ ३८ ॥

चार बिंदु, छह बिंदु और आठ बिंदु बलके अनुसार शिरोविरेचन स्नेहकी मात्राका प्रमाण है ॥ ३७ ॥ इस विरेचनीय नस्यके प्रयोगमें भी विद्वानोंने तीनही लक्षण विशेष करके वर्णन किये हैं । सम्यक्शुद्धि, हीनशुद्धि और अतिशुद्धि ॥ ३८ ॥

शुद्धि और हीनातिशुद्धिके लक्षण।

लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः ॥ चित्तेंद्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥ ३९ ॥ कंडूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ॥ मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥ ४० ॥ मस्तुलुंगागमो वातवृद्धिरिंद्रियविभ्रमः ॥ शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते ॥ ४१ ॥

शिरमें हलकापन होना, स्रोतोंमें शुद्धता, व्याधिकी शांति, चित्त और इंद्रियोंकी प्रसन्नता ये लक्षण शिरकी ठीक शुद्धिके हैं ॥ ३९ ॥ खाज़ तथा शिर, नाक आदिमें लहससा होना, स्रोतोंका भारीपन और कफ झिरना ये लक्षण शिर कम शुद्ध हुएके हैं ॥ ४० ॥ मस्तकका मस्तुलुंग (स्नेहन निज भाग) निकलना, वायुकी वृद्धि, इंद्रियोंमें विभ्रम, शिरमें शून्यता ये लक्षण शिरके अधिक विरेचन हुएके हैं ॥ ४१ ॥

हीनातिशुद्धि और सम्यक्शुद्धिमें उपचार ।

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ॥ सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् ॥ ४२ ॥ एकांतरं द्व्यंतरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः ॥ एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते ॥ ४३ ॥ मारुतेनाभिभूतस्य वात्यंतं यस्य देहिनः ॥ द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता ॥ ४४ ॥

शिरकी अल्प शुद्धि हो तो कफनाशक उपचार करे और अधिक शुद्धि हुई हो तो वायुनाशक यत्न करे और जो ठीक २ शुद्धि होगई हो तो घृतके नस्यका उपयोग करना चाहिये ॥ ४२ ॥ एक २ दिन अथवा दो दिनके अन्तरसे अथवा सात दिनमें अथवा इक्कीस दिन अथवा जिस प्रकारसे उचित मालूम हो घृतका सेचन किया करे ॥ ४३ ॥ जो मनुष्य वायुरोगसे व्याप्त हो या जिसके अत्यन्त वायु बढा हुआ हो उसको जानकार वैद्य दिनमें दो दो वार नस्य देवे ॥ ४४ ॥

अवपीड और प्रधमन ।

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यंदसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यतममवपीड्यावपिष्य ॥ ४५ ॥ चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत ॥ ४६ ॥

अवपीडन उसे कहते हैं जो शिरोविरेचनकी तरह अभिष्यन्द (जिसकी रसवहा शिरा रुक गई हों) तथा सर्पके काटे हुए और विसंज्ञक (बेहोश) को शिरोविरेचन द्रव्योंमेंसे किसीको कूट पीसकर उसका रस निचोड कर नस्य देवे ॥ ॥ ४५ ॥ प्रधमन वह है कि चित्तके विकार (मृगी आदि), कृमि और विषयुक्तोंकी नासिकामें किसी द्रव्यका चूर्ण फूकसे पहुँचावे ॥ ४६ ॥

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च निदध्यात् ॥ ४७ ॥ कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम् ॥ शृताः स्नेहाः शिरःशुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः ॥ ४८ ॥

(श्लो० ४२) हीनशुद्धे कफघ्नम् अतिशुद्धे वातघ्न कर्म कुर्यात् । (वा० ४५ । ४६) अवपीडप्रधमनयोर्वैशेषिक लक्षण भावप्रकाशे यथाह–"अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ॥ शिरोविरेचनस्यार्थे तौ तु देयौ यथायथम् ॥ १ ॥ कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः ॥ सोवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ २ ॥ षडंगुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत् ॥ तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमन हितम् ॥ ३ ॥"

क्षीण मनुष्योंको और रक्तपित्तके रोगमें खाँड, ईखका रस, दूध, घृत, मांसका रस इनमेंसे किसी वस्तुकी नस्य देना चाहिये ॥ ४७ ॥ कृश, दुर्बल, डरपोक, कोमल इतने मनुष्योंको तथा स्त्रियोंको शिरकी शुद्धिके लिये इन द्रव्योंसे सिद्ध किये हुए स्नेहका उपयोग करे या कल्क उपयुक्त करे जैसे हितकारक हो वैसे करे ॥ ४८ ॥

नस्यके अयोग्य।

नस्येन परिहर्त्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तवस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रांतो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत् ॥ ४९ ॥ तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्णसहसाप्रदानातिप्रविलंबितशिरस उत्क्षिपतोविचलितोऽभ्यवहरतो वा प्रतिषिद्धप्रदानाच्च व्यापदो भवंतितृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयजाश्च ॥ ५० ॥ भवतश्चात्र–

इतने मनुष्योंको नस्य नहीं देना चाहिये जैसे–भोजन किये हुएको, क्षुधातुरको, जिसे नया जुखाम हो, गर्भिणी स्त्री, जो स्नेह, पानी, मद्य, पतले पदार्थ पिये हुए हो, अजीर्णवाले, जिसे वस्ति दी हो, क्रोध युक्त, स्थावर विषसे पीडित, तृषायुक्त, शोकग्रस्त, थका हुआ, बालक, बृद्ध, जिसने मल, मूत्रके वेग रोंके हो और जो शिर भिगोकर स्नान करना चाहता हो तथा बे ऋतु बादल होनेमें नस्य और धूम दोनोंका उपयोग नहीं करे ॥ ४९ ॥ और नस्यका हीन तथा अति उपयोग भी न करे, विशेष शरदी गरमीमें भी न करे, द्रव्य झट पट न सुँघादे, बहुत देर भी नही करे, शिरको उछाले और हिलावे भी नहीं तथा नस्य निगले भी नही, निषिद्ध वस्तुओंकी भी नस्य न दे क्योंकि इनसे व्यापद होती हैं या तो दोषोंसे उत्पन्न हुए तृषा, उद्गार आदि उपद्रव होते हैं या क्षयसे उपजे शोषादिक होजाते हैं (इससे पूर्वोक्त बातोंका नस्यमें विचार रक्खे) ॥ ५० ॥ इस विषयमें दो श्लोक हैं–

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः ॥ दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ ५१ ॥ दोषोत्क्लेशनिमित्तांस्तु जयेच्छमनशोधनैः ॥ अथ क्षयनिमित्तांस्तु यथास्वं बृंहणं हितम् ॥ ५२ ॥

नस्यमें और शिरोविरेचनमें दो प्रकारकी व्यापद् (उपाधियां) होती हैं, एक दोषोंके उत्क्लेशसे, दूसरी क्षयसे इन्हें यथाक्रम जानना ॥ ५१ ॥ दोषोंके उत्क्लेशसे उत्पन्न हुई व्याधियोंको शमन और शोधनसे शांत करना चाहिये और क्षयसे उपजी हुई व्याधियोंको यथायोग्य बृंहण करना उचित है ॥ ५२ ॥

प्रतिमर्शके समय ।

प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः तद्यथा तल्पोत्थितेन प्रक्षालितदन्तेन गृहान्निर्गच्छता व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रांतेन मूत्रोच्चारकवलांजनांतेऽभुक्तवता छर्दितवता दिवास्वप्नोत्थितेन सायं चेति॥५३॥

प्रतिमर्श नस्य चौदह समयमें उपयुक्त करने योग्य है–१ बिछौनेसे उठकर दातोन करके, घरसे बाहर जाते हुए, व्यायाम, मैथुन और मार्गसे थके हुए, मूत्रोच्चार, कवल और अंजनके पीछे, भोजन विन किये, वमन करके, दिनमें सोकर उठतेही और सायंकाल ॥ ५३ ॥

(वक्तव्य) मर्श और प्रतिमर्श ये दोनों स्नेहन नस्यकेही भेद हैं जिसमें मर्शकी मात्रा पूरी तृप्ति करनेवाली ८ शाणकी होती है, मध्यम ४ शाण और हीन एक शाणकी (नस्यमें ८ बिन्दुओंका १ शाण होता है) पहले हम जो स्नेहनस्यकी विधि और मात्रा लिख चुके हैं उसीका नाम मर्श है इकतीसवें वाक्यमें जो मात्राका प्रमाण लिखा गया है वह मर्शहीका है और प्रतिमर्श स्नेहनकी मात्रा केवल दो तीनही विन्दु हुआ करती है और यह प्रायः बाल, वृद्ध, क्षीण आदिको दीजाती है (देखो टिप्पणी) सारांश यह है कि स्नेहनमें अधिक स्नेहकी मात्रा उपयुक्त की जावे तो वह मर्श स्नेहन नस्य है और जिसमें अल्प स्नेहकी मात्रा हो वह प्रतिमर्श है॥

तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहंति मनःप्रसादं च करोति॥५४॥ प्रक्षालितदंतेनासेवितो दंतानां दृढतां वदनसौगंध्यं चापादयति ॥५५॥ गृहान्निर्गच्छतासेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजो धूमो वा नावधत्ते ॥ ५६ ॥ व्यायाममैथुनाच्च परिश्रांतेनासेवितः श्रममुपहंति॥ ५७॥ मूत्रोच्चारांते वा सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति ॥ ५८ ॥ कवलांजनांते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति ॥ ५९ ॥ अभुक्तवता सेवितः स्रोतसां

(वा० ५३) 'मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥ मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताऽष्टभिः ॥ १ ॥ मध्यमा तु चतुःशाणैर्हीना शाणमिता मता ॥ एकैकस्मिंस्तु मात्रेय देया नासापुटे बुधैः ॥ ॥ २ ॥ स्नेहे ग्रथिद्वय यावन्निमग्ना चोद्धृता ततः ॥ तर्जनी य स्रवेद्बिंदु सा मात्रा बिंदुसंज्ञिता ॥ ३ ॥ एवंविधैर्बिंदुसंज्ञैरष्टाभिः शाण उच्यते ॥ स देयो मर्शनस्येषु प्रतिमर्शे द्विबिंदुकः ॥ ४ ॥ प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्वित्रिबिंदुमिता मता ॥ प्रत्येकशो नासिकाया स्नेहनेतिविनिश्चितम् ॥ ५ ॥'

(वा० ५८) मूत्रोच्चारान्ते इति–उच्चारः विष्ठा (इति डल्लनः शब्दस्तोमे च)

विशुद्धिं लघुतां चापादयति ॥ ६० ॥ वांतेनासेवितःस्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्तकांक्षामापादयति ॥ ६१ ॥ दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति ॥ ॥ ६२ ॥ सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति ॥ ६३ ॥

इसमेंसे बिछौनेसे उठतेही प्रतिमर्श नस्यका सेवन करनेसे रातको जो नासिकाके द्वारोंमें मल इकट्ठा होता है उसे नष्ट करता है और मनको प्रसन्न करता है ॥५४॥ दंतधावनके पीछे सेवन करना दांतोंकी दृढता और मुखकी सुगंधता करता है ॥ ॥ ५५ ॥ घरसे बाहर जाते हुए सेवन करनेसे नाकके छिद्रोंमें क्लिन्नतास प्राप्त हुए धूलि वा धुवाँ बाधा नहीं करते ॥ ५६ ॥ व्यायाम और मैथुनसे थकने पर सेवन करना उस थकावको नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥ मूत्र और मलके त्यागके पीछे सेवन करना नेत्रोंके भारीपनको दूर करता है ॥ ५८ ॥ कवल और अंजनके अंतमें सेवन करना दृष्टिको प्रसन्न करता है ॥ ५९ ॥ विना भोजन किये हुए सेवन करना स्रोतोंकी शुद्धि और हलकापन उत्पन्न करता है ॥ ६० ॥ वमन करनेके पीछे सेवन करना द्वारोंमें लगे हुए कफको दूर करके भोजनकी रुचि उत्पन्न करता है ॥ ॥ ६१ ॥ दिनमें सोकर उठनेके पीछे सेवन करना शेष निद्रा और भारीपन तथा मलको दूर करके चित्तमें एकाग्रता पैदा करता है ॥ ६२ ॥ और सायंकाल प्रतिमर्श नस्यका सेवन करना सुखपूर्वक निद्रा और प्रबोध (जागना) ठीक करता है ॥ ६३ ॥

ईषदुच्छिंघतः स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते ॥
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात्प्रातिमर्शे प्रमाणतः ॥ ६४ ॥

शिरको ऊँचा करने (जरा फडफडाने) से जितना स्नेहन (नस्यका स्नेह)मुखमें आजावे अनुमान उतना नासिकामें शुद्ध स्नेह डालना यह प्रतिमर्शकी मात्राका प्रमाण है (अनुमान दो तीन बिंदु इसका प्रमाण है जिसे हम ५३ वीं फक्किकाकी टीकामें इसी अध्यायमें लिख चुके हैं) ॥ ६४ ॥

नस्येन रोगाः शाम्यंति नराणामूर्द्ध्वजत्रुजाः ॥ इंद्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्ये सुगंधि च ॥ ६५ ॥ हनुदंतशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम् ॥ वलीपलितखालित्यव्यंगानां चाप्यसंभवः ॥ ६६ ॥

नस्यके लेनेसे मनुष्यके ऊपरले जोतों (ग्रीवासे ऊपरके पट्ठों) के सब रोग नष्ट होते हैं और इंद्रियोंमें निर्मलता तथा मुखमें सुगंधिभी (नस्य) करता है ॥६५॥

ठोडी (जबडे), दांत शिर, ग्रीवा (गरदन), त्रिक (ग्रीवा और कंधोंके बीचके स्थान) बाहु तथा छाती इतने स्थानोंको बलवान् करता है और बे समय शरीरमें झुरी पडना, बाल सपेद होना, शिरके बाल उड जाना तथा मुखपर चकदे पड जाना येभी नस्य लेनेवालेके नहीं होने पाते ॥ ६६ ॥

तैलं कफे सवाते स्यात्केवले पवने वसाम् ॥ दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते ॥ ६७ ॥ चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेव प्रकीर्तितः ॥ श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते ॥ ६८ ॥

कफयुक्त वातव्याधियोंमें तैल (नस्यमें) उपयोग करना और केवल वायुरोगमें वसा (चरबी) तथा पित्तरोगोंमें घृत एवं वायुसहित पित्तमें मज्जाका उपयोग करना श्रेष्ठ है ॥ ६७ ॥ चारों प्रकारके स्नेहोंकी यह विधि वर्णन की है कफके स्थानके अविरोधसे अर्थात् जहां कफ स्थित हो वहां इनमेंसे तैलहीका उपयोग करना चाहिये ॥ ६८ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कवलग्रहणे विधिम् ॥ चतुर्द्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपणौ ॥६९॥ स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः ॥ पित्ते कट्वम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे ॥ ७० ॥ कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे ॥ चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषो यं प्रकीर्तितः ॥ ७१ ॥

इससे अगाडी अब हम कवलधारण करनेकी विधि वर्णन करते हैं (औषधियों-को मुखमें कुछ देर रखनेको कवलधारण कहते हैं कवलका मुख्य अर्थ ग्रास है) यह कवलधारण चार प्रकारका होता है १ स्नेही (स्नेहन करनेवाला), २ प्रसादी (प्रसन्न करनेवाला), ३ शोधी (शोधन करनेवाला), ४ रोपण (व्रणादि रोपण करनेवाला) ॥ ६९ ॥ स्निग्ध उष्ण द्रव्योंका कवल स्नेही होता है और यह वायुके रोगोंमें दिया जाता है तथा मीठे द्रव्योंका शीतल कवल प्रसादी होता है यह पित्तके रोगोंमें हित है और चरपरा, खट्टा, नमकीन और रूक्ष उष्ण कवल शोधन होता है यह कफके रोगमें देना चाहिये ॥७०॥ कसेला, कडुवा, मीठा, चरपरा, गरम यह कवल रोपण है, यह व्रणके लिये हित होता है इस प्रकार चारोंतरहके कवलोंका विशेष वर्णन किया गया है ॥ ७१ ॥

(श्लो० ६९) कवलः ग्रासः तस्य मुखे धारणं कवलग्रहणम् ।

तत्र त्रिकटुकवचासर्षपहरीतकीकल्कमालोड्य तैलशुक्तसुरामूत्र-क्षारमधूनामन्यतमेन सलवणमभिप्रतप्तमुपस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशो धारयेत् ॥ ७२ ॥

त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल), वच, सरसों, हरीतकी (बडी हरड) इनका गाढा कल्क बना और उसमें तैल या सिरका या मदिरा या गोमूत्र या कोई क्षार या शहत इनमेंसे जो उचित कोई वस्तु हो उसे मिलाकर, मथकर, थोडा नमक मिलाकर तयार करे और रोगीके गल, कपोल और शिरको जरा सेक कर स्वेदित और मृदित (मुलायम) करके वह तयार किया हुआ कवल गरम करके मुखमें धारण करावे ॥ ७२ ॥

सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवले स्मृता ॥
असंचार्या तु या मात्रा गंडूषः स प्रकीर्तितः ॥ ७३ ॥

जो औषधीकी मात्रा मुखमें सुखसे इधर उधर चलाई जा सके (चबाई जा सके) ऐसी गाढी लुगदी सी हो वह कवलमें दी जाती है (उसे कवल कहते हैं) और जो इधर उधर नहीं फेरी जा सके ऐसी पतली हो तो वह गंडूष कहलाती है (अर्थात् उसे कुरले कहते हैं) ॥ ७३ ॥

तावच्च धारयितव्योऽनन्यमनसोन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः पुनश्चान्यो गृहीतव्यः ॥ ७४ ॥

एकाग्रचित्त होकर शरीरको उन्नत (सीधा ऊँचा) करके इतनी देरतक कवलको मुखमें रहने देना चाहिये जबतक मुखमें दोषका पानी न भर आवे तथा नाक और आंखोंसे पानी झिरने लगे या तरावट हो जावे फिर उसे थूंक देना चाहिये और दूसरा फिर मुखमें लेना चाहिये ॥ ७४ ॥

एवं स्नेहपयः क्षौद्ररसमूत्राम्लसंभृताः ॥
कषायोष्णोदकाभ्यां च कवला दोषतो हिताः ॥ ७५ ॥

(श्लो० ७३) कवलस्य लक्षणं भावप्रकाशे—"वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवल मुखे ॥ अर्द्ध निक्षिप्य सचर्व्य निष्ठीवेत्कवले विधिः ॥१॥" कवलः ग्रासः । गण्डूषो यथा—'स्नेहक्षीरकषायादिद्रवैः संपूर्णमाननम्॥ आपूर्य पीयते तावद्विधिर्गण्डूषधारणे ॥ कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वामयेत् ॥ २ ॥ पीयते गुडगुडेति शब्दो क्रियते (इति भा० प्र०) कवलगण्डूषयोर्मात्रा—'दद्याद्द्रवेषु चूर्णं च गण्डूषे कोलमात्रकम् ॥ कर्षप्रमाणः कल्कश्च कवले दीयते बुधैः ॥ ३ ॥

इसी भांति स्नेह (घृत, तैलादि,) दूध, शहत, रस, गोमूत्र, कांजी तथा क्काथ गरम जल इनमेंसे किसीके संग दोषोंके अनुसार औषध मिलाकर कवल धारण कराना हितकारक है (जैसे वायुमें स्नेहसे, पित्तमें दूधसे, कफमें शहतसे मिलाकर कवल बनाना इत्यादि । इसी प्रकार संसर्ग और सन्निपातमें भी तत्तद्दोपनाशक द्रव्य लेना) ॥ ७५ ॥

शुद्ध और हीनाधिक कवलके लक्षण ।

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ॥ इंद्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम् ॥ ७६ ॥हीने जाड्यकफोत्क्लेशाऽवरसज्ञानमेव च॥ ॥ ७७॥ अतियोगान्मुखे पाकः शोषतृष्णारुचिक्लमाः ॥ शोधनीये विशेषेण भवंत्येवं न संशयः ॥ ७८ ॥

व्याधिका घटाव हो, तृप्ति हो जावे, मुखमें सफाई और हलकापन हो तथा इंद्रियोंमें प्रसन्नता हो ये शुद्ध कवल हुएके लक्षण हैं ॥ ७६ ॥ जडता हो, कफका उभार हो, रसका ज्ञान न रहे ये लक्षण हीन कवल हुएके हैं ॥ ७७ ॥ मुखमें पाक होना, शुष्कता, तृषा, अरुचि और क्लम होना ये अतिकवल होनेके लक्षण हैं ये लक्षण शोधनीय कवलमें निःसन्देह विशेष करके होते हैं (अन्य प्रसादनादिमें नहीं) ॥ ७८ ॥

दाहनाशक गंडूष ।

**तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ॥
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गंडूषो दाहनाशनः ॥ ७९ ॥**

तिल, नीलकमल, घृत, खांड और दूध इनमें शहत मिलाकर जले हुए (क्षारादिसे या तीक्ष्ण पदार्थ या उष्ण पदार्थसे जले हुए) मुखकी दाह शांत करनेको कुल्ले करना योग्य है ॥ ७९ ॥

प्रतिसारणकी विधि ।

कवलस्य विधिर्ह्येष समासेन प्रकीर्तितः ॥ विभज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम् ॥ ८० ॥ कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम् ॥ अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम् ॥ ८१ ॥

(श्लो० ८०) प्रतिसारणं कुर्वीत नच एकगाते घर्षयेत् (इति डल्लनः) अतः प्रतिसारणं घर्षण तदुक्तं भावप्रकाशे–'दंतजिह्वामुखाना यच्चूर्णकल्कावलेहकैः ॥ शनैर्घर्षणमंगुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम् ॥ १ ॥' रसक्रिया फाणिताकृतिः (इति नि० सं०) ॥

कवल धारण करनेकी विधि यह संक्षेपतासे वर्णन की है और औषधोंको बुद्धिसे विचारकर (इसी भांति) प्रतिसारणभी करसकते हैं ॥ ८० ॥ कल्क, रसक्रिया (द्रव्योंका रस निकालके) और शहत तथा सूखा चूर्ण इस तरह चार प्रकारका प्रतिसारण होता है (अर्थात् कल्कमें औषधोंको मिलाके या स्वरस या शहतमें औषध मिलाके या केवल सूखा चूर्ण) अंगुलीके अग्रभागमें लगाकर मुखरोगवालोंके प्रतिसारण करे (अर्थात् अंगुलीसे औषध रगड दे इसे प्रतिसारण कहतेहैं)॥८१॥

तस्मिन्योगमयोगं च कवलोक्तं विभावयेत् ॥ तानेवं शमयेद्व्याधीन्कवलो यानपोहति ॥ ८२ ॥ दोषघ्नमनभिष्यंदि भोजयेच्च तथा नरम् ॥ ८३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सितस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इसमें योग और अयोग (हीनयोग और अतियोग) के लक्षण कवलग्रहणके योगायोगके समान जानने चाहिये और जिन व्याधियोंको कवलग्रहण दूर करता है उन्हीको प्रायः यह "प्रतिसारण" दूर करता है ॥८२॥ इसके पीछे उन्हीं दोषोंको शांत करनेवाला और जो अभिष्यंदी (रसवहा शिराओंको रोकनेवाला) न हो ऐसा भोजन रोगी मनुष्यको खिलाना चाहिये ॥ ८३ ॥

(वक्तव्य) पाठकवृंद ! जितने रोगोंकी चिकित्सा इस चिकित्सितस्थानमें लिखी है उससे यह नहीं समझना चाहिये कि सुश्रुतसंहितामें इतनेही रोगोंकी चिकित्सा है क्योंकि इसके उत्तरतन्त्रमें निःशेष समस्त रोगोंकी चिकित्साको विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

इति सुश्रुतसंहितायाः राजवैद्यपण्डित मुरलीधरशर्मविरचितसान्वयसटिप्पणीकसपरिशिष्ट भाषाटीकाया चिकित्सितस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

पूर्त्तिश्लोक ।

श्रीक्षेमराजाख्यमखंडपौरुषं कुर्युः शुभाशीर्वचनानि पाठकाः ॥
यत्प्रेरणाद्वैद्यवरेण सुश्रुते टीकान्विते पूर्तिमगाच्चिकित्सितम् ॥ १ ॥

पाठकवृन्द ! श्रीयुत श्रेष्ठिवर श्रीखेमराज श्रीकृष्णदासजीको शुभ आशीर्वाद प्रदान करो कि जिनकी प्रेरणासे सुश्रुतसंहिताकी सान्वयसटिप्पणीकभाषाटीकाका चिकित्सितस्थान पं० मुरलीधरशर्मा राजवैद्यने समाप्त किया ।

॥ समाप्तमिदं चिकित्सितस्थानम् ॥ ४ ॥

विज्ञप्ति।

जिन महाशयोंको कोई महाव्याधि हो और उसमें आराम नहीं होता हो इस विषयमें कुछ पूछना हो या औषध कराना हो तो हमें लिखें हम यथासाध्य उसका उपाय करेंगे जवाबके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजें ॥

फर्रुखनगरनिवासी पं० मुरलीधरशर्मा वैद्य टीकाकार,

हाल० राजवैद्य रियासत-सैलाना (मालवा.)



पुस्तक मिलनेका ठिकाना-



खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.

॥ श्रीः ॥

अथ सुश्रुतसंहिता ।

सान्वयभाषाटीकासहिता ।

कल्पस्थानम् ५.

प्रथमोऽध्यायः १.

अथातोऽन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यास्यामः ।

अब चिकित्सितस्थानके अनंतर यहांसे अगाडी हम अन्नपानरक्षाकल्प (अर्थात विषादिकसे खाने पीनेके पदार्थोंकी रक्षा करना या रक्षा रखना इस विषय) का व्याख्यान करते हैं ॥

विषसे रक्षाका विधान ।

धन्वंतरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः ॥ सुश्रुतप्रभृतीञ्छिष्याञ्शशासाहतशासनः ॥ १ ॥ रिपवो विक्रमाक्रांता ये च स्वेकृत्यतांगताः ॥ सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् ॥ २ ॥ विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः ॥ स्त्रियो वा विविधान्योगान्कदाचित्सुभगेच्छया ॥ ३ ॥ विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः ॥ तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥ ४ ॥

तपस्वी और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ काशीके राजा श्रीधन्वंतरि भगवान् सुश्रुतादिक अपने शिष्योंको शिक्षा देते भये । कैसे हैं भगवान् धन्वंतरिजी कि उत्तम है

(श्लो० १) अहतशासनः दृढशासनः अथवा 'शशास हितशासन' इति पाठांतरे हितशासन इत्यर्थः। (श्लो० २) स्वे च आत्मीया भृत्याः कृत्यतांगता विद्वेषंगताः (इति डल्हनः) अन्ये तु स्वेऽकृत्यतांगता इति मन्यंते । (श्लो० ३) स्त्रियो वा सुभगेच्छया युंजतीति शेषः, सौभाग्येच्छया अथवा सुभगमन्यप. तिमिच्छत्यः । (श्लो०४) विपकन्योपयोगादिति—'हति स्पृहती स्वेदेन गम्यमाना च मैथुने' (इति नि० सं०)

शिक्षा जिनकी ॥ १ ॥ सो यह शिक्षा देने लगे कि राजाके पराजित किये शत्रु लोग अथवा सेवक लोग जो अकृत्यताको प्राप्त होजावें (अर्थात् जिन्हें राजासे निरादर होजावे या द्वेष होजावे तथा अन्य ईर्षायुक्त राजकुटुंबके लोग) क्रोधरूप विषके पैदा करनेवाले वे लोग अवसर पाकर निपुण राजाको विषोंसे मार डालते-हैं और कभी दुष्ट स्वभाववाली स्त्रियां भी अपने सौभाग्यकी इच्छासे नाना प्रकारके योग (दुर्योग) नियुक्त करती हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ तथा विषकन्या (एक प्रकारकी स्त्री होती हैं) जिनके संसर्ग करनेसे मनुष्य तत्काल मरजाता है इस कारण वैद्यको चाहिये कि सदा राजाकी विषसे रक्षा रक्खे (एवं और मनुष्योंकी भी यथासंभव रक्षा रक्खे) ॥ ४ ॥

राजाकी सावधानी ।

यस्माच्च चेतोऽनित्यंत्वमश्ववत्प्रथितं नृणाम् ॥
न विश्वस्यात्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित् ॥ ५ ॥

जोकि मनुष्योंका चित्त चंचल घोडेके समान है कभी स्थिर नहीं रहता यह निश्चय ही बात है इस कारण राजाको कभी भी किसीका विश्वास नही रखना चाहिये (सदा सावधान रहे) ॥ ५ ॥

योग्य वैद्यका विश्वास ।

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सततोत्थितम् ॥ अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम् ॥ ६ ॥ क्रोधपारुष्यमात्सर्यमदालस्य-विवर्जितम् ॥ जितेंद्रियं क्षमावंतं शुचिं शीलदयान्वितम् ॥ ७ ॥ मेधाविनमसंश्रांतमनुरक्तं हितैषिणम् ॥ पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षं मायाविवर्जितम् ॥ ८ ॥ पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्॥ महानसे प्रयुंजीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम् ॥ ९ ॥

राजाको गुणयुक्त वैद्यका सदा विश्वास रखना चाहिये, जो वैद्य कुलीन (अच्छे कुलका), धर्मात्मा, स्नेहभाव रखनेवाला तथा सुभृत (जिसका राजाने खानपान तथा वस्त्र और भूषणादिका खूब अच्छा निबंध करदिया हो), जो सदा उद्यम-शील रहता हो, जो लोभी और मूर्ख न हो, भक्त हो, किये हुए गुणोंको जाननेवाला, प्यारा दीखनेवाला हो ॥ ६ ॥ क्रोध, कठोरता, ईर्षा, मद और आलस्य इनसे रहित हो,

---

(श्लो० ६) सततोत्थितः इति–निरतरोद्यमशील: उत्थित: उद्यमशील: (इति श. स्तो.)
(श्लो० ९) सन्निहितागदमिति–अगदः विषनाशन: औषधि:, सनिहिता अगदा येन त सन्निहिता-गदमिति । तद्विद्यपूजित तद्विद्यैः वैद्यैः पूजितम् ।

जितेंद्रिय, क्षमावाला, पवित्र शील स्वभाव और दयवान् हो ॥ ७ ॥ तथा बुद्धिमान्, परिश्रमी, अनुरागी (प्रेमी), हितेच्छु, चतुर और प्रगल्भ (भर खम), निपुण, दक्ष (क्रियामें चतुर) तथा माया (छल कपट) से रहित हो ॥ ८ ॥ इन पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त और सदा विषादि रोग नाशक औषध तयार रखनेवाला और उस विद्याके जाननेवालोंमें पूज्य ऐसा वैद्य सदा रसोई (भोजन) की देख भालमें नियुक्त रखना चाहिये ॥ ९ ॥

रसोईका स्थान।

प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभांडं महच्छुचि ॥ सजालकं गवाक्षाढ्यमात्मवर्गनिषेवितम् ॥ १० ॥ विकक्षसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम् ॥ परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम् ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ दिशा (अग्निकोणमें) और श्रेष्ठ देश (जिसके समीप मलमूत्रादिका स्थान न हो), जिसमें रसोई बनानेके सब पात्र पवित्र (साफ) माँजे धोये हुए हों, स्थान भी बडा लंबा चौडा हो और पवित्र हो, जहां कोई मैला कुचैलापन नहीं हो उसमें जालीके कटहरे लगे हों और झरोखेदार हो तथा भरोसेके अपने आदमियोंसे व्याप्त हो ॥ १० ॥ और उसके समीपमें तृणादिका संचय भी न होवे (अथवा 'विकक्षसृष्टसंसृष्टका' अर्थ कई ऐसा करते हैं कि जिसके समीपमें सब सामग्रीका स्थान हो अर्थात् उसके पासही एक ऐसा कोठा होवे जिसमें आटा, दाल, चावल, घृत, खाँड, नमक, मिरची, मसाला आदि सब चीजें मौजूद रहें) और उसमें वितान अर्थात् क्यारियां या दरजे बैठनेवालोंके लिये बने हों तथा उसमें अग्नि आदि देवताओंका पूजन होता हो तथा उसमें परीक्षित् स्त्री पुरुषही जाने पावें ऐसा महानस (रसोई) का स्थान होना चाहिये ॥ ११ ॥

अध्यक्ष परिचारकादिक।

तत्राध्यक्षं नियुंजीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम् ॥ १२ ॥ शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः ॥ संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः ॥ १३ ॥ स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः ॥ तस्य चाज्ञां विधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः ॥ १४ ॥

उस रसोईके स्थानका अध्यक्ष (प्रवंधकर्ता) भी प्रायः वैद्यकेसे गुणोंवाला ही नियुक्त करना चाहिये ॥ १२ ॥ और परिचारक लोग (रसोई बनानेवाले) तथा

(श्लो० ११) विकक्षसृष्टसंसृष्टमिति–डल्लनमते तु विगततृणस्थानकरणसंपर्कम् एतेन रसवतीसमीपे तृणसंचयो न करणीय इत्युक्त भवति (इति नि० स०) अन्ये तु विकक्षे कक्षाभागे सृष्टं नियुक्त संसृष्टं पाकद्रव्यादिक यत्र तत् विकक्षसृष्टसंसृष्टमित्याहुः ।

काम करनेवाले भी पवित्र, कारीगर, चतुर, नम्रतावाले और देखनेमें प्यारे होने चाहिये तथा सबके काम बँटे हुए होवें, सब प्रसन्नचित्त और क्षौर बनवाये हुए, नख कटाये हुए स्थिरचित्त हों ॥ १३ ॥ तथा सभी स्नान किये, दृढनियमी (जो जूँठा न कर दें ऐसे) हों, पगडी बांधे, सावधान और अध्यक्ष तथा वैद्यके आज्ञाकारी होने चाहिये ॥ १४ ॥

आहाराः स्थितये चापि भवंति प्राणिनो यतः ॥ तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत् ॥ १५॥ महानसिकवोढारः सौपौदनिकपौपिकाः ॥ भवेयुर्वैद्यवशगा ये चाप्यन्ये तु केचन ॥ १६ ॥

जोकि आहार मनुष्योंकी स्थिति अर्थात् जीवनका कारण है इसलिये रसोईमें वैद्य प्रमादसे रहित रहे (बहुत सावधानीसे रहे) ॥ १५ ॥ और भोजनकी सामग्री लानेवाले या पकडानेवाले तथा दाल, भात, पूरी, रोटी आदि बनानेवाले तथा अन्य रसोई और भोजनपानसे संबंध रखनेवाले मनुष्य सब वैद्यकी आज्ञामें रहने चाहिये ॥ १६ ॥

विष देनेवालेकी परीक्षा ।

इंगितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः ॥ विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिंगैश्च बुद्धिमान् ॥ १७ ॥ न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन्मोहमेति च ॥ अपार्थं बहुसंकीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥ १८ ॥ स्फोटयत्यंगुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत् ॥ वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते ॥ १९ ॥ क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि ॥ आलपेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ॥ ॥ २० ॥ निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनःपुनः ॥ वर्तते विपरीतस्तु विषदाता विचेतनः ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी चेष्टा जाननेवाला वैद्य अथवा हाकिम या बुद्धिमान् वाणी, चेष्टा, मुखकी विकृति आदि लक्षणोंसे विष देनेवालेको जान लेवे ॥ १७ ॥ पूछनेसे उत्तर न दे या कहने लगे और भूल जावे, निरर्थक अस्तव्यस्त बहुत बके, उन्मत्तकी तरह बातें करे ॥ १८ ॥ अंगुली मरोडे, अकस्मात् पृथ्वी कुरेदे, गिरजावे, कांपने लगे, डरसे आपसमें इधर उधर देखने लगे ॥ १९ ॥ हीनदशा होजावे, वर्ण और मुख बिगड

(श्लो० १६) महानसिका रसवतीपतयः । वोढारः काहारादयः । सौपौदनिकपौपिकाः सूपौदनपूपकादिकारकाः । (श्लो० २१) अपद्वारैः असन्मार्गैः । निर्यियासुः गन्तुमिच्छुः ।

जावे, नखूनोंसे कुछ तोडने लगे, बारबार दीनकी तरह पुकारे, हाथसे शिरके बाल नोचे ॥ २० ॥ भागनेकी इच्छासे बार २ द्वारोंको तके, विपरीत होजावे, संज्ञा जाती रहे ये विषदाताके लक्षण प्रायः होजाते हैं ॥ २१ ॥

केचिद्भयात्पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया ॥ असतामपि संतोपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः ॥ तस्मात्परीक्षणं कार्यं भृत्यानामादितो नृपैः ॥ २२ ॥

कभी कभी कोई राजाके भयसे अथवा राजाकी भयभीत आज्ञासे घबराकर महात्मा, निर्दोष, सीधे सादे मनुष्य भी पूर्वोक्त दुष्ट विषदाता लोगोंकेसी चेष्टा करने लगते हैं इससे राजाको आदिसे अपने सेवकोंकीही परीक्षा करनी चाहिये (और उनमें भी परीक्षाके समय बहुत भय न देवें नहीं तो निर्दोषी भी घबराकर अस्तव्यस्त चेष्टा करने लगते हैं) ॥ २२ ॥

विषके अधिष्ठान।

अन्ने पाने दंतकाष्ठे तथाभ्यंगेऽवलेखने ॥ उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने ॥२३॥ स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च ॥ पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् ॥२४॥ विषजुष्टेषु चान्येषु नस्यधूमांजनादिषु ॥ लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनंतरम् ॥२५॥

अन्न (भोजनमें), पीनेके जलादिकमें, दतोनमें, स्नानके जलमें तथा अवलेखन (कंघी झामें आदि) में, उबटनेमें, क्राथमें तथा छिडकनेकी वस्तुमें, चंदन आदिमें, ॥ २३ ॥ माला, वस्त्र, शय्या (बिछौने), बक्तर, आभूषण, खडाऊं, आसन तथा घोडे और हाथीकी पीठ ॥ २४ ॥ इन स्थानोंमें विषका संसर्ग, तथा विषयुक्त अन्य नस्य (नास या इतर आदि), धूम (हुक्केकी चिलम आदि) तथा अंजन इत्यादिमें विषके लक्षण कहते हैं और पीछे उसकी चिकित्सा कहेंगे ॥ २५ ॥

विषयुक्त भोजनकी परीक्षा।

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयंति ये ॥ तत्रैव ते विनश्यंति मक्षिका वायसादयः ॥ २६ ॥ हुतभुक्तेन चान्नेन भृशं चटचटायते ॥ मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥ २७ ॥ भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नाचिराच्चोपशाम्यति ॥ २८ ॥

(श्लो० २२) संतः निर्दोषाः । (श्लो० २३) पादपीठः आसनम् ।

राजाके भोजनमेंसे पहले बलि देना चाहिये क्योंकि यदि वह, विषयुक्त होवे तो उसको जो मक्खियां, काग आदिक जीव खावें वे तत्काल हीं मर जाते हैं ॥ ॥ २६ ॥ और भोजनमेंसे प्रथम अग्निमें थोडा डालना चाहिये, विषयुक्तसे अग्नि चटचट करने लगती है अथवा मोरकी ग्रीवा जैसी नीली ज्योति निकलने लगती, है और दुःसह होती है ॥ २७ ॥ अथवा ज्योति छिन्न भिन्न होती है और धुवाँ बडा तीक्ष्ण होता है और शीघ्र शांत नहीं होता ॥ २८ ॥

(वक्तव्य) इसीसे हमारे धर्ममें पहले बसन्दर जिमाना फिर भोजन करना लिखा है ॥

चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ॥ दुष्टान्नं विषसंसृष्टं म्रियंते जीवजीवकाः ॥ २९ ॥ कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौंचस्तु मद-मृच्छति ॥ हृष्यन्मयूर उद्विग्नः क्रोशंतः शुकसारिके ॥ ३० ॥ हंसः वेडति चात्यर्थं भृंगराजस्तु कूजति ॥ पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुंचति मर्कटः ॥ ३१ ॥ सन्निकृष्टास्ततः कुर्याद्राज्ञस्तान्मृगपक्षिणः ॥ वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा ॥ ३२ ॥

विषयुक्त भोजनकी परीक्षा पक्षी आदि जीवोंसे भी होती है इस लिये प्रथम उन्हें खिलाकर नित्य देख लेना चाहिये, विषयुक्त पदार्थ खानेसे (या देखनेहीसे) चकोरकी आखें बदल जाती हैं और जीवजीवक पक्षी मरजाते हैं ॥ २९ ॥ तथा विषयुक्त अन्न खानेसे कोकिलाकी कंठध्वनि विगड जाती है, क्रौंच मदोन्मत्त होजाता है ॥ मोर उद्विग्नसा होकर नाचने लगता है और तोता, मैना पुकारने लगते हैं ॥ ३० ॥ हंस अति शब्द करने लगता है, भ्रमर कूजने (गूँजने) लगता है, पृषत् (सामर) आंसू डालने लगता है और वानर बार बार विष्ठा त्यागने लगता है ॥ ३१ ॥ इस लिये ऐसे मृग और पक्षियोंको राजाके समीप (रसोईके निकट) रखना चाहिये इससे स्थानकी शोभा होती है और सदैव अपनी रक्षा रहती है ॥ ३२ ॥

परोसे हुए भोजनमें विषकी परीक्षा।

उपक्षिप्तस्य चान्नस्य बाष्पेणोर्द्ध्वं प्रसर्पता ॥ हृत्पीडा भ्रांतनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते ॥ ३३ ॥ तत्र नस्यांजने कुष्ठं रामठं नलदं मधु ॥ कुर्याच्छिरीषरजनीचंदनैश्च प्रलेपयेत् ॥ हृदि चंदनलेपस्तु

(श्लो० ३१) पृषतः शुभ्रबिंदुमति मृगभेदे (इति श० स्तो०)

तथा सुखमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥ पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशातं करोति च ॥ अत्र प्रलेपः श्यामेंद्रगोपासोमोत्पलानि च ॥ ३५ ॥

जब थाल या प्यालों आदिमें विषयुक्त अन्नादि परोसा जावे तब उसकी उठी हुई भाफसे हृदयमें पीडा, नेत्रोंमें भ्रान्तता और शिरमें दुःख मालूम होता है ॥ ३३ ॥ इस वाष्पजनित पीडा दूर करनेको नस्य देना और अंजन देना। इस नस्य अंजनमें कूट, हींग, खस और शहत होना चाहिये तथा शिरस, हलदी और चंदन इनका मस्तकपर लेप करना और हृदयपरभी चंदनका लेप करना इससे शांति होजाती है ॥ ३४॥ और जो उस विषयुक्तको हाथोंका स्पर्श होवे (खानेको ग्रास उठावे) तब हाथोंमें जलन होने लगती है तथा नखून फटेसे हो जाते हैं (ऐसा विदित होनेपर भोजन त्याग देना चाहिये) और हाथोंपर, प्रियंगु, वीरबहूटी, सोम(सोमलता अथवा गिलोय) और कमल इनका लेप करना चाहिये ॥ ३५ ॥

ग्रासमें विषपरीक्षा ।

स चेत्प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते ॥ अष्ठीलावत्ततो जिह्वा भवेत्यरसवेदिनी ॥ ३६ ॥ तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चाऽऽस्यात्प्रसिच्यते ॥ तत्र वाष्पेरितं कर्म यच्च स्याद्दांतकाष्ठिकम् ॥ ३७ ॥

यदि प्रमाद या मोहसे वह अन्न खानेमें आजावे (अर्थात् ग्रास मुखमें लिया जावे) तो उससे जिह्वा अष्ठीला (ठेकरी) की भांति या अष्ठीला रोगकी भांति कडी और रसको ठीक न जाननेवाली हो जाती है (अर्थात् मुहमें विषयुक्त अन्न जानेपर जिह्वासे उस अन्नादिका यथावत् स्वाद नहीं आता और जीभमें कुछ कडापन मालूम देता है (ऐसा ग्रास मुहमें मालूम देतेही उसे त्याग देना चाहिये) ॥ ३६ ॥ और जीभमें पीडा ओर जलनभी होती है तथा मुहसे लार बहने लगती है इसमें वाष्पोक्त कुष्ठादिका कवल मुहमें रखना तथा दंतधावनोक्त विषनाशक यत्न करना (या दतौन आदि विषघ्न उपचार करना) ॥ ३७ ॥

आमाशयगत विषके लक्षण और यत्न ।

मूर्च्छां छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू ॥ इंद्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम् ॥ ३८ ॥ तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः ॥ छर्दनं दध्युदश्विद्भ्यामथवा तंडुलांबुना ॥ ३९ ॥

(श्लो० ३६) अष्ठीला दीर्घवर्तुलपाषाणविशेषः (इति डल्लनः) (श्लो० ३९) उदश्वित् अर्द्धजलेन मथितं तक्रम् (इति शब्दस्तोमः) छर्दनं कारयेदिति शेषेणान्वय. ।

आमाशय (मेदे) में यदि विष पहुँच जावे (अर्थात् किसी कारणसे विषखाया पिया जावे) तो मूर्च्छा, वमन, अतिसार, पेट अफरना, दाह, कम्प और इंद्रियोंमें विकार कर देता है ॥ ३८ ॥ ऐसा होनेमें बहुतही शीघ्र मैनफल, कडवी तोंबी, बिंबी (कँदूरी) और कोशातकी (कड़वी तोरी) इनसे वमन कराकर विष निकाल देना चाहिये अथवा दही और उदश्वित् (दहीमें आधा जल मिले हुए) से अथवा चावलोंके पानीसे वमन करावे ॥ ३९ ॥

पक्काशयगत विषके लक्षण और यत्न ।

दाहं मूर्च्छामतीसारं नृणामिन्द्रियवैकृतम् ॥ आटोपं पांडुतां कार्श्यं कुर्यात्पक्काशयं गतम् ॥४०॥ विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलनीफलम् ॥ दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः ॥ ४१ ॥

(और जब आमाशयगत विषका यत्न न हो तब वह विष पक्काशयमें पहुँच जाता है) और पक्काशयमें पहुँचा हुआ विष दाह, मूर्च्छा, अतिसार और मनुष्योंकी इंद्रियोंमें विकार, अफारा, रंग पीला पड़जाना और कृशता ये लक्षण करता है ("कार्श्यकी" जगह कई कार्ष्ण्य ऐसा पाठ मानते हैं कि मनुष्यका रंग काला पड़ जाता है सो ठीक भी है कइयोंका रंग स्याह पडजाता है) ॥ ४० ॥ इस अवस्थामें नीलनी फल (काला दाना) घृतमें मिलाकर देकर विरेचन करावे अथवा दही या शहतके संग दूषीविषारि (चौलाई आदि) पिलावे ॥ ४१ ॥

पेय पदार्थोंमें विषपरीक्षा ।

द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु ॥ भवंति विविधा राज्यो फेणबुद्बुदजन्म च ॥ ४२ ॥ छायाश्चात्र न दृश्यंते दृश्यंते यदि वा पुनः ॥ भवंति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा ॥ ४३ ॥

दूध, मद्य, जल आदि समस्त द्रव पदार्थोंमें (विषसे) अनेक भांतिकी लकीरेंसी होजाती हैं तथा झाग या बुलबुले पैदा होजाते हैं ॥ ४२ ॥ और इसमे छाया नहीं दीखती और जो दीखे तो दो छाया दीखें या छिद्रयुक्त दीखें तथा पतलीसी और विगड़ी हुई दीखें ॥ ४३ ॥

शाकादिमें विषकी परीक्षा ।

शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च ॥ सद्यः पर्युषितानीव विगंधानि भवंति च ॥४४॥ गंधवर्णरसैर्हीनाः सर्वे भक्ष्याः फलानि च ॥ पक्कान्याशु विशीर्यंते पाकमामानि यांति च ॥ ४५ ॥

(श्लो० ४०) 'कार्श्यम्' इत्यत्र कार्ष्ण्यमिति वा पाठः । (श्लो० ४५) आमानि अपक्कानि ।

शाक, दाल, भात, मांस ये सब विषयुक्त होनेसे क्लेदित और विरस होजाते हैं तथा तत्कालही बासी हुए (बुसे हुए) से मालूम देतेहैं और दुर्गंधित हो जाते हैं॥ ॥ ४४ ॥ सब भक्ष्यके पदार्थ सुगंध, रूप और रससे हीन हो जाते हैं तथा फल जो पके होते हैं वे फूट जाते हैं या नरम पड जाते हैं और जो कच्चे होते हैं वे पकेसे होजाते हैं ॥ ४५ ॥

दतोन आदिमें विषकी परीक्षा ।

विशीर्यते कूर्चकस्तु दंतकाष्ठगते विषे ॥ जिह्वादंतौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥ ४६ ॥ अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः ॥ सक्षौद्रैः प्रच्छिते शो फ कर्तव्यं प्रतिसारणम् ॥ ४७॥ अथवांकोटमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा ॥ शिरीषमाषका वापि सक्षौद्रा प्रतिसारणम् ॥ ४८ ॥ जिह्वानिर्लेखकवलौ दंतकाष्ठवदादिशेत् ॥ ४९ ॥

यदि दतोनमें विषका योग हो तो उसकी कूची फटी, छीदी या विखरी हुईसी होती है और जीभ, दांत, होठ इनके मांसमें शोथ होजाता है ॥ ४६ ॥ ऐसा होवे तो धायेके फूल, हरडे और जामनकी गुठली इन्हें पीस शहतमें मिलावे और सूजी जगह पछने लगाकर उससे रगड दे ॥ ४७ ॥ अथवा अंकोटकी जड और सातलाकी छाल तथा शिरसके बीज शहतमें मिलाकर रगड दे ॥ ४८ ॥ और जिह्वा कुरचनेकी सीख और कवलमें विषका योग हो तो ये ही दंतधावनकेसे लक्षण जानने चाहिये और इसीके अनुसार यत्न करे ॥ ४९ ॥

अभ्यंगगत विषके लक्षण और यत्न ।

पिच्छैलो बहलोऽभ्यंगो विवर्णो वा विषान्वितः ॥ स्फोटजन्म रुजास्रावस्त्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः॥ दारणं चापि मांसानामभ्यंगे विषसंयुते ॥ ५० ॥ तत्र शीतांबुसिक्तस्य कर्तव्यमनुलेपनम् ॥ चंदनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ॥ ५१ ॥ सोमवल्यमृता श्वेता पद्मं कालीयकं त्वचम् ॥ कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च युज्यते ॥ ॥ ५२ ॥ उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने ॥ शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यंगलक्षणैः ॥ ५३ ॥

(श्लो० ४६) कूर्चको दंतकाष्ठस्याग्रिमो भागः । (श्लो० ४८) शिरीषमाषकाः शिरीषबीजानि । प्रतिसारणं घर्षणम् । (श्लो० ५२) श्वेता श्वेतस्यंदः, कालीयकं दारुहरिद्रा तत्त्वचमन्ये तु त्वचं पृथगाहुः।

यदि अभ्यंग (मलनेके तैलादि)में विष हो तो वह गाढा, गिधला और विवर्ण हो जाता है और (उसके लगानेसे) फोडे (फालके) हो जाते हैं, पीडा होती है, पानी झरता है, त्वचा पक जाती है, स्वेद, ज्वर ये हो आते हैं तथा मांस भी फट जाता है ये लक्षण विषयुक्त अभ्यंगके हैं ॥ ५० ॥ ऐसा होवे तब ठंढे पानीसे धोकर स्नान करके, चंदन, तगर, कूट, खस, वंशपत्री ॥ ५१ ॥ सोमवल्ली, गिलोय, श्वेता (श्वेतस्यंद), कमल, कालीयक (पीतचंदन) और तज इनका लेप करे तथा कैथके रस और गोमूत्रके संग इन्हें पिलावे भी ॥ ५२ ॥ उत्सादन (उबटने), छिड़कनेके पदार्थों और काथों तथा लेपके द्रव्य, शय्या (बिछौने), वस्त्र और तनुत्र (कवच) इनमें विषका योग हो तो उसके लक्षण (और यत्न) अभ्यंगके समान जानने चाहिये॥५३॥

अनुलेपनगत विषके लक्षण और यत्न ।

केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः ॥ ग्रंथिजन्मोत्तमांगेषु विषजुष्टे तु लेपने ॥ ५४ ॥ प्रलेपो बहुशस्तत्र भाविताः कृष्णमृत्तिकाः ॥ ऋष्यपित्तघृतश्यामापालिंदीतंदुलीयकैः ॥ ५५ ॥ गोमयस्वरसो वापि हितो वा मालतीरसः ॥ रसो मूषकपर्ण्या वा धूमो वागारसंभवः ॥ ५६ ॥

यदि अनुलेपन (चंदनादि) विषयुक्त हो तो उससे बाल (रोम) गिर जाते हैं, शिरमें पीडा होती है और रोमछिद्रोंसे रुधिर निकलने लगता है और चेहरेपर गाँठे पैदा हो जाती हैं ॥ ५४ ॥ इसमें काली मिट्टीको ऋष्य (नीलगाय रोझ) के पित्ते घृत, प्रियंगु, पालिंदी (श्यामा निसोथ) और चौलाई इनमें कई भावना देकर लेप करे ॥ ५५ ॥ अथवा गोबरका रस अथवा मालतीका रस अथवा मूषकपर्णीका रस या घरका धूम लेप करना हित है ॥ ५६ ॥

शिरोभ्यंग और मुखलेपगत विष ।

शिरोभ्यंगः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च ॥ स्रजश्च विषसंसृष्टाः साधयेदनुलेपवत् ॥ ५७ ॥ मुखलेपे मुखं श्यावं युक्तमभ्यंगलक्षणैः ॥ पद्मिनीकंटकप्रख्यैः कंटकैश्चोपचीयते ॥५८॥ तत्र क्षौद्रघृतं पानं प्रलेपश्चंदनं घृतम् ॥ पयस्या मधुकं फंजीबंधुजीवपुनर्नवाः ॥५९॥

(श्लो० ५४) खेभ्यः रोमकूपेभ्यः । उत्तमांगेषु ग्रीवाया उपरिभागेषु । उत्तमांगः मस्तकः (इति श० स्तो०) । (श्लो० ५५) ऋष्यः नीलांतः रोझ इति प्रसिद्धः तत्पित्तं कालखंडलग्ननलिकामध्यगतं लालजलं पित्तम् । श्यामा प्रियगुः पालिंदी श्यामा त्रिवृत् (इति नि० सं०) 'त्रिवृच्छ्यामार्द्धचंद्रा च पालिंदी च [illegible]पेणिका ॥' (इति निघंटुः) (श्लो० ५९) फंजी भार्ङ्गी ।

शिरमें लगानेके तेल (इतर वगैरह), शिरस्त्राण (टोपी) और स्नानके जल तथा पगड़ी तथा माला ये विषयुक्त उपयोगमें आजावें तो अनुलेपनकी ही क्रियासे साधन करना चाहिये (और अनुलेपगत विषकेही समान लक्षण जानने) ॥५७॥ मुहके मलनेके पदार्थोंमें विष हो तो उससे मुख स्याह पड़ जाता है और अभ्यंग विषकेसे लक्षण होते हैं तथा पद्मनीप्रख्य (मुहासे) जैसे छोटे २ दाने पैदा होजाते-हैं ॥ ५८ ॥ इसमें घृत और शहत पिलाना । चंदन, घृत लेप करना तथा अर्कपुष्पी, मुलेठी, फंजी (भाडंगी), बंधुजीव (दुपहरिया) और सांठी इनका लेप करे ॥५९॥

सवारियोंकी पीठपर विष ।

अस्वास्थ्यं कुंजरादीनां लालास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु युक्तेषु स्फोटसंभवः ॥ तत्राभ्यंगवदेवेष्टा यातृवाहनयोः क्रियाः ॥ ६० ॥

यदि हाथी, घोड़े आदिकी पीठपर विष लगा हो तो उनमें अस्वस्थता (रोग) हो जावे, मुहसे लार बहे और आँखें लाल होजावें और उनपर सवार होनेसे साथल, गुदा, लिंग, वृषण इन स्थानोंमें फोड़े (फफोले) होजातेहै ऐसा होनेमें अभ्यंगोक्त क्रिया करनी श्रेष्ठ है तथा उन वाहनोंके भी विषनाशक वही क्रिया करनी चाहिये॥६०॥

नस्य धूम और पुष्पोंमें विषके ल. य. ।

शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः ॥ नस्यधूमगते लिंगमिंद्रियाणां तु वैकृतम् ॥ ६१ ॥ तत्र दुग्धैर्गवादीनां सर्पिः सातिविषैः शृतम् ॥ पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समर्दयंतिकम् ॥ ॥ ६२ ॥ गंधहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत् ॥ जिघ्रितश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने ॥ ६३ ॥ तत्र बाष्पेरितं कर्म मुखालेपे च यत्स्मृतम् ॥ ६४ ॥

नस्य या धूमपान (हुक्के आदि) में विष हो तो उसके उपयोग करनेसे स्रोतों (मुख, नाक आदि) से रुधिर आवे, शिरमें पीडा होवे, कफ गिरने लगे तथा इंद्रियोंमें विकार हो जावे ॥ ६१ ॥ इसमें ऐसा करे कि गौ आदिके दूधमें अतीस युक्तकर उसमें पकायाहुआ घृत पान करावे तथा वचा और मल्लिका मिलाकर घृतकी नस्य देवे॥६२॥ यदि पुष्पोंमें विषका सम्पर्क हो तो उनकी सुगंधि जातीरहे

(श्लो० ६२) सश्वेतं वचायुक्तं श्वेतात्र वचा, गयी तु श्वेतां कटभीमाह । समर्दयतिक मल्लिकासहितम् (इति नि० सं०) ।

और रंगभी विगड़जावे तथा कुमलाये हुएसे हो जावें और उनके सूंघनेसे शिरमें पीडा (शिरमें दर्द) और आँखोंमें अश्रुपात होने लगते हैं ॥ ६३ ॥ ऐसा होनेमें पूर्वोक्त विष युक्त बाष्पकी भांति चिकित्सा करे या जो मुखलेपनमें विष हो उसकी चिकित्सा जैसी कही है वैसे करे ॥ ६४ ॥

कर्णतैलमें विषके ल. य.

कर्णतैलगते श्रोत्रवैगुण्यं शोफवेदने ॥ कर्णस्रावश्च तत्राशु कर्तव्यं प्रतिपूरणम् ॥ ६५ ॥ स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः ॥ सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते ॥ ६६ ॥

कानमें डालनेके तैलादिमें विष हो तो श्रोत्र इंद्रियकी विगुणता होजावे, शोथ और पीडा होवे, कान बहने लगे ऐसा होनेमें शीघ्रही कर्णपूरण करना चाहिये ॥ ॥ ६५ ॥ शतावरीका स्वरस घृत और शहत मिलाकर कानमें डाले अथवा खदिरका रस (काथ) शीतल करके डालना हित है (अर्थात् इससे कान धोना श्रेष्ठ है) ॥ ६६ ॥

अंजनमें विषके ल. य.

अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः ॥ अंजने विषसंसृष्टे भवेदांध्यमथापि वा ॥ ६७ ॥ तत्र सद्योघृतं पेयं तर्पणं च समागधम् ॥ अंजनं मेषशृंगस्य निर्यासो वरुणस्य च ॥ ६८ ॥ मुष्ककस्याजकर्णस्य फेणो गोपित्तसंयुतः ॥ कपित्थमेषशृंग्योश्च पुष्पं भल्लातकस्य वा ॥ ६९ ॥ एकैकं कारयेत्पुष्पं बंधूकांकोटयोरपि ॥ ७० ॥

यदि अंजन (सुरमें आदि) में विष हो तो उससे नेत्रोंमें आंसू और लेपसा होवे तथा दाह और पीडा हो तथा दृष्टिमें विभ्रम अथवा अंधापन (नेत्रनाश) होजाता है ॥ ६७ ॥ इसमें सद्य घृत पीपल युक्त करके पीना चाहिये यह तर्पण (तृप्तिकारक) है तथा मेढासींगी और वरणवृक्षका गोंद इनका अंजन करे ॥ ६८ ॥ अथवा मुष्कक (मोखा) और अजकर्ण (महासर्ज) इनका निर्यास और फेण (समंदरझाग) और गोरोचन इन्हें मिलाकर अंजन करे अथवा कैथ, मेढासींगी इनके पुष्प अथवा भिलावेंके फूल ॥ ६९ ॥ अथवा बंधूक तथा अंकोटके फूल इनमेंसे एक एकका पृथक् पृथक अंजन करे ॥ ७० ॥

(श्लो० ६६) बहुपुत्रा शतावरी, सोमवल्कः खदिरः (इति श० स्तो०) (श्लो० ६७) उपदेहः मलवृद्धिः (इति डल्हनः) (श्लो० ६९) फेणः समुद्रफेण (इति नि० सं०)

शोफः स्रावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च ॥ भवंति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम् ॥ ७१॥ उपानत्पादपीठानि पादुकावत्प्रसाधयेत् ॥ भूषणानि हतार्चींषि न विभांति यथापुरा ॥ ॥ ७२ ॥ स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः ॥ पादुकाभूषणे युक्तमभ्यंगविधिमाचरेत् ॥ ७३ ॥ विषोपसर्गो बाष्पादिभूषणांतोऽर्थ ईरितः ॥ समीक्ष्योपद्रवांस्तस्य विदधीत चिकित्सितम् ॥ ७४ ॥

यदि खडाऊं पर विषका योग हो तो उनसे पावोंमें सोजा तथा पांव सोना (स्पर्शज्ञान नष्ट होना), पैरोंमें फोडे (फफोले) पडजाना और पीब झिरना निःसंदेह ये लक्षण होते हैं ॥ ७१ ॥ और जूता तथा पादपीठ (आसन या गद्दी) इनमें विषका योग हो तो उसे खडाऊंके समान जानना। और आभूषणोंमें विषका संसर्ग हो तो उनकी चमक मंदी पडजाती है, पहलेकी तरह उज्ज्वल नहीं दीखते ॥ ७२ ॥ और जहां वे धारण किये जावें उन स्थानोंमें दाह, पाक और फटान करके उन्हें नाश कर देते हैं, पादुका (खडाऊं) और आभूषणके विषमें यथायोग्य विषनाशक मलनेकी औषधका उपयोग करना चाहिये ॥ ७३ ॥ बाष्प (भाफ) से आदि ले आभूषण पर्यंत विषके योगके लक्षण चिकित्सा वर्णन किये गये इनमें जहां जैसा उपद्रव देखे वैद्य उसीके अनुसार चिकित्साका विधान करे ॥ ७४ ॥

विषघ्न संक्षिप्त उपाय ।

महासुगंधिमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ॥ पानालेपननस्येषु विदधीतांजनेषु च ॥ ७५ ॥ विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च ॥ शिराश्च व्यधयेत्क्षिप्रं प्राप्तं विस्रावणं यदि ॥ ७६ ॥ मूषिकाऽजरुहा वापि हस्ते बद्धा तु भूपतेः ॥ करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम् ॥ ७७ ॥

महासुगंधि नामक अगद (विषनाशक औषध) जो हम वर्णन करेंगे उसे वैद्य पिलाने, लेपन करने, नस्य देने तथा अंजन करनेमें उपयोग करे ॥ ७५ ॥ पक्का-

(श्लो०७१) स्वापः स्पर्शाज्ञानम्। (श्लो०७२) हतर्चींषि तेजोरहितानि। (श्लो०७५) अगदः विषहरयोगः। (श्लो० ७७) मूषिकाऽजरुहा इति—तत्राजरुहालक्षणम्—'कंदः श्वेतः सपिंडीको भेदे वांजनसन्निभः ॥ गंधलेपनपाणिस्तु विषं जरयते नृणाम् ॥ १ ॥ दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः ॥ विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहास्मृता ॥ २ ॥ मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् सापि च तद्गुणा ॥' (इति निबंधसंग्रहे उशनाः)

शयमें विष पहुँच जावे तो तीक्ष्ण विरेचन देने चाहिये और आमाशयमेंही हो तो खूब वमन कराके निकाल देना चाहिये और जब रुधिरमें हो तब फस्त कराकर खून निकलवा दे और जिस प्रकार मुनासिब हो रुधिर निकाले (मौका हो सींगी लगाकर, मौका हो तो वैसे खून निकाले) ॥ ७६ ॥ मूषिका और अजरुहा राजा या विषपीडित मनुष्यके हाथमें बांध देनेसेही सब विषयुक्त अन्नादिको निर्विष कर देता है (अर्थात् विषका प्रभाव नष्ट करदेता है) (मूषिका एक छोटी रुगटोंवाली काली चूहीकी भांति होती है) (और अजरुहा एक सुपेद कंद पिंडी जैसा होता है और कोई काला कज्जलसा भी होता है इसके गंध, लेपन और हाथमें स्पर्श करनेसेही विष नष्ट होजाता है, देखो टिप्पणी) ॥ ७७ ॥

(वक्तव्य) अजरुहा उत्तम असल निर्विषीको समझे यह असल मिलनी दुर्लभ है ॥

हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः ॥ पिबेद् घृतमजेयाख्य-ममृताख्यं च बुद्धिमान् ॥ सर्पिर्दधि पयः क्षौद्रं पिबेद्वा शीतलं जलम् ॥ ७८ ॥

नित्य मित्रमंडलीमें बैठकर हृदयावरण (चित्त प्रसन्न करनेके यत्न) करता रहे तथा अजेय नामक घृत अथवा अमृताख्य घृतका बुद्धिमान् पान करे तथा घृत, दही, दूध शहत एवं ठंढा जल पीवे (पैत्तिक विषमें ठंढा पानी पीना चाहिये, वातिकमें नहीं जैसे इस समयके "संखिया" नामक विषपर गरम जल हितकारक होता है और ठंढेसे बडी हानि होती है इन बातोंको विचार लेना चाहिये) ॥ ७८ ॥

मयूरान्नकुलान्गोधाः पृषतान्हरिणानपि ॥ सततं भक्षयेच्चापि रसां-स्तेषां पिबेदपि ॥ ७९ ॥ गोधानकुलमांसेषु हरिणस्य च बुद्धि-मान् ॥ दद्यात्सुपिष्टां पालिंदीं मधुकं शर्करां तथा ॥ ८० ॥ शर्क-रातिविषे देये मायूरे समहौषधे ॥ पार्षते चापि देयाः स्युः पिप्पल्यः समहौषधाः ॥ ८१ ॥ सक्षौद्रः सघृतश्चैव शिबीयूषो हितः सदा ॥ विषघ्नानि च सेवेत भक्ष्यभोज्यानि बुद्धिमान् ॥ ८२ ॥

मोर, नकुल (नोल), गोह (निर्विष गोह), पृषत (सामर), हिरण इनको निरंतर भक्षण करता रहे तथा इनके मांसका रस पीवे ॥ ७९ ॥ गोधा (निर्विष गोह), नोल तथा हिरण इनके मांसमें निशोथ, मुलेठी और खांड पीसकर मिलावे और खानेको देवे ॥ ८० ॥ तथा मोरके मांसमें अतीस, खांड और सोंठ मिलाकर दे तथा पृषतके मांसमें पीपल और सोंठ मिलाकर देवे ॥ ८१ ॥ तथा शहत और

घृतसे युक्त शिंबी (सेम) का यूष पीना सदा हित है तथा बुद्धिमान् विषनाशक भक्ष्य भोज्य अन्य भी यथायोग्य सेवन करे ॥ ८२ ॥

पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसांबुभिः ॥
छर्दयेद्गुप्तहृदयो भक्षितं यदिवा विषम् ॥ ८३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

यदि किसीने स्वयं ही गुप्तरूपसे विष खा लिया हो तो वह पीपल, मुलेठी, शहत, खांड, ईखका रस इनसे गुप्तहृदय (गुप्त मनसे) ही वमन कर देवे (अथवा किसीने गुप्त मनसे विष स्वयं ही खा लिया हो तो उसे वैद्य पिप्पली आदिसे वमन कराके शीघ्र विष निकाल दे) (और जो पक्वाशयमें पहुँच गया हो तो रेचन देवे)॥ ८३॥

इति पं० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० कल्पस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः २.

अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अब यहांसे अगाडी हम स्थावरविषविज्ञानीय अध्यायका व्याख्यान करते हैं ।

विषके दो भेद ।

स्थावरं जंगमं चैव द्विविधं विषमुच्यते ॥
दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥ १ ॥

विषके दो भेद हैं १ स्थावर (जो स्थिररूप एक ही जगह रहे जैसे वृक्ष, पत्थर आदि जड पदार्थ), २ जंगम (जो चल फिर सकें चैतन्य जीव जंतु जैसे सर्प, विच्छू, कीडे आदि) इनमेंसे पहला स्थावर विष स्थानभेदसे दश प्रकारका होता-है और दूसरे जंगमके स्थान सोलह हैं इससे उसके १६ भेद होतेहैं ॥ १ ॥

स्थावरविषके १० अधिष्ठान भेद ।

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक्क्षीरं सार एव च ॥
निर्यासो धातवश्चैव कंदश्च दशमः स्मृतः ॥ २ ॥

मूल (जड़), पत्र (पत्ते), फल, फूल, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु (जो खानसे निकलें) और दशवां कंद ये दश भेद हैं (अर्थात् कोई जड विषैली होती है, कोई पत्ते, कोई फल, कोई फूल इत्यादि) ॥ २ ॥

मूलविष ।

तत्र क्लीतकाश्वमारगुंजासुबंधगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजया-नीत्यष्टौ मूलविषाणि ॥ ३ ॥

क्लीतक, अश्वमार (कनेर), चिरमठी, सुवंध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा और विजय ये आठ मूलविष हैं (अर्थात् इनकी जडमें विप होता है) करघाटको कई मैनफलकी जड़ समझते हैं, कई विद्युच्छिखा कलहारीको बतातेहैं और विजया भंगको बताते हैं परंतु डल्लनमिश्रजीने विषोंके नाम, रूप, लक्षणादि कुछ लिखे ही नहीं) ॥ ३ ॥

पत्र फल और पुष्प विष।

विषपत्रिकालंबावरदारुककरंभमहाकरंभाणि पंच पत्रविषाणि ॥ ॥४॥ कुमद्वतीरेणुकाकरंभमहाकरम्भकर्कोटकवेणुकखद्योतकचर्मरीभगंधासर्पघातिनंदनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि ॥ ५ ॥ वेत्रक।दंबवल्लिजकरम्भमहाकरम्भाणि पंच पुष्पविषाणि ॥ ६ ॥

विषपत्रिका, लंबा, वरदारु, करंभ और महाकरंभ ये पांच पत्रविष हैं ॥ ४ ॥ कुमुद्वती, रेणुका, करंभ, महाकरंभ, कर्कोटक, वेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगंधा, सर्पघाती, नंदन और सारपाक ये बारह फलविप हैं ॥ ५ ॥ वेत्र, कादंब, वल्लिज, करंभ, महाकरंभ ये पांच पुष्पविष हैं ॥ ६ ॥

(वक्तव्य) कोई विषपत्रिका भंगको मानते हैं, कोई लंबा कडुवी तुंबीको कहते हैं, कोइ वरदारु सागौन वृक्षको बताते हैं और इसी भांति फलविषोंकाभी ठीक पता नहीं लगता, समयके फेरसे नाम ही बदल गये यहांतक कि इन नामोंका पता न तो किसी कोषमें ठीक लगता न ग्रंथांतरमें, फलविषमें कुचला जो प्रसिद्ध विष है उसके नामका यहां फलविषोंमें पताही नहीं लगता और जो नाम लिखे हैं उन द्रव्योंका पता नहीं इसीसे डल्लनमिश्रजीने निबंधसंग्रहटीकामें लिखा है कि "मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तत्र तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि" अर्थात् मूल, पत्र, फल, पुष्प, कंद आदि विषोंकी परीक्षा और उनकी आकृति, लक्षणादि बहुत यत्न करनेसे भी नहीं जाने जासकते हैं उन्हें हिमालय, विंध्याचलादि पर्वतोंमें वहांके जंगली भिल्ल, कृषक आदि लोगोंसे पता लगानेपर शायद कुछ पता लगजावे ॥

त्वक्सार निर्यास दुग्ध तथा धातु विष।

अंत्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरंभनंदनवराटकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि ॥७॥ कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीर्याणि त्रीणि क्षीरविषाणि ॥८॥ फेणाश्मभस्म हरितालं च द्वे धातुविषे॥ ९ ॥

अंत्र, पाचक, कर्तरीय, सौरीयक, करघाट, करंभ, नंदन, वराटक ये सात त्वक् (छाल) और सार तथा निर्यास (गोंद) विष हैं ॥ ७ ॥ कुमुदघ्नी, स्नुही (थोहर), जालक्षीरी ये तीन दुग्धविष हैं ॥ ८ ॥ फेणाश्मभस्म और हरताल ये दो धातुविष हैं अर्थात् खानसे निकलनेवाले पार्थिव विष हैं (फेणाश्मभस्म कई संखियेको मानते हैं) ॥ ९ ॥

कंदविष ।

कालकूटवत्सनाभसर्षपकपालककर्दमकवैराटकमुस्तकशृंगीविषप्रपौंडरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कंदविषाणि । इत्येवं पंचपंचाशत् स्थावरविषाणि भवंति ॥ १० ॥

कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्तक, शृंगीविष, प्रपौंडरीक, मूलक, हालाहल, महाविष और कर्कटक ये तेरह कंदविष हैं इस प्रकार मूलसे आदि लेकर कंदपर्यंत सब ५५ प्रकारके स्थावरविष होते हैं ॥ १० ॥

(वक्तव्य) भावमिश्रजीने अपने भावप्रकाशमें विषोंकी गणना इसप्रकार लिखी है जैसे—"वत्सनाभः सहारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः ॥ सौराष्ट्रिकः शृंगिकश्च कालकूटस्तथैव च ॥ हालाहलो ब्रह्मपुत्रो विषभेदा अमी नव ॥ १ ॥" अर्थात् वत्सनाभ, हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृंगी (सींगीमोहरा), कालकूट, हालाहल और ब्रह्मपुत्र ये ९ विषके भेद हैं ऐसा लिखा है और इनके लक्षण भी लिखे हैं इनके सिवाय उपविष भी लिखे हैं जैसे—"अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लांगली करवीरकम् ॥ गुंजाहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः ॥ २ ॥" अर्थात् आकका दूध, थोहरका दूध, कलिहारी, कनेर, चिरमठी (सुपेद), अफीम और धतूरा ये सात उपविष हैं।

चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते ॥
षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु ॥ ११ ॥

इनमें वत्सनाभ चार प्रकारका होता है और मुस्तक दो प्रकारका तथा सर्षप छह प्रकारका और शेष सब एक एक प्रकारकेही होते हैं ॥ ११ ॥

विषोंके उपद्रव ।

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ जृंभांगोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु ॥ १२ ॥ मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ भवेत्पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च ॥ १३ ॥ त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवंति हि ॥ आस्यदौर्गंध्यपारुष्यशि-

रोरुक्फसंस्रवाः ॥१४॥ फेणागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो जिह्वाजिह्वता ॥ हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ॥ १५ ॥ प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ कंदजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ १६ ॥

मूलविषोंके खाने आदिके पदार्थोंमें उपयोग हो जानेसे उद्वेष्टन (हडफूटन, प्रलाप) और मोह (मूर्च्छा) होजाती है। तथा पत्रविषसे जँभाई जादे आना अंगोंका उद्वेष्टन और श्वास होता है ॥१२॥ फलके विषसे अंडकोशोंमें सोजा, दाह और अन्नसे द्वेष हो जाता है और पुष्पके विषसे वमन होना, पेट अफरना और मोह ये लक्षण होते हैं ॥ १३ ॥ छालके विषसे तथा सार और निर्यासके विषके उपयोगमें आनेसे मुहमें दुर्गंधि, कठोरता, शिरमें पीडा, मुहसे कफ गिरना ये लक्षण होजातेहैं॥१४॥ दूधके विषसे मुहसे झाग आना, मलमें भेदन हो जाना और जिह्वामें ऐंठनसी होना ये लक्षण होते हैं और धातुके विषसे हृदयमें पीडा, मूर्च्छा और तालुमें दाह (जलन) होतीहै ॥ १५ ॥ ये पूर्वोक्त विष प्रायः कालांतरमें मृत्युकारक होतेहैं और कंदविष तीक्ष्ण होतेहैं उनके लक्षण हम विस्तारपूर्वक कहते हैं ॥ १६ ॥

कंदविषोंके उपद्रव ।

स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तंभ एव च ॥ ग्रीवास्तंभो वत्सनाभे पीतविण्मूत्रनेत्रता ॥ १७ ॥ सर्षपे तालुवैगुण्यमानाहो ग्रंथिजन्म च ॥ ग्रीवादौर्बल्यवाक्संगौ पालकेऽनुमतौ विह ॥ १८ ॥ प्रसेकः कर्दमाख्ये तु विड्भेदो नेत्रपीतता ॥ वैराटकेनांगदुःखं शिरोरोगश्च जायते ॥ १९ ॥ गात्रस्तंभो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु ॥ शृंगीविषेणांगसाददाहोदरविवृद्धयः ॥ २० ॥ पुंडरीकेन रक्तत्वमक्ष्णो वृद्धिस्तथोदरे ॥ वैवर्ण्यं मूलकेश्छर्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः ॥२१॥ चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै ॥ महाविषेण हृदये ग्रंथिशूलोद्गमौ भृशम् ॥ २२ ॥ कर्कटेनोत्पतत्यूर्ध्वं हसन्दंतान्दशत्यपि ॥ कंदजान्युग्रवीर्याणि प्रयुक्तानि त्रयोदश ॥ २३ ॥

कंदविषोंमेंसे "कालकूट" से स्पर्शका अज्ञान, कंप और शरीरका स्तंभित होना ये लक्षण होते हैं। और "वत्सनाभ" से ग्रीवाका स्तंभ और मल मूत्र तथा नेत्रोंमें पीलापन होजाता है ॥ १७ ॥ "सर्षप" विषसे तालुमें विगुणता और अफारा तथा

ग्रंथि पैदा होजाती हैं। और "पालक" नामक विषसे ग्रीवा पतली पड जाती है और बोलना बंद होजाता है ॥ १८ ॥ "कर्दम" नामक विषसे मल फट जावे, आंखें पीली पडजावें । और "वैराटक" विषसे अंगमें दुःख और शिरमें पीडा होती है ॥ १९ ॥ "मुस्तक" नामक विषसे शरीर अकड जावे तथा कंप होजावे। और "शृंगी" विष (सींगी मोहरे) से अंगोंमें ढीलापन, दाह और पेट फूलना ये लक्षण होजाते हैं ॥ २० ॥ "पुंडरीक" (प्रपौंडरीक) विषसे आंखें लाल होजाती हैं और पेट फूल जाता है । और "मूलक" विषसे वर्ण विगड जाता है, वमन होने लगते हैं, हिचकी चलती हैं, सोजा होता है और मूढता होजाती है ॥ २१॥ "हलाहल" विषसे श्वास रुकरुककर आता है और मनुष्य काला पडजाता है। तथा "महाविष" से हृदयमें गांठ पडजाती है और दारुण शूल होता है ॥२२॥ "कर्कटक" विषसे ऊपर २ को उछलने लगता है और कभी हँस हँसकर दांतोंको चबाने लगता है ऐसे ये १३ कंदविष उग्र वीर्यवाले हैं और इनके उपयोगमें आनेसे पूर्वोक्त लक्षण होते हैं ॥ २३ ॥

विषमात्रके दश गुण।

सर्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः ॥ रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च ॥ विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम् ॥ २४ ॥

कुशल वैद्योंको सभी विष नीचे लिखे हुए इन दश गुणोंसे युक्त जानने चाहिये (अर्थात् विष इन दश गुणोंवाला होता है) जैसे १ रूक्ष (अति रूखा), २ उष्ण (गरम), ३ तीक्ष्ण, ४ सूक्ष्म (बारीक छिद्रोंमें प्रवेश करनेवाला), ५ आशु (शीघ्र गमन करनेवाला अर्थात झटपट प्रभाव करनेवाला), ६ व्यवायि (पहले सब शरीरमें व्याप्त होकर पके), ७ विकाशि (संधिबंधनोंको ढीला करनेवाला), ८ विशद (जो पिच्छल न हो), ९ लघु (हलका), १० अपाकी (जो पचे नहीं) ॥ २४ ॥

दश गुणोंके कार्य

तद्रौक्ष्यात्कोपयेद्वायुमौष्ण्यात्पित्तं सशोणितम् ॥ मानसं मोहयेत्तैक्ष्ण्यादगबंधांश्छिनत्त्यपि ॥ २५॥ शरीरावयवान्सौक्ष्म्यात्प्रविशेद्विकरोति च ॥ आशुत्वादाशु तद्धंति व्यवायात्प्रकृतिं भजेत् ॥ ॥ २६ क्षपयेच्च विकाशित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि ॥ वैशद्यादति-

(श्लो० २४) रूक्षादीनां गुणानां लक्षणानि पूर्वं सूत्रस्थाने लिखितानि तत्र द्रष्टव्यानि ।

रिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात् ॥ २७ ॥ दुर्जरं चाविपाकित्वा-त्तस्मात्क्लेशयते चिरम् ॥ २८ ॥ स्थावरं जंगमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम् ॥ सद्यो व्यापादयेत्तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम् ॥ २९ ॥

विष रूक्षतासे वायुको कोप करता है और उष्णतासे पित्तको और रुधिरको कुपित कर देता है, तीक्ष्णतासे बेहोशी करता है और शरीरके बंधोंको तोड डालता-है ॥ २५ ॥ सूक्ष्मतासे शरीरके भागोंमें प्रवेश कर उनको बिगाड देता है और आशुताके गुणसे शीघ्रही नष्ट कर देता है और व्यवायी होनेसे सब शरीरकी प्रकृति अपनीसी कर देता है ॥ २६ ॥ विकाशि होनेसे दोष, धातु और मलको नष्ट करता है और विशदतासे शक्तिहीन कर देता है (या दस्त जारी कर देता-है) और लघुताके कारण चिकित्साके योग्य कठिनतासे होता है असाध्य (होजाता-है) ॥ २७ ॥ और अविपाकी होनेसे दुर्जर होता है पचता नहीं इससे बहुत समय-तक दुःख देता है ॥ २८ ॥ चाहे स्थावर विष हो चाहे, जंगम, चाहे. कृत्रिम जिसमें ये दश गुण होते हैं वह शीघ्रही प्राणोंका नाश कर देता है ॥ २९ ॥

हीनविष (दूषीविष)

यत्स्थावरं जंगमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत् ॥
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥ ३० ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ॥
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्कफावृतं वर्षगणानुबंधि ॥ ३१ ॥

जो स्थावर विष हो या जंगम विष या कृत्रिम (मिलाकर किसी योगसे बनाया हुआ) विष हो वह जो देहमेंसे निकल गया हो पर कुछ रह गया हो अथवा जीर्ण होगया हो (पुराना पडगया हो या पचगया हो) अथवा विषनाशक औष-धोंसे दबाया और नष्ट किया गया हो अथवा दावाग्नि (दवाडसे जलाहुआ हो) और प्रचंड वायु तथा धूपसे सूख गया हो ॥ ३० ॥ अथवा स्वभावहीसे जिसमें हीन गुण हों ऐसा विष दूषीविष कहलाता है और स्वल्प पराक्रम होनेसे यह मृत्युकारक भी नहीं होता किंतु कफसे आच्छादित होकर वरसों शरीरमें व्याप्त रहता है ॥ ३१ ॥

दूषीविष युक्तके लक्षण ।

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगंधवैरस्यमुखः पिपासी ॥ मूर्च्छन्भ्रम-

(श्लो० ३१) न निपातयेत् न मारयेत् कफावृतं विलीनश्लेष्मणा आवृतत्वान्न मारयेदित्यर्थः । 'वर्षगणानुबंधि' इत्यत्र वर्षगुणानुबंधीति वा पाठः चिरकालानुबंधीत्यर्थः (इति नि० सं०) अपरे वर्षगुणा-नुबंधीत्यत्र यत्र यत्रावयवे वर्षति प्राप्नोति तद्गुणानुबंधि तत्र विकारकारी भवतीति व्याख्यानयति ।

न्गद्गदवाग्विपन्नो भवेच्च दूष्योदरलिंगजुष्टः॥ ३२ ॥ आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी॥ भवेन्नरो स्तब्धशिरोरुहांगो विलूनपक्षस्तु यथा विहंगः ॥ ३३ ॥ स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्करोति धातुप्रभवान्विकारान्॥ कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम्॥ ३४ ॥

जिसके शरीरमें यह दूषीविष ठहर जाता है उससे पीडित मनुष्यका मल और वर्ण पलट जाता हैं, मुखमें दुर्गंध और विरसता होती है तथा तृषा विशेष होतीहै मूर्च्छा और वमन भी कभी होते हैं, गद्गद वाणी होजाती है और दूष्योदरकेसे लक्षण होते हैं ॥ ३२ ॥ यदि यह विष आमाशयमें रहता है तो मनुष्य कफ, वायुका रोगी होता है और पक्वाशयमें रहनेसे वात, पित्तका रोगी होताहै, शिरके बाल और रागेंटे शरीरपरसे झड जाते हैं जैसे परंदेके पर नोचलेनेसे नंगासा होजाता है ॥ ॥३३॥ यदि यह विष रस आदि धातुओंमें स्थित होजाता है तो उन्हीं उन्हीं धातुओंमें यथोक्त विकार करता है और शीत वायु तथा अबरके दिनोंमें झट कोपको प्राप्त होता है अब इसके पूर्वरूप सुनो ॥ ३४ ॥

दूषीविषकोपके पूर्वरूप और उपद्रव ।

निद्रा गुरुत्वं च विजृंभणं च विश्लेषहर्षावथवांगमर्दः॥ ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मंडलकोठमोहान्॥ ३५ ॥ धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं छर्दिमथातिसारम्॥ वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान्वा कुर्यात्प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा ॥ ३६ ॥ उन्मादमन्यं जनयेत्तथान्यदानाहमन्यः क्षपयेच्च शुक्रम् ॥ गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान्॥ ३७ ॥

जब दूषीविषका कोप होने लगता है तब इसके पूर्वरूप ये होते हैं,जैसे-निद्रा अधिक आना, शरीरभारी होजाना, जँभाही अधिक आना, अंगोंका टूटना, रोमहर्ष और अँगडाई अधिक आना ऐसा होनेके पीछे इसके कोपके उपद्रव होने लगते हैं जैसे-अन्नमें मद और न पचना और अरुचि होना तथा शरीरपर चकदे पडजातेहैं, कोठ (शरीरपर दाफडसे उमड आते हैं), कभी २ मोह (बेहोशी होजाती है)॥ ॥३५॥ धातुका नाश, हाथ और पावोंमें सूजन, जलोदर, वमन, अतिसार, वर्ण बिगडना, मूर्च्छा, विषमज्वर और प्रबल तृषा इत्यादि उपद्रव करता है ॥ ३६ ॥

(श्लो० ३३) विलूनपक्षो लुंचितपक्षः ।

कोई विष कुपित होकर उन्माद पैदा कर देता है, कोई पेट फुला देता है, कोई वीर्यको नष्ट कर देताहै, कोई वाणीको गद्गद करदेता है, कोई कुष्ठ कर देता है और इसी भांतिके अनेक विकार करदेता है ॥ ३७ ॥

दूषीविषकी निरुक्ति ।

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ॥
यस्माद्दूषयते धातूंस्तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यह (हीनविष) शरीरमें रहाहुआ देश, काल और खानपानकी अयोग्यता तथा दिनके सोने इत्यादिके निरंतर अधिक सेवनसे दूषित होकर यह विष जोकि धातुओंको दूषित कर देता है इस कारणसे इसका नाम "दूषीविष" है ॥ ३८ ॥

स्थावरविषके सप्त वेग ।

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम् ॥ श्यावा जिह्वा भवेत्स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते ॥ ३९ ॥ द्वितीये वेपथुः स्वेदो दाहः कंडूरुजस्तथा ॥ विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥ ॥ ४० ॥ तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम् ॥ दुर्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्य लोचने ॥ ४१ ॥ पक्वाशयगते तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम् ॥ चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥ ॥ ४२ ॥ कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पंचमे ॥ सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥ ४३ ॥ षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं वाप्यतिसार्यते ॥ स्कंधपृष्ठकटीभंगः सन्निरोधश्च सप्तमे ॥ ४४ ॥

स्थावरके उपयोग होजानेसे मनुष्योंके सात वेग (दौर) होतेहैं उनमेंसे पहले वेगमें जीभ काली और कडी होजाती है, मूर्च्छा और श्वास होता है ॥ ३९ ॥ दूसरे वेगमें कंप (शरीर कांपता है), पसीना आता है, दाह, खाज होतेहैं । आमाशयमें प्राप्त हुआ विष हृदयमें पीडा करता है ॥ ४० ॥ तीसरे वेगमें तालुमें खुश्की और आमाशयमें दारुण शूल होता है, दोनों आंखें विवर्ण हरी हरी सूजी सूजीसी हो जाती हैं (ये तीन वेग आमाशयगत विषमेंही होतेहैं) ॥ ४१ ॥ इसके पीछे जब विष पक्वाशयमें पहुँचता है तब वहां दरद होता है, हिचकी और खांसी होती है, आँतें बोलती हैं (इसके अगाडी ४ वेग पक्वाशयगत विषके हैं), चौथे वेगमें शिर बहुत भारी होजाता है (जिससे शिर झुकजाता है) ॥ ४२ ॥ पांचवें वेगमें मुँहसे

(श्लो० ४४) सन्निरोधश्च सप्तमे इत्यत्र सन्निरोधः उच्छ्वासस्य इति शेषः (इति डल्हनः)

कफ बहने लगता है, वर्ण विगड़जाता है, संधियोंमें भेदन होता है, सब दोषों (वायु, पित्त, कफ, रक्त) का कोप होता है और पक्काशयमें वेदना होती है ॥ ४३ ॥ छठे वेगमें बुद्धिका नाश होजाता है और बहुत दस्त आते हैं तथा सातवें वेगमें कंधे, पीठ, कमर टूटती हैं और श्वास रुकजाता है ॥ ४४ ॥

प्रथमे विषवेगे तु वांतं शीतांबुसेवितम् ॥ अगदं मधुसर्पिर्भ्यां पाययेत समायुतम् ॥ ४५ ॥ द्वितीये पूर्ववद्वांतं पाययेत्तु विरेचनम् ॥ तृतीये गदपानं तु हितं नस्यं तथांजनम् ॥ ४६ ॥ चतुर्थे स्नेहसंमिश्रं पाययेतागदं भिषक् ॥ पंचमे क्षौद्रमधुकक्काथयुक्तं प्रदापयेत् ॥ ॥ ४७ ॥ षष्ठेऽतिसारवात्सिद्धिरवपीडश्च सप्तमे ॥ मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत् ॥ ४८ ॥

पहले वेगमें तो शीतल जल पिलाकर वमन करावे और शहत, घृतके साथ अगद (विषनाशक औषध) पिलावे ॥ ४५ ॥ दूसरे वेगमें पहलेकी भांति वमन कराकर विरेचन भी दे सकते हैं फिर तीसरे वेग होनेपर अगद पिलाना नस्य और अंजन करना हित है ॥ ४६ ॥ चौथे वेगमें अगदको घृत मिलाकर पिलावे और पांचवें वेगमें शहत और मुलेठीके क्काथमें मिलाकर अगद औषध पिलावे ॥ ४७ ॥ छठे वेग होनेपर अतिसारकी तरह साधन करे और अवपीडन नस्य देवे। और सातवें वेग होनेपर (असाध्य जानकर यत्न नहीं करे) अथवा (असाध्य कहकर) शिर (कपाळ) पर काकके पदका चिह्न शस्त्रसे करके उसपर रुधिर युक्त ताजा मांस रक्खे (इससे कुछ श्वासका रुकाव खुले तो फिर अन्य यत्न करे) ॥ ४८ ॥

विषघ्न यवागू ।

वेगांतरे त्वन्यतमे कृते कर्मणि शीतलांम् ॥ यवागूं सघृतक्षौद्रामिमां दद्याद्विचक्षणः ॥ ४९ ॥ कोशातक्योऽग्निकः पाठासूर्यवल्यमृताभयाः ॥ शिरीषः किणिही शेलुर्गिर्याह्वा रजनीद्वयम् ॥ ५० ॥ पुनर्नवे हरेणुश्च त्रिकटुः सारिवे बला ॥ एषां यवागूर्निःक्काथे कृत्वा हंति विषद्वयम् ॥ ५१ ॥

(श्लो० ४८) षष्ठे अवपीडश्च देयः अथवा चकारात्सप्तमेपि देय इति भावार्थः । सप्तमे वेगे असाध्यरूपेपि प्रत्याख्याय प्रतिक्रियां कुर्यात् । (श्लो० ४९ से ५१ तक) कोशातकी घोषकः, अग्निकोऽजमोदः, सूर्य्यवल्ली पटोलसदृशपत्रा यस्याः पत्ररसेनाक्त मांसं स्विन्नमिव भवति । अन्ये सूर्य्यावर्तमाहुः । किणिही कटभी, शेलुः श्लेष्मातकः, गिर्याह्वा श्वेतकंदः ।

पूर्वोक्त वेगोंमेंसे किसी वेगके बीचमें उसका यत्न कियेजानेपर घृत और शहतके साथ इस आगे लिखी हुई यवागूको बुद्धिमान् वैद्य ठंढा करके पिलावे॥४९॥ कोशातकी (जंगली तोरी), अग्निक (अजमोद), पाठा, सूर्यवल्ली (एक बेल पटोल पत्र जैसी होती है, कोई सूर्यावर्त कहते हैं), गिलोय, हरीतकी, शिरस, किणिही (कटभी), शेलु (लहेसुवा) और गिर्य्याह्वा (श्वेतकंद), और दोनों हलदी ॥ ५० ॥ दोनों प्रकारकी पुनर्नवा, हरेणु, त्रिकटु, दोनों सारिवा और खरैंटी इनके काथमें पकाई हुई यवागू, दोनों प्रकारके (स्थावर, जंगम) विषोंको नष्ट करती है ॥ ५१ ॥

अजेयघृत ।

मधुकं तगरं कुष्ठं भद्रदारु हरेणवः ॥ पुन्नागकैलवालूनि नागपुष्पोत्पलं सिता ॥ ५२ ॥ विडंगं चंदनं पत्रं प्रियंगुर्ध्यामकं तथा ॥ हरिद्रे द्वे बृहत्यौ च सारिवे च स्थिरा सहा ॥ ५३ ॥ कल्कैरेषां घृतं सिद्धमजेयमिति विश्रुतम् ॥ विषाणि हंति सर्वाणि शीघ्रमेवाजितं क्वचित् ॥ ५४ ॥

मुलेठी, तगर, कूट, भद्रदारु हरेणु, पुन्नाग, एलवालुक (कई इसे एलुवा जानते हैं परन्तु यह एलुवा कदापि नहीं, एलुवा गुवारपाठेके रससे बनाया जाता है और यह छोटे दानेसे होते हैं) तथा नागकेशर, कमल और मिश्री ॥ ५२ ॥ विडंग, चंदन, पत्रज, प्रियंगु, ध्यामक (एक तृणविशेष है), दोनों हलदी, दोनों कटेली, दोनों सारिवा, शालपर्णी, सहा (पृश्निपर्णी) ॥ ५३ ॥ इनके कल्कमें सिद्ध किया हुआ घृत अजेय घृत कहलाता है यह सब प्रकारके विषोंको नष्ट करता है, सर्वत्र शीघ्रही जयको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

विषारिनामक अगद ।

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्द्ध्वं चाधश्च शोधितम् ॥ पाययेतागदं नित्यमिमं दूषीविषापहम् ॥ ५५ ॥ पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी लावरः परिपेलवम् ॥ सुवर्चिका ससूक्ष्मैला तोयं कनकगैरिकम् ॥ ५६ ॥ क्षौद्रयुक्तोऽगदो ह्येष दूषीविषमपोहति ॥ एष नाम्ना विषारिस्तु न चान्यत्रापि वार्यते ॥ ५७ ॥

(श्लो० ५३) पुन्नागः भृगः पूर्वदेशे प्रसिद्धः (इति डल्हनः) (श्लो० ५४) अजितं क्वचिदिति—न जितम् अजितं क्वचित् कासन्नपि स्थावरादावित्यर्थः (इति नि. सं.) (श्लो० ५६) परिपेलवं डल्हनमते तु धान्यकं वाचस्पत्यादयस्तु कैवर्तमुस्तकमाहुः ।

यदि कोई दूषीविषका रोगी (दूष्योदरी आदि) हो तो उसे ठीक स्वेद कराकर वमन, विरेचनद्वारा ऊपर नीचेसे शोधनकर नित्य यह दूषीविषनाशक अगद पिलावे ॥ ५५ ॥ पिप्पली, ध्यामक, मांसी (जटामांसी), सावर लोध, परिपेलव (धनियां), सुवर्चिका (सज्जी), छोटी इलायची, तोय (नेत्रवाला) और सोनागेरू ॥ ५६ ॥ इनसे बनाया हुआ (क्वाथ) अगद औषध शहत मिलाकर पिलावे यह दूषीविषको नाश करता है इसका नाम विषारि (अर्थात् विषका शत्रु) है, दूषीविषके सिवाय और विषोंमें भी देना वर्जित नहीं (अथवा इसके ज्वरादि उपद्रवोंमें भी वर्जित नहीं है) ॥ ५७ ॥

ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये ॥ शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि वा ॥ ५८ ॥ उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः ॥ यथास्वं तेषु कुर्वीत विषघ्नैरौषधैः क्रियाम् ॥ ५९ ॥

इस विषके उपद्रवरूप ज्वरमें, दाहमें, हिचकियोंमें, अफारेमें, वीर्यनाशमें, शोथमें, अतिसारमें, मूर्च्छामें, हृदयरोगमें उदररोगोंमें ॥ ५८ ॥ उन्मादमें, कंपमें अथवा अन्य उपद्रव हों उनमें यथायोग्य विषनाशक औषधोंसे (तथा उन रोगोंके प्रयोगोंमें विषनाशक औषधोंके योगसे) यत्न करे ॥ ५९ ॥

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ॥
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥ ६० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

यह दूषीविष जितेंद्रिय मनुष्योंको तत्काल (थोडे दिन) का हुआ साध्य होता है तथा वर्ष दिन पीछेका याप्य होजाता है तथा क्षीण और अहितसेवी (बदपरहेज) मनुष्यके असाध्य होता है ॥ ६० ॥

इति प० मुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० कल्पस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ३.

अथातो जंगमविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम जंगम (जीव जंतुओं सर्पादिके) विषके विज्ञान होनेके अध्यायका व्याख्यान करते हैं ।

जंगमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश ॥
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥ १ ॥

हमने जो पहले संक्षेप मात्रसे ऐसा कहा है कि जंगम विषके सोलह अधिष्ठान हैं अब उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

जंगमविषके अधिष्ठान ।

तत्र दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशविशर्द्धितगुदास्थिपित्तशूकशवानीति ॥ २ ॥

जंगम विषके १६ अधिष्ठान ये हैं जैसे-१ दृष्टि, २ श्वास, ३ डाढ, ४ नख, ५ मूत्र, ६ विष्ठा, ७ वीर्य, ८ आर्तव, ९ राल (मुखकी लार), १० मुखसंदंश, ११ विशर्द्धित, (गुदवायुका शब्द अर्थात् अपान वायु), १२ गुदा, १३ हड्डी, १४ पित्ता, १५ शूक (डंक या कांटे या रोम) और १६ शव (मृत शरीर) ॥ २ ॥

तत्र दृष्टिनिःश्वासविषास्तु दिव्याः सर्पा भौमास्तु दंष्ट्राविषाः ॥ ॥ ३ ॥ मार्जारश्ववानरमकरमंडूकपाकमत्स्यगोधाशंबूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथान्ये दंष्ट्रानखविषाः ॥ ४ ॥

इनमेंसे दृष्टि और निश्वास विषवाले दिव्य सर्प होते हैं और पृथ्वीके सामान्य सर्पोंके दंष्ट्रा (डाढ) में विष होता है ॥ ३ ॥ बिल्ली, कुत्ता, बंदर, मगर, मेंडक (एक भांतिका विषैल होता है), पाकमत्स्य (एक भांतिका मत्स्य), गोधा (गोह या गुहेरा), शंबूक (एक जलजंतु), प्रचलाक (एक भांतिका कीट), गृहगोधा (छिपकली) तथा अन्य चार पैरवाले जंतु इनके डाढ और नखमें विष होता है ॥ ४ ॥

चिपिटपिच्चटककषायवासिकसर्षपवासिकतोटकवर्चःकीटकौंडिल्यकाः शकृन्मूत्रविषाः ॥ ५ ॥ मूषिकाः शुक्रविषाः । लूताश्च लालामूत्रपुरीषमुखसंदंशनखशुक्रार्तवविषाः ॥ ६ ॥

चिपिट, पिच्चटक, कषायवासिक, सर्षपवासिक, तोटकवर्च, कीटकौंडिल्य ये ऐसे जीव हैं जिनके विष्ठा और मूत्रमें विष होता है (इनके नामांतर हिंदीभाषामें और नहीं मिलते) ॥ ५ ॥ और कई प्रकारके चूहोंके वीर्यमें विष होता है। तथा मकडीके लार, मूत्र, पुरीष, मुँहके संदंश, नख, शुक्र और आर्तवमें विष होता है ॥ ६ ॥

(वक्तव्य) मकडीकी अनेक जाति हैं, किसी २ देशमें इतनी बडी मकडी होती हैं जिनके नखून होते हैं, कइयोंके मूत्रमें, कइयोंके पुरीषमें, कइयोंके मुखके संदंशमें विष होता है और लारमें तो सभीके विष होता है इत्यादि ।

(वा० २) जंगमस्य त्वाश्रयाः षोडश दृष्टिनिःश्वासस्पर्शदंष्ट्रामुखनखास्थिमूत्रपुरीषशुक्रार्तवलालासृक्पित्तशोणितशवानि (इति वृद्धवाग्भटः) अत्र गुद विशर्द्धितं च विहाय स्पर्शशोणितयोर्ग्रहणम् ।

वृश्चिकविश्वंभरराजीवमत्स्योच्चिटिंगाः समुद्रवृश्चिकाश्चालविषाः ॥७॥ चित्रशिरःसराबकुर्दितशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसंदंशविशर्द्धितमूत्रपुरीषविषाः ॥८॥ मक्षिकाकणभजलायुका मुखसंदंशविषाः ॥ ९ ॥

बिच्छू, विश्वंभर (एक भांतिका कृमि), राजीवमत्स्य, उच्चिटिंग और समुद्रका बिच्छू इनके अल अर्थात् पृष्ठभागके डंकमें विष होता है ॥ ७ ॥ चित्रशिर, सराब, कुर्दित, शतदारुक, अरिमेदक और सारिकामुख, इत्यादिके मुख, संदंश, विशर्द्धित, मूत्र और पुरीषमें विष होता है ॥ ८ ॥ मक्खी, कणभ और कई भांतिकी जोंक इनके मुखके संदंश (पकड) में विष होता है ॥ ९ ॥

(वक्तव्य) विश्वंभर, उच्चिटिंग, चित्रशिर, सराब, कुर्दित आदि एक प्रकारके कृमि होते हैं उनके नाम, आकृति आदि यहां नहीं मिलते ।

विषहतास्थिसर्पकंटकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि ॥ १० ॥ शकुलीमत्स्यरक्तराजीचरकीमत्स्याश्च पित्तविषाः ॥ ११ ॥ सूक्ष्मतुंडोच्चिटिंगवरटीशतपदीशूकवलभिकाशृंगीभ्रमराः शूकतुंडविषाः ॥ १२ ॥ कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः ॥१३॥ शेषास्त्वनुक्ता मुखसंदंशविषेष्वेव गणयितव्याः ॥ १४ ॥ भवन्ति चात्र–

विषसे मरेहुएकी अस्थि, सर्प, कंटक, वरटीमत्स्य इनकी हड्डी ये अस्थिविष हैं॥ ॥ १० ॥ शकुली मत्स्य, रक्तराजी, चरकी मत्स्य इनके पित्तेमें विष है ॥ ११ ॥ सूक्ष्मतुंड, उच्चिटिंग, वरटी (चींटी), शतपदी (कनखजूरा), शूकवल (कातरा), भिका शृंगी (कई भृंगी पाठ मानतेहैं) और भ्रमर (भँवरी या भौंरा) इनके शूक (डंक) कांटों तथा तुंड (डंक या मुँह) में विष होता है ॥ १२ ॥ विषयुक्त कीडे और सर्प मरे पीछे इनके शरीरमें भी विष होता है ॥ १३ ॥ इनके सिवाय जो विषयुक्त जंतु हैं और कहे नहीं गये वे सब मुख संदंश (मुँहसे काटनेके विषवालोंमें ही गिनने और जानने) चाहिये ॥ १४ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं–

विषदूषित तृणजलादिके लक्षण ।

राज्ञोरिदेश रिपवस्तृणांबुमार्गान्नधूमश्वसनान्विषेण ॥ संदूषयंत्येभिरतिप्रदुष्टान्विज्ञाय लिंगैरभिशोधयेच्च ॥१५॥ दुष्टं जलं पिच्छ-

(वा० ७) वृश्चिकाद्या अलविषाः अलं वृश्चिकपुच्छस्थकंटकाकारपदार्थे (इति श. स्तो.)
(श्लो० १५) श्वसनः पवनः ।

त्युग्रगंधि फेणान्वितं राजिभिरावृतं च ॥ मंडूकमत्स्यं म्रियते विहंगा मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमंति ॥१६॥ मज्जंति ये चात्र नराश्वनागास्ते छर्दिमोहज्वरदाहशोफान् ॥ गच्छंति तेषामपहृत्य दोषान्दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत ॥ १७ ॥

राजाके शत्रु मार्गमें या देशमें, तृण, जल, मार्ग, अन्न, धूम, वायु इनको विषसे दूषित करदेते हैं इन दूषित हुओंको आगे लिखे हुए लक्षणोंसे जानकर उनके शोधन करनेका यत्न करे ॥ १५ ॥ यदि जल दूषित हो तो वह कुछ गाढा होजाताहै और उसमें तीक्ष्ण गंध और झाग होतेहैं, लकीरेंसी मालूम देने लगती हैं तथा मेंडक और मछलियां मरी पाई जावें और वहांके पक्षी तथा तटके जीव उन्मत्तसे होकर भ्रमें ये लक्षण दूषित जलके जानने चाहिये ॥ १६ ॥ इस दूषित जलमें जो मनुष्य घोडे हाथी न्हावें (या पान करें) वे वमन, मूर्च्छा, ज्वर, दाह और शोथ इन उपद्रवोंको प्राप्त होजाते हैं इसमें वैद्य उन विषके उपद्रवजुष्ट जीवोंके निर्विष होनेका उपाय करे और जलकी शुद्धिका यत्न करे ॥ १७ ॥

जलके शोधनका प्रकार ।

धवाश्वकर्णासनपारिभद्राः सपाटलाः सिद्धकमोक्षकौ च ॥
दग्धाः सराजद्रुमसोमवल्कास्तद्भस्म शीतं विकिरेत्सरःसु ॥१८॥
भस्मांजलिं चापि घटे विधार्य विशोधयेदीप्सितसेव्यमंभः ॥१९॥

धव, अश्वकर्ण (पीपलकेसे पत्रवाला पूर्व देशमें वृक्ष होता है), विजैसार, पारिभद्र (फरहद), पाटला, सिद्धक (सिन्दुवार), मोखा और किरमाला तथा सोमवल्क (सुपेद खैर) इन्हें जलाकर इनकी शीतल भस्म सरोवरों (नदियों, कूपों) में डाल दे ॥ १८ ॥ और थोडा जल चाहिये तो घडा भरकर उसमें एक अंजलीभर भस्म घोलकर रख दे जब सब भस्म नीचे बैठकर साफ जल होजावे तब उसे शुद्ध जाने और पीने आदिके काममें लावे ॥ १९ ॥

विषदूषित पृथ्वी ।

क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु शिलास्थलीं तीर्थमथेरिणं वा ॥
स्पृशंति गात्रेण तु येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा ॥
तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते रोमनखं तथैव ॥ २० ॥

(श्लो० १८) सिद्धकः सिन्धुवारः, डल्हनमते तु रोहिणीसदृशपत्रः पूर्वदेशे प्रसिद्धः । (श्लो०१९) घटे द्रोणप्रमिते जले भस्मनः अंजलिं चतुःपलं निधाय शोधयेदिति । (श्लो० २०) ईरिणमूपरम् (इति डल्हनः) अन्ये तु ईरयंति गच्छति येन तत् ईरिणं मार्गमित्यर्थं इत्याहुः ।

यदि पृथ्वी विषदूषित हो तो उसकी शिला-स्थल (स्थान), घाट तथा रस्ता (सडक) ऐसी होती हैं जिनसे बैल घोड़े, हाथी, ऊंट, गधे तथा मनुष्य जो जो जिस २ अंगसे उसे स्पर्श करें वही अंग या तो [illegible] जावे या जलने लगे अथवा वहांके बाल झड़ने लगें या नखून फटने लगें ॥ २०॥

तत्राप्यनंतां सह सर्वगंधैः पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य मार्गम् ॥
सिंचेत्पयोभिस्तु मृदन्वितैस्तं विडंगपाठाकटभीजलैर्वा ॥ २१ ॥

ऐसा होनेपर अनंता (जवासे) और सर्वगंध इन्हे मद्यमें पीसकर (घोलकर) मार्ग (सडक) पर छिडक देवे अथवा बँबईकी मिट्टी पानी घोलकर छिड़के अथवा विडंग, पाठा और कटभी इनके जलसे खूब छिड़क देवे ॥ २१ ॥

विषयुक्त तृण ।

तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु सीदंति मूर्च्छंति वमंति चान्ये ॥
विड्भेदमृच्छंत्यथवा म्रियंते तेषां चिकित्सां प्रणयेद्यथोक्ताम् ॥२२॥

यदि तृण विषयुक्त दूषित हो तो उसके खानेसे घोड़े, हाथी थक जावें, मूर्च्छित हो जावें, वमन करनेलगें, पेट चल जावे (मल फटजावे) अथवा मर जावें ऐसा होनेपर इनकी यथोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

विषघ्न वाद्यलेप ।

विषापहैर्वाप्यगदैर्विलिप्य वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत ॥ तारः सुतारः ससुरेंद्रगोपः सर्वैश्च तुल्यः कुरुविंदभागः ॥ २३ ॥ पित्तेन युक्तैः कपिलान्वयेन वाद्यप्रलेपो विहितः प्रशस्तः ॥ वाद्यस्य शब्देन हि यांति नाशं विषाणि घोराण्यपि यानि संति ॥२४॥

विषनाशक द्रव्योंसे बाजों (दुन्दुभी आदिको) लेपन करके उन्हें बजावे इनके लेपकी औषधी इस भांति बनावे कि तार (चांदीका बुरादा) और सुतार (पारा), इन्द्रगोप (वीरबहोटी) इन सबके समान कुरुविंद (मोथा या हिंगलू)डाले ॥२३॥ और कपिलाके पित्तमें मिलाकर बाजों पर लेप करदेवे इनके शब्दसे घोर विष(के परमाणु) नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

(श्लो० २१) अनता दुरालभा । सर्वगंधैरिति-"चातुर्जातककर्पूरकंकोलागुरुकुंकुमम् ॥ लवगस-हितं चैव सर्वगंधं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥" इति वाचस्पत्ये । मृदन्वितेरित्यत्र वल्मीकमृदन्विताभिरद्भिः (इति नि० स०) पयोभिरद्भिः । (श्लो० २३) तारः रूप्यं, सुतारः पारदः (इति नि० स०) कुरुविंदः मुस्तायां कुल्माषे हिंगुले पद्मरागे च (इति श० स्तो०) परंत्वत्र मुस्तो ग्राह्यः ।

विषयुक्त धूम और वायु तथा इनकी शुद्धि ।

धूमेऽनिले वा विषसंप्रयुक्ते खगाः श्रमार्ताः प्रपतंति भूमौ ॥ कासप्रतिश्यायशिरोरुजश्च भवंति तीव्रा नयनामयाश्च ॥ २५ ॥ लाक्षाहरिद्रातिविषाभयाब्दहरेणुकैलादलवल्ककुष्ठम् ॥ प्रियंगुकां चाप्यनले निधाय धूमानिलौ चापि विशोधयेत् ॥ २६ ॥

विषयुक्त धुवाँ अथवा वायु विषयुक्त हो तो उससे आकाशके उडनेवाले पक्षी व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिरने लगते हैं और मनुष्योंके खांसी, जुखाम, शिरमें पीडा और दारुण नेत्रके रोग होजाते हैं ॥२५॥ ऐसा होनेमें लाख, हलदी, अतीस, हरीतकी, नागरमोथा, हरेणु, इलायची, दल (पत्रज), वल्क (लोध या दालचीनी) (और कई एलादलवल्कको इलायचीके पत्ते और छाल कहते हैं) तथा कूट, प्रियंगु इन्हें अग्निमें डालकर धुवां करके धूम और वायुकी शुद्धि करे ॥ २६ ॥

विषकी उत्पत्ति ।

प्रजामिमामात्मयोनेर्ब्रह्मणः सृजतः किल ॥ अकरोदसुरो विघ्नं कैटभो नाम दर्पितः ॥ २७ ॥ ततः क्रुद्धस्य वै वक्त्राद्ब्रह्मणस्तेजसोनिधेः ॥ क्रोधो विग्रहवान्भूत्वा निःपपाताथ दारुणः ॥ २८ ॥ स तं ददाह गर्जन्तमंतकाभं महाबलम् ॥ ततोऽसुरं घातयित्वा तत्तेजोऽवर्द्धताद्भुतम् ॥ २९ ॥

जिस समय सृष्टिकी आदिमें स्वयम्भू ब्रह्माजी इस संसारको रचने लगे उस समय कैटभ नाम असुर मदमें दर्पित होकर विघ्न करने लगा ॥ २७ ॥ उस समय तेजके निधान श्रीब्रह्माजीके क्रोध होनेपर उनके मुखसे साक्षात् क्रोध दारुण शरीररूप धारणकर पृथ्वीमें पडा (अर्थात् उनके चेहरेसे क्रोध टपका) ॥२८॥ उस क्रोधने तीक्ष्णरूप धारण करके अन्तक (यमराज)के समान, गर्जते हुए उस महाबलवान कैटभ नाम असुरको दग्ध किया फिर उस असुरको मारकर वह विष तेजोरूप होकर अद्भुत रीतिसे बढा ॥ २९ ॥

विषकी निरुक्ति आदि ।

ततो विषादो देवानामभवत्तं निरीक्ष्य वै ॥ विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते ॥ ३० ॥ ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं

(श्लो० २८) विग्रहवान् भूत्वा शरीरं धारयित्वा विग्रहः देहः (इति श. स्तो.) ।

क्रोधमीश्वरः॥ विन्यस्तवान्स भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ३१ ॥ यथाव्यक्तरसं तोयमंतरिक्षान्महीगतम् ॥ तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं नियच्छति ॥ ३२ ॥ एवमेव विषं यद्यद्द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते ॥ स्वभावादेव तं तस्य रसं समनुवर्तते ॥ ३३ ॥

उसको देखकर देवताओंको बड़ा विषाद उत्पन्न हुआ । जोकि विषाद पैदा करनेवाला होनेसे इसका नाम "विष" होगया ॥ ३० ॥ फिर ब्रह्माजीने शेष रही प्रजाको उत्पन्न करके कई स्थावर और जङ्गम पदार्थोंमें उस क्रोधरूप विषको स्थापन किया (अर्थात् बहुतसे स्थावर, जंगम पदार्थोंमें उसे स्थान दिया) ॥ ॥ ३१ ॥ जैसे आकाशका अव्यक्तरस जल पृथ्वीमें प्राप्त होकर जैसे २ प्रदेशों (पदार्थोंमें) प्रविष्ट और सहकारी होताहै वैसेही वैसे रसको ग्रहण करता है ॥ ॥ ३२ ॥ इसी भांति यह विषभी जिस जिस द्रव्यमें व्याप्त होकर रहता है स्वभावसेही उसी उसके रसका अनुकरण करता है ॥ (अर्थात् उसीकासा रस ग्रहण करलेता है) ॥ ३३ ॥

विषे यस्माद्गुणाः सर्वे तीक्ष्णाः प्रायेण सन्ति हि ॥ विषं सर्वमतो ज्ञेयं सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ ३४ ॥ ते तु वृत्तिं प्रकुपिता जहति स्वां विषार्दिताः ॥ नोपयाति विषं पाकमतः प्राणान्रुणद्धि च ॥ ३५ ॥ श्लेष्मणावृतमार्गत्वादुच्छ्वासोऽस्य निरुध्यते ॥ विसंज्ञः संति जीवेपि तस्मात्तिष्ठति मानवः ॥ ३६ ॥

जोकि विषमें सब गुण प्रायः तीक्ष्ण हैं इससे विष सब दोषों (वायु, पित्त, कफ और रक्त) का कोप करनेवाला होता है ॥ ३४ ॥ विषसे पीडित हुए वे (वातादि) अपनी प्रकृतिको त्याग देते हैं (अर्थात् अपने २ कार्य नहीं कर सकते) और विष पाकको प्राप्त नहीं होता (पचता नहीं) इससे प्राणोंको रोक देता है ॥ ३५ ॥ कफसे मार्ग रुकनेसे (विषसे पीडितका) श्वास रुकजाता है (श्वास आना बन्द होजाता है) इससे वह मनुष्य जीवयुक्त होनेपरभी विसंज्ञ (बेहोश) (काष्ठवत्) पडा रहता है (जिसे साधारण लोग मुरदा जान लेते हैं) ॥ ३६ ॥

शुक्रवत्सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम् ॥ क्रुद्धानामेति चांगेभ्यः शुक्रं निर्मथनादिव ॥ ३७ ॥ तेषां बडिशवद्दंष्ट्रास्तासु सज्जति

(श्लो० ३५) ते प्रकुपिता वातादयः स्वां वृत्तिं धातुप्रस्यंदनादिकां रागपक्त्यादिकां संधिसंश्लेष्मणादिकां च त्यजति (इति डल्हनः)

चागतम् ॥ अनुद्धृता विषं तस्मान्न मुंचन्ति च भोगिनः ॥ ३८ ॥

जैसे पुरुषोंका वीर्य सब शरीरमें व्याप्त है वैसेही सर्पोंके सब शरीरमें विष व्याप्त रहता है और जैसे स्त्रीदर्शनादिके हर्षसे वह वीर्य सब शरीरमेंसे निचुडकर वीर्यवाहिनी शिराओंमें प्राप्त होजाता है वैसेही क्रोधसे सर्पोंका विषभी सब शरीरमेंसे डाढमें आकर प्राप्त होजाता है ॥ ३७ ॥ और सर्पोंकी डाढ वडिश अर्थात् मछली पकड़नेके कांटेके समान होती हैं उनमें आकर स्थित हो जाता है इसी कारणसे विना उद्धृत हुए (विना क्रोध किये) (अथवा अनुद्धृत हुए विना(काटे विना) सर्प विष नहीं छोडते ॥ ३८ ॥

यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम् ॥ अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥ ३९ ॥ मंदं कीटेषु नात्युक्तं वहुवातकफं विषम् ॥ अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते॥४०॥

जोकि विष अत्यन्त उष्ण और तीक्ष्ण कहा है इससे सब विषोंमें प्रायः शीतल परिषेक करना (ठंढे छिडके देना) (उचित) कहा है ॥ ३९॥ और कीडोंका विष बहुत (तेज) नहीं होता प्रायः मन्द होता है और बहुत वायु और कफवाला होता-है इससे कीडोंके विषमें प्रायः स्वेद (सेकने) का निषेध नहीं है (परन्तु अपि शब्दसे कई कीडोंके विषमें स्वेदका निषेध भी है) ॥ ४० ॥

(.वक्तव्य) जिनमें वायु, कफ अधिक हो उनमें स्वेद कराना हितही होता है, वात और कफके विषमें प्रायः शोथ होता है तो शोथयुक्तमें स्वेद हित है ॥

विषयुक्तके मांसका निषेध ।

कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत्समुपाचरेत् ॥४१॥ स्वभावादेव तिष्ठेत्तु प्रहारादंसयोर्विषम् ॥ व्याप्य वेयवं दहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः ॥ ४२ ॥ लौल्याद्विषान्वितं मांसं यः खादेन्मृतमात्रयोः ॥ यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेपि वा ॥ ४३ ॥ अतश्चाप्येनयोर्मांसमभक्ष्यं मृतमात्रयोः ॥ मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंसवर्जितम् ॥ ४४ ॥

यदि तीक्ष्ण विषवाले कीडोंने काटा हो तो उसकी चिकित्सा सर्पके समान करनी चाहिये ॥ ४१ ॥ विषका स्वभाव है कि यह प्रहार (काटने) की जगहसे

(श्लो० ३८) अनुद्धृता अननुयोजिता अनुच्छलिता इति यावत् (इति नि० सं०) कीटेषु मंदविषम् अति न उक्तं किंतु बहुवातकफं विषं भवति अतः कीटविषे स्वेदो न प्रतिषिध्यते अपिशब्दात्केषुचित् कीटेषु चापि स्वेदस्य निषेध इत्यर्थः ।

समस्त शरीरमें व्याप्त होकर फिर कंधोंके स्थानमें आकर स्थित होजाता है इस लिये दिग्ध (विषसे बुझे या विषयुक्त शस्त्र) से विंधे हुए तथा सर्पके काटे हुए मृतमात्रके मांसको जो लोलुपताके कारणसे खाजावे वह विषकेसे उपद्रवोंसे क्लेशित होता है अथवा मरजाता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ इससे इन दोनों कारणोंसे मृतमात्र (पशु) का मांस भक्षण करने योग्य नहीं होता है और जो प्रहार(विष-युक्त शस्त्रकी चोट तथा सर्पादिकके काटने) से मुहूर्त पीछेतक देखे कि (तीक्ष्ण विष नहीं है पशु मृत या मूर्च्छित नहीं हुआ) तो उसके कंधोंको त्यागकर शेष मांस ग्रहण कर लेवे ॥ ४४ ॥

विषयुक्तके लक्षण ।

सवातं गृहधूमाभं पुरीषं यो तिसार्यते ॥ आध्मातोत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः ॥ उद्वमत्यथ फेणं च विषपीतं तमादिशेत् ॥ ॥ ४५ ॥ न चास्य हृदयं वह्निर्विषजुष्टं दहत्यपि ॥ तद्धि स्थानं चेतनायाः स्वभावाद्व्याप्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥

वायुयुक्त, घरके धुवाँके वर्ण जो मल त्याग करे और पेट फूल जावे, अत्यन्त गरम रुधिर हो अथवा नेत्रसे बहुत गरम आँसू गिरें, वर्ण बिगड जावे तथा अत्यंत शक्तिहीन होजावे और मुँहसे झागोंका वमन होवे तो उसे जानले कि इसने विष पिया (या खाया) है ॥ ४५ ॥ इस विषसे मरे हुए मनुष्यके हृदयको अग्नि ठीक २ दग्ध नहीं करता (अर्थात् उसका हृदय दाहके समय अग्निसे पूरा पूरा नहीं जलता क्योंकि यह हृदय चेतनाका स्थान है विष स्वभावसे यहां व्याप्त होकर स्थित होजाता है ॥ ४६ ॥

असाध्य विष ।

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसंध्यासु चतुष्पथेषु ॥ याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः ॥४७॥ दार्वी-कराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणी भवंति ॥ अजी-र्णपित्तातपपीडितेषु बालप्रमेहेष्वथ गर्भिणीषु ॥ ४८ ॥ वृद्धातुर-क्षीणबुभुक्षितेषु रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु ॥ शस्त्रक्षते यस्य न रक्त-

---

(श्लो० ४५) उष्णास्रः उष्णरुधिरः । अथवा अस्रं नयनजलं तेन उष्णाश्रुपातः इति । 'विषपी-तम्' इत्यत्र विषजुष्टमिति वा पाठः । (श्लो० ४९) अस्य श्लोकस्योत्तरार्द्धः अग्निमार्द्धेन सहान्वेतव्यः ।

मस्ति राज्यो लताभिश्च न संभवंति॥ ४९ ॥ शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ॥ ५० ॥

जिन्हें पीपलके नीचे, देवस्थान, मरघट, बँबई इन स्थानोंमें सर्प काटे तथा संध्याके समय तथा भरणी और मघा नक्षत्रमें काटे अथवा मर्मस्थानोंमें काटे (वह असाध्य होते हैं) ॥ ४७ ॥ दार्वीकर (जिनका चमचेसा फण हो) उनका विष शीघ्र मृत्युकारक होता है और उष्णकाल (गरमी) में सब विष दुगुने प्रभाववाले होजाते हैं। और अजीर्णरोगी, पित्त बढे हुए, धूपसे पीडित, बालक, प्रमेहवाले और गर्भवती स्त्री (इनमें भी विषका प्रभाव विशेष होता है) ॥ ४८ ॥ वृद्धरोगी, क्षीण, भूँखा, रूखा, डरपोक इनमें तथा अबरके दिनोंमें भी विष (अधिक प्रभाववाला) असाध्य होता है और शस्त्रसे काटनेपर जिस विषपीडितके रुधिर नहीं निकले तथा कोडा चाबुक आदि मारनेसे रेखा नहीं उभडे और ठंढा पानी डालनेसे रोंगटे खडे न हों उस विषयुक्तको असाध्य जाने और त्याग देवे ॥ ४९ ॥ ५० ॥

जिह्वा सितायस्य च केशशातो नासावभंगश्च सकंठभंगः ॥ कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः ॥ ॥ ५१ ॥ वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु ॥ ॥ ५२ ॥उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाप्यथवा विवर्णम् ॥ सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च जह्यान्न तं कर्म न तत्र कुर्यात् ॥ ५३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

जिसकी जीभ असिता (काली) पडजावे (अथवा सिता सुपेद होजावे) और बाल गिरने लगें, नाक मुडजावे, अवाज घोंघी पडजावे और डंककी जगह ऊदा शोथ होवे और जावडा बंद होजावे वह विषयुक्त (असाध्य और) त्यागने योग्य होता है ॥५१॥ जिसके मुँहसे कफकी बत्तीसी गाढी २ गाँठें गिरें और मुख तथा गुदा, लिंगसे रुधिर झिरे, जिसके सब डाढें बैठी हों अर्थात् भर मुँह काठा हो (अथवा जिसके सब दांत गिर पडें) उसे भी वैद्य त्याग देवे ॥५२॥ जिसे अत्यन्त उन्मत्तता हो और अत्यन्त उपद्रव होवे और कण्ठस्वर हीन होजावे (शब्द न निकले) और वर्ण बिगड जावे, जिसके मृतककेसे लक्षण होने लगें, जिसके वेग मंदे पड जावें उसे भी त्याग दे वहां कर्म न करे (औषधादिक नहीं देने चाहिये) ॥५३॥

इति पण्डितमुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० कल्पस्थाने तृतीयोऽध्यायः॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ४.

अथातः सर्पदष्टविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम सर्पके डसे (काटे) हुएके विषविज्ञानके अध्याय क व्याख्यान करते हैं ।

धन्वंतरिं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥१॥ सर्पसंख्यां विभागं च दष्टलक्षणमेव च ॥ ज्ञानं च विषवेगानां भगवन्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

सब शास्त्रोंमें विशारद परम बुद्धिमान् श्रीधन्वंतरिजीके दोनों चरणोंको पकडकर सुश्रुत पूछने लगे ॥ १ ॥ कि हे भगवन् ! आप सर्पोंकी संख्या (कितने प्रकारके सर्प होतेहैं) और उनके विभाग (अर्थात् भेद) और डसे हुएके लक्षण तथा विषके वेगोंका ज्ञान (ये सब बातें मेरे प्रति) वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

दिव्यसर्प ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः ॥ ३ ॥ असंख्या वासुकिमुखा विख्यातास्तक्षकादयः ॥ महीधराश्च नागेंद्रा हुताग्निसमतेजसः ॥ ४ ॥ ये चाप्यजस्रं गर्जंति वर्षंति च तपंति च ॥ ससागरा गिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही ॥ ५ ॥ क्रुद्धा निश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ॥ नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किंचिच्चिकित्सया ॥ ६ ॥

सुश्रुतजीके इस वचनको सुनकर वैद्योंमें श्रेष्ठ श्रीधन्वंतरि भगवान् बोले ॥३॥ कि वासुकी आदिक और तक्षकादिक जो (दिव्यसर्प) विख्यात हैं वे असंख्यात हैं, जो पृथिवीको धारण करनेवाले नागोंके राजा और जलती हुई अग्निके समान तेजवाले हैं ॥ ४ ॥ वे निरन्तर गर्जना करतेहैं, वर्षतेहैं (विषादि वरसातेहैं अर्थात् विषकी वर्षा करसकतेहैं) और तपतेहैं या जगत्को संतापयुक्त कर सकतेहैं, जिन्होंने यह पृथ्वी समुद्र तथा द्वीप सहित धारण कर रक्खी है ॥ ५ ॥ ये क्रुद्ध होकर दृष्टि और श्वास (फुंकार) से सारे संसारको नष्ट कर देवें इनको नमस्कार हो इनकी चिकित्सासे कुछ काम नहीं ॥ ६ ॥

पार्थिव सर्पोंके भेद ।

ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशंति च मानुषान् ॥ तेषां संख्यां प्रव-

---

(श्लो० ५) अजस्र निरंतरम् ।

क्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ७ ॥ अशीतिस्त्वेवं सर्पाणां भिद्यते पंचधा तु सा ॥ दर्वीकरा मंडलिनो राजिमंतस्तथैव च ॥ ८ ॥ निर्विषा वैकरंजाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः ॥ दर्वीकरा मंडलिनो राजिमंतश्च पन्नगाः ॥ ९ ॥

जिनकी डाढमें विष होता है ऐसे जो पृथिवीके सर्प हैं और जो मनुष्योंको काटते हैं उनकी यथावत् संख्या (गणना) वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥ सर्प सब ८० प्रकारके होते हैं और उनके पाँच भेद इस प्रकारसे हैं जैसे-१ दर्वीकर (फणवाले), २ मंडली (मंडल चकदे या टमकीवाले), ३ राजिमंत (लकीरवाले धारीदार), ४ निर्विष (विषरहित या स्वल्प विषवाले), ५ वैकरंज (दूसरी जातिकी सर्पिणीमें दूसरी जातिके सर्पसे पैदा होनेवाले) परन्तु ये सब तीनही प्रकारके होते-हैं या तो दर्वीकर (फणवाले) या मंडली (चकदेवाले) या राजिमंत (धारीदार)॥ ८॥ ९॥

तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः॥ द्वाविंशतिर्मंडलिनो राजिमंतस्तथा दश ॥ १० ॥ निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरंजास्त्रयस्तथा ॥ वैकरंजोद्भवाः सप्त चित्रा मंडलिराजिलाः ॥ ११ ॥

इनमें दर्वीकर २६ प्रकारके होते हैं और मंडली सर्प २२ प्रकारके तथा राजिमन्त १० प्रकारके होते हैं ॥ १० ॥ निर्विष सर्प १२ प्रकारके और वैकरंज तीन प्रकारके होते हैं तथा इन वैकरंजोंसे उत्पन्न हुए चित्र (चितकबरे) मंडली और धारीदार ये सात ७ और होते हैं (ऐसे ये सब मिलकर ८० प्रकारके सर्प हैं) ॥ ११ ॥

दंशके भेद।

पदाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोपि वा ॥ ते दशंति महाक्रोधास्तद्धि त्रिविधमुच्यते ॥ १२ ॥ सर्पितं रदितं वापि तृतीयमथ निर्विषम् ॥ सर्पांगाभिहतं केचिदिच्छंति खलु तद्विदः ॥ १३ ॥

ये सर्प पांवसे दब जानेसे या दुष्ट होकर क्रोधसे या ग्रासार्थी (काटनेकी इच्छा करके) जो क्रोधसे काटते हैं वह काटना (डसना) तीन प्रकारका होता है॥ १२॥

(श्लो० ८) दर्वीकरा दर्वी काष्ठादिनिर्मिता व्यंजनहारका चमचा इति लोके तद्वत्करः फणो यस्य स ते (इति श० स्तो०) डल्लनस्तु दार्वीकराः फणावंतः । मंडलिनः फणवर्जिताः। राजिमतो रेखायुक्ताः। निर्विषा विषरहिता अजगरडुंडुभ्यादयः अथवा निःशब्द ईषदर्थे अतः स्वल्पविषाः । वैकरंजाः संकीर्णाः पृथग्जातीयसर्पिण्यां पृथग्जातीयसर्पाभ्यां जाताः (इति नि० सं०) सर्पाणामशीतिः सा अशीतिः पंचधा भिद्यते इत्यन्वयः । अशीतिः स्त्री० अष्टगुणितदशसंख्यान्विते (इति वाचस्पतिः)

प्रथम सर्पित दूसरे रदित तीसरे निर्विष और कोई २ विषविद्याके जाननेवाले चौथा भेद सर्पांगाभिहत भी मानते हैं ॥ १३ ॥

सर्पितादिकोंके लक्षण।

पदानि यत्र दंतानामेकं द्वे वा बहूनि च ॥ निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्धृत्य करोति हि ॥ १४ ॥ चंचुमालकयुक्तानि वैकृत्य करणानि च ॥ संक्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तं सर्पितं भिषक् ॥ ॥ १५ ॥ राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा ॥ विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत् ॥ १६ ॥ अशोफमल्पदुष्टासृक्-प्रकृतिस्थस्य देहिनः ॥ पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः ॥ १७ ॥ सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः ॥ कस्यचित्कुरुते शोफं सर्पांगाभिहतं तु तत् ॥ १८ ॥

"सर्पितके लक्षण" जहां काटे हुएकी जगह एक या दो या कई दांतोंके चिह्न गडे हुएसे मालूम हों और निकलनेपर थोडा रुधिर भी निकले ॥ १४॥ और वह दांतोंकी पंक्ति पूरी २ गडीसी मालूम हो तथा इंद्रियादिकमें (शीघ्र) विकार करदे तथा डाढ सम्यक् रीतिसे बैठगई हो तथा कुछ शोथभी हो तो उसे सर्पित कहते-हैं अर्थात् पूरा डसाहुआ कहते हैं ॥ १५ ॥ "रदितके लक्षण" जिसके दंशकी जगह नीली या पीली या सपेद, लाली लिये (अथवा रुधिर युक्त) लकीरेंसी मालूम हों उसे अल्प विपवाला रदित (झरोंट) समझे ॥ १६ ॥ "अविष दंशके लक्षण" जिसके दंशकी जगह शोथ न हो, रुधिर थोडा दुष्ट हुआ हो, इंद्रिय और शरीरकी प्रकृतिमें विकार न हो तो चाहे एक या अधिक दांतोंके चिह्न हों पर उसे वैद्य निर्विष दंश समझे ॥ १७ ॥ "सर्पांगाभिहत" उसे कहते हैं कि जो डर-पोक मनुष्यके शरीरसे सर्पका स्पर्श होनेसे ही वह भयभीत हो जावे (या उसे भ्रम हो जावे कि मुझे डसा है) तो कइयोंके ऐसा होनेपर भयमात्रहीसे शोथ हो जाता है, कुछ २ प्रकृति भी विगड जाती है इसे सर्पांगाभिहत कहतेहैं ॥ १८॥

व्याधितोद्विग्नदष्टानि ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु ॥ तथातिवृद्धबाला-तिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ॥ १९ ॥ सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषे-विते ॥ विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न क्रमते विषम् ॥ २० ॥

व्याधियुक्त और उद्विग्न जो सर्प हो उसके डसे हुए अल्पविष होते हैं तथा अति वृद्ध और अतिबालक सर्पके काटेमें भी सूक्ष्म विष होता है ॥ १९ ॥ जहां गरुड,

देवता, ब्रह्मऋषि, यक्ष, सिद्ध ये वास करते हों तथा जहां विषनाशक औषध(विशेष) हों वहां विषका प्रभाव नहीं होता (या सूक्ष्म होता है) ॥ २० ॥

दर्वीकरादि सर्पोंके लक्षण ।

रथांगलांगलच्छत्रस्वस्तिकांकुशधारिणः ॥ ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥ २१ ॥ मंडलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मंदगामिनः ॥ ज्ञेया मंडलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥ २२ ॥ स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्द्ध्वं तु राजिभिः ॥ चित्रिता इव ये भांति राजिमंतस्तु ते स्मृताः ॥ २३ ॥

जिनके शिरपर रथांग (पहिये) तथा हल, छत्र, स्वस्तिक (चौराहा या साथिया) और अंकुश इनके चिह्न हों तथा फणवाले और शीघ्र चलनेवाले हों वे दर्वीकर कहलातेहैं ॥ २१ ॥ जो अनेक भांतिके मंडलों (चकदों) से चित्रित हों, मोटे हों, धीरे चलें वे जलती हुई अग्निकीसी कांतिवाले मंडली नामक सर्प जानने चाहिये ॥ २२ ॥ जो चिकने और अनेक प्रकारकी तिरछी सीधी रेखा (लकीरों) से चित्रितसे प्रतीत होवें उन्हें राजिमंत कहतेहैं ॥ २३ ॥

सर्पोंकी ब्राह्मण क्षत्रियादि जाति ।

मुक्तारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः ॥ सुगंधिनः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ २४ ॥ क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः ॥ सूर्यचंद्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां तथांबुजम् ॥ ॥ २५ ॥ कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा ॥ धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥ २६ ॥ महिषद्वीपवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः ॥ भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्तिताः ॥ २७ ॥

जो सपेद मोती और चांदी जैसे हों तथा जो कपिल (नारंगी) रंगके सुगंधि युक्त हों तथा सुवर्ण (सोनेके रंगके पीले या सुन्दर हों) वे ब्राह्मण जातिके सर्प समझने चाहिये ॥ २४ ॥ जो चिकने और उग्र कोपवाले तथा सूर्य चन्द्रमाकी आकृति और छत्र तथा कमलके चिह्नवाले, काले वज्रके समान तथा रक्तवर्णके हों इन्हें क्षत्रिय जातिका सर्प समझिये और जो धूम्र (धुवाँके रंगके धूंधले) हों

(श्लो० २२) पृथवो विस्तीर्णाः स्थूला वा । (श्लो०२५) अबुज पद्मं शंखं वा (श्लो० २६) वज्रनिभा वज्रसदृशा हीरकनिभा वा । (श्लो० २७) द्वीपो हस्ती, द्वीपीति पाठे तु द्वीपी चित्रः ।

तथा कबूतरी रंगके हों उन्हें वैश्यजातिका सर्प जाने ॥ २५ ॥ २६ ॥ जो महिष (भैंसे) और हाथीकेसे वर्णवाले और कठोर (खरदरी त्वचावाले) और कोई भिन्न वर्णके (चितकबरे) सर्प हों वे शूद्र जातिके सर्प कहलाते हैं ॥ २७ ॥

वातादि दोष कोपकारक सर्पोंकी जाति ।

कोपयंत्यनिलं जंतोः फणिनः सर्व एव तु ॥ पित्तं मंडलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥ २८ ॥ अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम् ॥ ज्ञेयौ दोषैश्च दंपत्योर्विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ २९ ॥

फणवाले (सब दर्वीकर) मनुष्यों (जीवों) के वायुको कुपित करते हैं और मंडली पित्तको तथा अनेक रेखावाले (राजिमंत) कफको कुपित करते हैं ॥ २८ ॥ और जो दो जातिके मेलसे पैदा हुए (वैकरंज) हैं वे दो दोषोंको कुपित करते-हैं और दो दोषोंको उन्हीं स्त्री पुरुष सर्पोंके अनुसार समझना चाहिये जिनके मेलसे वे पैदा होते हैं इसमें अगाडी विशेष वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

विचरनेका समय और अवस्थाभेदसे उग्रत्व ।

रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरंति हि ॥ शेषेषूक्ता मंडलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः ॥ ३० ॥ दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मंडलिनस्तथा ॥ राजिमंतो वयोमध्ये जायंते मृत्युहेतवः ॥ ३१ ॥ नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः ॥ वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृताः ॥ ३२ ॥

रात्रिके पिछले भागमें राजिमंत सर्प प्रायः विचरते हैं और शेष (पूर्व भागमें) मंडली और दिनमें दर्वीकर प्रायः फिरा करते हैं ॥ ३० ॥ दर्वीकर चढती उमरमें (पट्ठा) और मंडली वृद्ध (ढलती उमरवाले) तथा राजिमंत मध्य अवस्थावाले मृत्युकारक होते हैं ॥ ३१ ॥ नकुल (नौले) से घबराये या दबाये हुए बालक जलके रहनेवाले दुबले बुड्ढे तथा (काचली छोडते ही) पीले (पुरानी काचलीसे ढके हुए) ये सर्प स्वल्प विषवाले होते हैं ॥ ३२ ॥

दर्वीकरोंके भेद ।

तत्र दर्वीकराः कृष्णसर्पो महाकृष्णः कृष्णोदरः श्वेतकपोतो महाकपोतो बलाहको महासर्पः शंखपालो लोहिताक्षो गवेधुकः

(श्लो० ३०) दंपत्योः तेषां मातृपित्रोः । (श्लो० ३२) मुक्तत्वचो मुक्तकंचुकाः (इति डल्हनः) अन्ये तु अमुक्तत्वच इति पठंति ।

परिसर्पः खंडफणः ककुदः पद्मो महापद्मो दर्भपुष्पो दधिमुखः पुंडरीको भ्रुकुटीमुखो विष्किरः पुष्पाभिकीर्णो गिरिसर्पः ऋजुसर्पः श्वेतोदरो महाशिरा अलगर्दो आशीविष इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

इनमेंसे दर्वीकर सर्पोंके ये भेद हैं जैसे-कृष्णसर्प (काला सांप), महाकृष्ण, कृष्णोदर, श्वेतकपोत, महाकपोत, बलाहक, महासर्प, शंखपाल, लोहिताक्ष, गवेधुक तथा परिसर्प, खंडफण, ककुद, पद्म, महापद्म, दर्भपुष्प, दधिमुख, पुंडरीक, भ्रुकुटीमुख, विष्किर, पुष्पाभिकीर्ण, गिरिसर्प, ऋजुसर्प, श्वेतोदर, महाशिरा, अलगर्द और आशीविष (इनके लक्षण, स्वरूप आदि कुछ २ इनके नामोंहीसे जानलेने चाहिये विशेष पता नहीं लगसकता) ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मंडलियोंके भेद ।

मंडलिनस्तु आदर्शमंडलः श्वेतमंडलो रक्तमंडलश्चित्रमंडलः पृषतो रोध्रपुष्पो मिलिंदको गोनसो वृद्धगोनसः पनसो महापनसो वेणुपत्रकः शिशुको मदनः पालिंहिरः पिंगलस्तंतुकापुष्पः पांडुः षडगोऽग्निको बभ्रुः कषायः कलुषः पारावतो हस्ताभरणश्चित्रक एणीपद इति ॥ ३५॥

मंडली सर्पोंके ये भेद हैं जैसे-आदर्शमंडल, श्वेतमंडल, रक्तमंडल, चित्रमंडल, पृषत, रोध्रपुष्प, मिलिंदक, गोनस, वृद्धगोनस, पनस, महापनस, वेणुपत्रक, शिशुक, मदन, पालिंहिर, पिंगल, तंतुकापुष्प, पांडु, षडग, अग्निक, बभ्रु, कषाय, कलुष, पारावत, हस्ताभरण, चित्रक और एणीपद (इनमें आदर्शमंडलादि चारोंको १ और गोनस-वृद्धगोनसको १ तथा पनस-महापनसको १ समझिये ऐसे ये २२ भेद हुए) ॥ ३५ ॥

राजिमंतोंके भेद ।

राजिमंतस्तु पुंडरीको राजिचित्रोंगुलराजिबिंदुराजिः कर्दमकस्तृणशोषकः सर्षपकः श्वेतहनुर्दर्भपुष्पकश्चक्रको गोधूमकः किकिसाद इति ॥ ३६ ॥

राजिमंतके ये भेद हैं जैसे-पुंडरीक, राजिचित्र, अंगुलराजि, बिन्दुराजि, कर्दमक, तृणशोषक, सर्षपक, श्वेतहनु, दर्भपुष्पक, चक्रक, गोधूमक, किकिसाद (राजि अर्थात रेखाओंसे चित्रित ऐसा और अंगुलराजि जिसके अंगुल अंगुलपर रेखा हों तथा बिंदुराजि बिंदुरूप रेखा हों ये तीनों १ समझिये ऐसे राजिमंतके दश भेद हुए) ॥ ३६॥

निर्विषोंके भेद।

निर्विषास्तु गलगोली शूकपत्रोऽजगरो दिव्यको वर्षाहिकः पुष्पशकली ज्योतीरथः क्षीरिकापुष्पकोऽहिपातकोन्धाहिको गौराहिको वृक्षेशय इति ॥ ३७ ॥

निर्विष सर्पोंके ये भेद हैं जैसे–गलगोली, शूकपत्र, अजगर, दिव्यक, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतीरथ, क्षीरिका, पुष्पक, अहिपातक, अंधाहिक, गौराहिक और वृक्षेशय (इसमें कई तो दिव्यक वर्षाहिकको १ मानते हैं, कई क्षीरिका पुष्पक एक मानते हैं ऐसे निर्विषोंके ये १२ भेद हुए) ॥ ३७ ॥

वैकरंजोंके भेद।

वैकरंजास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः तद्यथा माकुलिः पोटगलः स्निग्धराजिरिति ॥ ३८ ॥ तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः। राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः। कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति ॥ ३९ ॥ तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो द्वयोर्मातृवदित्येके ॥ ४० ॥

वैकरंज (दोगले) सर्प इन्हीं दर्वीकर आदि तीनोंके मेलसे पैदा होते हैं वे इस भांति हैं कि माकुलि, पोटगल और स्निग्धराजि बस इनमेंसे जो कृष्णसर्प (दर्वीकर) पुरुष और गोनसी (मंडलिनी) स्त्री (सर्पिणी) इनसे अथवा गोनस सर्प और दर्वीकर सर्पिणी इनके मेलसे जो पैदा हुआ हो वह माकुलि कहलाता है। और राजिमंत सर्प और गोनसी सर्पिणी इनके मेलसे अथवा गोनस सर्प और राजिमती सर्पिणीके मेलसे जो पैदा हो वह पोटगल कहलाता है। कृष्णसर्प और राजिमती सर्पिणी अथवा राजिमंत सर्प और कृष्ण (दर्वीकर) सर्पिणी इनके मेलसे जो पैदा हो वह स्निग्धराजि कहलाता है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ इनमेंसे प्रथम माकुलि सर्पके विषका उत्कर्ष पिताके अनुसार होता है और दोनोंका (पोटगल और स्निग्धराजिका) माताके अनुसार होता है ॥ ४० ॥

वैकरंजोद्भवोंके भेद।

त्रयाणां वैकरंजानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकाः पोटगलः पुष्पाभिकीर्णो दर्भपुष्पो वेल्लितकः सप्त तेषामाद्यास्त्रयो राजिलव-

च्छेषाः मंडलिवत्। एवमेतेषां सर्पाणामशीतिरिति ॥ ४१ ॥

उन तीन वेकरंजोंसे फिर जो सात भेद होते हैं वे ये हैं-दिव्येलक, रोध्रपुष्पक, राजिचित्रक, पोटगल, पुष्पाभिकीर्ण, दर्भपुष्प और वेल्लितक इनमेंसे तीन आदिके राजिमंतोंके तुल्य होते हैं और बाकी मंडलीके तुल्य। इसप्रकार इन सर्पोंके अस्सी ८० भेद सब हुए ॥ ४१ ॥

(वक्तव्य) इनमें जो कोई नाम दो दो वार आये हैं उन्हें यह समझना कि इस नाम (और लक्षण) वाला वहां भी होता है और दूसरी जगह भी होता है। इनमेंसे प्रायः अप्रसिद्ध और दुर्दर्श हैं उनके स्वरूप आदि देश देशांतरके कालवेलियोंसे पूछ पूछकर मालूम करसकते हैं अन्यथा स्वरूपादिका ज्ञान नहीं होसकता ॥

सर्प सर्पिणीके चिह्न।

तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः सूक्ष्मनेत्रजिह्वास्यशिरसः स्त्रियः उभयलक्षणा मंदविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥ ४२ ॥

इनमेंसे जिनके नेत्र, जिह्वा, मुख, शिर ये बडे और मोटे हों वे पुरुष अर्थात् सर्प होते हैं और जिनके नेत्र, जिह्वा, मुख, शिर छोटे हों उन्हें स्त्री (अर्थात् सर्पिणी) समझो। जिनमें दोनोंके लक्षण मिलें और मंद विषवाले तथा क्रोध रहित हों वे नपुंसक सर्प होते हैं ॥ ४२ ॥

दंशकी शीघ्र मारकता।

तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः ॥ ४३ ॥ किं कारणं विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति नचाऽवकाशोऽस्ति वाक्समूहमनुसर्त्तुम् ॥ ४४ ॥

अब हम सब सर्पोंके सामान्यतासे डसनेके लक्षण कहते हैं ॥ ४३ ॥ क्या कारण है कि विष तीक्ष्ण खड्गके प्रहार तथा वज्र और अग्निके समान शीघ्रही (मृत्युका) कार्य करता है यदि दो घडी भी विना यत्नके छोडा जावे तो मनुष्यको मारडालता है और बातें कहनेका भी अवकाश नहीं देता ॥ ४४ ॥

प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्पत्रैविध्यं भवति तस्मात्त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः एतद्ध्यातुरहितमसंमोहकरं च अपि चात्रैव सर्वसर्पव्यंजनावरोधः ॥ ४५ ॥

(गद्य ४१) येषां मध्ये ये अप्रसिद्धाः सर्पभेदास्ते सर्वे नानादेशवासिभ्यः सर्पहेलिकादिभ्यो ज्ञेयाः (इति डल्लनः)।

प्रत्येक सर्पके डसेहुएके लक्षण कहे जावें तो भी सब सर्प तीनही प्रकारके होते-हैं (और तीनही प्रकारके काटेहुएके लक्षण होते हैं) इस कारण हम तीनही प्रकारसे कहते हैं यही रोगीके लिये हितका कारण है और वैद्य आदिको मोह (सन्देह या भ्रम) कारक नहीं होता और इन्हींके अन्तर्गत सब सर्पोंके दंशभेद आजाते हैं ॥ ४५ ॥

दर्वीकरके विषका लक्षण ।

तत्र दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं संधिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृंभणं वेपथुः स्वरावसादो घुरघुरको जड्ता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्द्धगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेणागमनं स्रोतोवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवंति ॥ ४६ ॥

इनमेंसे फणदारके विषसे त्वचा, नेत्र, नाखून, दांत, मूत्र और दस्त काले हो जाना, रूक्षता, शिरका भारीपन तथा संधि, पीडा, कमर, पीठ, ग्रीवा इनमें दुर्बलता, जँभाई, कम्प, अवाज थक जाना, कंठमें घुर घुर करना, जडता, सूखी डकार, खांसी, श्वास, हिचकी, वायुका ऊर्द्धगमन, शूल, उद्वेष्टन (ऐंठन), तृषा, मुँहसे लार बहना, झाग आना, स्रोतोंका रुक जाना और ऐसेही अन्य वायुकी वेदना होना ये लक्षण होते हैं ॥ ४६ ॥

मंडलीके विषका लक्षण ।

मंडलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्द्धमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवंति ॥ ४७ ॥

मंडलीके विषसे त्वचा आदिका पीला पडना, शीतकी वांछा, संताप, दाह, तृषा, मद, मूर्च्छा, ज्वर और मुख, गुदा आदिसे रुधिर आना, मांस लटकना, शोथ, दंशके स्थानका सडना, सब रूप पीले दिखना, शीघ्र कोप और अन्य ऐसे ही पित्तकी उपाधियां होना ये लक्षण होते हैं ॥ ४७ ॥

राजिमंतके विषके लक्षण ।

राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षस्तब्धत्वं

(गद्य ४७) त्वगादीनामित्यत्रादिशब्देन पूर्वोक्तनयननखदशनमूत्रपुरीषाणां ग्रहणम् ।

गात्राणामादंशशोफः सांद्रकफप्रसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कंडूः कंठे श्वयथुर्घुरघुरक उछ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवंति ॥ ४८ ॥

राजिमंत सर्पोंके विषसे त्वचा आदिका सपेद पडजाना, शीतज्वर, रोम खडे होना, अंगोंका अकड जाना, दंशके पास शोथ, गाढा कफ मुँहसे गिरना, वमन होना, वार वार नेत्रोंमें खाज चलना, कंठमें सोजा और घुर घुर करना, श्वास रुकजाना, अँधेरी आना और ऐसेही अन्य कफके उपद्रव होना ये लक्षण हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

स्त्रीपुरुषादिसर्पदष्टके लक्षण ।

पुरुषाभिदष्ट ऊर्द्ध्वं प्रेक्षतेऽधस्तास्त्रिया शिराश्चोत्तिष्ठंति ललाटे नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति ॥ ४९॥ गर्भिण्याः पांडुमुखो ध्मातश्च सूतिकया शूलार्तो रुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति ॥ ॥ ५० ग्रासार्थिनाऽन्नं कांक्षति वृद्धेन मंदा वेगाश्च बालेनाशु मृदवश्च निर्विषेणाविषलिंगमंधाहिकेनांधत्वमित्येके ग्रसनादजगरः शरीरंप्राणहरो न विषात् ॥ ५१॥ तत्र सद्यःप्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राशनिहत इव भूमौ स्रस्तांगः स्वपिति ॥ ५२ ॥

नर सर्पका डसा हुआ ऊपर देखता है और सर्पिणीका डसा हुआ नीचेको दृष्टि रखता है और उसके मस्तक पर नसें उठी हुई होजाती हैं और नपुंसक सर्पका काटा हुआ मनुष्य टेढी निगाह रखता है ॥ ४९ ॥ गर्भवती सांपणके काटे हुए मनुष्यका मुँह पीला पड जाता है और पेट फूल जाता है और ब्याई हुई सांपणके काटे हुएके शूल होता है और मूत्रमें रुधिर आता है तथा इसके उपजिह्वक रोग भी हो जाता है (उपजिह्विकाके लक्षण पहले मुखरोगोंमें कहचुके हैं वहां देखो) ॥ ५० ॥ भूंखे सर्पका काटा हुआ अन्न (भोजन) की-इच्छा करता है और बूढे सर्पके काटेसे वेग मंद होते हैं । बालक सर्पके काटेसे शीघ्र २ वेग होते हैं और हलके वेग होते हैं निर्विष सर्पके काटनेसे विषके चिह्न नहीं होते और अंधाहिक सर्प (जीर्ण विलशायी या अंधे) के काटनेसे मनुष्य अंधा हो जाता है ऐसा कोई कहते हैं और अजगर मनुष्यको निगल जानेसे शरीर और प्राणोंको नष्ट कर देता है विषसे मारक नहीं होता ॥५१ ॥ इनमें सद्यःप्राणहर सर्पका काटाहुआ मनुष्य झट पृथ्वीमें ऐसे गिरजाता है जैसे शस्त्र या बिजलीका मारा हुआ हो और सब शरीर शिथिल होकर लंबी नींद सोजाता है ॥ ५२ ॥

तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति ॥ ५३ ॥

इसमें सब सर्पोंके विषके सात २ ही वेग (दौर या भेद) होते हैं (जिन्हें अगाडी क्रमपूर्वक वर्णन करते हैं) ॥ ५३ ॥

फणदार सर्पोंके विषके सात वेग ।

तत्र दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति तत्प्रदुष्टं कृष्णतामपैति तेन कार्ष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चांगे भवति ॥ ॥ ५४ ॥ द्वितीये मांसं दूषयति तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रंथयश्चांगे भवंति ॥ ५५ ॥ तृतीये मेदो दूषयति तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च ॥ ५६॥ चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान्दोषान्दूषयति तेन तंद्राप्रसेकसंधिविश्लेषा भवंति ॥५७॥ पंचमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति ॥ ५८॥ षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणीं चात्यर्थं दूषयति तेन गात्राणां गौरवमतिसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति ॥ ५९ ॥ सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चात्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटिपृष्ठभंगश्च सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति ॥ ६० ॥

तिनमेंसे दर्वीकरोंका विष पहले वेगमें रुधिरको दूषित करता है इससे वह रक्त बिगडकर काला होजाता है जिससे शरीर काला पडजाता है और देहमें चींटियोंके चलने जैसा मालूम होता है ॥ ५४ ॥ दूसरे वेगमें वह विष मांसको दूषित करता है इससे देहमें अत्यन्त कालापन होजाता है, सोजा और गांठें शरीरपर होजाती हैं ॥ ५५ ॥ तीसरे वेगमें वह विष भेदको दूषित करता है जिससे डंककी जगह क्लेद, शिरमें भारीपन, पसीना होता है और आंखें मिचने लगती-हैं ॥ ५६ ॥ चौथे वेगम वह विष कोष्ठ (उदर) में प्रविष्ट होकर कफप्रधान दोषों (क्लेदन, कफ, रस, ओज आदि) को दूषित करता है जिससे तंद्रा (घुमेर), मुँहसे पानी आना और संधियोंमें भेद होना ये होते हैं ॥ ५७ ॥ पांचवें वेगमें वह विष अस्थि (हड्डियों) में प्रविष्ट होता है और प्राण (बल) और शारीरक अग्निको दूषित करता है जिससे संधियोंका भेद, हुचकी और दाह होता है ॥ ॥ ५८ ॥ छठे वेगमें वह मज्जामें प्राप्त होता है और ग्रहणीको दूषित करता है

जिससे गात्रमें भारीपन, अतिसार, हृदयमें पीडा और मूर्च्छा होती है ॥ ५९ ॥ सातवें वेगमें वह विष वीर्यमें प्राप्त होजाता है और व्यान वायुको अत्यन्त कुपित करदेता है और सूक्ष्म स्रोतोंसे कफको झिराने लगता है जिससे कफकी वत्तियांसी (पुटक) बँधजाती हैं, कमर और पीठ टूट जाती है, सब हिलना चलना आदि चेष्टायें नष्ट होजाती हैं, मुँहसे पानी और शरीरसे पसीना बहुत आने लगता है और फिर श्वास आना बंद होजाता है ॥ ६० ॥

मंडली सर्पोंके विषके सात वेग।

तत्र मंडलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति तत्र प्रदुष्टं पीततामुपैति तत्र परिदाहः पीतावभासता चांगानां भवति । द्वितीये मांसं दूषयति तेनात्यर्थं पीततापरिदाहौ दंशे श्वयथुश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशे क्लेदः स्वेदश्च चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति । पंचमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत् ॥ ६१ ॥

मंडली सर्पोंका विष प्रथम वेगमें रुधिरको दूषित करता है वह दुष्ट हुआ रुधिर पीला होजाता है जिससे दाह और अंगोंका पीलापन दीखने लगता है। दूसरे वेगमें वह मांसको दुष्ट करता है जिससे बहुत पीलापन और दाह होता है, डंककी जगह सोजा होता है। फिर तीसरे वेगमें वह मेदको विगाडता है जिससे पहलेकी भांति नेत्रोंका मिचना, तृषा, दंशकी जगह क्लेद होता है और पसीने आते हैं। चौथे वेगमें कोठेमें प्रवेश होकर ज्वर पैदा करदेता है और पांचवें वेगमें सारे शरीरमें तीक्ष्ण दाह होता है। और छठे तथा सातवें वेगमें पूर्वोक्त (दर्वीकरोंके विषके तुल्य) लक्षण होते हैं ॥ ६१ ॥

राजिमंत सर्पोंके विषके वेग।

राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति तत्प्रदुष्टं पांडुतामुपैति तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति । द्वितीये मांसं दूषयति तेन पांडुतात्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति तेन चक्षुर्ग्रहणं दंतक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति । चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तंभं शिरोगौरवं चापादयति । पंचमे वाक्संगं शीतज्वरं च करोति । षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति ॥ ६२ ॥ भवन्ति चात्र—

राजिमंत सर्पोंका विष प्रथम वेगमें शोणित (रक्त) को दूषित करता है उससे दुष्ट रुधिर पांडुताको प्राप्त होताहै जिससे रोमहर्ष और मनुस्य सपेद मालूम देने लगता है। फिर दूसरे वेगमें वह मांसको दुष्ट करता है तिससे पांडुता ज्यादा होजाती है और जडता तथा शिरमें शोथ होजाता है। तीसरे वेगमें मेदको दुष्ट करता है जिससे आंखें मिचना, दांत अमलाना, पसीना आना, नाक और आंखोंसे पानी आना ये लक्षण होते हैं। चौथे वेगमें कोठे (उदर) में प्रवेश होकर मन्यास्तंभ और शिरका भारीपन करता है। पांचवें वेगमें बोलना बंद हो जाता है तथा शीतज्वर पैदा करदेताहै। छठे और सातवें वेगोंमें पूर्वोक्त (दर्वीकर) के समान लक्षण जानने ॥ ६२ ॥ इस विषयमें श्लोक हैं—

वेग सात होनेका कारण।

धात्वंतरेषु याः सप्त कलाः संपरिकीर्तिताः ॥ तास्वेकैकामतिक्रम्य-वेगं प्रकुरुते विषम् ॥ ६३ ॥ येनांतरेण हि कलां कालकल्पं भिनत्ति हि ॥ समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगांतरं स्मृतम् ॥ ६४ ॥

जो धातु आशयान्तरके बीचकी मर्यादा रूप सात कला पहले (शारीरक स्थानमें) वर्णन कीगई हैं उन्हीं एक एकको अतिक्रमण करके विष सात वेग करता है ॥ ६३ ॥ जब वह कालकल्प (विष) वायुसे प्रेरणा किया हुआ जिस अन्तरसे कला (एक कला) को भेदन करता है (उल्लंघन करता है) उसीको वेगांतर (अर्थात् एक वेगसे दूसरा वेग) कहतेहैं ॥ ६४ ॥

(वक्तव्य श्लो० ६३) इसमें जो विरोध आता है उसपर डल्लनाचार्य यह लिखते हैं कि जो पुरीषधरा कला है वही अस्थिधरा है और जो पित्तधरा है वही मज्जधरा कला समझिये (देखो टिप्पणी) परन्तु कइयोंकी बुद्धिमें यह नहीं आता क्योंकि पुरीषधरा कला अस्थिधरा कैसे होवे और पित्तधरा कला (अर्थात् ग्रहणी मज्जधरा कैसे होसके तथा विष पहले रक्तसे चलता है और कला प्रथम मांसधरा है इत्यादि। इससे कई इन दोनों श्लोकोंको क्षेपक बताते हैं (महर्षिप्रणीत नहीं मानते) और कई ऐसा कहते हैं कि, धन्वंतरिजीने साधारण रूपसे विषका अनुक्रमण कह दिया कुछ कलाओंमें विषकी यथावत् प्रविष्टकी बात नहीं कहा ॥

(श्लो० ६३) सप्तकला प्रागुक्तास्तासु एकैकामतिक्रम्य सप्तसु धातुषु अनु सप्त वेगा भवति तद्यथा रसरक्तयोरंतरस्था कलामतिक्रम्य रक्ते प्रथमवेगः। रक्तमांसयोरंतरस्था कलामतिक्रम्य द्वितीयः। मांसमेदसोरंतरस्थां कलामतिक्रम्य तृतीयः। मेदःकफयोरंतरस्थां कलामतिक्रम्य चतुर्थः। कफपुरीषयोरंतरस्था कलामतिक्रम्य पंचमः। पुरीषपित्तयोरंतरस्था कलामतिक्रम्य षष्ठः।पित्तशुक्रयोरंतरस्थां कलामतिक्रम्य सप्तम इति। यैव कला पुरीषधरा सैवास्थिधरेति पंचमे अस्थीन्यनुप्रविशति इति अविरुद्धम्। एवं यैव पित्तधरा सैव मज्जधरेति षष्ठे मज्जानमनुप्रविशतीत्यविरुद्धम् (इति निबंधसंग्रहे डल्लनः) केचित्तु एतौ श्लोकौ क्षेपकाविति मन्यते ॥

पशुओंके विषके वेग ।

शूनांगः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः ॥ लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णांगः पीड्यते हृदि ॥ ६५ ॥ तृतीये च शिरोदुःखं कंठग्रीवा च भज्यते ॥ चतुर्थे वेपते मूढः खादन्दंतानहात्यसून् ॥६६॥ केचिद्वेगत्रयं प्राहुरंतश्चैतेषु तद्विदः ॥ ६७ ॥

(पशुको सर्प काटे तो उसके ४ वेग होते हैं) प्रथम वेगमें पशुका शरीर सूज जाता है दुःखित होकर ध्या ध्या करता है (अथवा ध्यायति पाठ होनेसे ध्यानमें निमग्न हो जाता है) और दूसरे वेगमें मुँहसे पानी (लार) बहती है, शरीर काला पड जाता है और हृदयमें पीडा होती है ॥६५॥ तीसरे वेगमें शिरमें दुःख होता है और कंठ तथा ग्रीवा टूटने लगता है। चौथे वेगमें मूढ होकर कांपने लगता है और दांतोंको चबाता हुआ प्राण त्याग देता है ॥ ६६ ॥ और कई आचार्य विषविद्याके जाननेवाले इनके तीनही वेग बतलाते हैं और सब उपद्रवोंको उन तीनही वेगोंके अन्तर्गत मानते हैं ॥ ६७ ॥

पक्षियोंके विषके वेग ।

ध्यायति प्रथमेवेगे पक्षी मुह्यत्यतःपरम् ॥ द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति ॥ ६८॥ केचिदेकं विहंगेषु विषवेगमुशन्ति-हि ॥ मार्जारनकुलादीनां विषं नातिप्रवर्तते ॥ ६९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पक्षी प्रथम वेगमें ध्यानमग्न हो जाता है और फिर मोह (मूर्च्छा) को प्राप्त हो जाता है। फिर दूसरे वेगमें विह्वल (बेसुध) हो जाता है और तीसरे वेगमें मर जाता है (ऐसे पक्षियोंके तीन वेग होते हैं) ॥ ६८ ॥ तथा कोई आचार्य पक्षियोंके एकही विषका वेग होना मानते हैं और मार्जार (बिलाव) तथा नकुल आदि (आदि शब्दसे मयूरादिकोंको समझना) इनके (शरीरमें) सर्पोंके विषका प्रभाव प्रायः नहीं होता ॥ ६९ ॥

इति प० मुरलीधरवि० सुश्रुतस० भा०टी० कल्पस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पंचमोऽध्यायः ५.

अथातः सर्वदष्टकल्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम सर्पके काटे हुएकी चिकित्साका व्याख्यान करते हैं।

सर्पके काटेहुएका आरंभिक यत्न।

सर्वै रेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः॥ दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टांश्चतुरंगुले॥ १॥ प्लोतचर्मांतवल्कानां मृदुनान्यतमेन च॥ न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम्॥ २॥

सब प्रकारके सर्पोंमेंसे किसीने काटा हो तो आरंभहीमें (बहुत शीघ्र) यदि हाथ या पाँवमें काटा हो तो डंक (डाढ) की जगहसे चार अंगुल ऊपर बंध लगा देना चाहिये॥ १॥ वह बंध सूतकी डोरी या चर्म या किसी वृक्ष (शण आदि) की छाल इनमेंसे किसी मृदु वस्तुका बांधना चाहिये क्योंकि अरिष्ट (बंध) से रोका हुआ विष देहमें नहीं फैल सकता॥ २॥

देहेशमंदर्शोत्कृत्यं यत्र बंधो न जायते॥ आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः॥३॥ प्रतिपूर्य मुखं वस्तोर्हितमाचूषणं भवेत्॥ स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्टो वापि हि तत्क्षणात्॥ ४॥ अथ मंडलिना दष्टं न कथंचन दाहयेत्॥ स पित्तविषबाहुल्याद्दंशो दाहाद्विसर्पति॥ ५॥

अथवा जहां बंध नहीं लगसके वहां काटेहुएकी जगहको काटकर शीघ्र जला देना चाहिये। चूसना, काट देना और जला देना सब जगह श्रेष्ठ है॥ ३॥ मुखमें चर्मकी वस्ति लगाकर चूसलेनाभी हित है अथवा डसा हुआ मनुष्य उसी सर्पको काटले अथवा यह न होसके तो तत्काल लोष्ट (लोहकिट्ट) को मुखसे काटे॥ ॥ ४॥ परंतु जो मंडली सर्पने डसा हो तो उसे कदापि जलावे नहीं क्योंकि यह पित्तकारक विष होता है, जलानेसे अधिक बढता है॥ ५॥

मंत्रोंकी प्रधानता।

अरिष्टामपि मंत्रैश्च बध्नीयान्मंत्रकोविदः॥ सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता॥ ६॥ देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मंत्राः सत्यतपोमयाः॥ भवंति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम्॥ ७॥ विषं तेजोमयैर्मंत्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः॥ यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः॥ ८॥

(श्लो० १) अरिष्टाः वस्त्रादिभिर्मंत्रपुरस्कृतैर्बंधाः (इति डल्हनः) मंत्रैर्विनापि बंधा दातव्याः तैरेव विषस्योपसर्पणमूर्ध्वप्रदेशे न भवेदिति। तद्वक्ष्यमाणश्लोके चोक्तं "सा पुनररिष्टा मंत्ररहिता रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी भवति" (इति नि० सं०)।

यदि कोई मंत्र जाननेवाला होवे तो मंत्रोंसे बंध बांध देवे वह रस्सी आदिकी बँधीहुई अरिष्टा (बंधनी) विषको नष्ट करनेवाली होती है ॥ ६ ॥ देवता, ब्रह्मऋषि इनके कहे हुए सत्य और तपोमय मंत्र अन्यथा (झूंठे) नहीं होते वे भारी विषको तत्काल नष्ट करसकते हैं ॥ ७ ॥ तेजोमय तथा सत्य-ब्रह्म-तपोमय मंत्रोंसे जितना शीघ्र विष दूर होता है औषधोंके प्रयोगोंसे उतना नहीं होसकता ॥ ८ ॥

मंत्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना ॥ जिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥ ९ ॥ गंधमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः ॥ पूजयेन्मंत्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः ॥ १० ॥

स्त्रीसंग, मांस, मद्य त्यागकर, जिताहार (व्रती) होकर, पवित्र होकर, कुशाके विस्तरपर शयनका नियम रखकर, मंत्रोंका ग्रहण (और साधन) करना चाहिये ॥ ॥ ९ ॥ गंध, माला, भेंट और बलिदान इनसे मंत्रोंकी सिद्धिके लिये देवताओंका पूजन करे और जप, होमादिकसे यत्नपूर्वक (मंत्रोंको सिद्ध करले तब उनको काममें लावे ॥ १० ॥

मंत्रसिद्धिमें कठिनता ।

मंत्रास्तु विधिनाऽप्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः ॥
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः ॥ ११ ॥

जोकि मंत्र विधिके विना उच्चारण किये (या बताये) हुए तथा स्वर वा वर्णसे हीन हों तो सिद्धिको प्राप्त नहीं होते इस कारण अगद (औषध) काही क्रम योजना करना चाहिये ॥ ११ ॥

विषमें शोणितस्रावकी प्रधानता ।

समंततः शिरां दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक् ॥ शाखाग्रे वा ललाटे वा वेध्यास्ता विसृते विषे ॥ १२ ॥ रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् ॥ तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया ॥ १३ ॥

दंशके आसपासमें कुशल वैद्य शिराको वेधन करके (रक्त निकाले) और यदि विष फैल गया हो तो हाथ और पावोंके अग्रमें या ललाटमें सिरा वेधे (फस्त खोल दे) ॥ १२ ॥ रुधिरके निकल जानेसे सब विष निकल जाता है इससे रुधिर निकाल देना ही इसकी परम क्रिया है ॥ १३ ॥

(श्लो० ११) स्वरतो वर्णतो वा हीना मंत्रा न सिध्यंति किंतु विपरीतकार्यकरा भवंति । तदुक्त-'मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति' इति ।

सामान्य औषधक्रम।

समंतादगदैर्देशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत् ॥ चंदनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् ॥ १४ ॥ पाययेतागदांस्तांस्तान्क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः ॥ तदलाभे हिता वा स्यात्कृष्णा वल्मीकमृत्तिका ॥ १५ ॥

डाढकी जगह पछना लगाकर (खुरच कर) अगद (विषघ्न औषधों)से लेप करे और चंदन, खस मिले हुए जलके तरडे देवे ॥ १४ ॥ और उन्हीं उन्हीं (जिसके लिये जैसे उचित हो) अगदों (विषनाशक औषधों) को दूध, घृत, शहत इनके संग पिलावे और वे न मिल सकें तो वँबईकी काली मिट्टी काममें लावे ॥१५॥

कोविदारशिरीषार्ककटभीर्वापि भक्षयेत् ॥ न पिबेत्तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च ॥ १६ ॥ द्रवमन्यत्तु यत्किंचित्पीत्वा पीत्वा तदुद्वमेत् ॥ प्रायो हि वमनेनैवं सुखं निर्ह्रियते विषम् ॥ १७ ॥

कचनाल, सिरस, आक तथा कटभी इनका भक्षण करे अर्थात् (यथोचित इनके पत्र चबावे) और तैल, कुलथीके पदार्थ, मदिरा, कांजी आदि खट्टे पदार्थ इन्हें नहीं पीवे ॥ १६ ॥ इनके सिवाय अन्य द्रवपदार्थ पी पीकर उन्हें वमन करते रहे क्योंकि वमन करनेसे प्रायः विष सुखपूर्वक निकल जाता है ॥ १७ ॥

दर्वीकरोंके विषकी चिकित्सा।

फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत् ॥ द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक् ॥ १८ ॥ नस्यकर्मांजने युंज्यात्तृतीये विषनाशने ॥ वांतं चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत् ॥ १९ ॥ शीतोपचारं कृत्वादौ भिषक्पंचमषष्ठयोः ॥ दापयेच्छोधनं तीक्ष्णं यवागूं चापि कीर्तिताम् ॥ सप्तमे त्ववपीडेन शिरस्तीक्ष्णेन शोधयेत् ॥ ॥ २० ॥ तीक्ष्णमेवांजनं दद्यात्तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्ध्नि च ॥ कुर्यात्काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत् ॥ २१ ॥

फणदार (दर्वीकर) सब सर्पोंके विषके प्रथम वेगमें रुधिर निकाले और दूसरे वेगमें वैद्य शहत और घृतके संग अगद (विषघ्न औषध) पिलावे ॥१८॥ तीसरे वेगमें विषनाशक नस्य और अंजनका उपयोग करे। चौथे विषवेगमें वमन कराकर पूर्वोक्त (स्थावरविषोक्त) यवागू पीनेको देवे ॥१९॥ पांचवें और छठे वेगमें पहले शीत उपचार करके वैद्य तीक्ष्णशोधन करे और कही हुई यवागू पिलावे ॥ २० ॥

(श्लो० १५) तांस्तान् अगदान् वक्ष्यमाणमहाऽगदतार्क्ष्यागदादीन् ।

सातवें वेगमें खूब तीक्ष्ण अवपीडन (नस्य) से शिरका शोधन करे और तीक्ष्णही अंजन लगावे और तीक्ष्ण शस्त्रसे मूर्धापर कागके पंजेके आकार खुरचकर उसपर रुधिर युक्त ताजा चर्म या मांस रखदेवे ॥ २१ ॥

पूर्वे मंडलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत् ॥ अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत च ॥ २२ ॥ वामयित्वा यवागूं च पूर्वोक्तामत्र दापयेत् ॥ तृतीये शोधिते तीक्ष्णैर्यवागूं पाययेद्धिताम् ॥ २३ ॥ चतुर्थे पंचमे वापि दर्वीकरवदाचरेत् ॥ काकोल्यादिर्हितः षष्ठे पयश्च मधुरो गणः ॥ २४ ॥ हितोऽवपीडे त्वगदः सप्तमे विष-नाशनः ॥ २५ ॥

मंडली सर्पोंके प्रथम वेगमें पूर्वोक्त दर्वीकरके प्रथम वेगके तुल्य यत्न करे और दूसरे वेगमें शहत घृतके संग अगद पिलावे ॥ २२ ॥ और वमन कराकर पूर्वोक्त यवागू पिलादे । फिर तीसरे वेगमें तीक्ष्ण शोधन करके हितकारक यवागू देवे ॥ ॥ २३ ॥ चौथे और पांचवें वेगमें दर्वीकरके यत्नके समानही यत्न करे और छठे वेगमें दूध और मधुरगण (काकोल्यादि) (तथा महागदादिमें जो तीक्ष्ण है सो) पिलावे ॥ २४ ॥ और सातवें वेगमें (असाध्य हो गया ऐसा कहकर) अव-पीडन करे और विषनाशक औषधोंका उपयोग करे (शिरपर पूर्वोक्त ताजे चर्मा-दिक धरे) ॥ २५ ॥

राजिमंतके वेगोंका यत्न ।

अथ राजिमतां वेगे प्रथमे शोणितं हरेत् ॥ अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं पाययेत च ॥ २६ ॥ वांतं द्वितीये त्वगदं पाययेद्विषनाशनम् ॥ तृतीयादिषु त्रिष्वेव विधिर्दर्वीकरो हितः ॥ २७ ॥ षष्ठेंजनं तीक्ष्ण-तममवपीडश्च सप्तमे ॥ २८ ॥

राजिमन्तसर्पोंके विषके प्रथम वेगमें रुधिर निकाले और शहत घृतके संग अगद (विषघ्न औषध) पिलावे ॥ २६ ॥ दूसरे वेगमें वमन कराकर विषनाशक अगद पिलावे और फिर तीसरे वेगसे आदि लेकर चौथे और पांचवें वेगमेंभी दर्वीकरके यत्नके समान करे ॥ २७ ॥ छठे वेगमें तीक्ष्ण अंजन लगावे और सातवेंमें अव-पीडन करे ॥ २८ ॥

(श्लो० २४) मधुरो गण इति–महागदादिषु यः तीक्ष्णः स पेयः (इति डल्हनः) अन्ये तु काको-ल्यादिर्मधुरो गणः पयश्च पेयमित्याहुः काकोल्यादिमधुरगणस्य पित्तघ्नामकत्वादत्र हित एव ॥

गर्भिणी आदिकी विधि।

गर्भिणीबालवृद्धानां शिराव्यधविवर्जितम् ॥
विषार्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु ॥ २९ ॥

गर्भवती स्त्री, बालक और वृद्ध जो विषपीडित हों तो इनके शिरावेध नहीं करे किंतु यथोचित मृदु विधान करना चाहिये ॥ २९ ॥

विषपीडित पशुपक्षीका यत्न ।

रक्तावसेकांजनानि नरतुल्यान्यजाविके ॥ गवाश्वयोश्च द्विगुणं त्रिगुणं माहिषोष्ट्रयोः ॥ ३० ॥ चतुर्गुणं तु नागानां केवलं सर्वपक्षिणाम् ॥ परिषेकान्प्रदेहांश्च सुशीतानवचारयेत् ॥ ३१ ॥

रक्त निकालना, अंजन आदि सब मनुष्यके तुल्यही बकरी और भेडको करना चाहिये और गौ तथा घोडेके सर्पका विष हो तो सब दुगुना करे और भेंस तथा ऊंटके हो तो त्रिगुणा करे ॥ ३० ॥ और हाथीके हो तो चौगुना करना चाहिये और यदि पक्षीके सर्पका विष हो तो सब पक्षियोंके लिये शीतल परिषेक और प्रदेह करे (अर्थात् उनपर ठंढा पानी छिडके) इतनाही बहुत है ॥ ३१ ॥

औषधकी मात्रा ।

माषकं त्वंजनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम् ॥
पाने चतुर्गुणं पथ्यं वमनेऽष्टगुणं पुनः ॥ ३२ ॥

अंजनके लिये एक माषभर (विषघ्न) औषधकी मात्रा उचित है और नस्यके लिये दुगुनी तथा पिलानेके लिये चौगुनी (माष) लेनी (इसे कल्कादिमें उपयोग करना) और वमनके लिये अठगुनी लेना ॥ ३२ ॥

(वक्तव्य) इस बातपर डल्हन मिश्रजीने स्नेहकी मात्राका प्रमाण दिया है कि "अहोरात्रादसंतुष्टा या मात्रा परिजीर्यते ॥ सा च कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ १ ॥" इससे और पूर्वोक्त मात्रासे यही प्रयोजन है कि विषघ्न औषधकी मात्रा पूर्वोक्तसे अधिक होनी चाहिये बल्कि दो श्लोक और भी लिखदिये हैं ।

विषमें देश कालादिका विचार ।

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविषवेगबलाबलम् ॥ प्रधार्य निपुणो बुद्ध्या ततः कर्म समाचरेत् ॥ ३३ ॥ वेगानुपूर्व्यमित्येतत्कर्मोक्तं विषनाशनम् ॥ कर्मावस्थाविशेषेण विषयोरुभयोः शृणु ॥ ३४ ॥

देश, प्रकृति, सात्म्य और ऋतु तथा विषके वेग एवं रोगीके बलाबलको चतुर वैद्य बुद्धिसे विचारकर फिर यत्न करना आरंभ करे ॥ ३३ ॥ यह जो पूर्व क्रिया कही गई है वह वेगोंके क्रमानुसार वर्णन की है अब यहांसे अगाडी दोनों प्रकारके (स्थावर , जंगम) विषके कर्म अवस्थाके अनुसार सुनो ॥ ३४ ॥

दोषभेदसे विषचिकित्सा ।

विवर्णे कठिने शूने सरुजेंगे विषार्दिते ॥ तूर्णं विस्रावणं कार्यमुक्तेन विधिना ततः ॥ ३५ ॥ क्षुधार्तमनिलप्रायं तद्विषार्तं समाहितः ॥ पाययेद्दधि तक्रं वा सर्पिः क्षौद्रं तथा रसम् ॥ ३६ ॥ तृड्दाहघर्मसम्मोहे पैत्ते पैत्ते विषातुरम् ॥ शीतैः संवाहनस्नानप्रदेहैः समुपाचरेत् ॥ ३७ ॥ शीते शीतप्रवेकार्तं श्लैष्मिकं कफकृद्विषम् ॥ वामयेद्वमनैस्तीक्ष्णैस्तथा मूर्च्छामदान्वितम् ॥ ३८ ॥

जिसका विषसे वर्ण बिगड जावे, कठिन शोथ हो, अंगोंमें पीडा हो उसके रुधिरको शीघ्र उक्त विधिसे निकाल दे ॥ ३५ ॥ जो क्षुधार्त हो और वातप्राय उपद्रवोंसे युक्त विषार्त हो तो उसे सावधान वैद्य दही, छाँछ या शहत घृत या मांसरस पिलावे ॥ ॥ ३६ ॥ जिसे तृषा, दाह, गरमी, मूर्च्छा, पित्तकी उपाधियां हों और रोगी पित्तके विषसे पीडित हो उसे शीतल द्रव्योंका स्पर्श, स्नान, लेपन आदि शीत क्रिया करे ॥ ॥ ३७ ॥ शीतसमय कफके उपद्रव शीत, कंप आदि हों, कफकारी विष हो और मूर्च्छा मद हो तो उसे तीक्ष्ण वमनद्रव्योंसे वमन करावे ॥ ३८ ॥

उपद्रवोंके अनुसार विषचिकित्सा ।

कोष्ठदाहरुजाध्मानमूत्रसंगरुगन्वितम् ॥ विरेचयेच्छकृद्वायुसंगपित्तातुरं नरम् ॥ ३९ ॥ शूनाक्षिकूटं निद्रार्तं विवर्णाविललोचनम् ॥ विवर्णं चापि पश्यंतमंजनैः समुपाचरेत् ॥४०॥ शिरोरुग्गौरवालस्यहनुस्तम्भगलग्रहे ॥ शिरो विरेचयेत्क्षिप्रं मन्यास्तंभे च दारुणे ॥४१॥

जिसके कोष्ठमें दाह, पीडा, अफरा हो और मूत्र रुकनेकी पीडा हो, दस्त और अधोवायुकी रुकावटके साथ पित्तसे पीडित हो ऐसे विषार्त मनुष्यको विरेचन देना चाहिये ॥ ३९ ॥ जिसके नेत्रोंके कोये सूजे हों, निद्रा आती हो, नेत्र विवर्ण और गडेसे होजावें और कुछका कुछ विपरीत देखने लगे ऐसे विषार्तके नेत्रोंमें विषनाशक अंजन लगाना उचित है ॥४०॥ जिसके शिरमें दरद, भारीपन और आलस्य

(श्लो० ४०) आविललोचनं कलुषितनेत्रम् ।

हो, ठोडी (और जबडे) अकड जावें गला रुकजावे तथा दारुण मन्यास्तंभ हो (अर्थात् ग्रीवा मुडे नहीं) तो शीघ्रही शिरका विरेचन करना योग्य है ॥ ४१ ॥

नष्टसंज्ञं विवृत्ताक्षं भग्नग्रीवं विरेचनैः ॥ चूर्णैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैर्विचार्य समुपाचरेत् ॥४२॥ ताडयेच्च शिराः क्षिप्रं तस्य शाखाललाटजाः ॥ तास्वप्रसिच्यमानासु मूर्ध्नि शस्त्रेण शस्त्रवित् ॥ ४३ ॥ कुर्यात्काकपदाकारं व्रणमेवं स्रवंति ताः ॥ सरक्तं चर्म मांसं वा निक्षिपेच्चास्य मूर्ध्नि च ॥४४॥ चर्मवृक्षकषायं वा चूर्णं वा कुशली भिषक् ॥ वादयेच्चाऽगदैर्लिप्ता दुंदुभीस्तस्य पार्श्वयोः ॥ ४५ ॥

जो विषके प्रभावसे नष्टसंज्ञ (बेहोश) होजावे, आंखें फट जावें, ग्रीवा (गरदन) टूटजावे ऐसी अवस्थामें तीक्ष्ण शिरोविरेचन चूर्णों, प्रधमन (नस्यों) से उसका उपचार करे (उग्र शिरोविरेचनी नस्य देवे) ॥ ४२ ॥ और तत्काल हाथ, पैरोंकी या ललाटकी शिरा वेधन करे (फस्त खोले) यदि उनमेंसे रक्त नहीं निकले तो मूर्द्धा (दिमाग) में शस्त्रक्रियाको जाननेवाला वैद्य शस्त्र (नश्तर) से काकपद जैसा व्रण करे (चीरा लगादे) ऐसा करनेसे रगोंमेंसे रक्त निकलने लग जाता है फिर रुधिरयुक्त ताजा चर्म या मांस दिमागपर रखदेवे (यह विषको खींच लेता है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अथवा वल्कलवाले वृक्षोंका कषाय (निर्यास या सार) या चूर्ण वहां रखदे और विषघ्न द्रव्योंसे लिपे दुंदुभी (नगारे, ढोल, डमरू) उसके पास बजावे ॥ ४५ ॥

लब्धसंज्ञं पुनश्चैनमूर्द्ध्वं चाधश्च शोधयेत् ॥ निःशेषं निर्हरेच्चैवं विषं परमदुर्जयम् ॥ ४६ ॥ अल्पमप्यवशिष्टं हि भूयो वेगाय कल्पते ॥ कुर्याद्वा सादवैवर्ण्ये ज्वरकासशिरोरुजः ॥ शोफशोषप्रतिश्यायतिमिरारुचिपीनसान् ॥ ४७ ॥ तेषु चाऽपि यथादोषं प्रतिकर्म प्रयोजयेत् ॥ विषार्तोपद्रवांश्चापि यथास्वं समुपाचरेत् ॥४८॥

जब वह चेतमें होजावे तब फिर इसको वमन, रेचन देकर ऊपर नीचेसे शुद्ध करे परम दुर्जय विषको निःशेष (समस्त) निकाल देवे ॥ ४६ ॥ क्योंकि जो किंचित् मात्रभी विष शरीरमें शेष रह जाता है तो फिर वेग (दौर) होने लगजाते हैं अथवा शिथिलता और विवर्णता, ज्वर, खांसी, शिरमें पीडा ये उपद्रव करता-

(श्लो० ४२) विरेचनैरत्र शिरोविरेचनैः । (श्लो० ४५) चर्मवृक्षकषायमित्यत्र कषायो निर्यासः (इति डल्हनः) (श्लो० ४७) श्लोकोयमग्रिमेणार्द्धेन सह मेलयित्वान्वेतव्यः ।

है ॥ ४७ ॥ तथा शोथ, क्षय, प्रतिश्याय (जुखाम), तिमिर (अंधेरी), अरुचि, और पीनस ये उपाधियां करता है इन उपद्रवोंमें फिर दोषोंके अनुसार प्रतिकारका उपयोग करे और विषयुक्तके जो २ उपद्रव हों उनका यथायोग्य उपचार करे ॥ ४८ ॥

विषकी उत्तरक्रिया ।

अथारिष्टां विमुच्याशु प्रच्छयित्वांकितं तथा ॥ दिह्यात्तत्र विषं स्कन्नं भूयो वेगाय कल्पते ॥ ४९ ॥ एवं क्रियाक्रमैर्मन्त्रैरौषधीभिश्च यत्नतः ॥ विषे हृतगुणे देहाद्यदा दोषः प्रकुप्यति ॥ ५० ॥ तदा पवनमुद्वृत्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत् ॥ तैलमत्स्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैर्मारुतनाशनैः ॥ ५१ ॥ पित्तज्वरहरैः पित्तं कषायैः स्नेहबस्तिभिः ॥ ५२ ॥ कफमारग्वधाद्येन सक्षौद्रेण गणेन तु ॥ श्लेष्मघ्नैरगदैश्चापि तिक्तै रूक्षैश्च भोजनैः ॥ ५३ ॥

इसके पीछे बंध खोलकर शीघ्रही डाढकी जगह कुरचकर ऊपर लेप (विषघ्न लेप) करदे क्योंकि जो विष ठहर जावे तो फिर वेग होने लगजावे ॥ ४९ ॥ इस भांति यत्नपूर्वक मंत्रोंसे अथवा औषधोंसे उपाय करनेपर शरीरसे विष दूर होजावे और फिर दोष (वातादि) कुपित हों तो बढे हुए वायुको तैल, मछली, कुलथी इनसे रहित वायुनाशक स्नेहादिसे उपचार करे ॥ ५० ॥ ५१ ॥ और जो पित्त उल्वण हो तो पित्तज्वरनाशक क्काथ, स्नेह और वस्तियोंसे शांत करे ॥ ५२ ॥ यदि कफ बढा हो तो उसे आरग्वधादि गणके द्रव्योंमें शहत युक्त कर उपयोग करे तथा कफघ्न अगद (औषध) और तिक्त रूक्ष भोजनोंसे शांत करे ॥ ५३ ॥

अन्य भांतिसे नष्टसंज्ञ होना ।

वृक्षप्रपातविषमप्रतितं मृतमम्भसि ॥
उद्वृत्तं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत् ॥ ५४ ॥

जो वृक्षादिसे गिरकर या विषम (स्थानादिसे) पडकर (मूर्च्छित होगया हो) तथा जलमें डूबकर मरगया (अति मूर्च्छित होगया हो) अथवा जो उद्वृत्त (चानचक) मरगया हो (अर्थात् श्वास बंद होकर मृत तुल्य होगया हो) उसकी विषसे नष्ट संज्ञा हुए (बेहोश हुए) के समान अवपीड, प्रधमन नस्यादिद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५४ ॥

(वक्तव्य) किसी कारण या चानचक मूर्च्छित (मृततुल्य) होजाना ऐसा भी होता है, कई मनुष्य भले चंगे काम करते २ एकदम मृतसे होजाते हैं उनके

(श्लो० ४९ । ५०) अनयोर्मिलित्वाऽन्वयः । (श्लो० ५२) अयमर्द्धः एव

श्वास और नाडी आदिकी गति नष्ट होजाती है, कोई तो इस अवस्थामें मुरदाही होजाते हैं परंतु कोई जीव रहनेपर श्वास और नाडीके रुकनेसे मृत मालूम होते हैं इनमें मृत और सजीवकी यह परीक्षा है कि यदि रोगीके नेत्रोंमें दूसरे देखने वालेका प्रतिबिंब दीखे या दीपककी प्रभा दीखे तो उसे सजीव समझना और यदि अन्यथा हो तो मृत जानना चाहिये यूनानी हकीम इस बीमारीको जमूद कहते हैं (देखो 'तिब्बत अकबर' पहला बाब आठवीं फसल) और मृत जीवितकी परीक्षार्थ (देखो पहला बाब सत्रहवीं फसल) मूर्च्छामें और इसमें यह अंतर है कि मूर्च्छामें श्वास और नाडीकी गति रहती है पर इसमें वे भी बंद होजाती हैं ॥

विषके व्रण और विषलिपे हुए शस्त्रके व्रणके लक्षण ।

गाढं बद्धेऽरिष्टया प्रच्छितेपि तीक्ष्णैर्लेपैस्तद्विधैर्वा विशेषैः ॥
शूने गात्रे क्लिन्नमत्यर्थपूति ज्ञेयं मांसं तद्विषात्पूति कष्टम् ॥५५॥
सद्यो विद्धं निःस्रवेत्कृष्णरक्तं पाकं यायाद्दह्यते चाप्यभीक्ष्णम् ॥
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति शीर्णं मांसं यात्यजस्रं क्षताच्च ॥ तृष्णा
मूर्च्छा भ्रांतिदाहौ ज्वरश्च यस्य स्युस्तं दिग्धविद्धं व्यवस्येत् ॥५६॥

कडा बंध लगानेसे या पछने लगानेसे अथवा ऐसेही तीक्ष्ण लेपों आदिसे विषसे सूजा हुआ गात्र क्लेदित (गला) होजाता है और विषसे सडा हुआ मांस कठिनतासे अच्छा होता है ॥ ५५ ॥ शस्त्रसे वेधन करतेही काला रक्त निकलता, है, पकजाता है, बहुत दाह होता है, काला पडजाता है, अत्यन्त क्लेदित और दुर्गंधित होता है, घावमेंसे बिखरा मांस वारंवार निकलता है और तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, ज्वर ये लक्षण जिस क्षतमें होते हैं उसे दिग्धविद्ध (विषलिपे हुए शस्त्रका विंधा) घाव समझे ॥ ५६ ॥

पूर्वोद्दिष्टं लक्षणं सर्वमेतज्जुष्टं यस्यालं विषेण व्रणाः स्युः ॥ लूतादंष्ट्रा
दिग्धविद्धा विषैर्वा जुष्टा ये स्युर्ये व्रणाः पूतिमांसाः ॥५७॥
तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्य ॥
हृत्वा दोषान्क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च सम्यक्सिंचेत्क्षीरिणां त्वक्कषायैः ॥
॥५८॥ अंतर्वस्त्रं दापयेच्च प्रदेहाञ्शीतैर्द्रव्यैराज्ययुक्तैर्विषघ्नैः ॥ भिन्नेऽस्थ्ना वै दुष्टजातेन कार्यः पूर्वो मार्गः पैत्तिके यो विषे च ॥५९॥

(श्लो० ५७) अल विषकटककासित्यर्थः । (श्लो० ५९) दुष्टजातेन अस्थ्ना तेन तत्वद्दशचाक्रन्मूत्रशुक्रस्पर्शदतास्थिशूकशवेश्च भिन्ने व्रणे कृते (इति नि० सं०)

जिन व्रणोंमें पूर्वोक्त लक्षण हों और विषयुक्त डंक जिसके रहगया हो तथा मकडी लडेके जिसके व्रण हों अथवा दिग्धविद्ध (विपलिप्त शस्त्रके घाव) तथा विषयुक्त व्रण एवं जिन व्रणोंका मांस सड गया हो ॥ ५७ ॥ इन पूर्वोक्त सब व्रणोंके गले, सडे मांसको युक्तिसे अलग करदे (शस्त्रसे छीलदे) और फिर वार्यौक (जोंकें) लगाकर रक्त निकाले और ऊपर नीचेसे वमन, विरेचनद्वारा दोषोंको शुद्ध करके दूधवाले वृक्षों (गूलर आदि) की छालके क्काथसे यथोक्त सेचन करे (तरडे देदे कर धोवे) ॥ ५८ ॥ फिर सौवारके धुले हुए घृतमें विषनाशक शीतल द्रव्य मिलाकर उसे वस्त्रपर लगाकर प्रदेह करे (अर्थात् वह वस्त्र मरहमकी भांति लगादे) और यदि किसी दुष्ट जन्तुके अस्थि (नख, कंटक आदि) से कोई क्षत हुआ हो तो उसमें पूर्वोक्तही क्रम करना चाहिये अथवा पैत्तिक विषमें जो यत्न कहा सो करना ॥ ५९ ॥

महाऽगद नामक विषनाशक प्रयोग ।

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेंद्रो लवणश्च वर्गः ॥
कटुत्रिकं चैव विचूर्णितानि शृंगे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥ ६० ॥
एषोगदो हंति विषं प्रयुक्तः पानांजनाभ्यंजननस्ययोगैः ॥
अवार्यवीर्यो विषवेगहंता महागदो नाम महाप्रभावः ॥ ६१ ॥

निशोथ, विशल्या, मुलेठी, दोनों हलदी, मँजीठ, किरमाला और पांचों लवण तथा त्रिकटु इनको पीसकर शहत मिलाकर सींगमें भरदे ॥ ६० ॥ यह अगद (विषनाशक योग) पान, अंजन, लेपन और नस्यके योगोंमें उपयुक्त करनेसे विषको नष्ट कर देता है इसका नाम महागद है यह विषवेगको हरनेवालाहै इसका प्रभाव अनिवार्य है ॥ ६१ ॥

(वक्तव्य) इस महागदमें विशल्याका कथन है इसे कई कलहारी और कई दंती मानते हैं, डल्लनमिश्रजी काष्ठपाटला बताते हैं ॥

अजितागद ।

विडंगपाठात्रिफलाजमोदाहिंगूनि चक्रं त्रिकटूनि चैव ॥
सर्वश्च वर्गो लवणश्च सूक्ष्मः सचित्रकः क्षौद्रयुतो निधेयः ॥ ६२ ॥
शृंगे गवां शृंगमयेन चैवं प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च ॥
एषोऽगदः स्थावरजंगमानां जेता विषाणामजितो हि नाम्ना ॥ ६३ ॥

(श्लो० ६०) विशल्या काष्ठपाटला (इति डल्लनः) अन्ये दंतीमपरे लांगलीमाहुः । (श्लो० ६३) गवांशृंगे निधेयः इति पूर्वेणान्वयः ।

विडंग, पाठा, त्रिफला, अजमोद, हींग, चक्र (तगर), त्रिकटु और सब नमक तथा चित्रक इन सबको महीन पीसकर गौके सींगमें भरकर ऊपरसे गौके सींगहीसे ढक कर (बंदकर) पंद्रह दिन धर रक्खे (फिर निकालकर उपयोगमें लावे) यह अजित नामक अगद स्थावर और जंगम सब प्रकारके विषोंको जीतनेवाला है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

तार्क्ष्यागद ।

प्रपौंडरीकं सुरदारु मुस्ता कालानुसार्या कटुरोहिणी च ॥
स्थौणेयकध्यामकपद्मकानि पुन्नागतालीशसुवर्चिकाश्च ॥ ६४ ॥
कुटंनटैलासितसिंधुवाराः शैलेयकुष्ठे तगरं प्रियंगुः ॥
रोध्रं जलं कांचनगैरिकं च समागधं चंदनसैंधवं च ॥ ६५ ॥
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि कृत्वा शृंगे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥
एषोऽगदस्तार्क्ष्य इति प्रदिष्टो विषं निहन्यादपि तक्षकस्य ॥६६॥

प्रपौंडरीक (पुंडरिया), देवदारु, मोथा, कालानुसार्य (कालीयक), कटुरोहिणी (कुटकी), स्थौणेयक (थुनेरा), ध्यामक (तृण विशेष) और पद्माख, पुन्नाग, तालीसपत्र, सुवर्चिका (सज्जी) ॥ ६४ ॥ कुटन्नट (श्योनाक), इलायची, सपेद सँभालू, शैलेय, कूट, तगर, प्रियंगु, लोध, नेत्रवाला, सुनहरी गेरू, पीपल, चंदन, सैंधानमक ॥ ६५ ॥ इन सबको समान भागले महीन पीस शहतमें मिलाकर सींगमें भर दे यह तार्क्ष्य (गरुड) नाम अगद है यह तक्षकके तुल्य जहरीले सर्पके विषको नष्ट करदेवे ॥ ६६ ॥

ऋषभागद ।

मांसीहरेणुत्रिफलामुरंगीरक्तालतायष्टिकपद्मकानि ॥
विडंगतालीशसुगंधिकैलात्वक्कुष्ठपत्राणि सचंदनानि ॥ ६७ ॥
भार्ङ्गी पटोलं किणिही सपाठा मृगादनी कर्कटिका पुरं च ॥
पालिंद्यशोकौ क्रमुकं सुरस्याः प्रसूनमारुष्करजं च पुष्पम् ॥६८ ॥
चूर्णान्यथैषां निहितानि शृंगे न्यसेच्च पित्तानि समाक्षिकानि ॥
वराहगोधाशिखिशल्लकानां मार्जारजं पार्षतनाकुले च ॥ ६९ ॥
यस्याऽगदोयं सुकृतो गृहे स्यान्नाम्नर्षभो नाम नरर्षभस्य ॥

(श्लो० ६८) मृगादनी कर्कटिका इद्रवारुणीफलम् । पुरं गुग्गुलुम् । पालिंदी त्रिवृत् (इति नि० सं०)

न तत्र सर्पाः कुत एव कीटास्त्यजन्ति वीर्याणि विषाणि चैव ॥
॥७०॥ एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा नानद्यमाना विषमाशु हन्युः ॥
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो विषाभिभूता ह्यविषा भवंति॥७१॥

जटामांसी, हरेणु, त्रिफला, सुरंगी (सहिंजना), रक्ता (मँजीठ), मुलेठी, पद्माख, विडंग, तालीसपत्र, सुगंधिका (सर्पगंधिया नाकुली), इलायची, तज, तेजपात, चंदन ॥ ६७ ॥ भार्ङ्गी, पटोल, किणिही, पाठा, मृगादनी, कर्कटी, (इन्द्रायणका फल), गूगल, पालिंदी (निशोथ), अशोक, सुपारी, तुलसीके पुष्प अर्थात् मंजरी और भिलावेंके फूल ॥ ६८ ॥ इन सबको पीसकर सींगोंमें भरदेवे और इसमें शूकर, गोह (निर्विषगोह), मोर, सेह, बिलाव, पृषत (सावर) और न्योला इनका पित्त तथा शहत मिलाकर (सींगोंमें भरे) ॥ ६९ ॥ यह ऋषभ नामक अगद सुंदर संपादन किया हुआ जिस राजाके यहां घरमें होवे वहां सर्प भी अपना विष, शुक्रादि नहीं त्याग सकते फिर अन्य कीट (मूषकादि) का तो क्या सामर्थ्य है (अथवा वहां सर्प विषयुक्त नहीं रहसकते फिर अन्य कीटोंका क्या सामर्थ्य है, सब अपने वीर्य और विषको त्यागकर निर्विष होजाते हैं) ॥ ॥ ७० ॥ इसको यदि भेरी और दुंदुभी आदि बाजोंपर लेप करके बजावे तो विषको शीघ्र नाश करदेते हैं और इसे ध्वजाओंपर लेपकर स्थापन करे तो उन्हें देखकर ही शीघ्र विषव्याप्त मनुष्यगण निर्विष होजाते हैं ॥ ७१ ॥

संजीवन अगद ।

लाक्षा हरेणुर्नलदं प्रियंगुः शिग्रुद्वयं यष्टिकपृथ्विकाश्च ॥
चूर्णीकृतोऽयं रजनीविमिश्रो वर्गो विधेयो मधुसर्पिषाक्तः ॥ ७२ ॥
शृंगे गवां पूर्ववदापिधानस्ततः प्रयोज्योंऽजननस्यपानैः ॥
संजीवनो नाम गतासुकल्पमेषोऽगदो जीवयतीह मर्त्यम् ॥ ७३ ॥

लाख, हरेणु, नलद (खस), प्रियंगु, दोनों सहिंजने, मुलेठी, बडी इलायची इनको पीसकर हलदी मिलाकर शहत और घृतमें मिलावे ॥७२॥ और इसे पूर्वोक्त क्रमसे गौके सींगोंमें बंद करदे फिर इसे अंजन, नस्य और पीनेके लिये उपयुक्त करे यह संजीवन नामक अगद है जो विषसे गतप्राण भी होगया है (अर्थात् मृतप्राय होगया है) उस मनुष्यको भी जिला देता है ॥ ७३ ॥

दर्वीकर और राजिमंतका अगद ।

श्लेष्मातकः कट्फलमातुलुङ्गः श्वेता गिरिह्वा किणिही सिता च ॥
सतंडुलीयोऽगद एष मुख्यो विषेषु दर्वीकरराजिलानाम् ॥ ७४ ॥

श्लेमांतक (ल्हेसुवे), कायफल, मातुलुंग (नींबू विजोरा), श्वेतगिरिह्वा, श्वेतस्यंदा, किणिही (नीलस्यंदा) और मिश्री तथा चौलाई यह अगद (औषधका योग) मुख्य करके दर्वीकर और राजिमंतोंके विषके अर्थ है ॥ ७४ ॥

मंडली सर्पोंकी औषध ।

द्राक्षा सुगंधा नगवृत्तिका च पिष्टा समंगा समभागयुक्ता ॥
देयो द्विभागः सुरसाच्छदस्य कपित्थबिल्वादपि दाडिमाच्च ॥७५॥
तथार्द्धभागः सितसिंधुवारादंकोटमूलादपि गैरिकाच्च ॥
एषोऽगदः क्षौद्रयुतो निहंति विशेषतो मंडलिनां विषाणि ॥ ७६ ॥

मुनक्का, सुगंधा (नाकुली), नगवृत्ति (शल्लकी) इन तीनोंको पीसकर सबके समान मँजीठ मिलावे और दो भाग तुलसीके पत्त और कैथ, बेल तथा अनार (के पत्र) दो दो भाग ॥ ७५ ॥ और सफेद सँभालू, अंकोटकी जड और गेरू ये आधे २ भाग मिलावे इसमें शहत मिलावे यह अगद विशेप करके मंडली सर्पोंके विषको दूर करता है ॥ ७६ ॥

सर्पलूतादिविषनाशक योग ।

वंशत्वगार्द्रामलकं कपित्थं कटुत्रिकं हैमवती सकुष्ठा ॥
करंजबीजं तगरं शिरीषपुष्पं च गोपित्तयुतं निहंति ॥ ७७ ॥
विषाणि लूतोंदुरपन्नगानां कीटं च लेपांजननस्ययोगैः ॥
पुरीषमूत्रानिलगर्भसंगान्निहन्ति वर्त्यंजननाभिलेपैः ॥ ७८ ॥
काचार्मकोथान्पटलांश्च घोरान्पुष्पं च हन्त्यंजननस्ययोगैः ॥ ७९ ॥

बांसकी छाल, अदरख, आंवले, कैथ, त्रिकटु, वच, कूट, करंजबीज, तगर, शिरसके फूल इनमें गोपित्त (गोरोचन) मिलावे यह निम्नलिखित व्याधियोंको नष्ट करता है ॥ ७७ ॥ मकडी, चूहे और सर्पके विषको तथा कीडोंके विपको लेप, अंजन और नस्यके योगसे दूर करता है और इसीकी वत्ती प्रवेश करने, अंजन करने और नाभिपर लेप करनेसे मल, मूत्र, अधोवायु और गर्भ इनकी रुकावट खुलजाती है ॥ ७८ ॥ और यही अंजन करनेसे काच, अर्म, कोथ और घोर पटल तथा फूली ये सब नेत्रके रोग दूर हो जाते हैं ॥ ७९ ॥

(श्लो० ७८) अस्य पूर्वार्द्धस्य पूर्वश्लोकोक्तेन निहन्तीति पदेन सहान्वयः । (श्लो० ७९) काच-अर्म-कोथ-पटलाः पुष्पं च नेत्ररोगाः ।

कीटविषनाशक क्काथ ।

समूलपुष्पांकुरवल्कबीजात्क्काथः शिरीषात्त्रिकटुप्रगाढः ॥
सलावणः क्षौद्रयुतोऽथ पीतो विशेषतः कीटविषं निहन्ति ॥ ८० ॥

शिरसकी जड, फूल, पत्र, छाल और बीज इनका क्काथ कर त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल), लवण (सैंधानमक) और शहत मिलाकरके पीवे तो विशेष करके कीडोंका विष नष्ट होजावे ॥ ८० ॥

मूषकविषनाशक योग ।

कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम् ॥ मालती नागपुष्पं च सर्वाणि मधुराणि च ॥ ८१ ॥ कपित्थरसपिष्टोयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः ॥ विषं हंत्यगदः सर्वं मूषिकाणां विशेषतः ॥ ८२ ॥

कूट, त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल), दारुहलदी, मुलेठी, दोनों लवण (सैंधा, सोंचर), मालती, नागपुष्प (नागकेशर) और सब मधुर (काकोल्यादि गण) ॥ ८१ ॥ इनको कैथके रसमें पीसकर खांड और शहत मिलाकर पीने आदिमें उपयोग करे यह अगद सब विषोंको नष्ट करता है और विशेष करके मूषकोंके विषको नाश करता है ॥ ८२ ॥

विषनाशक गण ।

सोमराजीफलं पुष्पं कटभी सिंधुवारकः ॥ चोरको वरुणः कुष्ठं सर्पगंधा ससप्तला ॥ ८३ ॥ पुनर्नवा शिरीषस्य पुष्पमारग्वधार्कजम् ॥ श्यामांबष्ठाविडंगानि तथाम्राश्मंतकानि च ॥ ८४ ॥ भूमी कुरबकश्चैव गण एकसरः स्मृतः ॥ एकशो द्विस्त्रिशो वापि प्रयोक्तव्यो विषापहः ॥ ८५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

सोमराजी (बावची) के बीज और फूल, कटभी, सँभालू, चोरक (गंधद्रव्य), वरणा, कूट, सर्पगंधा (नाकुली–नाई नाम बूटी), सातला ॥ ८३ ॥ पुनर्नवा (सांठी और विषखपरा), शिरसके फूल (तथा पंचांग), किरमालाके फूल और आकके फूल, श्याम (श्यामलता या निसोथ या प्रियंगु), अम्बष्ठा (पाठा), वायविडंग और आम्र (आमचूर या आमडा) तथा अश्मन्तक (पीपल सरीखा वृक्ष होता है) ॥ ८४ ॥ भूमी (काली मिट्टी बँबईकी मिट्टी), कुरबक (लाल-फूलका पियावासा) यह सब एकसर नामक गण है इनमेंसे एक या दो या तीन

जितनी मिलसकें बहुत ही शीघ्र विषपर उपयोग करनी ये विषनाशक हैं इसमें संदेह नहीं (इनमेंसे जो मिले उसेही शीघ्र खाने, लगाने आदिमें भली भांति उपयोग करनेसे प्रायः विष शांत होजाता है) ॥ ८५ ॥

(वक्तव्य) कई इसमें सोमराजी (बाकुची) और फल (मैनफल) तथा पुष्प (नागपुष्प) ऐसा पृथक् पृथक् मानते हैं तथा भूमी कुरबकको एक मानते हैं

इति पं॰मुरलीधरवि॰ सुश्रुतसं॰ भा॰टी॰ कल्पस्थाने पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६.

अथातो मूषिककल्पं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम मूषिकाओंके विषकी क्रियाका व्याख्यान करते हैं ।

सविष मूषिकोंके अष्टादश भेद ।

पूर्वमुक्ताः शुक्रविषा मूषिका ये समासतः ॥
नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध तान् ॥ १ ॥

शुक्र विषवाले जो पहले मूषक संक्षेपसे वर्णन किये हैं उनके १८ भेद हैं जिनके नाम, लक्षण और विषके उपाय सुनो और समझो ॥ १ ॥

विषमूषकोंके नाम ।

लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिरश्चिक्किरस्तथा ॥ छुछूंदरोऽलसश्चैव कषायदशनोपि च ॥ २ ॥ कुलिंगश्चाजितश्चैवचपलः कपिलस्तथा ॥ कोकिलोऽरुणसंगश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः ॥ ३ ॥ श्वेतेन महता सार्द्धं कपिलेनाखुना तथा ॥ मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥ ४ ॥

१ लालन, २ पुत्रक, ३ कृष्ण (काला मूषक), ४ हंसिर, ५ चिक्किर, ६ छछूँदर, ७ अलस, ८ कषायदशन ॥ २ ॥ ९ कुलिंग, १० अजित, ११ चपल, १२ कपिल, १३ कोकिल, १४ अरुणसंग, १५ महाकृष्ण ॥ ३ ॥ १६ महाश्वेत, १७ कपिलाखु, १८ कपोताभ इसप्रकारसे ये १८ भांतिके मूषक सविष होते हैं ॥ ४ ॥

मूषकोंके विषकी प्रवृत्ति और लक्षण ।

शुक्रं पतंति यत्रैषां शुक्रघृष्टैः स्पृशंति वा ॥ नखदंतादिभिस्त-

---

(श्लो० १) मूषिकाः शुक्रविषाः इति जंगमविषविज्ञानीयाध्याये पूर्वमुक्तास्तानष्टादश निबोध (इत्यर्थः) (श्लो० ४) श्वेतेन महता सार्द्धमिति–महाश्वेन इत्यर्थः। (श्लो० ५) नखदंतादिभिरित्यत्रादिशब्दात् पुरीषमूत्राभ्यां च (इति निबंधसंग्रहः) तथा वा–"शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेण च नखैस्तथा ॥–

सिन्नगात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥ ५ ॥ जायन्ते ग्रंथयः शोफाः कर्णिका मंडलानि च ॥ पिडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥ ॥ ६ ॥ पर्वभेदो रुजस्तीव्रा ज्वरो मूर्च्छा च दारुणा ॥ दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वेपथुर्लोमहर्षणम् ॥ ७ ॥

जहां इनका शुक्र गिरे तथा उससे रगडा लगे हुए पदार्थसे जिनका स्पर्श होजावे अथवा नख, दांत और आदि शब्दसे मूत्र तथा मल जिनके शरीरसे स्पर्श होजावे वहांही इनके शरीरमें रुधिर दूषित होजाता है ॥ ५ ॥ जिससे ग्रंथि (गांठ), सोजा, कर्णिका (किनारेदार चिह्न) और मंडल (चकत्ते) तथा दारुण फुडिया, विसर्प और किटिभ ये पैदा होजाते हैं ॥६॥ पर्वोंमें भेद और तीव्र पीडा, ज्वर तथा दारुण मूर्च्छा, दुर्बलता, अरुचि, श्वास, कंप और रोमहर्ष ये होजाते हैं॥७॥

लालनादि मूषकोंके विषके लक्षण और यत्न ।

दष्टरूपं समासोक्तमेतच्च व्यासतः शृणु ॥ ८ ॥ लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते ॥ तंडुलीयककल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥ ९ ॥ पुत्रकेणांगसादश्च पांडुवर्णश्च जायते ॥ चीयते ग्रंथिभिश्चांगं माखुशावकसन्निभैः ॥ शिरीषेंगुदकल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥ १० ॥ कृष्णेनासृक् छर्दयति दुर्दिनेषु विशेषतः ॥ शिरीषफलकुष्ठं तु पिबेत्किंशुकभस्मना ॥ ११ ॥ हिंसिरेणान्नविद्वेषो जृंभा लोम्नां च हर्षणम् ॥ पिबेदारग्वधादिं तु सुवांतस्तत्र मानवः ॥ १२ ॥ चिक्किरेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमी तथा ॥ जालिनीमदनांकोटकषायैर्वामयेत्तु तम् ॥ १३ ॥ छुछूंदरेण तृड्गो ग्रीवास्तंभो विजृंभणम् ॥ यवनालर्षभीक्षारं बृहत्याश्चात्र दापयेत् ॥ १४ ॥

—दष्ट्राभिर्वा मूषिकाणां विषं पंचविधं स्मृतम् ॥१॥" इति तन्त्रान्तरे । तस्मात् मूत्रपुरीषादिभ्यः तद्घृष्टानां च स्पर्शादपि रक्तं प्रदुष्यति । (श्लो०६) कर्णिका कमलमध्यबीजकोशाकृतिः । (श्लो०८) दष्टरूपमित्यत्र दष्टशब्देन विषाभिभूतस्य ग्रहणमेव नतु दष्टादष्टस्य मूषिकाणां शुक्रविषप्रधानत्वात् । (श्लो०११) किंशुकभस्मना इति—भस्मोदकेन इत्यभिप्रायः (इति नि० सं०)। (श्लो० १३) जालिनी कोशातकी । (श्लो० १४) यवनाल यवनालिका, 'ऋषभी कपिकच्छुः ऋषभ' इति वा पाठे ऋषभकः इति, अनयोर्बृहत्याश्च क्षारं दापयेत् । 'विजृम्भणम्' इत्यत्र विसूचिका इति वा पाठः ।

पूर्व जो लक्षण लिखे वे सामान्यतासे दष्ट (विषयुक्त मूषिक) के कहे अब इससे अगाडी हरेकके लक्षण विस्तारसे सुनो (यहां दष्टका अर्थ काटा हुआ नहीं है किन्तु विषयुक्त है क्योंकि मूषिकोंका शुक्र विषप्रधान है दंष्ट्राविष प्रधान नहीं यह पूर्व लिख चुके हैं) ॥८॥ "लालन" नाम मूषकके विषसे लार बहे, हिचकी चलें, वमन हो इसमें चौलाईका कल्क शहत मिलाकर चाटे ॥ ९ ॥ "पुत्रक" नाम मूषकके विषसे अंगोंमें सुस्ती और शरीरमें पीलापन होजावे और चूहोंके बच्चे जैसी गाँठे शरीरपर होजावें इसमें शिरस और हिंगोटका कल्क शहत मिलाकर चाटे ॥१०॥ "कृष्णमूषक" के विषसे रुधिरकी वमन हो, विशेष कर बादलोंके दिनोंमें। इसमें ढाककी भस्मके जलसे शिरसके बीजोंका कल्क पीवे ॥ ११॥ "हिंसिर" के विषसे अन्नमें द्वेष, जृंभा, रोमहर्ष ये होते हैं इसमें वमन करके आरग्वधादि गणका क्वाथ पीवे ॥ १२ ॥ "चिक्किर" के विषसे शिरमें पीडा, शोथ, हिचकी, वमन ये हों इसमें जालिनी (कोशातकी), मैनफल, अंकोट इनके क्वाथसे वमन करावे ॥ ॥ १३ ॥ "छछूँदर" के विषसे विड्भंग, ग्रीवास्तंभ, जँभाई ये होते हैं इसमें यवकी नाली, कैंवच और बृहती इनका क्षार देवे ॥ १४ ॥

ग्रीवास्तंभोऽलसेनोर्द्ध्ववायुर्दंशे रुजा ज्वरः ॥ महागदं ससर्पिष्कं लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥ १५ ॥ निद्रा कषायदंतेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च ॥ क्षौद्रोपेताः शिरीषस्य लिह्यात्सारफलत्वचः ॥१६॥ कुलिंगेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमंडले ॥ सहे ससिंधुवारे च लिह्यात्तत्र समाक्षिके ॥ १७ ॥ अजितेन वमी मूर्च्छा हृद्ग्रहः कृष्णनेत्रता ॥ तत्र स्नुहीक्षीरपिष्टां पालिंदीं मधुना लिहेत् ॥ ॥ १८ ॥ चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया ॥ सभद्रकाष्ठां सजटां क्षौद्रेण त्रिफलां लिहेत् ॥ १९ ॥ कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रंथ्युद्गमस्तथा ॥ क्षौद्रेण लिह्यात्त्रिफलां श्वेतां चापि पुनर्नवाम् ॥ २० ॥

"अलस" के विषसे ग्रीवास्तम्भ होवे, ऊर्द्ध्ववायु तथा दंश (विषस्पर्श) की जगह पीडा और ज्वर होवे इसमें महाऽगद नाम योगमें घृत और शहत मिलाकर चाटे ॥ १५ ॥ "कषायदंत" मूषकके विषसे निद्रा आवे, हृदयमें खुश्की हो और कृशता हो इसमें शिरसका सार, फल, छाल इन्हें शहतमें मिलाकर चाटे ॥ १६ ॥ "कुलिंग" नाम मूषकके विषसे दंशमंडलकी (विषस्पर्श या काटनेकी) जगह

रेखासी होजावें पीडा और शोथ होवे इसमें दोनों सहा (शालपर्णी, पृश्निपर्णी) और सँभालू इन्हें शहत मिलाके चाटे ॥ १७ ॥ "अजित" नाम मूषकके विषसे वमन, मूर्च्छा, हृदयमें रोक और नेत्रोंका कालापन ये लक्षण होते हैं इसमें थोहरके दूधमें निसोथ पीस शहत मिलाकर चाटे ॥ १८ ॥ "चपल" के विषसे वमन हो, मूर्च्छा और तृषा हो इसमें देवदारु, जटामांसी और त्रिफला इन्हें शहतके संग चाटे ॥ १९ ॥ और "कपिल" नाम मूषकके विषसे व्रणमें सडन हो ज्वर हो और शरीरमें ग्रंथी हो इसमें श्वेतस्यंद और सांठीको त्रिफला और शहतके संग चाटे, (अथवा श्वेतपुनर्नवा ऐसा एक पदभी मानते हैं)(इसका विष जहां लगता है वहां व्रण हो जाता है और फिर दुर्गंधित होजाता है) ॥ २० ॥

ग्रंथयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः ॥
वर्षाभूनीलिनीक्वाथसिद्धं तत्र घृतं पिबेत् ॥ २१ ॥

"कोकिल" नामक मूषिकके विषसे उग्र ग्रंथि, ज्वर और तीक्ष्ण दाह होता है इसमें पुनर्नवा और नीलिनीके क्वाथसे सिद्ध किया हुआ घृत पीवे ॥ २१ ॥

अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान्कुरुते गदान् ॥ महाकृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च ॥ २२ ॥ महता कपिलेनासृक्कपोतेन चतुष्टयम् ॥ भवंति चैषां दंशेषु ग्रंथिमंडलकर्णिकाः ॥ २३ ॥ पिडकोपचयाश्चोग्राः शोफश्च भृशदारुणः ॥ दधिक्षीरघृतप्रस्थास्त्रयः प्रत्येकशो मताः ॥ २४ ॥ करंजारग्वधव्योषबृहत्यंशुमतीस्थिराः ॥ २५ ॥ निःक्वाथ्य चैषां क्वाथस्य चतुर्थांशः पुनर्भवेत् ॥ त्रिवृत्तिलामृताचक्रसर्पगंधाः समृत्तिकाः ॥ २६ ॥ कपित्थदाडिमत्वक्च सुपिष्टानि तु दापयेत् ॥ तत्सर्वमेकतः कृत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥ २७ ॥ पंचानामरुणादीनां विषमेतद्व्यपोहति ॥ २८ ॥

"अरुण" नामक मूषकके विषसे वायु क्रुद्ध होकर वायुके रोग करता है और "महाकृष्ण" के विषसे पित्त (कुपित होकर पित्तके उपद्रव करता है) तथा 'श्वेत' मूषकके विषसे कफ कुपित होता है (और कफकी व्याधियां करता है) ॥ २२ ॥ और "महाकपिल" के विषसे रुधिर कुपित होता है तथा "कपोत" मूषकके विषसे चारों दोष कुपित हो जाते हैं। इनके दंशस्थानमें या जहां इनका विष

(श्लो० २५) अंशुमती शालपर्णी स्थिरा अत्र काकोली । (श्लो० २८) एतद्घृतं पानाभ्यंजनादिना अरुणादीनां विषं व्यपोहति नाशयति ।

लगे वहां गांठ हो जावे, चकत्ते और कर्णिका पड जावें ॥ २३ ॥ दारुण फोडा पैदा हो जावे और दारुण शोथ होवे । इनके लिये ऐसा करे कि दही, दूध और घृत ये एक एक तीन प्रस्थ लेवे ॥ २४ ॥ और करंज, अमलतास, त्रिकटु, बडी कटेली, अंशुमती (शालपर्णी), स्थिरा (स्थिराका अर्थ शालपर्णीभी है और काकोलीभी है यहां काकोली है) ॥ २५ ॥ इन सबका क्वाथ करे और जब चतुर्थांश शेष रहे तब उतारके निशोथ, तिल, गिलोय, तगर, नाकुली, मिट्टी (काली मिट्टी) ॥ २६ ॥ कैथ और अनारकी छाल इन सबको पीसकर उस क्वाथमें डाले और घृतादिकभी डाल दे फिर मंद २ अग्निसे पकावे ॥ २७ ॥ यह घृत अरुणादिक पांचों मूषकोंके विषको नष्ट करनेवाला है ॥ २८ ॥

सामान्य यत्न ।

काकादनीकाकमाचीस्वरसेष्वथ वा कृतम् ॥ शिराश्च स्रावयेत्प्राज्ञः कुर्यात्संशोधनानि च ॥ २९ ॥ सर्वेषां च विधिः कार्यो मूषिकानां विषेष्वयम् ॥ दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत् ॥ शिरीषरजनीकुष्ठकुंकुमैरमृतायुतैः ॥ ३० ॥

अथवा काकादनी और काकमाची इनके स्वरसमें सिद्ध किया घृत देवे और शिरावेधन तथा वमन, विरेचनद्वारा बुद्धिमान् वैद्य संशोधन भी करे ॥ २९ ॥ सब प्रकारके मूषकोंके विषमें यह विधि करनी चाहिये कि दंशकी जगह जलाकर रुधिर निकाल दे, पछने लगाकर शिरस, हलदी, कूट, कुंकुम (केसर) और गिलोय इन्हें पीसकर लगा देवे ॥ ३० ॥

वमनका उपयोग ।

छर्दनं जालिनीक्वाथैः शुकाख्यांकोटयोरपि ॥ शुकाख्याकोशवत्योश्च मूलं मदन एव च ॥ ३१ ॥ देवदालीफलं चैव दध्ना पीत्वा विषं वमेत् ॥ ॥ ३२ ॥ फलं वचा देवदाली कुष्ठं गोमूत्रपेषितम् ॥ पूर्वकल्पेन योज्याः स्युः सर्वाखुविषच्छिदः ॥ ३३ ॥

और जालिनी (कडु तोरई) के क्वाथसे वमन करे, सोनापाठा और अंकोटके क्वाथसे अथवा श्योनाक और कोशातकी इनकी मूल और मैनफल तथा देवदाली (श्योनाक) का फल इन्हें दहीके संग पीकर वमन करे ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अथवा मैनफल, वच, श्योनाक, कूट इन्हें गोमूत्रमें पीकर पूर्वोक्त वमन करे यह सब मूषकोंके विषके नाशक हैं ॥ ३३ ॥

विरेचन नस्य अंजन और अवलेह ।

विरेचने त्रिवृद्दंतीत्रिफलाकल्क इष्यते ॥ शिरोविरेचने सारः शिरीषफलमेव च ॥ ३४ ॥ कटुत्रिकाद्यश्च हितो गोमयस्वरसोंजने ॥ कपित्थगोमयरसः सक्षौद्रो लेह इष्यते ॥ ३५ ॥

निसोथ, दंती, त्रिफला इनका कल्क विरेचनमें श्रेष्ठ है (अर्थात् इनसे विरेचन करावे) और शिरसका सार तथा शिरसके बीजोंकी नस्य करके (शिरका रेचन करे) ॥ ३४ ॥ त्रिकटु और गोबरके रसका अंजन करे और कैथ, गोबरका रस और शहत इन्हें चाटे ॥ ३५ ॥

रसांजनहरिद्रेंद्रयवकटुकीषु वा कृतम् ॥ कल्कं सातिविषं प्रातर्लिह्याच्च क्षौद्रसंयुतम् ॥३६॥ तंडुलीयकमूलेषु सर्पिः सिद्धं पिबेन्नरः ॥ आस्फोतमूलसिद्धं वा पंचकापित्थमेव वा ॥ ३७ ॥

रसोत, दोनों हलदी, इंद्रजौ, कुटकी और अतीस इनका कल्क करके शहत मिलाकर प्रातःकाल नित्य चाटे ॥ ३६ ॥ अथवा चौलाईकी जडमें सिद्ध किया हुआ घृत पीवे अथवा आस्फोत (कोविदार) के मूलमें सिद्ध किया घृत पीवे अथवा कपित्थके पंचांगमें सिद्ध घृत पीवे (जड, छाल, पत्र, पुष्प, फल इन्हें पंचांग कहते हैं) ॥ ३७ ॥

मूषिकानां विषं प्रायः कुप्यत्यभ्रेषु निर्हृतम् ॥ तत्राप्येष विधिः कार्यो यश्च दूषीविषापहः ॥ ३८ ॥ स्थिराणां रुजतां वापि व्रणानां कर्णिका भिषक् ॥ पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ॥३९॥

मूषिका (चूहों) का विष ठहरा हुआ वर्षाके दिनोंमें कुपित होता है इसमें भी दूषीविषनाशक विधि करनी चाहिये ॥ ३८ ॥ जो इनका विष स्थिर हो जावे, पीडा करे तो व्रणोंकी कर्णिका (चकल) को शस्त्रसे चीरकर दोषोंके अनुसार व्रणोंके समान उन्हें शुद्ध करे ॥ ३९ ॥

शृगालकुक्कुर आदिकी उन्मत्तता ।

शृगालश्वतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः ॥
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ ४० ॥

(श्लो० ३८) शिष्टस्य विषस्य कोपसमये वृद्धवाग्भट इत्याह—"सशेषं मूषिकविषं प्रकुप्यत्यभ्रदर्शने॥ यथायथं वा कालेषु दोषाणां वृद्धिहेतुषु ॥ १ ॥" (श्लो० ४०) आदिशब्देनात्र वृकचित्रकादयो हिंस्राः पशवो ग्राह्याः ।

स्यार, कुत्ता, तरखू, रीछ और व्याघ्र आदि जीवोंके शरीरमें जब वायु कफ करके दूषित हो जाता है और संज्ञावहा शिराओंमें स्थित होता है तब इनकी संज्ञा (बुद्धि) नष्ट हो जाती है ॥ ४० ॥

(वक्तव्य) आदि शब्दसे कई ऐसा मानतेहैं कि मूपकोंमें भी इसी प्रकार कारण पाकर संक्रामकरूपसे कफ दूषित वायुके दोपका विकार होताहै तब मूष-कभी विपयुक्त होजाते हैं और उन्मत्तसे हो चक्कर खाखाकर मरने लगते हैं और जैसे विपयुक्त उन्मत्त कुत्तेकी डाढमें विप होता है वैसे इन मूपकोंके वीर्यमें प्रधान-तासे विप होताहै तथा उस वीर्यविषयुक्त मूषकोंके शरीरमें और उससे उत्पन्न हुए कोथज कृमियोंमें और मल, मूत्र, रक्तादि सभीमें घोर विष होजाताहै जो स्पर्शमात्रसे शरीरमें ग्रंथि, ज्वर, श्वासादि दारुण उपद्रव उत्पन्न करके मारक होता-है-अस्तु, वर्त्तमान समयकी महामारी (प्लेग) इसी भांति मूषक विषजन्या प्रतीत होती है इसका विशेष वर्णन देखना हो तो हमारे रचे हुए महामारीविवेचन नामक पुस्तकमें देखो ।

उन्मत्त कुत्ते स्यार आदिके लक्षण ।

तदा प्रस्रस्तलांगूलः हनुस्कंधोऽतिलालवान् ॥
अत्यर्थबधिरोंधश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ ४१ ॥

जब ये कुत्ते आदि उन्मत्त होते हैं तब इनकी पूँछ सीधी हो जाती है जबडे और कंधे ढीले पड जाते हैं (या अकड जाते हैं), मुँहसे राल बहती है, अत्यन्त बहरा और अन्धा होजाता है और जिस तिसकी तरफ दौडता है ॥ ४१ ॥

कुत्ते आदिसे काटेहुएके लक्षण ।

तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रया सविषेण तु ॥ सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चाति स्रवत्यसृक् ॥ दिग्धविद्धस्य लिंगेन प्रायशश्चो-पलक्षितः ॥ ४२ ॥

इन कुत्ते आदि उन्मत्त जीवोंकी विपयुक्त डाढसे काटे हुए मनुष्यके शरीरमें डाढकी जगह सुन्न पडजाती है और उसमेंसे बहुतसा काला रक्त निकलता है और उसमें प्रायः विषलिप्त शस्त्रके व्रणकेसे लक्षण होते हैं ॥ ४२ ॥

काटेहुएकी असाध्यता ।

येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टारुतं नरः ॥ बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥ ४३ ॥ दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यदि

(श्लो० ४३) रुतं शब्दम् ।

पश्यति ॥ अप्सु वा यदि वाऽऽदर्शेऽरिष्टं तस्य विनिर्दिशेत् ॥
॥ ४४ ॥ त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं श्रुत्वा दृष्ट्वापि वा जलम् ॥
जलत्रासं तु विद्यात्त रिष्टं तमपि कीर्तितम् ॥ ४५ ॥

जिस पशुने मनुष्यको काटा हो यदि वह मनुष्य बहुधा उसीकेसी चेष्टा और शब्द करे तथा क्रियाओंसे हीन होजावे तो विनाशको प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥ और जिस कुक्कुर आदि पशुओंने उसे काटा हो यदि पानी या कांचमें उसीकी मूर्ति दीखे तो उसे अरिष्ट (असाध्य) कहना चाहिये ॥ ४४ ॥ और जो पानीको देख कर या उसका शब्द सुनकर अकस्मात् डरने लगे तो उसे जलत्रास जानों और उसे भी अरिष्टही कहा है (अर्थात् उसे भी असाध्य समझिये) ॥ ४५ ॥

अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिध्यति ॥
प्रसुप्तोऽथोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति ॥ ४६ ॥

विनाही काटे हुए यदि कोई जलसे डरने लगे तो वह मृत्युको प्राप्त होवे और जो सोता हुआ अथवा सोता उठकर स्वस्थ मनुष्य जलसे डरे (और पूर्वोक्त चेष्टा करे) तो वह भी असाध्य होता है ॥ ४६ ॥

(वक्तव्य) यदि कोई स्वप्नमें डरे तो उसे ऐसा नहीं समझना क्योंकि विना काटे हुए कफकी प्रधानतासे हृदयमें कफ छा जानेसे भी जलादिसे डर और कुचेष्टा होजाया करती हैं-देखो टिप्पणी ।

उन्मत्त कुत्ते आदिसे काटेहुएकी चिकित्सा ।

विस्राव्य दंशं तैर्दष्टं सर्पिषा परिदाहितम् ॥ प्रदिह्यादगदैः सर्पिः पुराणं वापि पाययेत् ॥ ४७ ॥ अर्कक्षीरयुतं चास्य दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥ श्वेतां पुनर्नवां चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम् ॥
॥ ४८ ॥ पललं तिलतैलं च रूपिकायाः पयो गुडः ॥ निहंति विषमालर्कं मेघवृंदमिवानिलः ॥ ४९ ॥

(श्लो० ४६) अदष्ट इत्यादि-"बुद्धिस्थान यदा श्लेष्म केवलं प्रतिपद्यते ॥ तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाविष्टितो नरः ॥ १ ॥ जाग्रत्सुप्तोऽथमात्मानं मज्जंतमिव मन्यते ॥ सलिले त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः ॥२॥" (इति नि० सं०) त्रस्तः जलेन त्रस्त इति । (श्लो० ४७) विस्राव्य निष्पीडनेन स्रावयित्वा । अगदैर्महागदैः । (श्लो० ४८) श्वेता पुनर्नवाविशेषणमन्ये तु कटभीमाहुः । धत्तूरमूलस्यार्द्धेन युतमिति अन्ये तु धत्तूरफलमाहुः (इति नि० सं०) (श्लो० ४९) पलल तिलकल्कः सस्नेहः (इति डल्हनः)

इन उन्मत्त कुत्ते आदिके काटे हुएको डाढकी जगहका रुधिर निकालकर गरम घृतसे जला देवे (जिससे विष निःशेष हो) फिर महा अगदादिका लेप कर देवे और पुराना घृत पिलावे ॥ ४७ ॥ और आकके दूध युक्त (नस्योंसे) शिरका विरेचन करे अथवा सुपेद सांठीमें धतूरा युक्त करके देवे ॥ ४८ ॥ पलल (तिलकुट), तिलकातैल आकका दूध और गुड ये अलर्क (उन्मत्त कुक्कुर) के विषको नष्ट करते हैं जैसे बहुतसे बादलोंको वायु उडा देता है ॥ ४९ ॥

विषकोपकरणविधि ।

मूलस्य शरपुंखायाः कर्षं धत्तूरकार्द्धिकम् ॥ तंडुलोदकमादाय पेषयेत्तंडुलैः सह ॥ ५० ॥ उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्यापूपकं पचेत् ॥ खादेदौषधकाले तदलर्कविषदूषितः ॥ ५१ ॥

शरपुंखा (नीलझोझरू) की जड एक कर्ष और धतूरेकी जड आधा कर्ष लेकर इनमें थोडे चावल मिलाकर चावलोंके जलसे पीस ले और लुगदीसी बना ले ॥ ॥ ५० ॥ फिर उसपर धतूरेके (छः सात) पत्ते लपेटकर उसे पका लेवे इसे उन्मत्त कुत्तेके काटे हुएके विषसे दूषित मनुष्य औषधके समय खावे ॥ ५१ ॥

करोत्यन्यान्विकारांस्तु तस्मिञ्जीर्यति चौषधे ॥ विकाराः शिशिरे याप्या गृहे वारिविवर्जिते ॥ ५२ ॥ ततः शांतविकारस्तु स्नात्वा चैवापरेऽहनि ॥ शालिषष्टिकयोर्भक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत् ॥ ५३ ॥

इस औषधके पचते समय जो यह कोई और विकार (उन्मत्तता आदि) करे तो उन विकारोंको जलवर्जित शीतल मकानमें शांत करे ॥ ५२ ॥ और जब विकार शांत होजावे तब दूसरे दिन स्नान कराके शालि या साठी चावलोंका भात गरम दूधके साथ भोजन करावे ॥ ५३ ॥

दिनत्रये पंचमे वा विधिरेषोऽर्द्धमात्रया ॥ कर्तव्यो भिषजावश्यमलर्कविषनाशनः ॥ ५४ ॥ कुप्येत्स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः ॥ तस्मात्प्रकोपयेदाशु स्वयं यावन्न कुप्यति ॥ ५५ ॥

(श्लो० ५०) धत्तूरार्द्धिकं धत्तूरजटाया अर्द्धकार्षिकभागम् (इति नि० सं०) (श्लो० ५१) उन्मत्तस्य धत्तूरस्य अपूपक न पूयते विशीर्यते तदपूपकं चूर्णपिष्टकमित्यर्थः (इति श० स्तो०) अलर्कः उन्मत्तकुक्कुरः (इति नि० सं०) (श्लो० ५२) तस्मिन्नौषधे जीर्यति सति विकारान् करोति ते विकाराः शिशिरे वारिविवर्जिते गृहे याप्याः शमनीयाः ।

तीसरे या पांचवें दिन फिर आधी मात्रासे यही विधि करे। वैद्यको उन्मत्त कुकुरके विष नाश करनेको अवश्य यह विधि करनी चाहिये (यह विधि इस लिये है कि वह विष इसके करनेसे कुपित होजावे। यह उस विषके कोप करनेके लिये क्यों है इसका प्रयोजन अगले श्लोकसे विदित होजावेगा) ॥ ५४ ॥ जिसके इनका विष आपसे आप कुपित होता है वे नहीं जीवते हैं इससे विषके स्वयं कुपित होनेसे पहले शीघ्रही औषधादिसे कुपित कर देना चाहिये (क्योंकि औष-धादि द्वारा कुपित किया विष शांत होकर निःशेष होजाता है और आपसे कोप हुआ शांत नहीं होता) ॥ ५५ ॥

तंत्रविधि।

बीजरत्नौषधीगर्भैः कुंभैः शीतांबुपूरितैः ॥ स्नापयेत्तं नदीतीरे समंत्रैर्वा चतुष्पथे ॥ ५६ ॥ बलिं निवेद्य तत्रापि पिण्याकं पललं दधि ॥ माल्यानि च विचित्राणि मांसं पक्कामकं तथा ॥ ५७ ॥

विषनाशक बीज, रत्न और औषधी जिसमें पडी हों ऐसे शीतल जलसे भरे हुए घडोंसे उस मनुष्यको नदीके किनारे या चौराहेमें मंत्रयुक्त स्नान करावे ॥५६॥ और वहांही खल (कुटे तिल), दही, पुष्पमाला (भांति भांतिके पुष्प) और कच्चा पक्का मांस इनकी बलि देवे ॥ ५७ ॥

स्नान और बलिप्रदानके लिये मन्त्र।

अलकाधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप ॥
अलर्कजुष्टमेतन्मे निर्विषं कुरु माचिरात् ॥ ५८ ॥

स्नान कराते समय और बलि देते समय 'अलकाधिपते' यह मंत्र पढे इसका अर्थ यह है कि हे अलकापुरीके स्वामी यक्ष ! (कुबेर) हे सारमेय ! (कुकुरों) के गणोंके अधिपति इस कुत्तेके काटेहुएको आप मेरे लिये शीघ्रही निर्विष कीजिये ॥ ५८ ॥

दद्यात्संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः ॥ अशुद्धस्य सुरूढेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम् ॥ ५९ ॥ श्वादयोऽभिहिता व्याला वात-पित्तप्रकोपनाः ॥ अलं करोति दष्टस्तु तेषां चेष्टां रुतं नरः ॥ ६० ॥

(श्लो० ५६) बीजरत्नौषधीगर्भैरिति-विषघ्नबीजानि शिरीषादीना विषघ्नरत्नानि च विषघ्नौषधानि कटभीपुनर्नवादीनि गर्भे येषामेवंभूतैः शीतांबुपूरितैः घटैः समंत्रैश्च स्नापयेदित्यर्थः। (श्लो० ५८) अलका कुबेरस्य नगरी 'अलकाधिपते' इत्यत्र अलर्काधिपते इति वा पाठः अलर्कः उन्मत्तकुक्कुरः। सारमेय इति-सरमायाः कश्यपपत्न्याः जाताः कुक्कुरजातयः।

बहुशः प्रतिकुर्वाणो न चिरान्म्रियते च सः ॥ ६१ ॥ नखदंतक्षतं व्यालैर्यत्कृतं तद्विमर्दयेत् ॥ सिंचेत्तैलेन कोष्णेन ते हि वात-प्रकोपजाः ॥ ६२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार स्नान किये पीछे रोगीको तीक्ष्ण शोधन वमन, (रेचन) करावे क्योंकि विना शोधन किये हुएका घाव भर भी जावे तो भी फिर (काल पाकर) विष कुपित होसकता है ॥ ५९ ॥ कुत्ते आदि जो डाढसे काटनेवाले चतुष्पद हिंस्रक जीव होते हैं वे वात, पित्तके प्रकोप करनेवाले होते हैं इससे उनका काटा हुआ मनुष्य उनकेसी चेष्टा और शब्द करता है ॥ ६० ॥ जो बहुधा ऐसा करे वह शीघ्रही मृत्युको प्राप्त होवे ऐसा जानना ॥ ६१ ॥ इन जीवोंके नख या दांतके काटेका जो घाव हो उसे दबाकर (रुधिर निचोडकर) निवाये तैलसे सेचन करना चाहिये क्योंकि वे व्रण वायुके कोपसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ६२ ॥

इति प० मुरलीधरवि० सुश्रुतस० भा० टी० कल्पस्थाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ७.

अथातो दुंदुभिस्वनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यहाँसे अगाडी अब हम दुंदुभिस्वनीय (अर्थात् नगारे आदिके ऊपर विष-नाशक औषधका लेप करके उसके शब्दसे विष दूर करनेकी विधि रूपक) अध्या-यका व्याख्यान करते हैं ।

क्षारागदविधि ।

धवाश्वकर्णतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारिभद्रकाम्रोदुंबरकर-हाटकार्जुनककुभसर्जकपीतनश्लेष्मातकांकोटामलकप्रग्रहकुटजश-मीकपित्थाश्मकार्कचिरबिल्वमहावृक्षारुष्करारलुमधुकमधुशिग्रुशा-कगोजीमूर्वातिल्वकेक्षुरकगोपघोंटारिमेदानां भस्मान्याहृत्य गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत् ॥ १ ॥ दद्याँच्चात्र पिप्पली-मूलतंडुलीयकवरांगचोचकमंजिष्ठाकरंजिकाहस्तिपिप्पलीमरिचो-त्पलसारिवाविडंगगृहधूमानंतासोमसरलाबाह्लीकगुहाकोशाम्रश्वे-

---

(गद्य १) अर्जुनककुभ इत्येकार्थकशब्दयोर्द्वयोः पठनेन द्विगुणी मात्रा ग्राह्या इति । अत्र डल्हनस्तु ककुभः सुगंधिविटपिविशेष इत्याह । प्रग्रहः किरमालकः ।

तसर्षपवरुणलवणप्लक्षनिचुलकवर्द्धमानवंजुलपुत्रश्रेणीसप्तपर्णदं-डकैलावालुकनागदंत्यतिविषाभयाभद्रदारुकुष्ठहरिद्रावचाचूर्णानि लोहानां च समभागानि ततः क्षारवदागतपाकमवतार्य लोह-कुंभे निदध्यात् ॥ २ ॥

धव, महासर्ज, तिनिश, ढाक, नीब, पाढ, पारिभद्र, आंब, गूलर, करहाटक, (मैनफल), अर्जुन, कुहा, रालका वृक्ष, कपीतन, (शिरस), लहेसुवा, अंकोट, आंवला, प्रग्रह, (किरमाला), कुडा, जांट, कैथ, अश्मंतक, आक, करंज, थूहर, भिलावाँ, श्योनाक, मुलेठी, मीठा सोंहँजना, शाक, गोजिह्वा, मूर्वा, लोध, तालमखाना, गोपघोंटा, अरिमेद (विटखदिर) इनके मूल, छाल और पत्रादिकी भस्म करके गोमूत्रमें घोलकर क्षारविधिसे चुवाकर पकावे ॥ १ ॥ और पकते समय इसमें पीपलीमूल, चौलाई, वरांग (दालचीनी), चोचक (तज), मंजीठ, करंज, गज-पीपल, मिरच स्याह, कमलसारिवा, विडंग, वरका धूम, अनन्ता, सोमवल्क, सरला (निसोथ) वाल्हीक (कुंकुम), गुहा (शालपर्णी), कोशाम्र; सपेद सरसों, वरणा, लवण, पिलखन, जलवेंत, वर्द्धमान (अरंड), वंजुल, पुत्रश्रेणी (दंती) सप्तपर्ण, (सातला) दंडक (श्योनाक), एलवालुक, नागदंती (इंद्रवारुणी), अतीस, हरडे, देवदारु, कूट, हलदी, वच इन औषधोंका चूर्ण करके डाले और लोहका चूर्ण भी सबके समान डाले । जब क्षारकी भांति पकाव पर आजावे तब उतार ले और लोहेके घड़ेमें भर रक्खे ॥ २ ॥

अनेन दुंदुभिं लिंपेत्पताकातोरणानि च ॥ श्रवणाद्दर्शनात्स्पर्शा-द्विषात्संप्रतिमुच्यते ॥ ३ ॥ एष क्षारागदो नाम्ना शर्करास्वश्मरी-षु च ॥ अर्शस्सु वातगुल्मेषु कासशूलोदरेषु च ॥ ४ ॥ अजीर्णे ग्रहणीदोषे भक्तद्वेषे च दारुणे ॥ शोफे सर्वसरे चापि देयः श्वासे च दारुणे ॥ ५ ॥ एष सर्वविषार्तानां सर्वथैवोपयुज्यते ॥ तथा तक्षकमुख्यानामयं दर्पांकुशोऽगदः ॥ ६ ॥

इस पूर्वोक्त क्षारागदको नगारों आदि वाजोंपर लेप करे तथा ध्वजाओं और पताकाओं पर भी लेप करे उन बाजोंके शब्द सुनने और ध्वजा आदिके देखने, छूने आदिहीसे मनुष्य विषसे छूट जावे ॥ ३ ॥ यह क्षारागद नामक औषध शर्करा, पथरी, बवासीर, वायुके गुल्म, खाँसी, शूल, उदररोग ॥ ४ ॥ अजीर्ण, ग्रहणीदोष, भक्तद्वेष, दारुण सर्वांगशोथ और बढे हुए श्वास इतने रोगोंमें देवे (खिलावे) ॥ ५ ॥

यह सब प्रकारके विषपीडितोंके सब भांति (खाने लगाने आदिमें) उपयोग कर सकते हैं यह तक्षक आदि सर्पोंकेभी दर्पका अंकुश है ॥ ६ ॥

(वक्तव्य) 'तक्षकमुख्यानाम्' यह तो विशेषोक्ति है हां इससे यह प्रयोजन हो सकता है कि वडे विषधर सर्पोंकेभी विषको नष्ट कर सकता है तो और क्षुद्र सर्प तथा कृमि मूषकादिके विषकी तो क्या गणना है ॥

कल्याणघृतकी विधि ।

विडंगत्रिफलादंतीभद्रदारुहरेणवः ॥ तालीशपत्रमंजिष्ठाकेशरोत्पलपद्मकम् ॥ ७ ॥ दाडिमं मालतीपुष्पं रजन्यौ सारिवे स्थिरे ॥ प्रियंगुस्तगरं कुष्ठं बृहत्यौ चैलवालुकम् ॥ ८ ॥ सचंदनगवाक्षीभिरेतैः सिद्धं विषापहम् ॥ सर्पिः कल्याणकं ह्येतद्ग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ९ ॥ पांड्वामयगरश्वासमंदाग्निज्वरकासनुत् ॥ शोषिणां स्वल्पशुक्राणां वंध्यानां च प्रशस्यते ॥ १० ॥

विडंग, त्रिफला, दंती, देवदारु, हरेणु, तालीसपत्र, मंजीठ, नागकेशर, कमल, पद्माख ॥ ७ ॥ अनार, मालतीपुष्प, दोनों हलदी, दोनों सारिवा, दोनों स्थिरा (अर्थात् शालपर्णी, पृश्निपर्णी), प्रियंगु, तगर, कूट, दोनों कटेली और एलवालुक ॥ ८ ॥ चंदन, इंद्रायण इन सबमें सिद्ध किया हुआ घृत विषका नाश करता है यह कल्याण घृत ग्रह, मृगी इन्हें नष्ट करता है ॥ ९ ॥ और पांडुरोग, गर (कृत्रिम विष), श्वास, मंदाग्नि, ज्वर, खाँसी इन्हें भी नष्ट करता है, शोषरोगवाले, अल्प वीर्यवाले और वंध्या स्त्रियोंको भी श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अमृताख्यघृतकी विधि ।

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य तथैव च ॥ श्वेते द्वे काकमाचीं च गवां मूत्रेण पेषयेत् ॥ ११ ॥ सर्पिरेतैस्तु संसिद्धं विषसंशमनं परम् ॥ अमृतं नाम विख्यातमपि संजीवयेन्मृतम् ॥ १२ ॥

ओंगेके बीज और शिरसके बीज, दोनों प्रकारकी श्वेता (कटभी और महाकटभी) और काकमाची (मकोह) इन्हें गोमूत्रमें पीसे ॥ ११ ॥ इनसे सिद्ध किया हुआ घृत विषका परम शमन करता है यह अमृत नामक विख्यात घृत है विषसे मरे हुए तकको भी जिला देता है ॥ १२ ॥

महासुगन्धि अगदकी विधि ।

चंदनागुरुणी कुष्ठं तगरं तिलपर्णिकम् ॥ प्रपौंडरीकं नलदं सरलं

देवदारु च ॥ १३ ॥ भद्रश्रियं यवफलां भार्ङ्गीं नीलीं सुगंधिकाम् ॥ कालेयकं पद्मकं च मधुकं नागरं जटाम् ॥ १४ ॥ पुन्नागैलैलवालूनि गैरिकं ध्यामकं बलाम् ॥ तोयं सर्जरसं मांसीं सितपुष्पां हरेणुकाम् ॥ १५ ॥ तालीशपत्रं क्षुद्रैलां प्रियंगुं सकुटन्नटाम् ॥ शैलपुष्पं सशैलेयं पत्रं कालानुसारिवाम् ॥ १६ ॥

चंदन, दोनों भांतिका अगुरु, कूट, तगर, तिलपर्णी, प्रपौंडरीक, नरसल, सरल, देवदारु ॥ १३ ॥ भद्रश्रिय (सुपेद चंदन), यवफला (दूधी), भाडंगी, नीली, सुगंधिका (नाकुली), कालेयक (पीतचंदन), पद्माख, मुलेठी, सोंठ, जटा (रुद्रजटा), ॥ १४ ॥ पुन्नाग, इलायची, एलवालुक, गेरु, ध्यामकतृण, खरेंटी, नेत्रवाला, राल, जटामांसी, सितपुष्पा (मल्लिका), हरेणुका ॥ १५ ॥ तालीसपत्र, छोटी इलायची, प्रियंगु, श्योनाक, शैलपुष्प (पत्थरका फूल यह इस नामसे प्रसिद्ध है कई पुष्पकासीस कहते हैं), शैलेय (शिलारस), पत्रज, कालानुसारिवा (तगरका भेद) ॥ १६ ॥

कटुत्रिकं शीतशिवं काश्मर्यं कटुरोहिणीम् ॥ सोमराजीमतिविषां पृथ्वीकामिंद्रवारुणीम् ॥ १७ ॥ उशीरं वरुणं मुस्तं नखं कुस्तुंबुरुं तथा ॥ श्वेते हरिद्रे स्थौणेयं लाक्षां च लवणानि च ॥१८॥ कुमुदोत्पलपद्मानि पुष्पं चापि तथार्कजम् ॥ चंपकाशोकसुमनस्तिलकप्रसवानि च ॥ १९ ॥ पाटलीशाल्मलीशेलुशिरीषाणां तथैव च ॥ सुरस्यास्तृणशूल्याश्च सिंधुवारस्य यानि च ॥ २० ॥ धवाश्वकर्णयोश्चापि पुष्पाणि तिनिशस्य च ॥ गुग्गुलुं कुंकुमं बिंबीं सर्पाक्षीं गंधनाकुलीम् ॥ २१ ॥ एतत्संभृत्य संभारं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ गोपित्तमधुसर्पिर्भिर्युक्तं शृंगे निधापयेत् ॥ २२ ॥

त्रिकटु, कपूर, खंभारी, कुटकी, बाकुची, अतीस, पृथ्वीका (काला जीरा) इंद्रायन ॥ १७ ॥ खस, वरणा, मोथा, नख (नखी नामक सुगंध द्रव्य), धनियां दोनों श्वेता, दोनों हलदी, थुनेरा, लाख, सब नमक ॥ १८ ॥ कमोदनी, कमलपद्म, आकके फूल, चंपा, अशोक इनके फूल (अथवा सुमन चमेली), तिलका

(श्लो० १७) पृथ्वीका श्यामवर्णकः स्थूलजीरकः । (श्लो० १८) स्थौणेयमिति ग्रंथिपर्णभेदः । (श्लो० २०) तृणशूल्याः केतक्याः (इति नि० सं०)

पंचांग ॥१९॥ पाटल, संभलू, ल्हेसुवा, शिरस, तुलसी, केतकी, सिंभालू इन सबके फूल ॥ २० ॥ और धव, महासर्ज और तिनिश इनकेभी फूल, गूगल, केशर, कंदूरी, सर्पाक्षी और गंधनाकुली (नाकुलीका भेद) ॥२१॥ इन सबको इकट्ठा करके महीन चूर्ण कर लेवे इसमें गोरोचन, शहत और घृत मिलाकर सींगमें भरकर रख देवे ॥ २२ ॥

महासुगन्धि अगदके गुण ।

भग्नस्कंधं विवृत्ताक्षं मृत्योर्दंष्ट्रांतरं गतम् ॥ अनेनागदमुख्येन मनुष्यं पुनराहरेत् ॥ २३ ॥ एषोऽग्निकल्पं दुर्वारं क्रुद्धस्यामिततेजसः ॥ विषं नागपतेर्हन्यात्प्रसभं वासुकेरपि ॥ २४ ॥ महासुगंधिनामाऽयं पंचाशीत्यंगयोजितः ॥ राजाऽगदानां सर्वेषां राज्ञो हस्ते भवेत्सदा ॥ २५ ॥ तेनानुलिप्तस्तु नृपो भवेत्सर्वजनप्रियः ॥ भ्राजिष्णुतां च लभते शक्रमध्यगतोपि सन् ॥२६॥

जिसके कंधे टूटगये हों, नेत्र फट गये हों, मृत्युके मुखमें प्रविष्ट होगया हो उस मनुष्यको भी वैद्य इस अगद श्रेष्ठसे फिर उभार सकता है ॥ २३ ॥ यह अग्निके तुल्य दुर्निवार्य, क्रोधयुक्त, अप्रमित, तेजस्वी नागोंके पति वासुकी जैसे सर्पोंके विषको नष्ट कर देवे ॥ २४ ॥ यह महासुगंधि नामक अगद पच्चासी ८५ औषधोंके योगसे बना है यह सब अगदयोगोंका राजा है, यह सदा राजाके हाथमें रहना चाहिये ॥२५॥ इसे राजा अनुलेपन करे तो सब मनुष्योंका प्यारा होवे और इंद्रादि देवताओंके बीचमें भी कांतिमान् मालूम होवे और शोभाको प्राप्त हो ॥२६॥

उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यो विषार्तानां विजानता ॥
मुक्त्वा कीटविषं तद्धि शीतेनाभिप्रवर्द्धते ॥ २७ ॥

जानका वैद्य विषपीडितोंके लिये उष्णतारहित (शीत) विधि करे परंतु कीटोंके विषमें शीतविधि नहीं करे क्योंकि यह कीटविष शीतसे बढता है ॥ २७ ॥

विषातुरके पथ्यापथ्य ।

अन्नपानविधावुक्तमुपधार्य शुभाशुभम् ॥ शुभं देयं विषार्तेभ्यो विरुद्धेभ्यश्च वारयेत् ॥ २८ ॥ फाणितं शिग्रुसौवीरमजीर्णाध्यशनं तथा ॥ वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम् ॥ २९ ॥ दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायामं क्रोधमातपम् ॥ सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः ॥ ३० ॥

अन्नपानविधिमें पहले सबके गुणागुण कह चुके हैं उनको अच्छा बुरा विचार कर विषार्तोंको जो हित हो वह देवे और विरुद्धसे बचावे ॥ २८ ॥ फाणित (राब), सोहँजना, कांजी और अजीर्णाध्यशन (भोजनपर भोजन) तथा नया धान्य इत्यादिसे वर्जित रक्खे ॥ २९ ॥ दिनका सोना, मैथुन, परिश्रम, क्रोध, धूप, मदिरा, तिल, कुलथी इन्हें भी विषपीडित मनुष्य त्याग देवे ॥ ३० ॥

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकांक्षं सममूत्रजिह्मम् ॥
प्रसन्नवर्णेंद्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥ ३१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जिसके वातादि दोष प्रसन्न हों अर्थात् ठीक हों और शरीरके सब धातु अपनी प्रकृतिके अनुकूल हों और भोजनमें वांछा हो, मूत्र और जिह्वा समान हों (इनमें फरक न हो), वर्ण और इंद्रिय सब प्रसन्न हों तथा चित्त और चेष्टा सब अच्छे हों तो उस मनुष्यको वैद्य विषरहित समझे और इनसे विपरीतको विषयुक्त जाने ॥ ३१ ॥

इति पण्डितमुरलीधरवि० सुश्रुतसं० भा० टी० कल्पस्थाने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ८.

अथातः कीटकल्पं व्याख्यास्यामः ।

यहांसे अगाडी अब हम कीटकल्प (अर्थात् अनेक प्रकारके कीडोंके विषकी क्रिया) का व्याख्यान करते हैं ।

सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यंडसंभवाः ॥ वाय्वग्न्यंबुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥ १ ॥ सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्ताश्चापरेणामतः ॥ कीटत्वेपि सुघोरास्ते सर्व एव चतुर्विधाः ॥ २ ॥

सर्पोंके शुक्र, विष्ठा, मूत्र, मृतशरीरके सडाव और अंडोंसे उत्पन्न हुए वायु, अग्नि और जलकी प्रकृतिवाले नाना प्रकारके कीडे होते हैं ॥ १ ॥ तथा सब दोषोंकी प्रकृतिवाले भी होते हैं (इनके सिवाय स्थावर विष-वृक्षादिजन्य तथा तीक्ष्णवस्तुसमुदायादिजन्य भी अनेक प्रकारके कृमि उत्पन्न होजाते हैं) जो कीडे होकर भी बडे घोर होते हैं ये कृमि सब चार प्रकारके होते हैं ॥ २ ॥

अठारह प्रकारके वायवीय कृमि ।

कुंभीनसस्तुंडिकेरी शृंगी शतकुलीरकः ॥ उच्चिटिंगोऽग्निनामा च

(श्लो० ३) कुंभीनसादीनां रूपभेदाश्च नानादेशीयलोकादवगंतव्याः यतः सुरसवीरनदिवराहजैजटगयदासादिभिः टीकाकारैर्न व्याख्याताः (इति डल्हनः) ।

च्चिटिंगो मयूरिका ॥ ३ ॥ आवर्त्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ ॥ शरावकुर्दोऽभीराजी परुषश्चित्रशीर्षकः ॥ ४ ॥ शतवाहुश्च यश्चापि रक्तराजिः प्रकीर्तितः ॥ अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः ॥ ५ ॥ तैर्भवंतीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः ॥ ६ ॥

कुंभीनस, तुंडिकेरी, शृंगी, शतकुलीर, उच्चिटिंग, अग्निनामा, चिच्चिटिंग, मयूरिका ॥३॥ आवर्तक, उरभ्र, सारिका, मुखवैदल, शरावकुर्द, अभीराजी परुष, चित्रशीर्ष ॥ ४ ॥ शतवाहु और रक्तराजी ये अठारह भांतिके कृमि वायुप्रकृतिवाले और वायुकोप करनेवाले कहे हैं इनके काटेसे वायुनिमित्तक रोग होते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

चौबीस प्रकारके आग्नेय कृमि ।

कौंडिल्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः ॥ विनासिका ब्रह्मणिका विंदुलो भ्रमरस्तथा ॥ ७ ॥ वाह्यकी पिच्चिटः कुंभी वर्चःकीटोऽरिमेदकः ॥ पद्मकीटो दुंदुभिको मकरः शतपादकः ॥ ८ ॥ पंचालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुंडोऽथ गर्दभी ॥ क्लीतः कृमिशरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकः स्मृतः ॥ ९ ॥ एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशाः प्रकीर्तिताः ॥ तैर्भवंतीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः ॥ १० ॥

कौंडिल्यक, कणभक, वरटी (वालूचींटी), पत्रवृश्चिक, विनासिका, ब्रह्मणिका, विंदुल, भ्रमर (भमरी) ॥७॥ वाह्यकी, पिच्चिट, कुंभी, वर्चःकीट, अरिमेदक, पद्मकीट दुंदुभी, मकर, शतपादक, पंचालक, पाकमत्स्य, कृष्णतुंड, गर्दभी, क्लीत, कृमिशरारी और उत्क्लेशक ॥ ८ ॥ ९ ॥ ये चौबीस भांतिके कृमि अग्निप्रकृति कहे हैं इनके काटेमे पित्तनिमित्तक (दाह ओपचोपादिक) व्याधियां होती हैं ॥ १० ॥

तेरह प्रकारके सौम्य (श्लैष्मिक) कृमि ।

विश्वंभरः पंचशुक्लः पंचकृष्णोथ कोकिलः ॥ सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिमस्तथा ॥ ११ ॥ सूचीमुखा कृष्णगोधा यश्च काषा-

(श्लो० ५) येषां कुंभीनसादीनां मध्ये शृंगीचिच्चिटिंगशरावकुर्दचित्रशीर्षकान्वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दश मुखसंदशविषाः (इति नि. स.) । (श्लो० ७) एषां कौंडिल्यकादीनां मध्ये कौंडिल्यकवरटीभ्रमरपिच्चिटवर्चःकीटमकरशतपादपंचालकपाकमत्स्यकृष्णतुंडान्विहाय शेषाश्चतुर्दश मुखसंदंशविषाः । (श्लो० ११) श्लेष्मप्रकोपिणां मध्ये विश्वंभरप्रचलककृष्णगोधाकषायवासिकांश्चतुरो वर्जयित्वा नवान्ये मुखसंदशविषाः (इति नि० सं०) ।

यवासिकः ॥ कीटगर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च ॥ १२ ॥ त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटाः श्लेष्मप्रकोपनाः ॥ तैर्भवंतीह दष्टानां रोगाः कफनिमित्तजाः ॥ १३ ॥

विश्वंभर, पंचशुक्ल, पंचकृष्ण, कोकिल, सैरेयक, प्रचलक, वलभ, किटिम, ॥ ॥ ११ ॥ सूचीमुख, कृष्णगोधा, काषायवासिक, कीटगर्दभ और त्रोटक ॥ १२ ॥ये तेरह कृमि सौम्य हैं और कफ कुपित करनेवाले हैं इनके काटनेसे कफनिमित्तक (कंडुज्वरादिक) व्याधियां होती हैं ॥ १३ ॥

बारह प्रकारके प्राणहर (सान्निपातिक) कृमि ।

तुंगीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा ॥ कोष्ठागारी कृमिकरो यश्च मंडलपुच्छकः ॥ १४ ॥ तुंगनाभः सर्षपिको वल्गुली शंबुकस्तथा ॥ अग्निकीटश्च घोराः स्युर्द्वादश प्राणनाशनाः ॥१५॥ तैर्भवंतीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् ॥ तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः ॥ १६ ॥

तुंगीनास, विचिलक, तालक, वाहक, कोष्ठागारी, कृमिकर, मंडलपुच्छक ॥ ॥ १४ ॥ तुंगनाभ, सर्षपिक, वल्गुली, शंबुक और अग्निकीट ये बारह घोर कीडे प्राणनाश करनेवाले होते हैं ॥ १५ ॥ इनके काटे हुएके वेग सर्पके समान होते हैं और वेही वेही तीव्र पीडा तथा सन्निपातके उपद्रव होते हैं ॥ १६ ॥

क्षाराग्निदाहवद्दंशो रक्तपीतासितारुणः ॥ ज्वरांगमर्दरोमांचवेदनाभिः समन्वितः ॥ १७ ॥ छर्द्यतीसारतृष्णाश्च दाहो मोहविजृंभिकाः ॥ वेपथुश्वासहिक्काश्च दाहः शीतं च दारुणम् ॥ १८ ॥ पिडकोपचयः शोफो ग्रंथयो मंडलानि च ॥ दद्रवः कर्णिकाश्चैव विसर्पाः किटिभानि च ॥ १९ ॥ तैर्भवंतीह दष्टानां यथास्वं चाप्युपद्रवाः ॥ येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूर्णं तेषां समादिशेत् ॥ २० ॥

क्षार (तेजाब) या अग्निसे जलेके समान इनके काटेकी जगह लाल, पीली, सुपेद तथा नारंजी रंगकी होजाती है, ज्वर और अंग टूटते हैं, रोम खडे होजाते- हैं ये वेदना होती हैं ॥ १७ ॥ वमन, अतिसार, तृषा, दाह, मोह (मूर्च्छा) और जँभाई, कांपना, श्वास, हिचकी और दाह या दारुण शीत होता है ॥ १८ ॥ फुन- सियां होजाती हैं, शोथ, ग्रंथि और चकदे, दाद, कर्णिका, विसर्प और किटिभ ये

सब उपद्रव होतेहैं ॥ १९ ॥ इनके काटेमें और यथादोष उपद्रव होजाते हैं इनके अतिरिक्त और जो विशेषकर (विषप्रकोप और उपद्रव होते हैं उन) के भेद भी सुनने और विचार करने चाहिये ॥ २० ॥

दूषीविषप्रकोपाच्च तथैव विषलेपनात् ॥ लिंगं तीक्ष्णविषेष्वेतत्-च्छृणु मंदविषेष्वतः ॥ २१ ॥ प्रसेकोऽरोचकश्छर्दिःशिरोगौरव-शीतताः ॥ पिडकाकोठकंडूनां जन्म दोषविभागतः ॥ २२ ॥

इन कीडोंके सिवाय दूषीविषके प्रकोपसे तथा विषके लेपनसे भी विषके उपद्रव होते हैं उनमें तीक्ष्ण विषसे जो उपद्रव होते हैं वे पूर्वके समान होतेहैं तथा मन्द विषसे जो लक्षण होतेहैं उन्हें सुनो ॥ २१ ॥ मुँहसे राल बहना, अरुचि, वमन, शिरका भारीपन, शीतता, फुन्सी, दाफड़ और खाज पैदा होना ये उपद्रव दोषोंके भेदसे होजाते हैं ॥ २२ ॥

(वक्तव्य) पूर्व जो जो कृमियोंकी जाति लिखी हैं उनमेंसे प्रायः बहुतसे अप्रसिद्ध और अप्राप्य हैं पहलेके समयमें वन, उद्यान अधिक थे और प्रायः लोग गह्वर वनों और दुर्गम पर्वतोंके स्थानोंमें रहतेथे वहां उनको पूर्वोक्त कृमि दीखते थे और उनके दंश आदिसे काम पडताथा अब गांव वस्तीके लोग केवल विच्छू भिड (भभरी), मच्छर, मकडी आदिहीको जानते हैं और इन्हींसे बहुधा काम पड़ता है। पूर्वोक्त कृमियोंमेंसे पांच सातकके कुछ लक्षण डल्हनमिश्रजीने अपनी टीकामें लाट्यायनोक्त लिखे हैं-देखो टिप्पणी ॥

गरके लक्षण।

योगैर्नानाविधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत् ॥
दूषीविषप्रकाराणां तथैवाप्यनुलेपनात् ॥ २३ ॥

(श्लो० २२) अथ लाटथायनोक्तः कीटाना सामान्यज्ञानोपायो लिख्यते-"कटुभिर्बिंदुलेखाभिः पक्षैः पादैर्मुखैर्नखैः ॥ शूकैः कटकलांगूलैः सश्लिष्टैः पक्षरोमभिः ॥ १ ॥ स्वनैः प्रमाणैः सस्थानैर्लिंगैश्चापि शरीरगैः ॥ विपवीर्यैश्च कीटानां रूपज्ञान विभाव्यते ॥२॥" तथा केचित् कीटा विशिष्टाकृतिवर्णादिभि-स्तदुक्ता एव लिख्यंते-"अजाप्रतिमरूपो यः शूकहीनस्त्वरोमशः ॥ सितः "गरकुलीर" स्तु क्ष्वेडचूर्णविपः स्मृतः ॥ ३ ॥ गिरिकाभो "महाकीटः" सपक्षो मार्जितोदरः ॥ खेचरो गुदशूकश्च "कौडिल्य" इति स स्मृतः ॥ ४ ॥ कुरुडः पुष्पवर्णाभः सपक्षो मार्जितोदरः॥ कुंडशूकविपः कीटः "कोष्ठागारी" ति संज्ञितः ॥ ५ ॥ लाक्षारुधिरवर्णाभः श्वेतबिंदुर्विचित्रितः ॥ क्षुद्रको ह्यग्निसकाशो भ्राजते निशि चाग्निवत् ॥ कीटः "खद्योत" इत्युक्तो दष्टस्तेनापि दह्यते ॥ ६ ॥ दष्ट्राविपः श्वेतबिंदुः सपक्षो हठदुखकः ॥ स तु वै "शबुको" नाम कालकः सप्तमंडलः ॥ ७ ॥ चतुष्पदो दीर्घपत्र उह्लाटो बहुप्रजः ॥ वृक्षालयो दंतविपः "कृकलास" इति स्मृतः ॥ चंद्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु "त्रिकंटकः" ॥ ८ ॥

इन्हीं विषजंतुवों आदिके चूर्णको नाना प्रकारके योगों (स्थावर विषादि) से मिलाते हैं उसेही गर (कृत्रिम विष) समझो तथा दूषीविषके प्रकारका अथवा लेपनका विष द्रव्य (भी गरसंज्ञक) होजाता है ॥ २३ ॥

एक जातिके कृमियोंके गण ।

एकजातीनतस्तूर्द्ध्वं कीटान्वक्ष्यामि भेदतः ॥
सामान्यतो दृष्टलिंगैः साध्यासाध्यक्रमेण च ॥ २४ ॥

यहांसे अगाडी अब हम एक एक जातिके कीटोंको भेदपूर्वक कहतेहैं और उनके काटे हुएके लक्षण और साध्यासाध्य सब क्रमसे कहते हैं ॥ २४ ॥

कणभके चार भेद ।

त्रिकंटकः कुणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः ॥ चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥ २५ ॥ तैर्दष्टस्य श्वयथुरंगमर्दो गुरुता गात्राणां दंशकृष्णश्च भवति ॥ २६ ॥

त्रिकंटक, कुणी, हस्तिकक्ष और अपराजित इस तरहसे कणभके ये चार भेद कहे हैं, यह तीक्ष्ण वेदना करनेवाले हैं ॥ २५ ॥ इनके काटेसे शोथ, अंगोंका टूटना, शरीरका भारी होना और दंशकी जगह काला पड़ना ये होते हैं ॥ २६ ॥

गौधेरक (गुहेरे) के पाँच भेद ।

प्रतिसूर्यः पिंगभासो बहुवर्णो महाशिराः ॥ तथा निरुपमश्चापि पंच गौधेरकाः स्मृताः ॥ २७ ॥ तैर्भवंति हि दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् ॥ रुजश्च विविधाकारा ग्रंथयश्च सुदारुणाः ॥ २८ ॥

प्रतिसूर्य, पिंगभास, बहुवर्ण, महाशिरा और निरुपम ऐसे पांच प्रकारके गौधेरका (गुहेरे) होते हैं ॥ २७ ॥ इनके काटनेसे सर्पके समान वेग होते हैं और नाना प्रकारकी व्याधियां और दारुण ग्रंथियां होजाती हैं ॥ २८ ॥

गोहके छः भेद ।

गलगोली श्वेतकृष्णा रक्तराजी रक्तमंडला सर्वश्वेता सर्षपिकेत्येवं षट् । ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्ज्यं दाहशोफक्लेदा भवंति । सर्षपिकायां हृदयपीडातिसारश्च ॥ २९ ॥

(श्लो० २४।२५) एकजातीनतस्तूर्ध्वमित्यादिभेदत इति–भेद वीक्ष्य चत्वारः कणभाः अत्र कणभत्वमेकजातित्वम्। (श्लो० २७) गौधेरकविषये चरको यथाह–'सर्पो गौधेरको नाम गोधाख्यः स्याच्चतुष्पदः॥ कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः ॥ १ ॥' इति । गौधेरकलक्षणं तंत्रांतरात् निबंधसंग्रहे डल्हनो यथाह–'कृष्णसर्पेण गोधायां भवेद्यस्तु चतुष्पदः ॥ सर्पो गौधेरको नाम तेन दष्टो न जीवति ॥१॥ (इति नि०सं०)

गलगोली, श्वेतकृष्णा (सुपेद कुछ स्याह), रक्तराजि (लाल धारीवाली), रक्तमंडला (लाल चकदों वाली), सर्वश्वेता (सब सुपेद) और सर्षपिका (जिस पर सरसोंकेसे दाने हों और सरसोंकासा रंग हो) ऐसे छः प्रकारकी गोह होती हैं जिनके काटेमें सर्षपिकाके सिवाय दाह, शोथ और क्लेदनता होती हैं और सर्षपिकाके काटेमें हृदयमें पीडा और अतीसार होता है ॥ २९ ॥

शतीपदी (कनखजूरा) के आठ भेद।

शतपद्यस्तु परुषा कृष्णा चित्रा कपिलिका पीतिका रक्ता श्वेता अग्निप्रभा इत्यष्टौ। ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये। श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च ३०॥

शतपदी (कनखजूरा) आठ प्रकारका होता है परुष, कृष्ण (काला), चितकबरा, कपिलरंगका, पीला, लाल, सुपेद और अग्निके वर्णका इनके काटेमें शोथ, पीडा और हृदयमें दाह होता है और सुपेद तथा अग्निवर्णकेमें दाह, मूर्च्छा और बहुतसी सुपेद फुन्सियोंकी उत्पत्ति ये लक्षण होते हैं ॥ ३० ॥

(वक्तव्य) यद्यपि इनका काटना भी होसकता है पर आजकल इनका पंजे गाडकर चिमटना प्रसिद्ध है जिसमें पूर्वोक्त सब वेदना होती हैं।

विषयुक्त मेंडकके आठ भेद।

मंडूकाः कृष्णः सारः कुहको हरितो रक्तो यववर्णाभो भृकुटी कोटिकश्चेत्यष्टौ। तैर्दष्टस्य दंशकंडूर्भवति पीतफेणागमश्च वक्त्रात्। भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥ ३१ ॥

मंडूक अर्थात् (मेंडक) आठ प्रकारके होते हैं जैसे–कृष्ण, सार, कुहक, हरित, रक्त, यववर्णाभ, भृकुटी और कोटिक इनके काटनेसे काटेकी जगह खाज होती है और मुहसे पीले झाग आते हैं यह तो सामान्य लक्षण हैं और भृकुटी तथा कोटिकके काटेमें पूर्वोक्त लक्षणोंसे विशेष दाह, छर्दि और अत्यंत मूर्च्छा येभी होतेहैं॥ ३१॥

(वक्तव्य) इनमेंसे कोटिकका काटा असाध्य होताहै डल्हनमिश्रने तंत्रांतरसे इसप्रकार लिखा है कि इसके काटेसे मृत्यु होतीहै इसका कोई यत्न नहीं-देखो टिप्पणी।

विश्वंभरादष्ट लक्षण।

विश्वंभराभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिश्चीयते शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति ॥ ३२ ॥

(वा० ३१) 'मडूको गोपतिस्तज्ज्ञैः कोटिकः परिकीर्तितः ॥ तेन दष्टस्य मरणं नहि तस्य प्रतिक्रिया ॥ १ ॥' (इति डल्हनः)।

विश्वंभरा नामक कृमिके काटनेसे काटेकी जगह सरसोंजैसी फुन्सियोंसे व्याप्त हो जाती है और मनुष्य शीतज्वरसे पीडित हो जाता है ॥ ३२ ॥

अहिंडुकादिदष्टलक्षण ।

अहिंडुकाभिर्दष्टे तोददाहकंडूश्वयथवो मोहश्च । कंडूमकाभिर्दष्टे पीतांगश्छर्द्यतीसारज्वरादिभिरभिहन्यते। शूकवृंतादिभिर्दष्टे कंडू-कोठाः प्रवर्द्धन्ते शूकं चात्र लक्ष्यते ॥ ३३ ॥

अहिंडुका कृमिके दंशसे पीडा दाह खाज शोथ और मोह होता है कंडूमकाके दंशसे शरीर पीला होजावे, वमन, अतिसार और ज्वरादि व्याधि होकर मनुष्य मरभी जाता है और शूकवृंतादि कृमियोंके काटनेसे खाज, दाफड बढते हैं और इनमें रूँवसे मालूम देते हैं ॥ ३३ ॥

पिपीलिकाके छः भेद और तद्दष्टलक्षण ।

पिपीलिकाः स्थूलशीर्षा संवाहिका ब्राह्मणिकांगुलिका कपिलिका चित्रवर्णेति षट्।ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः३४

पिपीलिका (चेंटी) स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अंगुलिका, कपिलिका और चित्रवर्णा ऐसे छः प्रकारकी होती हैं इनके काटनेसे काटनेकी जगह सोजा और अग्निके स्पर्शके समान दाह और शोथ होता है ॥ ३४ ॥

(वक्तव्य) इसमें श्वयथु और शोफ ये दोनों एकार्थवाची दो शब्द क्यों हैं ? इसका समाधान यह है कि श्वयथुसे दंशकी जगह सूजना अभिप्राय है और शोफसे अन्यत्र शरीरमेंभी शोथ और दाफड़ होजाते हैं उन्हें समझे और इनमें स्थूलशीर्ष मकोडेको कहते हैं तथा कपिलिका सुनहरी वालूकीडीको समझिये ॥

माक्षिकाके छः भेद और तद्दष्टलक्षण ।

मक्षिकाः कांतारिका कृष्णा पिंगलिका मधूलिका काषायी स्थालि-केत्येवं षट् । ताभिर्दष्टस्य दाहशोफौ भवतः । स्थालिकाकाषा-यीभ्यामेतदेव पिडकाश्च सोपद्रवा भवंति ॥ ३५ ॥

मक्षिका (मक्खी) कांतारिका, कृष्णा (काली मक्खी), पिंगलिका (सुन-हरी), मधूलिका (गेहूंके रंगकी), काषायी (भगवां रंगकी) और स्थालिका ऐसे छः प्रकारकी होती हैं इनके काटनेसे दाह और सोजा होता है और स्थालिका तथा काषायीसे उपद्रवयुक्त फुन्सी होती हैं ॥ ३५ ॥

(वक्तव्य) निर्विष घरोंकी मक्खियां इनसे जुदी हैं ।

(वा० ३४) अत्र श्वयथुकथनेन दंशस्थाने शोफो ज्ञेयः शोफेनांगशोफः अतो न द्विरुक्तिदोषः ।

मशकके पाँच भेद और तद्दष्टलक्षण।

मशकाः सामुद्रः परिमंडलो हस्तिमशकः कृष्णः पार्वतीयः इति पंच। तैर्दष्टस्य तीव्रकंडूर्दंशशोफश्च पार्वतीयैस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणैः नखावकृष्टेत्यर्थं पिडकाः सदाहपाका भवंति। जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं चिकित्सितं च॥ ३६॥ भवन्ति चात्र-

मशक (मच्छर) सामुद्र (समुद्रके मच्छर), परिमंडल (जो गोल बांधे रहते हैं), हस्तिमशक (बडे मोटे मच्छर अर्थात् डांस), कृष्ण (काले मच्छर) और पार्वतीय (पहाडी मच्छर) इस प्रकार ये पांच भांतिके होते हैं इनके काटनेसे विशेप खाज होती है, काटेकी जगह सूज जाती है और पार्वतीय मच्छर तो प्राणनाशक कृमियोंके समान लक्षणवाले होते हैं यदि उनके काटेको नखसे खुजा दिया जावे तो बहुत फुन्सी दाह और पाकवाली पैदा हो जाती हैं। जलौकाओं (जोखों) के काटेके लक्षण और चिकित्सा (तथा सविष निर्विषके भेद आदि) पहलेही कहे जा चुके हैं (देखो-सूत्रस्थानोक्त जलौकोवचारणीय अध्याय)॥ ३६॥ इस विषयमें श्लोक हैं-

असाध्य कृमि।

गौधेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसंप्रभे॥
भृकुटी कोटिकश्चैव न सिद्ध्यंत्येकजातिषु॥ ३७॥

गौधेरक (गुहेरा), स्थालिका (एक जातिकी मक्खी) तथा श्वेत और अग्निसंप्रभ (दो जातिकी शतपदी) और भृकुटी तथा कोटिक (ये दो जातिके मेंडक) इतने एक जाति कृमियोंमेंसे सिद्ध नहीं होते (अर्थात् इनका काटा हुआ असाध्य होता है)॥ ३७॥

शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्षणात्॥ स्युः कंडूदाहकोठारुःपिडकातोदवेदनाः॥ ३८॥ प्रक्लेदवांस्तथा स्रावो भृशं संपाचयेत्त्वचम्॥ दिग्धविद्धक्रियास्तत्र यथावदवचारयेत्॥ ३९॥ नावसन्नं न चोत्सन्नमतिसंरंभवेदनम्॥ दंशादौ विपरीतार्तिः कीटदष्टं सुबाधकम्॥ ४०॥

(श्लो० ३८) कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इंद्रायुधा सामुद्रिका गोचंदनाचेति सविषा जलौकसः। अवमर्षणात् मर्दनात्। अरुः क्षतम् (इति शब्दस्तोमः) (श्लो० ४०) सुबाधकं कृच्छ्रसाध्यम् (इति नि० सं०)

विषयुक्त इनके शव (मृत देह), मूत्र, विष्ठा ये शरीरस मले जावें तो खाज, दाह, कोठ (ददोडे) और क्षत, पिडका, तोद (चीस) और वेदना ये होते हैं ॥ ३८॥ तथा क्लेदवाला स्राव होता है, त्वचाको बहुत पका देता है इसमें दिग्धविद्ध (विष-लिपे शस्त्रके घाव) की क्रिया यथायोग्य करनी चाहिये ॥ ३९ ॥ और जो न तो नीचा हो (क्षत घाव चिह्नादि कुछ न हो) और न ऊँचा हो (अर्थात् शोथ, फुन्सी आदि कुछ न हो) और अत्यन्त कुपितकेसी पीडा हो और दंशके आरम्भमें विपरीत पीडा हो ऐसा कीडोंका दंश कष्टसाध्य होता है ॥ ४० ॥

कीटदष्टकी चिकित्सा ।

कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत्समुपाचरेत् ॥ त्रिविधानां तु सर्पाणां त्रैविध्येन क्रिया हिताः ॥ ४१ ॥ स्वेदमालेपनं सेकं चोष्णमत्रावचारयेत् ॥ अन्यत्र मूर्च्छितादंशात्पाकात्कोथप्रपीडितात् ॥ ४२ ॥ विषघ्नं च विधिं सर्वं कुर्यात्संशोधनानि च ॥ शिरीषं कटुकं कुष्ठं वचारजनिसैंधवैः ॥ ४३ ॥ क्षीरमज्जावसासर्पिःशुंठीपिप्पलिदारुषु ॥ उत्कारिकां स्थिरादौ वा सुकृतां स्वेदने हिताम् ॥४४॥

उग्र विषवाले कीडोंके काटनेमें सर्पके समान उपचार करने चाहिये जैसे तीन प्रकारके (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक) सर्पोंकी तीनही प्रकारसे क्रिया हित है (वैसेही कीडोंकी भी समझे) ॥ ४१ ॥ सामान्यतासे स्वेद और उष्ण लेपन तथा उष्णही सेचन करे परंतु दंश मूर्च्छित होगया हो, पक गया हो और सडकर पीडित हो ऐसी अवस्थामें स्वेद और उष्ण लेप, सेकादि नही करे ॥ ४२ ॥ और सब प्रकारकी विषघ्न विधि करे तथा वमन, रेचनसे शोधन करे (अथवा कोथ व्रणका शोधन करे) और शिरस तथा कटु कूट, वच, हलदी, सैंधानमक ॥४३॥ दूध, मज्जा, चरबी, घृत, सोंठ, पीपल, दारु (देवदारु) इनकी लूपरीसी बनाकर अथवा शालपर्णी आदिकी लूपरी बनाकर उससे स्वेदन करना हित है ॥ ४४ ॥

न स्वेदयेत्तथा दंशं धूमं वक्ष्यामि वृश्चिके ॥
अगदानेकजातीषु प्रवक्ष्यामि पृथक्पृथक् ॥ ४५ ॥

बिच्छूके काटेको स्वेदन दिलावे (सेंके) नहीं किंतु उसके लिये जो अगाडी कहेंगे वह धूनी देवे और एक जातिके कृमियोंके लिये जुदे जुदे अगद (औषध) भी अगाडी अब वर्णन करते हैं ॥ ४५ ॥

(श्लो० ४३) अत्र कटुकं कुष्ठस्य विशेषणम् ।

(श्लो० ४५) वृश्चिकदंशे स्वेदनिषेधस्तूग्रस्यविषवृश्चिकविषयः मंदवीर्यदंशे स्वेदस्योपयोगात् ।

कुष्ठं चक्रं वचा बिल्वमूलं पाठा सुवर्चिका ॥ गृहधूमं हरिद्रे द्वे त्रिकंटकविषे हिता ॥ ४६ ॥ अगारधूमरजनीचक्रं कुष्ठं पलाशजम् ॥ गलगोलिकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ४७ ॥ कुंकुमं तगरं शिग्रु पद्मकं रजनीद्वयम् ॥ अगदो जलपिष्टोऽयं शतपद्विषनाशनः ॥ ४८ ॥ मेषशृंगी वचा पाठा निचुलो रोहिणी जलम् ॥ सर्वमंडूकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ४९ ॥ वचाश्वगंधातिबला बला सातिगुहा गुहा ॥ विश्वंभराभिदष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ५० ॥ शिरीषं तगरं कुष्ठं हरिद्रे सुमती सहे ॥ अहिंडुकाभिर्दष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ५१ ॥

कूठ, चक्र (तगर), वच, बिल्वकी जड, पाठा, सुवर्चिका (सज्जी), घरका धुवाँ और दोनों हलदी ये त्रिकंटकके विषको (लेपन करनेसे) हित हैं ॥ ४६ ॥ घरका धूम, हलदी, तगर, कूट, ढाकके बीज यह अगद गलगोलीके काटेके विषको नष्ट करता है ॥ ४७ ॥ केसर, तगर, सोहँजना, पद्माख, दोनों हलदी इन्हे जलमें पीसे यह शतपदीके विषको नाश करता है ॥ ४८ ॥ मेढासिंगी, वच, पाठा, जलवेतस, हरडे, नेत्रवाला यह अगद सब विषैले मेंडकोंके काटेका विष नष्ट करता है ॥ ४९ ॥ वच, असगंध, कंघी, खरेंटी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी यह अगद विश्वंभराके काटेके विषको नाश करता है ॥ ५० ॥ शिरस, तगर, कूट, दोनों हलदी, शालपर्णी और सहा, पृश्निपर्णी यह अगद (औषधयोग) अहिंडुकाके काटे हुएके विषको नष्ट करता है ॥ ५१ ॥

कंडूमकाभिर्दष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः ॥ दिवा ते नैव सिध्यंति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥ ५२ ॥ चक्रं कुष्ठमपामार्गः शुकवृंतविषेऽगदः ॥ भृंगस्वरसपिष्टा वा कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५३॥ पिपीलिकाभिर्दष्टानां मक्षिकामशकैस्तथा ॥ गोमूत्रेण युतो लेपः कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५४॥ प्रतिसूर्यकदष्टानां सर्पदष्टवदाचरेत् ५५॥

कंडूमकाके काटे हुएपर रातको शीतक्रिया करनी हित हैं क्योंकि दिनमें सूर्यकी किरणोंकी गरमीसे ये सिद्ध नहीं होते ॥ ५२ ॥ तगर, कूट, ओंगा ये शुकवृंतके विषमें हित हैं अथवा भंगरेके रसमें बँवईकी मिट्टी लगाना ॥ ५३ ॥ चेंटी, मक्खी और मच्छर इनके काटेपर गोमूत्रमें भिगोकर बँवईकी काली मिट्टीका लेप

करना श्रेष्ठ है ॥ ५४ ॥ और प्रतिसूर्यक नाम कृमिके काटे हुएका सर्पके समान उपचार करे ॥ ५५ ॥

बिच्छुओंके भेद ।

त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मंदमध्यमहाविषाः ॥ गोशकृत्कोथजा मंदा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः ॥ सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसंभवाः ॥ ५६॥ मंदा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पंचदशोत्तमाः ॥ दशविंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः ॥ ५७ ॥

बिच्छू तीन भांतिके होते हैं मंदविष, मध्यविष और महाविषवाले इनमेंसे गौ, भैंस आदिके गोबर और मूत्रादिसे उत्पन्न मंद विषवाले होते हैं और काठ, ईंट इत्यादिमें (कुछ गोबर आदि, कुछ सर्पके मल, मूत्र, अंडा आदिके मेलसे) पैदा होनेवाले मध्यविष होते हैं और सर्पोंके कोथ (सडे हुए देह) से जो पैदा होवें तथा अन्य प्रकारके विषसे जो उत्पन्न होवें वे तीक्ष्ण विषवाले होते हैं ॥ ५६ ॥ इनमेंसे मंद विषवाले १२ प्रकारके होते हैं और मध्य विषवाले तीन प्रकारके तथा उग्र विषवाले १५ प्रकारके होते हैं इस भांति सब बिच्छू तीस प्रकारके कहे हैं ॥ ५७ ॥

मंदविष बिच्छुओंके भेद और तद्दष्टोपद्रव ।

कृष्णः श्यावः कर्बुरः पांडुवर्णो गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च ॥ श्वेतो रक्तो रोमशः शाद्वलाभो रक्तश्चैते मंदवीर्या मतास्तु ॥५८॥ एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च गात्रस्तंभः कृष्णरक्तागमश्च ॥ शाखादष्टे वेदनाश्चोर्ध्वमेति दाहस्वेदौ दंशशोफो ज्वरश्च ॥ ५९ ॥

कृष्ण (काला), श्याव (नीला), कबरा, पांडुर, गोमूत्रके रंगका, कर्कश, मेचक (बहुत काला), सुपेद, लाल, रोमवाला, नवीन घासके रंगका और अरक्त (गुलाबीसा) ऐसे ये बारह भांतिके बिच्छू मंदवीर्य कहे हैं ॥ ५८ ॥ इनकेभी काटनेसे वेदना, कंप, गात्रका स्तंभ और काला रक्त निकलता है तथा हाथ, पैरमें काटनेसे भी वेदना ऊपरको चढती है, दाह, पसीना, डंककी जगह सोजा और ज्वरभी होजाता है ॥ ५९ ॥

(श्लो० ५६) गोशकृदित्यत्र गोमहिष्यादिशकृन्मूत्रकोथजा मंदा (इति नि० सं०) मध्यास्तु सर्पमूत्रोच्चारादिसभवत्वमित्युभय हेतूपादानात् व्यस्तसमस्तोभयहेतूद्भवत्व मध्यानां बोद्धव्य मतांतरेण दिग्धविद्धसर्पदष्टाना च शरीरकोथे मध्यानां जन्म प्रतिपादितम् (इति नि० सं०) (श्लो० ५८) शाद्वलं तृणांकुरं तदाभः। अरक्तः किंचिद्रक्तः ।

मध्यविष बिच्छूकी आकृति और लक्षण ।

रक्तः पीतः कापिलेनोदरेण सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः ॥
एते मूत्रोच्चारपूत्यंडजाता मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम् ॥ ६० ॥
यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपाञ्च कुर्यात् ॥ जिह्वा-
शोफो भोजनस्यावरोधो मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे ॥ ६१ ॥

लाल, पीला और कपिल (सुनहरा) ये तीनों पेटमेंसे धूम्र वर्णके होतेहैं और इनके देहमें तीन पर्व (विभाग) होते हैं, ये तीनों प्रकारके सर्पोंके मूत्र, मल और सडे हुए अंडोंके मेलसे पैदा हुए जानने चाहिये ॥ ६० ॥ तीन प्रकारके(दर्वीकर, मंडली और राजिमंत) सर्पोंमेंसे जिसके अंशसे जो पैदा हुआ होता है उसीके अनुसार दोषोंकी उत्पत्ति करता है, जिह्वामें सोजा, भोजनमें अवरोध और उग्र मूर्च्छा ये लक्षण मध्यवीर्य बिच्छूके काटेमें होते हैं ॥ ६१ ॥

तीक्ष्ण विष बिच्छूकी आकृति लक्षणादि ।

श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो रक्तश्वेतो रक्तनीलोदरौ च ॥
पीतो रक्तो नीलपीतोऽपरस्तु रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च ॥
॥ ६२ ॥ रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च
यस्य ॥ नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राण-
चौराः ॥६३॥ जन्मैतेषां सर्पकोथात्प्रदिष्टं देहेभ्यो वा घातितानां
विषेण ॥ एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः स्फोटोत्पत्तिर्भ्रांतिदाहौ
ज्वरश्च ॥ खेभ्यः कृष्णः शोणितं चापि तीव्रं तस्मात्प्राणै
स्त्यज्यते शीघ्रमेव ॥ ६४ ॥

सुपेद, चित्रित, श्याम, रुधिरके वर्णका, लाल सुपेद मिला हुआ, रक्तोदर, नीलोदर, पीतरक्त, नीलपीत, और रक्तनील, नीलशुक्ल ॥ ६२ ॥ रक्तबभ्रु और एकपर्व, अपर्व और द्विपर्व ऐसे ये पंद्रह भांतिके नाना प्रकारके रूप और रंगवाले घोर बिच्छू प्राणोंके नष्ट करनेवाले जानने चाहिये ॥ ६३ ॥ इनकी उत्पत्ति सर्पोंके कोथसे या तीक्ष्ण विषसे मरे हुएके देहसे (एवं तीक्ष्ण विषकोथोंसे) होती है, इनके काटेसे सर्पके तुल्य वेग होते हैं, शरीर पर फोडे पैदा हो जावें, भ्रम, दाह और ज्वर होवे

(श्लो० ६०) मंदमध्यमहाविषवृश्चिकानामुत्पत्ती वृद्धवाग्भट इत्याह—ते गवादिशकृत्कोथाद्दिग्धदष्टादिकोथतः सर्पकोथाच्च संभूता मंदमध्यमहाविषाः इति । ते यथासंख्य मंदमध्यमहाविषा ज्ञेयाः । रक्त इत्यादि कापिलेन सह रक्तः पीतश्चेति त्रयः सर्वैते उदरेण धूम्रास्त्रिभिरेव पर्वभिस्स्युरित्यन्वयः ।

तथा स्रोतों (मुख, गुदादि) से तीव्र काला रुधिर निकले जिसके साथ शीघ्रही प्राण निकल जाते हैं ॥ ६४ ॥

विच्छूके काटेके यत्न ।

उग्रमध्यविषैर्दष्टं चिकित्सेत्सर्पदष्टवत् ॥ दंशं मंदविषाणां तु चक्रतैलेन सेचयेत् ॥ ६५ ॥ विदार्यादिसुसिद्धेन सुखोष्णेनाथवा पुनः ॥ कुर्याच्चोत्कारिकास्वेदं विषघ्नैरुपनाहनैः ॥ ६६ ॥ आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छितं प्रतिसारयेत् ॥ रजनीसैंधवव्योषशिरीषफल पुष्पजैः ॥ ६७ ॥ मातुलुंगाम्लगोमूत्रैपिष्टं च सुरसाग्रजम् ॥ लेपे स्वेदे सुखोष्णं च गोमयं हितमिष्यते ॥ ६८ ॥

उग्र विषवाले तथा मध्य विषवाले विच्छुवोंके काटेहुएकी चिकित्सा सर्पके काटे हुएके समान करे और मंदविषवालोंके काटे हुएके डंककी जगह चक्रतैलसे सेचन करना चाहिये ॥ ६५ ॥ अथवा विदार्य्यादिसे सिद्ध किये निवाये तेलका सेक करे तथा विषनाशक द्रव्योंकी उत्कारिका (लुपरी) से उपनाहन स्वेद करावे ॥ ६६ ॥ दंशके आसपास स्वेदित कराकर, पछने लगाके (खोदके), हलदी, सैंधा-नमक, त्रिकटु, शिरसके बीज और फूल इन्हें पीसकर रगडदे (लगादे) ॥ ६७ ॥ अथवा नींबूके रसमें या गोमूत्रमें तुलसीदल पीसकर लेप करदे तथा गोवर निवाया करके बांध दे और इससे स्वेदित करे ॥ ६८ ॥

पाने क्षौद्रयुतं सर्पिः क्षीरं वा बहुशर्करम् ॥ गुडोदकं वा सुहिमं चातुर्जातकवासितम् ॥ ६९ ॥ पानमस्मै प्रदातव्यं क्षीरं वा सगुडं हिमम् ॥ शिखिकुक्कुटबर्हाणि सैंधवं तैलसर्पिषी ॥ ७० ॥ धूमो हंति प्रयुक्तोऽयं शीघ्रं वृश्चिकजं विषम् ॥ कुसुंभपुष्पं रजनी निशा वा कोद्रवं तृणम् ॥ ७१ ॥ एभिर्घृताक्तैः धूपस्तु पायुदेशे प्रयोजितः ॥ नाशयेदाशु कीटोत्थं वृश्चिकस्य च यद्विषम् ॥ ७२ ॥

पीनेके लिये शहत मिलाकर घृत देवे अथवा बहुतसी खांड डालके दूध देवे अथवा गुडका पानी ठंढा चातुर्जात (तज, पत्रज, इलायची, नागकेशर) से सुगं-धित किया हुआ देवे ॥ ६९ ॥ अथवा ठंढे दूधमें गुड मिलाकर पिलावे और मोर,

मुर्गा इनके पंख, सेंधानमक, तैल, घृत इनकी धूनी देवे यह धूम शीघ्र बिच्छूके विषको दूर करता है अथवा कसूँभेके फूल (कसूँभा), हलदी, दूसरी हलदी और कोदोंके तृण इन्हें घृतमें मिलाकर इनकी धूनी गुदापर देवे इससे कीडोंका विष तथा बिच्छूका विष शीघ्र दूर होजाता है ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

(वक्तव्य) अपामार्गकी जड बिच्छूके काटेपर पानीमें घिसकर लगानेसे तत्काल फायदा होताहै तथा श्वेत पुनर्नवाकी जडभी इसी प्रकार लगाना हित है ये अनुभव किये हुए योग हैं बल्कि यहांतक इनका प्रभाव है कि अल्प विषवाले बिच्छूके डंकको उक्त जडोंका ठीक २ स्पर्शही होजावे तो वह बिच्छूही निर्विष होजाता है ।

लूताविषका वर्णन ।

लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमं तु तत् ॥ दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः ॥ ७३ ॥ सविषं निर्विषं चैतदित्येवं परिशंकिते ॥ विषघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौषधम् ॥ ७४ ॥ अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य युज्यते ॥ निर्विषे मानवे युक्तोऽगदः संपद्यतेऽसुखम् ॥ ७५ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः ॥ अज्ञात्वा विषसद्भावं भिषग्व्यापादयेन्नरम् ॥७६॥

लूता (अर्थात् मकडियोंका विष) बडा घोर होता है और कठिनतासे जाना जाता है और मंद बुद्धिवाले वैद्योंसे कठिनतासे चिकित्साके योग्य होता है॥७३॥ यह विषयुक्त है अथवा निर्विष है यही शंका रहती है इससे ऐसी विषनाशक क्रिया करनी चाहिये जो विषके न होनेपरभी विरुद्ध न हो ॥ ७४ ॥ क्योंकि अगद (विषनाशक) औषधोंका उपयोग विषयुक्त मनुष्योंके नियुक्त करना चाहिये यदि विषरहित मनुष्योंको अगद (उस औषध) का उपयोग कराया जावे तो उससे असुख अर्थात् दुःख होता है ॥ ७५ ॥ इस कारण सब प्रकारसे विषका निश्चय करना चाहिये क्योंकि विषके होने न होनेको न जाननेवाला वैद्य मनुष्योंकी मृत्यु कर देता है ॥ ७६ ॥

प्रोद्भिद्यमानस्तु यथांकुरेण न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः ॥ तद्वद्दुरालक्ष्यतमं हि तासां विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥७७॥

जैसे अंकुर फूटतेही वृक्ष प्रगट जातिवाला नहीं विदित होता (अर्थात् यह काहेका वृक्ष है ऐसा नहीं जाना जाता) इसी भांति इनका विषभी शरीरमें प्रविष्ट

हुआ मात्रही कठिनाईसे जाना जा सकता है अर्थात् देहमें विकीर्ण हो तेही नहीं जाना जा सकता ॥ ७७ ॥

लूताविषका प्राकट्य ।

ईषच्च कण्डूप्रचलं सकोठमव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात् ॥ अंतेषु शूनं परिनिम्नमध्यं प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये ॥ ७८ ॥ त्र्यहेण तद्दर्शयतीह दंशं विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति ॥ अतोऽधिकेऽन्हि प्रकरोति जंतोर्विषप्रकोपप्रभवान्विकारान् ॥ ७९ ॥ षष्ठे दिने विप्रसृतं च सर्वान्मर्मप्रदेशान्भृशमावृणोति ॥ तत्सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम् ॥ ८० ॥

इन लूताओंका विष पहले दिन ऐसा रहता है कि कुछ खाज आवे, थोडा झनमनाटसा होवे, कुछ दाफडसे होवें पर इसका रंग, रूप ठीक २ प्रगट नहीं होता है फिर दूसरे दिन जडोंमें सोजा और बीचमें निचाई ऐसे ददोडेसे प्रगट होते हैं ॥ ७८ ॥ तीसरे दिन दंश दीखने लगता है और चौथे दिन विष कोपको प्राप्त होता है इसके अगले (पांचवें) दिन प्राणीके विषकोपजन्य विकार (ज्वरादि) कर देता है ॥ ७९ ॥ फिर छठे दिन फैले हुए सब मर्मस्थानोंको आच्छादन कर लेता है और सातवें दिन बहुत बढकर सब शरीरमें व्याप्त होकर मनुष्यको मार देता है ॥ ८० ॥

लूताविषकी अवधि ।

यास्तीक्ष्णचंडोग्रविषा हि लूतास्ताः सप्तरात्रेण विनाशयंति ॥ अतोधिकेनापि निहन्युरन्या यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम् ॥ ८१ ॥ यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं ताः पक्षमात्रेण विनाशयंति ॥ तस्मात्प्रयत्नं भिषगत्र कुर्यादादंशपाताद्विषघातियोगैः ॥ ८२ ॥

जो लूता तीक्ष्ण, प्रचंड और उग्र विषवाली हैं वे तो मनुष्यको सातही दिनमें मार देती हैं और जिनका विष मध्यवीर्यवाला कहागया है वे इससे जादा (आठ,

---

(श्लो० ७८ से ८०) 'दिनार्द्धे लक्ष्यते नैव दंशो लूताविषोद्भवः ॥ सूचीव्यध इवाभाति ततोसौ प्रथमेहनि ॥ १ ॥ अव्यक्तवर्णः प्रचलः किंचित्कण्डूरुजान्वितः ॥ द्वितीयेऽभ्युन्नतोंतेषु पिटकैरिव चाचितः ॥ ॥ २ ॥ व्यक्तवर्णस्ततो मध्ये कंडूमान्ग्रंथिसन्निभः ॥ तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमंडलः ॥ ३ ॥ शरावरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सास्रवः ॥ महांश्चतुर्थे श्वयथुस्तापश्वासभ्रमप्रदः ॥ ४ ॥ विकारान्कुरुते तांस्तान्पंचमे विषकोपजान् ॥ षष्ठे व्याप्नोति रोमाणि सप्तमे हंति जीवितम् ॥ ५ ॥ (इति वृद्धवा० भ०)

नौ और ग्यारह) दिनमें मार देती हैं ॥ ८१ ॥ और जिनका विष कनिष्ठ अर्थात् मंद कहा है वे (विना यथार्थ यत्न हुए) पंद्रह दिनमें मृत्यु करदेती हैं इस कारणसे वैद्य जबसे दंशपात हुआ हो (विष शरीरमें पहुँचा हो तभीसे विषनाशक योगोंसे प्रयत्न करे ॥ ८२ ॥

सात प्रकारका लूताविष ।

विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण ॥
सप्तप्रकारं विसृजंति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्यमुक्तम् ॥८३॥

ये लूता (मकडियां) सात प्रकारसे विष पैदा करती और छोडती हैं यथा रालसे, नखसे, मूत्रसे, डाढसे, रजसे, विष्ठासे तथा इंद्रिय (वीर्य) से अर्थात् इनके राल (चेप), नख, मूत्र, विष्ठा आदि सबमें विष होता है वह विष उग्र मध्य और अवर (मंद) ऐसे तीन प्रकारका होता है ॥ ८३ ॥

सात प्रकारके विषदंशके लक्षण ।

सकंडुकोठं स्थिरमल्पमूलं लालाकृतं मंदरुजं वदंति ॥ शोफश्च कंडूश्च पुलानिका च धूमायनं चैव नखाग्रदंशे ॥ ८४ ॥ दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम् ॥ दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं विवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमंडलं च ॥ ८५ ॥ रजःपुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि स्फोटं विपक्वामलपीलुपांडुम् ॥ ८६ ॥

जो मकडीकी राल (या चेप) का विष चढता है उसमें खाज आती है, ददौडे पड जाते हैं, उनकी जड़ स्थिर और अल्प होती है और पीडा उसमें कम होती है और पंजेके नख (अर्थात् नौक) के लगजानेसे जो विष होता है उसमें सूजन, खाज और ऊँचे २ दाफड तथा धुवाँसा निकलना ये लक्षण कहतेहैं ॥ ॥ ८४ ॥ मूत्र लगजानेसे जो दंश होता है वह बीचसे काला और किनारोंपरसे लाल और विदीर्ण होजाता है तथा जिसके ये लूता काट खाती हैं उनके डाढका विष उग्र होता है, दंशकी जगह कडी विवर्णकी होती है एवं स्थिर चकदे होजाते हैं ॥८५॥ रज, बीट और शुक्र इनसे जो विष चढता है उससे पके हुए आंवले अथवा पीलूके समान पांडुवर्णका फोड़ा होजाता है ॥ ८६ ॥

(श्लो० ८४) पुलानिका उच्चकर्णिका । धूमायनं धूमदर्शनमिव । (श्लो० ८५) दीर्णं विदीर्णम् । (श्लो० ८६) रजः आर्तवम् इंद्रियज शुक्रम् (इति नि० सं०) अर्द्धमेतत्पद्यम् ।

एतावदेतत्समुदाहृतं तु वक्ष्यामि लूताप्रभवं पुराणम् ॥ सामान्यतो दंष्टमसाध्यसाध्यं चिकित्सितं चापि यथाविशेषम् ॥८७॥

इतना इनके विषका वर्णन किया, अगाड़ी इनकी आरंभसे उत्पत्ति और सामान्यतासे दंश और उनकी साध्यता, असाध्यता, चिकित्सा और यथाविशेष कुछ इन लूताओंके लक्षण, भेदभी वर्णन करेंगे ॥ ८७ ॥

लूताओंकी उत्पत्ति ।

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृषिसत्तमम् ॥ वशिष्ठं कोपयामास गत्वाश्रमपदं किल ॥ ८८ ॥ कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात्स्वेदबिंदवः ॥ अपतन्दर्शनादेवमधस्तात्तीक्ष्णवर्चसः ॥ ८९ ॥ लूने तृणे महर्षीणां धेन्वर्थं संभृतेऽपि च ॥ ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः ॥ ९० ॥ अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधनवाहने ॥ यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिंदवः ॥ ९१ ॥ तस्माल्लूतेति भाष्यंते संख्यया ताश्च षोडश ॥ कृच्छ्रसाध्यास्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधाः स्मृताः ॥ ९२ ॥ तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु ॥ ९३ ॥

किसी समय राजाओंमें श्रेष्ठ (राजर्षि) विश्वामित्रजीने ऋषियोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वशिष्ठजीके आश्रममें जाकर उन्हे क्रोधित किया ॥ ८८ ॥ तब कुपित हुए वशिष्ठ मुनिके मस्तकसे उग्र तेजवाली पसीनेकी बिंदु नीचे गिरीं ॥ ८९ ॥ महर्षियोंकी गौओंके लिये जो कटा हुआ तृण संचित था वह इन बिंदुओंसे भस्म होने लगा उससे अनेक रूपवाली महाविषैली घोर ये लूता (मकडियां) उत्पन्न हुई ॥९०॥ और राजाओंके साधन (सामान) और वाहन (सवारी आदि) के अपकार करनेके लिये वे लूता प्रवृत्त हुई जो कि लून तृणमें ये वसिष्ठ मुनिके पसीनेकी बिंदु (लूतारूप) प्राप्त हुए इससे इन्हें लूता कहने लगे ये संख्यामें सोलह प्रकारकी हैं ये सब लूता दो प्रकारकी होती हैं कष्टसाध्य और असाध्य ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ इनमेंसे आठ कष्टसाध्य हैं और आठ त्यागने योग्य (असाध्य) हैं ॥ ९३ ॥

साध्य लूताओंके भेद और तद्दृष्टोपद्रव ।

त्रिमंडला तथा श्वेता कपिला पीतिका तथा ॥ आलसूत्रविषा

(श्लो० ८७) पुराणं लूताप्रभवम् आद्युत्पत्तिकारणम् एतत्तु सामान्यतो वक्ष्यामि चिकित्सितं च यथाविशेषं विशेषानतिक्रमेण चकाराल्लक्षणमपि विशेषानतिक्रमेण वक्ष्यामीति सम्बन्धः (इति नि० सं०)

रक्ता कसना चाष्टमी स्मृता ॥ ९४ ॥ ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं कंडूर्दंशे च वेदना ॥ भवंति च विशेषेण गदाः श्लैष्मिकवातिकाः ॥ ९५ ॥

त्रिमंडला (तीन घेरेवाली), सुपंद, कपिल रंगकी तथा पीली, आलविषा, मूत्रविषा, रक्ता और आठवीं कसना ॥९४॥ इनके विषदंशसे शिरमें दर्द, दंशकी जगह खाज और पीडा होवे तथा विशेष करके कफ, वायुके विकार होते हैं ॥ ९५ ॥

असाध्य लूताओंके भेद और तद्दष्टोपद्रव ।

सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येणपदी तथा ॥ कृष्णाऽग्निवर्णा काकांडा मालागुणाष्टमी स्मृता ॥ ९६ ॥ ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ॥ ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥ ९७ ॥ पिडका विविधाकारा मंडलानि महांति च ॥ शोफो महांतो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ ९८ ॥

सौवर्णिक (सुनहरी), लाजवर्ण (धानकी खील जैसी), जालिनी, एणपदी (हिरनके खुर जैसी), काली, अग्निवर्णा, काकांडा (काकके अंडेसी) और आठवीं मालागुणा ॥ ९६ ॥ इनके दंशसे दंशस्थानका सडना और रुधिरकी प्रवृत्ति, ज्वर, दाह, अतिसार और त्रिदोषके रोग ॥ ९७ ॥ तथा कई प्रकारकी फुन्सी और बडे २ चकत्ते तथा फैले हुए, कोमल, रक्त और काले शोथ शरीरपर कई जगह होजावें ॥ ९८ ॥

सामान्यं सर्वलूतानामेतद्दंशलक्षणम् ॥
विशेषलक्षणं तासां वक्ष्यामि सचिकित्सितम् ॥ ९९ ॥

सब लूताओंके दंशसे आदि लेकर लक्षण सामान्यतासे इस प्रकार होते हैं (सो वर्णन किये गये) और इनके विशेष लक्षण (जुदे जुदे) चिकित्सा सहित अब अगाडी वर्णन करते हैं ॥ ९९ ॥

लूताओंके पृथक् २ दंशके लक्षण और यत्न ।

त्रिमंडलाके दंशके लक्षण और यत्न ।

त्रिमंडलाया दंशोऽसृक् कृष्णं स्रवति दीर्यते ॥ बाधिर्यं कलुषा दृष्टिस्तथा दाहश्च नेत्रयोः ॥ १०० ॥ तत्रार्कमूलं रजनी नाकुली पृश्निपर्णिका ॥ नस्यकर्मणि शस्यंते पानाभ्यंगांजनेषु च ॥ १०१ ॥

"त्रिमंडला" लूताके दंशसे काला रुधिर झिरता है और दंशस्थान फट जाता है, बधिरता और दृष्टि बिगडी हुई होजाती है और नेत्रोंमें दाह होता है ॥ १०० ॥ इसमें आकको जड, हलदी, नाकुली और पृश्निपर्णी इनका नस्य देना और पिलाना मलना तथा अंजन करना श्रेष्ठ है ॥ १०१ ॥

श्वेताके दंशके लक्षण और यत्न ।

श्वेतायाः पिंडका दंशे श्वेता कंडूमती भवेत् ॥ दाहमूर्च्छाज्वरवती विसर्पक्लेदरुक्करी ॥१०२॥ तत्र चंदनरास्नैलाहरेणुनलवंजुलाः॥ कुष्ठं लामज्जकं चक्रं नलदं चागदो हितः ॥ १०३ ॥

"श्वेता" मकडीके विषसे दंशमें सुपेद, खाज युक्त फुन्सी होजाती हैं जिसमें दाह, मूर्च्छा और ज्वर भी हो जाते हैं और यह विसर्प और क्लेद तथा पीडा करनेवाली होती है ॥ १०२ ॥ इसमें चंदन, रास्ना, इलायची, हरेणु, नरसल, जलवेतस, कूठ, लामज्जक (सुगंधि तृण अर्थात् अजखर), चक्र (तगर), नलद (खस) इनका उपयोग हित है ॥ १०३ ॥

कपिलाके दंशके लक्षण और यत्न ।

आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत् ॥ शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च ॥ १०४ ॥ तत्र पद्मककुष्ठैलाकरंजककुभत्वचः ॥ स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वा ब्राह्मी विषापहाः ॥ १०५ ॥

"कपिला" मकडीके दंशसे आस पास ताम्रवर्ण स्थिर फुन्सी हो जाती हैं, शिरमें भारीपन, दाह और आँखों अगाडी अँधेरी आती है और भ्रम हो जाता है॥ १०४॥ इसमें पद्माख, कूट, इलायची, करंज, कुहेकी छाल, शालपर्णी, अर्कपर्णी, ओंगा, दूब और ब्राह्मी ये विषको नष्ट करदेती हैं ॥ १०५ ॥

पीतिकाके दंशके लक्षण और यत्न ।

आदंशे पीतिकायास्तु पिंडका जायते स्थिरा ॥ तथा छर्दिर्ज्वरः शूलं रक्ते स्यातां च लोचने ॥ १०६ ॥ तत्रेष्टाः कुटजोशीरतुंगपद्मकवञ्जुलाः ॥ शिरीषकिणिहीशेलुकदंबककुभत्वचः ॥ १०७ ॥

"पीतिका" के विषसे दंशके आस पास स्थिर फुन्सी हो जाती हैं और वमन, ज्वर तथा शूल होता है, दोनों नेत्र लाल हो जाते हैं ॥ १०६ ॥ इसके विषके लिये कुडा, खस, तुंग (पुन्नाग), पद्माख, जलवेतस, शिरस, किणही, शेलु (लहेसुवा), कदंब और कुहेकी छाल ये श्रेष्ठ हैं ॥ १०७ ॥

आलविषाके दंशके लक्षण और यत्न ।

रक्तमंडलनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव ॥ जायंते तालुशोषश्च दाहश्चालविषान्विते ॥ १०८ ॥ तत्र प्रियंगुह्रीवेरं कुष्ठलामज्जवञ्जुलाः॥ अगदः शतपुष्पा च सपिप्पलवटांकुरा ॥ १०९ ॥

"आलविष" लूताके विषयुक्त दंशके स्थानमें रक्तमंड जैसी रंगत हो जाती है और सरसों जैसी फुन्सियां होती हैं, तालुमें खुश्की और दाह होता है ॥१०८॥ इसमें प्रियंगु, नेत्रवाला, कूट, लामज्जक तृण, जलवेतस, सोया, पीपल और बडकी कोंपल यह अगद हित होता है ॥ १०९ ॥

मूत्रविषाके दंशके लक्षण और यत्न ।

पूतिमूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः ॥ कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः ॥११०॥ मनःशिलालमधुककुष्ठचंदनपद्मकैः ॥ मधुमिश्रैः सलामज्जैरगदस्तत्र कीर्तितः ॥ १११ ॥

"मूत्रविषा" लूताके दंशसे विसर्प, काला रक्त निकलना, सडजाना, कास, श्वास, वमन, मूर्च्छा, ज्वर, दाह ये उपद्रव होते हैं ॥ ११० ॥ इसमें (शुद्ध और सिद्ध की हुई) मैनसिल और हरताल तथा मुलेठी, कूट, चंदन, पद्माख, लामज्जक इनको शहतमें मिलाकर उपयोग करना श्रेष्ठ कहा है ॥ १११ ॥

रक्तलूताके दंशके लक्षण और यत्न ।

दंशश्च पांडुपिडको दाहक्लेदसमान्वितः ॥ रक्ताया रक्तपर्यंतो विज्ञेयो रक्तसंयुतः ॥ ११२ ॥ कार्यस्तत्रागदस्तोयचंदनोशीरपद्मकैः॥ तथैवार्जुनशेलुभ्यां त्वग्भिराम्रातकस्य च ॥ ११३ ॥

"रक्तलूता" का दंश पीली फुन्सियोंसे युक्त दाह और क्लेदसहित होता है और किनारे लाल होते हैं और रक्तसंयुक्त होता है ॥ ११२ ॥ इसमें नेत्रवाला, चंदन, खस, पद्माख, अर्जुन, शेलु तथा आमडेकी छाल इनसे यत्न करे ॥ ११३ ॥

कसनाके दंशके लक्षण और यत्न ।

पिच्छलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत् ॥
कासश्वासौ च तत्रोक्तं रक्तलूताचिकित्सितम् ॥ ११४ ॥

"कसना" नामक लूताके दंशसे शीतल और गाढा रुधिर झिरता है, खांसी, श्वास ये भी होजाते हैं इसमें पूर्वोक्त रक्तलूताकी विधि करे ॥ ११४ ॥

(वक्तव्य) इन योगोंमें यह नहीं कहा कि इन औषधोंका किस प्रकार उप-

योग करे इसका समाधान यह है कि सबसे प्रथम त्रिमंडलाके यत्नमें लिख चुके हैं कि नस्य, पान, अभ्यंग (लेप) तथा अंजन करे बस इसीसे वैद्य जहां जिस प्रकार उचित हो वहाँ उस प्रकार नस्यादि योगोंको उपयुक्त करे ॥

असाध्य लूताओंके यत्न ।

कृष्णलूता ।

पुरीषगंधिरल्पासृक्कृष्णाया दंशे एव तु ॥ ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः॥ ११५॥ तत्रैलाचक्रसर्पाक्षीगंधनाकुलिचंदनैः॥ महासुगन्धिसहितैः प्रत्याख्यायागदः स्मृतः ॥ ११६ ॥

" कृष्णा " मकडीके दंशसे विष्ठाकेसी गंधवाला थोडा रुधिर निकलता है और ज्वर, मूर्च्छा, वमन, दाह, खांसी और श्वास ये भी होते हैं ॥ ११५ ॥ इसमें पहले यह कह देवे कि यह असाध्य है अच्छा हो या न हो फिर यह औषध करे-इलायची, तगर, सर्पाक्षी (नाकुली), गंधनाकुली (इसका दूसरा भेद), चंदन इनमें (दुंदुभिस्वनीय अध्यायोक्त) महासुगंधि औषध मिलाकर उपयोग करे ॥ ११६ ॥

अग्निवर्णाके दंशके लक्षण और यत्न ।

दंशे दाहोऽग्निवर्णायाः स्रावोऽत्यर्थं ज्वरस्तथा ॥ चोषकंडूरोमहर्षा दाहश्च स्फोटजन्म च ॥ ११७ ॥ कृष्णाप्रशमनं चात्र प्रत्याख्याय प्रयोजयेत् ॥ सारिवोशीरयष्ट्याह्वाचंदनोत्पलपत्रकम् ॥ ११८ ॥

"अग्निवर्णा" के दंशमें अग्निकासा दाह होता है और बहुतही स्राव होता है तथा ज्वर, चोष, खाज, रोमहर्ष और शरीरमें दाह होता है, फोडे पैदा होजाते हैं ॥ ११७ ॥ इसमें असाध्य है ऐसा कहकर पूर्वोक्त कृष्णा लूताकी शांतिके समान यत्न करे और सारिवा, खस, मुलेठी, चंदन और कमलपत्र इनका उपयोग करे ॥ ११८ ॥

सर्वासामेव युंजीत विषे श्लेष्मातकत्वचः ॥
भिषक् सर्वप्रकारेषु तथा च क्षीरपिप्पलम् ॥ ११९ ॥

सबके विषमें सामान्यतासे वैद्य लहेसुवेकी छालका उपयोग करे और सब प्रकारके विषमें दूध पीपल उपयुक्त करे ॥ ११९ ॥

(श्लो० ११९) क्षीरपिप्पलमिति-"लूताविषेषु सर्वेषु पाननस्यांजनादिना ॥ प्रयोज्यः पिप्पलक्षीराजातः शेलुत्वचोथवा ॥ १ ॥" इति क्षीराद् दुग्धात् पिप्पलः अश्वत्थ प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । अथवा केचिदित्याहुः पिप्पलः अश्वत्थः क्षीराज्जातः जलमणिः शेलुत्वक् । अथवा शेलुत्वचो जातः शेलुनिर्यासः इत्याहुः ।

कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ता द्वे च यदृच्छया ॥
अवार्यविषवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे ॥१२०॥

पहले जो आठ लूता कृच्छ्रसाध्य कहीं उनमेंसे पूर्वोक्त दो (कृष्णा और अग्निवर्णा) कदाचित देवयोगसे सिद्ध हो भी जावें और शेष छह ऐसी हैं जिनके विषका वीर्य निवारण होही नहीं सकता उनके लक्षण मुझसे सुनो (और विचारो) ॥१२०॥

असाध्य लूताओंके दंशके लक्षण ।

ध्माातः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगंधकः ॥ कासश्वासौ ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा ॥ १२१ ॥ आदंशे लाजवर्णाया आस्रं पूति स्रवे दसृक् ॥ दाहो मूर्च्छातिसारश्च शिरोदुःखं च जायते ॥१२२॥ घोरदंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते ॥ स्तंभः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते ॥ १२३ ॥ एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत्कृष्णतिलाकृतिः ॥ तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः ॥ १२४ ॥ दंशः काकांडकादष्टे पांडुरक्तोऽतिवेदनः ॥ ॥ १२५ ॥ रक्तो मालागुणादंशो धूमगंधोऽतिवेदनः ॥ विदीर्यते च बहुधा दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः ॥ १२६ ॥

"सौवर्णिका" नाम लूताके दंशसे आध्मान हो और झाग आवे तथा मछरीकेसी गंध आवे इसमें खांसी, श्वास, ज्वर, तृषा और दारुण मूर्च्छा होती है ॥ १२१ ॥ "लाजवर्णा" के दंशसे उसके आस पासमें दुर्गन्धित कच्चा रक्त झिरता है । दाह, मूर्च्छा, अतिसार और शिरमें दर्द होता है ॥ १२२ ॥ "जालिनीका" दंश घोर रेखावाला फटा हुआ होता है इसमें स्तंभ, श्वास, तमोगुणकी वृद्धि और तालुमें खुश्की ये रोग होते हैं ॥ १२३ ॥ "एणीपदी" के दंशसे काले तिलके समान चित्ती हो जाती है । तृषा, मूर्च्छा, ज्वर, वमन, खांसी, श्वास ये भी होते हैं ॥ ॥ १२४ ॥ "काकांडा" के दंशसे दंशस्थान पीला लाल हो जावे और बडी दारुण वेदना होवे ॥ १२५ ॥ और "मालागुणा" के दंशमें रक्तवर्ण धुवाँकेसी गंध और अतिपीडा होवे और बहुत जगहसे विदीर्ण हो जावे तथा दाह मूर्च्छा और ज्वर ये भी होजावें ॥ १२६ ॥

(श्लो० १२०) यदृच्छया दैवयोगेन । (श्लो० १२१) ध्मातः दग्धेऽकाव[र] सवर्ण. (इति डल्लनः) अपरे चाध्मानयुक्त इत्याहुः ।

असाध्यलूताओंकी चिकित्साके लिये आज्ञा ।

असाध्यानां भिषक् प्राज्ञः प्रयुंजीत चिकित्सितम् ॥ दोषोच्छ्रायविशेषेण छेदकर्मविवर्जितम् ॥ १२७ ॥

यद्यपि जो असाध्य हैं उनकी औषध नहीं कही तो भी, बुद्धिमान् वैद्य दोषोंकी उल्वणताके अनुसार उनकी भी चिकित्सा करे (शायत् ईश्वरकी दयासे आराम हो भी जाय) परन्तु छेदकर्म इनमें वर्जित है वह नहीं करना चाहिये ॥ १२७ ॥

लूतादंशका छेदनप्रकार ।

साध्याभिराभिर्लूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः ॥ वृद्धिपत्रेण मतिमान्सम्यगादंशमुद्धरेत् ॥ १२८ ॥ जाम्बोष्ठेनाग्नितप्तेन दहेदाकरवारणात् ॥ अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः ॥१२९॥ दंशस्योत्कर्तनं कुर्यादल्पश्वयथुकस्य च ॥ मधुसैंधवसंयुक्तैरगदैर्लेपयेत्ततः ॥ १३० ॥ प्रियंगुरजनीकुष्ठसमंगामधुकैस्तथा ॥ १३१ ॥

साध्य जो ये लूता हैं इनके दंश वाले मनुष्यके दंशके आसपासके स्थानको वृद्धि पत्र शस्त्रसे बुद्धिमान् वैद्य काटडाले (इसमें कई "आभिः" पदसे पूर्वोक्त असाध्योंको भी लेते हैं अर्थात् साध्योंसे दष्ट और "आभिः असाध्याभिश्च" इन असाध्योंसे दष्ट वस्तुतः दष्टमात्र मनुष्यके दंशको काटडाले यही तात्पर्य है) ॥ १२८ ॥ और जाम्बोष्ठको तप्त करके फिर उसे जलादे और "आकरवारणात्" इसका यह प्रयोजन है कि अपने हाथको वैद्य बचाता रहे ऐसा न हो कि वह विष संक्रामकतासे वैद्यके हाथमें चढ जावे अथवा "आकरवारणात्" अर्थात् करवारण पर्यंत दग्ध करे जबतक रोगीका शुद्ध चर्म जलने लगे और वह हाथसे रोके जहां तक जलावे परंतु हमारी संमतिमें पहला अर्थ अच्छा है और विधानज्ञ वैद्य मर्मसे पृथक् दंश हो और रोगीको ज्वरादिक दारुण उपद्रव न हों और सोजाभी कम हो तो दंशस्थानको काटे और फिर उसपर शहत और सैंधवयुक्त महासुगंधादि अगदोंका लेप करदे ॥१२९॥१३०॥ तथा प्रियंगु, हलदी, कूट, मँजीठ, मुलेठी इनका लेप करे ॥१३१॥

(श्लो० १२८) आभिरिति पदेन केचिदसाध्याभिर्दष्टस्य ग्रहणं चापि कुर्वंति । (श्लो० १२९) 'अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः' एनमर्द्धं केचित्तु अग्रिमेण 'दंशस्योत्कर्तनं कुर्यात्, इत्यनेन स युंजंति अन्ये च पूर्वेण 'जांबोष्ठेनाग्नितप्तेन दहेद्' इत्यनेन सह युंजंतीति । आकरवारणादिति-वैद्यः स्वस्य करस्य वारणं रक्षणं यथा स्यात्तथा दहेत् अथवा आकरवारणात् करवारणपर्यंतं यावदातुरः करेण वारणं कुर्यात् तावद्दहेत् ।

पान और सेचन।

सारिवा मधुकं द्राक्षा पयस्या क्षीरमोरटम् ॥ विदारीगोक्षुरक्षौद्र मधुकं पाययेत वा ॥ १३२ ॥ क्षीरिणां त्वक्कषायेण सुशीतेन च सेचयेत् ॥ उपद्रवान्यथादोषं विषघ्नैश्च प्रसाधयेत् ॥ १३३ ॥

सारिवा, मुलेठी, मुनक्का, क्षीरकाकोली और क्षीरमोरटा (लताविशेष) इन्हें पिलावे अथवा विदारी, गोखरू, मुलेठी, शहत इन्हें पिलावे ॥१३२॥ और दूधवाले (वट आदि) वृक्षोंकी छालके ठंढे क्राथसे सेचन करे और जो जो उपद्रव हों उन्हें दोषोंके अनुसार विषघ्न औषधोंसे साधन करे ॥ १३३ ॥

नस्यांजनाभ्यंजनपानधूमं तथावपीडं कवलग्रहं च ॥
संशोधनं चोभयतः प्रयुंज्याद्रक्तं हरेच्चापि जलायुकाभिः ॥ १३४ ॥

(लूताओंके विषमें विषघ्न औषधोंको) नस्य देने, अंजन कराने, अभ्यंजन (मलने या लेप करने)तथा पिलाने और अवपीडन एवं कवलग्रह करानेके काममें यथायोग्य लावे और वमन, स्वेदनद्वारा दोनों तरफसे (ऊपर नीचेसे) शोधन करे और जलौका (जोंकें) लगाकर रुधिरभी निकाले ॥ १३४ ॥

कीटदुष्टव्रणान्सर्वानहिदष्टव्रणानि च ॥ आदंशपाकं यत्नेन चिकित्सेत्सर्पदष्टवत् ॥ १३५ ॥ विनिवृत्ते ततः शो र्णी-
पातनं हितम् ॥ निंवपत्रं त्रिवृद्दंती कुसुंभं रजनी
गुग्गुलुः सैंधवं किण्वं वर्चः पारावतस्य च ॥ विषवृक्ष-
हित्वा संभोजनं हितम् ॥ १३७ ॥ विषेभ्यः खलु सर्वेभ्यः का-
कामरुजां स्थिराम् ॥ प्रच्छयित्वा मधुयुतैः शोधनीयैरुपाचरेत्॥१३८॥

कीडोंके काटे हुएके दुष्टव्रणोंको तथा सर्पके काटेके व्रणोंको दंशके पकनेके पहले यत्न पूर्वक सर्पके काटेहुएके समान चिकित्सा करनी चाहिये (कई "आदंशपाक" की जगह 'आदाहपाकं' ऐसा पाठ मानते हैं अर्थात् जबतक दाह और पाक रहे तबतक चिकित्सा करे) ॥ १३५ ॥ और जब सोजा उतर जावे तब कर्णिका (किनारेदार गांठसी होजाती है, उसे) पातन करना हित है। नींबके पत्ते, निशोथ,

---

(श्लो० १३५) 'आदंशपाकम्' इत्यत्र आदाहपाकमिति वा पाठः।

दंती, कसूँभा, हलदी, गूगल, सैंधानमक, मद्यका बीज और कबूतरकी वीट (इनको उसपर) (कर्णिकापर) (लगावे इससे साफ होजाती है) और विष बढानेवाले अन्न (कोद्रवादि) को त्यागकर हितकारक (घृतादियुक्त) भोजन करे ॥ १३६ ॥ १३७ ॥ सब प्रकारके विषोंमें विना पीडाकी स्थिर कर्णिका (गांठसी) पडजाती है उसपर पछने लगाकर शहतयुक्त शोधनीय द्रव्योंसे शुद्ध करनेका यत्न करे ॥ १३८ ॥

(वक्तव्य) ऊपर जो अनेक भांतिकी भयंकर मकडियां लिखी हैं वे सब यहां पहले जब वन जंगल अधिक थे तब बहुत होती थीं तथा अब भी अफरीका देशके भयंकर जंगल बनों आदिमें होती हैं परंतु भरतखंडकी वस्तियोंमें भी पांच चार प्रकारकी होती हैं जिनका विष भी बडा दुःखदायक होता है ॥

अथ उपसंहार ।

सप्तषष्टेश्च कीटानां शतस्यैतद्विभागशः ॥
दष्टलक्षणमाख्यातं चिकित्सा चाप्यनंतरम् ॥ १३९ ॥

हमने इस तंत्रमें कीटोंके एकसौ सतसठ १६७ भेद कहे हैं और प्रायः उनके दंशके लक्षण और उनके पीछे उनकी चिकित्साकाभी वर्णन किया है ॥ १३९ ॥

(वक्तव्य) इन कीटोंके १६७ भेद इस प्रकारसे हैं जैसे-१८ प्रकारके वायव्य, २४ प्रकारके आग्नेय, १३ सौम्य, १२ प्राणहर सान्निपातिक, ४ भांतिके कणभा, ९ भांतिके गौधेर, ६ गलगोली, ८ शतपदी, ८ मंडूक, ४ विश्वंभरादि, ८ पिपीलिका, ६ मक्षिका, ५ मशक, ३० प्रकारके बिच्छू और १६ प्रकारकी लूता इस तरह सब १६७ भांतिके कीट कहे हैं ॥

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः ॥
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टान्सर्वान्वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥ १४० ॥

सूत्रस्थानसे लेकर कल्पस्थानपर्यन्त १२० अध्यायोंका विभागपूर्वक वर्णन किया और इसमें कहे हुए (शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा) जिनका वर्णन अबतक इसमें नही किया गया है उन सबका वर्णन हम विस्तारपूर्वक उत्तरतन्त्रमें करेंगे ॥ १४० ॥

(श्लो० १४०) इह उद्दिष्टान् शालाक्यकौमारभृत्यकायचिकित्साभूतविद्याख्यान् अनिर्दिष्टान् अनुक्तान् सर्वान् उत्तरे वक्ष्यामि ॥

आयुर्वेदकी उत्तमता।

सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च ॥
तथा दृष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम् ॥ १४१ ॥
वाक्समूहार्थविस्तारात्पूजितत्वाच्च देहिभिः ॥
चिकित्सितात्पुण्यतमं न किंचिदपि शुश्रुम ॥ १४२ ॥

सुश्रुतजी कहते हैं कि हमने चिकित्साशास्त्रसे बढकर और कोई पुण्यतम (अति पवित्र) नहीं सुना क्योंकि वेद (आयुर्वेद) सनातन है और अक्षर, (अखंड और अकाटच) है तथा चिकित्साशास्त्र दृष्टफल वाला है (अर्थात् इसका फल प्रत्यक्ष है) और प्राणियोंका हित साधन करनेवाला है और इसमें वाक्योंका समूह और अर्थोंके विस्तार हैं तथा यह प्राणियों करके पूजित भी है (अर्थात् प्राणिमात्र इसका सत्कार करते हैं) (इन कारणोंसे यह सर्व श्रेष्ठ है) ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

ऋषेरिंद्रप्रभावस्यामृतयोनेर्भिषग्गुरोः ॥
धारयित्वा तु विमलं मतं परमसंमतम् ॥
उक्ताहारसमाचार इह प्रेत्य च मोदते ॥ १४३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इंद्रके समान प्रभाववाले, अमृतके संग उत्पन्न हुए, वैद्योंके गुरु ऐसे राजर्षि श्रीभगवान् धन्वंतरिजीके निर्मल और परम सम्मत (सबको मान्य) मतको अर्थात् इस संहिताको जो धारण करके (पढकर या सुनकर) इसके अनुसार (स्वास्थ्यरक्षा तथा रोगनिवृत्तिके अर्थ) आहार (खान पान, औषधादि) तथा समाचार (आचार, विहारादि) को करेंगे वे इस लोकमें तथा परलोकमें सुख (और हर्ष) में रहेंगे ॥ १४३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायाः पण्डितमुरलीधरविरचितसान्वयसटिप्पणीकसपरिशि-

ष्टभाषाटीकायां कल्पस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

पूर्तिश्लोक ।

श्लोक-पंचेष्वंकेज्यामितवर्षे सितपक्षे भाद्रे मासे मन्मथतिथ्यां विधुवारे ॥
शैलानाख्ये सुश्रुतटीकारचनायां कल्पस्थानं याति सुपूर्तिं शुभमेतत् ॥ १ ॥

अर्थ-संवत् १९५५ भाद्रपदशुक्ला १३ चन्द्रवारको शैलाना नामक राजधानीमें सुश्रुतसंहिताकी टीकाकी रचनामें यह शुभ कल्पस्थान समाप्त हुआ ॥

॥ समाप्तमिदं कल्पस्थानम् ॥ ५ ॥

यह सुश्रुतसंहिताका कल्पस्थान समाप्त हुआ अब इसके अगाडी परिशिष्टरूपमें विषोपयोगी कुछ विधि तन्त्रांतरोंसे लिखकर डाक्टरी तथा यूनानी मतोंसे भी कुछ विषोंका वर्णन किया जायगा जिससे उन विषोंका भी बोध होसकेगा । आशा है कि सज्जनगण इस मेरे परिश्रमको सफल मान मुझे कृतार्थ करेंगे तथा इसके प्रकाशक श्रीयुत सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजीको भी अनेक धन्यवाद देंगे ॥

निवेदक-

पण्डित मुरलीधरशर्मा राजवैद्य-टीकाकार.



॥ श्रीः ॥

अथ कल्पस्थान परिशिष्ट भाग १.



तन्त्रान्तरोक्त विषोपयोगी विधि ।

यद्यपि विष महातीक्ष्ण प्राणोंके नाश करनेवाले होते हैं परन्तु युक्तिपूर्वक उपयोग किये जानेसे यह असाध्य रोगोंको नष्ट कर सकते हैं। ये विष परम रसायन, अत्यन्त वाजीकरण और बृंहण होते हैं इस कारण हम इनका विधान तन्त्रान्तरोंसे लिखते हैं।

विषके गुण ।

श्लोक-विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च ॥ आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम् ॥ १ ॥ तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम् ॥ योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम् ॥ २ ॥ (भा० प्र०)

अर्थ-(यद्यपि) विष प्राण हरनेवाले हैं, व्यवायी और विकाशी हैं, आग्नेय गुणवाले हैं, वात, कफके हरनेवाले योगवाही (गरमके संग अति गरम और शीतलके संग महाशीतल) हैं तथा मदकारक हैं ॥ १ ॥ (तथापि) ये युक्तिसे उपयोग किये हुए प्राणोंके देनेवाले रसायन और योगवाही होकर तीनों दोषोंके शांत करनेवाले तथा बृंहण (शरीरकी धातुओंकी पुष्टि) और वृद्धि करनेवाले तथा वीर्यके बढानेवाले होते हैं ॥ २ ॥

विषाक शोधनका हेतु ।

श्लोक-ये दुर्गुणा विषे शुद्धे ते स्युर्हीना विशोधनात् ॥
तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधयित्वा प्रयोजयेत् ॥ ३ ॥ (भा० प्र०)

अर्थ-अशुद्ध विषमें जो दुर्गुण (हानिकारक दोष) होते हैं वे शोधन करनेसे हीन हो जाते हैं इस कारण विषोंको शोधन करके प्रयोगोंमें उपयुक्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

(वक्तव्य) इस संहितामें जो कंदसंज्ञक १३ उग्र विष लिखे हैं वे प्रायः नहीं मिलते, बहुत करके दो विष मिलते हैं १ वत्सनाभ, २ शृंगीविष इससे इन्हें शोध कर उपयोग करना चाहिये।

विषशोधनविधि ।

श्लोक-गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्यं विषं तेन विशुध्यति ॥
रक्तसर्षपतैलाक्ते तथा धार्यश्च वाससि ॥ ४ ॥ (भा० प्र०)

अर्थ-विषको टुकडे २ करके तीन दिन तक गोमूत्रमें भिगोया रक्खे फिर उसे

धोकर साफ करे इससे वह शुद्ध होजाते हैं फिर सुरखसरसोंके तैलमें चिकने किये हुए वस्त्रमें लपेटकर रक्खे ॥ ४ ॥

(वक्तव्य) विषके शोधनकी परिपाटी प्रायः यह है कि विषको प्रथम पूर्वोक्त प्रकारसे गोमूत्रमें भिगोवे और फिर धोकर साफ करके महीन कपड़ेमें बांधकर उसे गोदुग्धमें दोलायंत्रसे पकावे जब दुग्ध गाढा होजावे और फट जावे तब उसमेंसे निकालकर धोकर साफ करके सुखाकर रक्खे और बहुत सावधानीसे काममें लावे।

विषकी मात्रा।

श्लोक-चतुर्भिः षड्भिरष्टाभिः हीनमध्योत्तमां यवैः ॥ मात्रां विषस्य मौलस्य प्रयुंजीत यथायथम् ॥५॥ दष्टस्य द्वौ यवौ कीटेस्तिलमात्रं तु वृश्चिके ॥६॥ (वृ० वा०)

अर्थ-मूल और कंदविषोंकी मात्रा ४ जौके बराबर हीन मात्रा है, ६ जौके बराबर मध्य मात्रा और ८ जौके बराबर उत्कृष्ट मात्रा समझनी चाहिये और महाविषधरके प्रतिकारमें या महाघोर व्याधिमें उत्कृष्टमात्रा और मध्यके लिये मध्यम और मंदके लिये हीनमात्रा यथायोग्य उपयोग करना चाहिये ॥ ५ ॥ और उग्रविष कीटके विषके प्रतिकारमें दो जौके बराबर तथा मंदविष बिच्छूके प्रतिकारमें तिलमात्र मूलविषकी मात्रा उपयोग करे ॥ ६ ॥

विषकी नियोजना।

श्लोक-विषे प्रतिविषं योज्यं मंत्रतंत्रैरसिध्यति ॥ अतीते पंचमे वेगे सप्तमस्यानतिक्रमे ॥ प्रभोर्निवेद्य प्रयत्नेनैव व्याख्याय कस्यचित् ॥ ७ ॥ (वृ० वा०)

अर्थ-जब औषध और मंत्र, तंत्र इन किसीसे भी सिद्ध न हो तब विषके प्रति (प्रतिकूलरूपक) विषहीकी योजना करे जब पांच वेग होचुकें उसके पीछे सातवें वेगके पहले पहले ईश्वरसे निवेदन करके और किसीसे भी न कहकर (उस घोर अवस्थामें विषपर) विषका उपयोग करे ॥ ७ ॥

प्रतिविषयोजनाका हेतु।

श्लोक-श्लेष्मतुल्यं गुणं प्रायः स्थिरमूर्द्धगमं विषम् ॥ प्रायः पित्तगुणैर्युक्तं मध्यगामि च जंगमम् ॥ ८ ॥ गुणैरेभिर्विपर्यस्तैर्निहतास्ते परस्परम् ॥ युंज्यान्मूलविषं तस्माद्दष्टानां पानलेपयोः ॥ ९ ॥ विषपीतं च कुशलो दंशयेत्पवनाशिभिः ॥ न विषप्रतिमं किंचिन्निर्विषीकरणं विषे ॥ १० ॥ (वृ० वा०)

अर्थ-स्थावर विष प्रायः कफके तुल्य गुणवाले होते हैं और ऊपरको गमन करते हें (अर्थात् आमाशयादिसे रक्तादिकी तरफ गमन करते हैं) और जंगम विष प्रायः पित्तके गुणसे युक्त होते हैं और मध्यगामी (अर्थात् रक्तमें प्रविष्ट हुए भीतरकी तरफ गमन करनेवाले) होते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकार एकसे दूसरे प्रकारके

विषोंमें विपरीत गुण होनेसे परस्पर एक दूसरेको नष्ट करते हैं इसी कारण सर्प (आदि) के डसे हुओंको स्थावरमूलविषोंमेंसे किसीका उपयोग पिलाने, खिलाने और लेपमें करना योग्य है ॥ ९ ॥ और जिस किसीने स्थावर विष खा पी लिये हों और भयंकर असाध्य दशा होगई हो तो उसे सर्पसे कटवाना चाहिये क्योंकि विषकी अति असाध्य अवस्थामें दूसरे प्रतिविषके सिवाय और कोई भी उपाय निर्विषीकरणका नहीं है ॥ १० ॥

प्रतिविषयोजनामें अन्य प्रमाण।

श्लोक-जंगमं स्यादधोभागमूर्द्धभागं तु मूलजम् ॥
तस्माद्दंष्ट्रिविषं मौलं हंति मौलं च दंष्ट्रिजम् ॥ ११ ॥

अर्थ-जंगम (सर्प, बिच्छू, मूषक, कुक्कुरादि जीवोंके काटेका) विष अधोभागकी तरफ गमन करता है और मूलज (कंद, मूल आदिका स्थावर) विष ऊर्द्धभागमें गमन करता है इससे डाढसे काटनेवालोंके जंगम विषको मूल (स्थावर) विष नष्ट करता है तथा स्थावर विषको जंगम विष नष्ट करता है (धन्वंतरिजीने भी प्रतिविषके उपयोगकी आज्ञा दी है-देखो दूषीविषव्याधि, दूष्योदरकी चिकित्सा) ॥ ११ ॥

(वक्तव्य) और "विषस्य विषमौषधम्" यह प्रसिद्ध ही है इसका भी यही अर्थ है कि एक प्रकारके विषजन्य उपद्रवोंको दूसरे प्रकारका विषही शांत कर सकता है, अन्य साधारण औषधका सामर्थ्य उसका प्रभाव नष्ट करनेका उतना नहीं है परंतु यह काम बहुतही विचारका है साधारण नहीं है ॥

ग्राह्य विष।

श्लोक-सात्तुकं मुस्तकं शृंगी पालकं सर्षपाह्वयम्॥ वत्सनाभं च कर्मण्यं विषं स्निग्धं घनं गुरु॥ न जात्वन्यत्प्रयोक्तव्यं कालकूटं विशेषतः॥ १२॥ (वृ० वा०)

अर्थ-सात्तुक, मुस्तक, शृंगी (सींगी मोहरा), पालक (अथवा बालक), सर्षपक और वत्सनाभ येही विष काममें लाने योग्य हैं, स्निग्ध हैं, भारी और गुरु हैं (इन्हींमेंसे किसीका उपयोग करना उचित है) इनसे अन्य विष कदापि उपयोगमें नहीं लाने चाहिये और विशेष करके कालकूट उपयोगमें कभी भी नहीं लावे ॥ १२ ॥

विषपर अनुपान।

श्लोक-विषेवचारिते तीक्ष्णे पेयं घृतमनंतरम् ॥
सभार्ङ्गीदधिमंडोत्थं सारिवातंडुलीयकम्॥ १३ ॥ (वृ० वा०)

अर्थ-तीक्ष्ण विषके उपयोगके पीछे निरंतर घृत पीना चाहिये और भार्ङ्गी, दहीके मंडसे निकला (मक्खन), तथा सारिवा और चौलाई ये खावे ॥ १३ ॥

विषके दर्प और उपद्रव नाशक यत्न ।

श्लोक-अगारधूममंजिष्ठायष्ट्याह्वैर्वा समन्वितम् ॥ लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां चूर्णितामर्ज्जुनत्वचम् ॥ १४ ॥ क्षीरक्षौद्रघृतैर्युक्तं पीतं हंति विषं विषम् ॥ ससिंदुवारतगरं मृतसंजीवनं विषम् ॥ १५ ॥

अर्थ-घरका धूम, मंजीठ, मुलेठी इनके संग अथवा अर्जुन वृक्षकी छालके चूर्णको शहत और घृतके संग चाटे ॥ १४ ॥ दूध, शहत और घृतके संग थोड़ा और दूसरी प्रकृतिका विष मिलाकर पीनेसे पूर्व विषका प्रभाव नष्ट होजाता है और सम्हालू और तगर इनमें दूसरी प्रकृतिका विष मिलाकर उपयोग करनेसे मृत मनुष्यको सजीव कर सकता है ॥ १५ ॥

(वक्तव्य) स्थावर विषोंमें भी सभी प्रकृतिप्रधान विष होते हैं और जंगममें भी इससे एक प्रकृतिके (जैसे कफप्रकृतिको विष उपयोग करने) से उपाधि हुई हो तो दूसरा (स्थावरही पित्तप्रकृतिवाला) पूर्वोक्त योगसे प्रयुक्त किया जावे तो पहलेवालेके उपद्रवोंको शांत कर देता है ॥

नित्य विष सेवनकी विधि ।

श्लोक-विषं युंजीत नित्यं च रसायनगुणैषिणः ॥ घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः ॥ १६ ॥ सात्त्विकस्योदिते भानौ योज्यं शीतवसंतयोः ॥ ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ न च वर्षासु दुर्दिने ॥ १७ ॥ (वृ० वा०)

अर्थ-जो मनुष्य घृतसे खूब स्निग्ध देहवाला हो उसे वमन, रेचनादिसे शुद्ध करके और हित आहारका नियम करके रसायनके गुणकी इच्छासे नित्य बहुतही सूक्ष्म मात्रासे शोधन किया हुआ विष उपयोग करावे ॥ १६ ॥ विषका उपयोग करनेवाला मनुष्य सात्त्विक होवे उसे शीतऋतु तथा वसंत ऋतुमें सूर्योदयके समय यथायोग्य विषकी मात्राका नित्य उपयोग करावे और अति आवश्यक और उग्र व्याधि हो तो ग्रीष्म ऋतुमें भी उपयोग करा सकते हैं परंतु वर्षाऋतु मेघाच्छादित दिनोंमें कदापि उपयोग न करावे ॥ १७ ॥

विषसे वर्जित मनुष्य ।

श्लोक-न क्रोधने न पित्तार्ते न क्लीबे राजनि द्विजे ॥ क्षुत्तृष्णाश्रमघर्माध्वव्याध्यंतरनिपीडिते ॥ गर्भिणीबालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु ॥ १८ ॥

अर्थ-इतने मनुष्योंको विषका सेवन कदापि न करावे जैसे क्रोधी, पित्तके रोगवाला या पित्ताधिक, नपुंसक (सहज क्लीब), राजा, ब्राह्मण, क्षुधायुक्त (भूखे), प्यासे,

परिश्रमसे, गरमीसे, मार्ग चलनेसे पीडित तथा रोगसंकर (कई एकसे दूसरी विपरीत व्याधियोंसे पीडित), गर्भवती, स्त्री, बालक, वृद्ध, रूक्ष देहवाले इन्हें विषोपयोग अनुचित होता है और मर्मस्थानके रोगोंमें अथवा मर्मस्थानोंमें ऊपर लेपनादिमें उपयोग न करे ॥ १८ ॥

विषोपयोगमें पथ्य ।

श्लोक–स्वभ्यस्तेपि विषं यस्माद्वर्जनीयान्विवर्जयेत् ॥ कट्वम्लतैललवणदिवास्वप्नातपानलान् ॥ १९ ॥ रूक्षमन्नं विशेषेण भयं वाऽजीर्णतः सदा ॥ दृग्विभ्रमं कर्णरुजामन्यांश्चानिलजान्गदान् ॥ विषं रूक्षाशिनः कुर्यान्मृत्युमेव त्वजीर्णतः ॥२०॥

अर्थ–जोकि विषके अभ्यास पड जानेपरभी वर्जनीय वस्तुओंको त्याग करे जैसे चरपरा (लाल मिरची आदि), खटाई, तैल, लवण, दिनका सोना, धूप और अग्निका ताप ॥ १९ ॥ विशेष करके रूक्ष भोजन और अजीर्णसे भय होता है । इनसे सदा बचे क्योंकि विष रूखा भोजन करनेवालेकी दृष्टिमें भ्रम, कानमें पीडा और अन्य वायुके (रोग आक्षेपकादि) करता है और अजीर्णसे मृत्युकारक होता है ॥ २० ॥

कतिपय रोगोंपर विषोपयोग ।

श्लोक–निकुंभकुंभात्रिफलासर्पिर्मधुविषैः कृतः ॥ निहंति मोदको जीर्णज्वरमेहत्वगामयान् ॥ २१ ॥ विषं यष्ट्याह्वयं रास्ना सेव्यमुत्पलकंदकम् ॥ तंदुलोदकपीतानि रक्तपित्तस्य भेषजम् ॥ २२ ॥ विषं रसांजनं भार्ङ्गी वृश्चिकाली महासहा ॥ सवेदने सपाके च व्रणे दुष्टे प्रलेपनम् ॥ २३ ॥ सिताविषक्षीरतरुप्रवाला मधुना द्रुताः ॥ श्वासहिक्कापहा लीढाश्छर्दिघ्नास्तु विषान्विताः ॥ क्षौद्रोशीरमधुक्षाररजनीकुटजत्वचः ॥ २४ ॥ (वृ० वा०)

अर्थ–निकुंभ (दंती), कुंभ (निसोथ), त्रिफला, घृत, शहत और विष इनसे बनाई हुई गोली जीर्णज्वर, प्रमेह, त्वचाके, रोग इनको नष्ट करती है ॥ २१ ॥ विष, मुलेठी, रास्ना, सेव्य (खस), कमलकंद इन्हें मिलाकर चावलोंके जलसे पीवे तो यह रक्तपित्तका औषध है ॥ २२ ॥ सींगीमोहरा, रसोत, भाडंगी, वृश्चिकाली और शालपर्णी इन्हें पीसकर वेदनायुक्त, पाकयुक्त दुष्टव्रण पर लेप करनेसे वह शुद्ध हो जावे ॥ २३ ॥ मिसरी, सींगीमोहरा, दूधके वृक्षोंकी कोंपल इन्हें शहतमें मिलाकर चाटनेसे श्वास और हिचकी नष्ट होवें तथा शहत, खस, मुलेठी, जवाखार, हलदी, कुडाकी छाल इनमें सींगीमोहरा मिलाकर चाटनेसे वमन शांत होवे ॥ २४ ॥

श्लोक-कृच्छ्रघ्नं विषपथ्याग्निदंतीद्राक्षानिशाविषम् ॥ शिलाजतु विषं मूत्रमुदावर्ताश्मरीहरम् ॥ २५ ॥ समूलपिप्पलीमूलं विषं शूलहरं तथा ॥ त्रिफला स्वर्जिकाक्षारो विषं गुल्मप्रभेदनम् ॥ २६ ॥ वायसीमूलनिःक्वाथपीतं कुष्ठहरं विषम् ॥ नष्टशुक्रे पयोद्राक्षाकपिकच्छुवचाविषम् ॥ २७ ॥ स्वरसं बीजपूरस्य वचाब्राह्मीरसं घृतम् ॥ वंध्या पिबंती सविषं सुपुत्रैः परिवार्यते ॥ २८॥

अर्थ-सींगीमोहरा, हरीतकी, चित्रक, दंती, द्राक्षा, हलदी, विष (सींगीमोहरा) ये मूत्रकृच्छ्रको नष्ट करते हैं और शिलाजीतमें सींगीमोहरा मिलाकर गोमूत्रसे उपयोग करनेसे उदावर्त और पथरी नष्ट होते हैं ॥ २५ ॥ मूल (पोहकरमूल), पिप्पलीमूल, विष (सींगीमोहरा) इन्हें गोमूत्रसे पीवे तो शूल नष्ट होवे तथा त्रिफला, सज्जीखार, विष (वत्सनाभ) इनका उपयोग करनेसे गुल्म नष्ट हो जावे ॥२६॥ वायसी (काकोदुंबर) की जडके क्वाथके संग विष (सींगीमोहरा) पान करे इससे कुष्ठका नाश होवे तथा नष्टवीर्य पुरुष दूध, द्राक्षा, केवाँचके बीज, वच और सींगीमोहरा इनका सेवन करे ॥ २७ ॥ बिजोरेका रस, वच, ब्राह्मीका रस, घृत और शृंगीविष इन्हें वंध्या पीवे तो सुपुत्रोंका परिवार हो जावे ॥ २८ ॥

श्लोक-विषं धात्रीफलरसैरसकृत्परिभावितम् ॥ अंजनं शंखसहितं प्रगाढतिमिरप्रणुत् ॥ २९ ॥ नस्यं शिरोरुक्शमनं प्रत्यक्पुष्पी सिता विषम् ॥ कटुतैलं विषं नस्यं पलिताऽरुंषिकापहम् ॥ ३० ॥ स्वर्जिकाक्षारसिंधूत्थशुक्तयुक्तं विषं परम् ॥ कर्णयोः पूरणं तीव्रकर्णशूलनिबर्हणम् ॥ ३१ ॥ देवदारु विषं सर्पिर्गोमूत्रं कंटकारिका ॥ वाचः स्खलनतां हंति पीतमित्याह काश्यपः ॥ ३२ ॥

अर्थ-विष (शृंगी) को आंवलोंके रसकी अनेक (सात) भावना देकर उसे शंखके साथ घिसकर अंजन करनेसे तिमिर (नेत्ररोग) नष्ट होवे ॥ २९ ॥ प्रत्यक्पुष्पी, मिसरी और उक्त विष इनकी नस्यसे शिरका रोग (दर्द) शांत हो जाता है तथा कडुवा तैल और विष इनका नस्य लेनेसे पलित (सुपेद बाल होना) और अरुंषिका ये नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥ सज्जीखार, सैंधालमक, उक्त विष इन्हें सिरकेमें मिलाकर कानोंमें डालनेसे तीव्र कर्णशूल नष्ट हो जावे ॥ ३१ ॥ देवदारु, विष, गोमूत्र, घृत, कटेली इन्हें पीनेसे वाणीकी स्खलनता (अटकना या हलकापन) नष्ट हो जाता है यह काश्यप ऋषि कहते हैं ॥ ३२ ॥

श्लोक-शत्रुप्रयुक्ताद्विषतो गराद्वा भूताद्भुजंगाखुगणाज्जरायाः ॥
अकालमृत्योर्ग्रहपाप्मतो वा विषाशिनो नास्ति भयं नरस्य ॥ ३३ ॥

(श्लो० २७-२८) इनमें 'वचा' की जगह कई बला ऐसा पाठांतर मानते हैं । बला खरेटी ।

अर्थ-जो मनुष्य विषको उचित रीतिसे सेवन करते हैं उन्हें शत्रुके दिये हुए विषसे अथवा गर (कृत्रिम विष) से, भूत, सर्प, विषयुक्त मूषकोंसे, बुढापेसे, अकाल मृत्युसे, पापग्रहोंसे कभी भय नहीं होता ॥ ३३ ॥

(वक्तव्य) विषोंका जो उपयोग लिखा है इससे हरेक मनुष्यका यह काम नहीं है कि वे विना पूर्वापर विचारे और विना पूर्ण अभ्यासी वैद्यकी संमतिके विषका उपयोग करें या औरको उपयोग करनेकी संमति दें क्योंकि ऐसा करनेसे बडी हानि होती है जो अच्छे परिपूर्ण वैद्य हैं वेभी इसके उपयोगमें बहुत सोच विचारकर युक्तिपूर्वक काम करें और जब देखें कि अन्य औषधोंसे काम नहीं होता अर्थात् वे काम नहीं देतीं और रोग महा असाध्य है तब परम आवश्यकतामें इसका उपयोग करें और बहुतही थोडी मात्रासे आरंभ करें ॥ इति तन्त्रान्तरोक्तविषोपयोगविधिः ॥

अथ परिशिष्ट भाग २.

डाक्टरीमतसे कुछ विषोंका वर्णन ।

अंगरेजीमें विषको "पाइजन" (Poison) कहते हैं यद्यपि इनके यहां प्राकृतिक (स्वयं पैदा हुए स्थावर, जंगम) विषभी माने जाते हैं और काममें आते हैं पर विशेषकरके कृत्रिम विष इनके यहां बहुत हैं अर्थात किसी तेज वस्तुका सत्त्व निकाला हुआ महा तीक्ष्ण विषके तुल्य होजाता है उसेभी एक प्रकारका कृत्रिम विषही जानिये जैसे "नाइट्रिक एसिड" (शोरेका तेजाब) इत्यादि ।

इनके यहां विषकी तीन किसमें की गई हैं १ "इरीटेंट" (जिससे कै और दस्त बहुत जादा जारी होजावें २ "नारकाटिक" जिससे दिमाग या दिलके कर्तव्यमें फरक होजावे और शरीरके हरेक भागकी गतिमें सुस्ती होकर बेहोशी वगैरह होजावें, ३ "नारकोटीक्यू इरीटेंट" (जिससे दोनों बातें होजावें) ॥

यद्यपि डाक्टरी मतसे विषोंकी कुछ गिनती नहीं और हैं भी असंख्यात, परंतु जो बहुत प्रसिद्ध हैं प्रायः उनके नाम, मारक मात्रा उपद्रव, तथा मारक अवधिको यहां लिखते हैं जिससे मनुष्य एहतियात रक्खे और साथमें हरेकका संक्षेपमात्र यत्न भी लिखते हैं कि दैवयोगसे किसी ऐसी जगह काम पड जावे जहां डाक्टर वैद्य हकीम कोई भी न हों तो यथासंभव कुछ तो यत्न कर सकें ॥

विषका नाम.	मारकमात्रा	उपद्रव.	मारक अवधि.	यत्न.
आरसनिक. (संखिया)	२ ग्रेन.	खाने पीछे मेदेमें दर्द, जलन मिच-ली, कै, दस्त, प्यास, गलेमें ऐंठन, खुश्की फिर श्वासमें तकलीफ, शरीर ठंढा, क्रंदन.	२ घंटेसे २४ घंटे तक	इस्टमिक पंप लगाना, लीलेथोथेसे कै करा-ना, सील गरम पानीमें हैड्रेटिडपर औक्साइड आफ आइरन मिलाके पिलाना, जादा मिक-दारमें लाइट मेगनेशि-या देना.
स्ट्रेकनिया. (कुचलेका सत्त्व)	$\frac{1}{4}$ ग्रेनसे १ ग्रेन तक.	पर्दोंका खिचना, बदन टूटना, ऐंठन	१० मिनटसे ६ घंटे तक.	क्लोरल, क्लोरोफारम, टिंचर एकोनाइट, टिं-चर क्लाडोना इनमेंसे कोई ठीक मात्रासे दे.
एकोनाइटीना. (सींगीमोहरेका सत्त्व)	$\frac{1}{10}$ ग्रेन	एकोनाइट रूटके समान.	डेढ घंटेसे २० घंटे तक.	एकोनाइट रूटके समान.
एकोनाइट रूट. (सींगीमोहरा)	आधेडामसे जादा.	मुँह, हलकमें सुन्नता, झन्नाट, शिर घूमना, कै, दस्त भी होजावें.	उपरोक्त.	नीलेथोथेसे कै कराना, उत्तेजक दवा देना तथा मलना (देशी-दवा) जदवार निर्वि-षी पिलाना.
इस्ट्रीमूनियाइ. (धतूरा)	,,	मुँह, हलकमें खु-श्की, अतिप्यास मिचली, कै, नेत्रों-की पुतली फैल जावें.	२४ घंटेके अंदर.	सपेद तूतियेसे कै करावे, शिरपर ठंढा पानी डाले.

"इस्टीमक पंप" एक पिचकारीमे एक तरफ रबरकी नली लगी होती है उसे मेदेमे प्रविष्ट करते है दूसरी तरफ और नली होती है पिचकारीसे मेदेके अंदरका विषयुक्त द्रव खीचकर दूसरी तरफसे वाहर निकाल दिया जाता है इसे इस्टमिक पप कहते है ।

विषका नाम.	मारकमात्रा	उपद्रव.	मारक अवधि.	यत्न.
ओपियम. (अफीम)	४ ग्रेनसे जादा	नींद, शिरमें चक्कर, बेहोशी, श्वासमें खर्राटा.	२४ घंटेके अंदर	सपेद तूतियेसे कै कराये, चलाना, फिराना इस्टमिकपंप लगाना, (देशी दवा) हींग खिलाना.
ओकजिली कएसिड.	आधा औंस.	हलक, कंठ, मेदेमें जलन, हरी कै.	दश मिनट या कुछ जादा.	वमन कराना, इस्टमिक पंप लगाना, खडिया मिट्टी मेगनेशिया पानीमें घोलके पिलाना.
विलाडोना	”	इसके उपद्रव धतूरके समान.	२४ घंटा	पानीका तरडा देना, कै कराना.
टारट्रामेटिक.	२ ग्रेन.	आंतोंमें, मेदेमें जलन, कै, दस्त, प्यास, सर्दपसीना	कई घंटे	टैनन कत्था और वानस्पत्य संग्राहक वस्तु दे.
टुबेको (तमाखू)	आधा ड्राम	चक्कर आना, कै होना, बेहोशी.	चंद घंटे	ताजा दूध पिलाना देशी यत्न है.
सलफेट औफ कापर (तूतिया)	आधा औंस	जी मिचलाना, कै, मेदेमें दर्द, चेहरा फीका.	४ से ८ घंटे तक.	गरम पानी पिलाना अंडे दूधमें फेंटकर देना.
सलफेट आफ-जिंक (सुपेद तूतिया)	”	”	”	”
सलफ्यूरिक एसिड (गंधकका तेजाब)	१ ड्राम	शीघ्रमुँहकंठमेदेमे जलनका दर्दजहां लगे उसका गल जाना गला घुटना	१ या २ दिनमें	मैगनेशिया-लुआबदार स्निग्धपदार्थ-पिलाना
फासफोरस.	१ ग्रेन	पेटमें जलनका दर्द, प्यास, चमकती कै, दस्त.	४ घंटे या जादे	लुआबदार अर्के पिलाना, थोडीसी अफीम देना.

विषका नाम.	मारकमात्रा	उपद्रव.	मारक अवधि	यत्न.
कारबोलिक एसिड.	आधा औंस	पेटमें जलनका दर्द, प्यास, चमकती कै, दस्त.	आध घंटेसे ४ घंटे तक.	लुआबदार अर्क पिलाना, थोडीसी अफीम देना.
क्रोजोसिवली सेंट (रसकपूर)	४ ग्रेन.	खातेही गरमी जलन कंठमें होना, पेटमेंदर्द,कैमें खून	४ घंटे.	एलव्यूमन अंडेकी सपेदी, दूध.
कोनाइन	२ ड्राम	गलेमें खुश्की प्रलाप,श्वास रुकना शिरमें घुमनी.	कई दिन.	तत्काल कै कराना, दूध देना.
क्रोरोफारम.	१ ड्राम	बेहोशी, खर्राटेसे श्वास,शरीर ढीला होना, दिलकी गति रुक जाना.	चंद घंटे	ताजी हवा, बिजली लगाना, कृत्रिम क्षार दिलाना, उत्तेजक दवा देना.
कैंथराइडज.	४८ ग्रेन.	मेदेमें जलनका दर्द, कै, दस्त कमरमें दर्द, मूत्रमें रुधिर, मूत्र बंद, मेढ़ उन्नत हो जावे	१ या डेढ दिन	वमन कराना, लुआबदार अर्क पिलाना, अफयू न दे जरूरत हो तो रुधिर निकाले
नाइट्रिकएसिड (शोरेका तेजाब)	२ ड्राम.	गंधकके तेजाबके समान.	२ दिन.	गंधकके तेजाब (सलफ्यूरिक एसिड)के तुल्य
निकस्वामिका (कुचला)	३ ग्रेनसे जादा.	कंठमें खराश, कुब्जाजकी ऐंठन.	६ घंटेके करीब.	तमाखूके खेशादे का हुकना(वस्ति) करना, देशीयत्नदूध घी पिलाना
हैड्रोस्यानिक एसिड.	१ ग्रेन.	एकाएक गाफिल हो जावे.	२ से २० मिनट तक.	,,
हैड्रोक्लोरिक एसिड.	२ ड्राम.	सलफ्यूरिकएसिडको देखो.	१ रोज.	सलफ्यूरिक एसिडके समान

डाक्टरीमें हरेक वस्तुके प्रायः सत्त्व काममें लाये जाते हैं और वह इतने तेज होते हैं कि झट प्रभाव करते हैं यद्यपि उनसे रोगोंमें फायदा बहुत

जल्दी होताहै परंतु उन्हीकी मात्रा जादे खाई जावे तो वेही विषका काम देते हैं इससे डाक्टरी दवाको बहुत विचारके साथ काममें लाना चाहिये बल्कि विना डाक्टरकी रायके कोई दवा नहीं खाना पीना चाहिये इनके यहां सैकड़ों तो क्या बल्कि हजारों दवायें तेज विषके तुल्य होती हैं यहां ग्रन्थविस्तरभयसे उन सबको नहीं लिख सके किन्तु उनमेंसे कुछ थोडे प्रसिद्ध २ विषोंका हाल संक्षेपसे निदर्शनरूप लिख दिया है ये पूर्वोक्त विष तथा अन्य विष या विषैली औषधें जिन जिन रोगोंमें फायदा करती हैं उनका वर्णन भी ग्रंथ बहुत बढ़ जानेसे नहीं लिखा जाता इसके लिये "मेटरया मेडीका" डाक्टरी निघंटु देखो उसमें इन विषों तथा अन्य औषधोंके उपयोगकी रीति और गुण लिखे हैं।

यूनानी मतसे विषोंका कुछ वर्णन।

यद्यपि यूनानी हकीमोंके मतमें जो वस्तु चौथे दरजेकी गरग या शरद या खुश्क हैं (अर्थात् महागरम, महाशीतल अत्यंत रूक्ष हैं) प्रायः वे सभी विष हैं परन्तु फिरभी इनके यहां विषकी तीन किस्में लिखी हैं १ मादनी (जो खानसे निकले), २ नबाताती जो वृक्ष वनस्पतिके जड़, पत्ते, फल आदिसे विष हो, ३ हैवानी विष जो जीव जंतुओंसे पैदा होवे ॥

१ मादनी विष प्रायः वे इस भांति मानते हैं जैसे पारा, मुरदाशंख, रांग, सुपेदा, कासगरी, संखिया, शिगरफ, जंगाल, हरताल, मैनासिल, सिंदूर, कसीस और दाल-चिकना इत्यादि ॥

२ नबाताती विष इस भांति मानते हैं जैसे-सींगीमोहरा, वत्सनाभ (जिसे विष कहतेहैं), भिलावां, कनेर, धतूरा, कुचला, अफयून और रेवंदचीनी आदि ॥

३ हैवानी विष इस भाँति मानते हैं जैसे-सर्पका जहर, बिच्छू आदि अनेक जहरीले जानवरोंका जहर तथा अनेक जानवरोंका मांस जैसे गिरगिटका मांस इत्यादि ॥

इनकाभी विशेष वर्णन ग्रंथ बढ़ जानेसे नहीं किया गया इनकी मारक मात्रा तथा अवधि, उपद्रव, यत्न आदिके जाननेकी इच्छा हो तो उनके पुस्तक देखिये ॥ इति कल्पस्थान-परिशिष्ट भाग ॥ २ ॥

॥ इति कल्पस्थान-परिशिष्ट समाप्त ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-



खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.

इति

सुश्रुतसंहिता भाषाटीकासहित-

चिकित्सितस्थान-कल्पस्थान

समाप्त ।